ज्ञान-विज्ञानयोग

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ज्ञान-विज्ञानयोग

(श्रीमद्भगवद्गीताके सातवें अध्याय पर प्रवचन)

☆

प्रवचनकार :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

☆

संकलनकर्त्री :

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

☆

सम्पादक :

स्वामी विश्वात्मानन्द सरस्वती

☆

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. ज़ी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

•

प्रथम संस्करण : 1100
आनन्द जयन्ती
श्रावण मास, अमावस्या संवत् 2056
11 अगस्त 1999
द्वितीय संस्करण : 500
संन्यास जयन्ती, 5 फरवरी 2009
तृतीय संस्करण : 1100
शिवरात्रि
10 मार्च 2013

•

•

मूल्य : रु. 130/-

•

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

तृतीय संस्करण : 2013

प्रकाशकीय

ज्ञान-विज्ञान योगका परिवर्धित-संवर्धित संस्करण पाठकोंके कर-कमलोंमें प्रदान करते हुए अत्यन्त प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। पुस्तककी विषय-सामग्री हेतु सम्पादकीय-निवेदन पाठक अवश्य देखें। **स्वामीश्री विश्वात्मानन्दजीने** बड़े मनोयोगसे ग्रन्थका सम्पादन किया है तथा उन्हें पाण्डुलिपि बहुत एकाग्रता एवं परिश्रमसे टेपसे सुनकर, लिखनेके पश्चात प्रदान की थी-**श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीजी** ने। महाराजश्री के कृपापात्र **सुश्री उषा, शान्ता, ज्योति ठाकुरदास महतानी** परिवार मुम्बईने इसके मुद्रण हेतु आर्थिक सहायता प्रदान कर दी। **श्री बाबाजीने** ग्रन्थके संशोधनका कार्य सावधानी एवं तत्परतासे किया, आनन्दकानन प्रेसके **चि. शिवदत्तने** मुद्रणका कार्य दक्षतापूर्वक किया। ये सभी महाराजश्रीके अपने हैं और पूज्य **महन्तश्री सच्चिदानन्द** एवं **डॉ. स्वामीश्री गोविन्दानन्दजीके** माध्यमसे महाराजश्रीकी सत्प्रेरणा एवं आशीर्वाद निरन्तर इन्हें प्राप्त है। इन सभीकी रुचि सत्साहित्यमें निरन्तर बनी रहे-यही प्रार्थना है। पाठकोंको-महाराजश्रीके ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ प्रसाद रूपमें प्राप्त होते रहें-यही कामना है।

मुम्बई/वृन्दावन

-सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

सम्पादकीय निवेदन

प्रस्तुत ग्रंथ पूर्व प्रकाशित ''ज्ञान-विज्ञान योग'' का नवीन संस्करण है। परमपूज्य महाराजश्रीके टेप-प्रवचनोंको पुनः सुनकर ग्रन्थका प्रणयन किया गया है। जिस सुहृद पाठकोंने पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ पढ़ा होगा वे यदि पुनः इस नवीन ज्ञान-विज्ञानयोगको पढ़ेंगे तो वे प्रमुदित हुए बिना नहीं रह सकेंगे, क्योंकि इस ग्रन्थकी आत्माका दर्शन पूर्व ग्रन्थमें नहीं होता है।

प्रसिद्ध है कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके मध्यके छः अध्याय (अध्याय सात से बारह तक) भक्ति-प्रधान हैं। उसमें सातवाँ अध्याय–ज्ञान-विज्ञानयोग, उस भक्ति-साधनाका प्रथम सोपान है। अतः इस अध्यायकी व्याख्या भक्ति-प्रधान तो होनी ही चाहिए, साथही इस प्रकारकी भी होनी चाहिए कि उसका पर्यवसान भगवतत्त्वके पूर्ण ज्ञानमें हो जाय। भक्तिकी पूर्वपीठिका है भगवत्प्रीत्यर्थ किया हुआ निष्काम कर्म तथा आत्माके (त्वं-पदार्थके) स्वरूपका बोध जो गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें वर्णित है; और भक्तिका स्वरूप है स्वयं भगवान्‌का भजन तथा सर्वरूपेण भगवान्‌का अनन्य आश्रय। श्रीभगवान्‌ने दसवें और बारहवें अध्यायमें यह प्रतिज्ञा की है कि अपने आश्रित भक्तको तत्त्वज्ञान करानेका उत्तरदायित्व मैं ही अर्थात् स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं। इसी उद्देश्यसे गीताके अन्तिम छः अध्यायोंमें भगवान्‌ने ब्रह्मात्मैक्य बोधका औपनिषद रीतिसे कथन किया है। परमपूज्य महाराजश्रीके इन प्रवचनोंमें आप पायेंगे कि गीताजीकी यह आत्मा अत्यन्त मधुररूपमें मुखरित हुई है। इनमें पदे-पदे भगवान् श्रीकृष्णकी करुणा, कृपा, वात्सल्य और ईश्वरताका दर्शन होता है। श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं, मधुरातिमधुररूप हैं। श्रीकृष्ण

साक्षात् ब्रह्म हैं; जो इन्हें मनुष्य मानता है वह मायाके द्वारा ठगा गया है, और जो इनकी शरण ग्रहण करता है और इनका सकाम-निष्काम भजन करता है, उसको मोक्ष प्राप्त हो जाता है जो श्रीकृष्णका ब्रह्मस्वरूप ही है। अधिक क्या कहें, पाठक स्वयं इन प्रवचनोंका रस प्राप्त करें और अपने-अपने जीवनको श्रीभगवान्‌के भजनसे भरपूर करके धन्य-धन्य होवें!

इन प्रवचनोंके पुनः लेखनके प्रेरणास्रोत तो स्वयं **महन्तजी महाराज स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती** तथा श्रद्धेय **स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वतीजी महाराज**को ही है, तथापि इन प्रवचनोंके संकलनका श्रेय तो एकमात्र **बहिन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी**को ही है। संकलनकी अक्षरशः प्रस्तुति मात्र टेप सुनकरके अपनेमें एक श्रमसाध्य कार्य है। उनकी सेवाके लिए उनको साधुवाद!

इस ग्रन्थमें परमपूज्य महाराजश्रीके चालीस प्रवचन हैं। उनको अध्यायके श्लोकोंके अनुसार प्रस्तुत किया गया है। प्रवचनोंके क्रमांक भी श्लोक-संख्याके अनुसार हैं। जैसे प्रवचन-२०.२ का अर्थ है कि यह प्रवचन बीसवें श्लोक पर किया गया दूसरा प्रवचन है। बोधकी सुगमता और प्रवचनकी तारतम्यताके हितमें पुनरुक्तिको यथावत् रहने दिया गया है।

अन्तमें परमपूज्य महाराजश्रीके पावन श्रीचरणोंमें उन्हींकी यह ज्ञान-विज्ञान नामक वस्तु सादर सप्रेम समर्पित है। उनको हमारे दण्डवत् प्रणाम्।

श्रीवृन्दावनधाम
दिनांक १०.१२.९८

श्रीगुरुचरण कमलाश्रित
–विश्वात्मानन्द
(स्वामी विश्वात्मानन्द सरस्वती)

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

विषय-सूची

☆

श्रीमद्भगवद्गीताके ७वें अध्यायका मूलपाठ

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधानमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ २७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञान-विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

ज्ञान-विज्ञानयोग

(गीताका सातवाँ अध्याय)

१. भजनीयके समग्र ज्ञानकी प्रतिज्ञा

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ ७.१

अर्थ :—हे पार्थ ! जिस प्रकार तू मेरेमें आसक्त मनवाला होकर और मेरा ही आश्रय लेकर योगयुक्त होकर मुझ परमेश्वरको सम्पूर्णरूपसे और संशयरहित रूपसे जानेगा, वह विद्या मेरेसे तू सुन ! ॥ १ ॥

: १.१ :

आसक्ति और आश्रय भगवान्‌का

जो भगवान्‌को देखकरके प्रेम करे, जानकरके प्रेम करे उसके बारेमें भगवान्‌को कोई आश्चर्य, कोई कुतूहल नहीं है; क्योंकि भगवान् भी इस बातको जानते हैं कि जो हमको देख लेगा, जान लेगा, वह तो प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहिं भजनु तजि भाव न आना॥ सु.का. ३३.३

लेकिन जिसने कभी देखा नहीं, जाना नहीं, केवल सुन-सुनकर श्रद्धा करता है और श्रद्धाके अधीन होकर अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणोंमें लुटा देता है, उसके प्रेमको देखकरके तो स्वयं भगवान् भी ऋणी हो जाते हैं। उनको भी बड़ा आश्चर्य होता है कि हमको यह कैसा श्रेष्ठ प्रेमी प्राप्त हुआ, जो बिना मिले, बिना देखे, बिना जाने हमारे ऊपर सर्वस्व निछावर कर रहा है। इसीसे छठे अध्यायके अन्तमें यह बात कही गयी कि—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ६.४७

सब योगियोंमें श्रेष्ठ योगी कौन है कि जो मद्गत अन्तरात्मा होकर श्रद्धाके साथ भगवान्‌का भजन करता है। श्रद्धाका होना ही इस बातका सूचक है कि अभी उसने देखा नहीं, अभी उसने जाना नहीं। क्योंकि साक्षात् अपरोक्ष अनुभव हो जानेके बाद तो माननेकी बात नहीं रहती, जानी हुई बात हो जाती है।

अब वे भगवान् कैसे हैं और उनमें अपना मन कैसे लगाना चाहिए? तो बोले—**मद्गतेनान्तरात्मना**। मद् शब्दका अर्थ क्या है? और उनमें अपनी अन्तरात्माके संलग्न करनेका मतलब क्या है? यह बात बतानेके लिए यह सातवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है।

साँतवें अध्यायको प्रारम्भ करते हुए श्रीमधुसूदन सरस्वतीने एक मंगलाचरण किया। वह मंगलाचरण क्या है? मंगलाचरण तो सभी आचार्य करते हैं ग्रन्थके प्रारम्भमें, पर इसलिए सुनाता हूँ कि वेदान्तियोंमें मधुसूदन सरस्वतीकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा है। 'अद्वैत सिद्धि', 'सिद्धान्त बिन्दु', 'वेदान्त कल्पलतिका' उन्होंने लिखे; ऐसे महापुरुष इस अध्यायंकी टीका प्रारम्भ करते समय एक मंगलाचरण करते हैं, याद करने लायक है—

यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम्।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम्॥

'जिनकी भक्तिके बिना मुक्ति नहीं होती और सब प्रकारके योगियोंके लिए जो सेवनीय हैं, जो परमानन्दघन हैं, उन श्रीनन्दनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ।'

यह मंगलाचरण करके अब इस अध्यायकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ ७.१

यहाँ बिना किसी विशेष प्रश्नके ही 'भगवानुवाच' है। बड़े-बड़े जो विद्वान् हैं, गुरुजन हैं, उनकी रीति यह है कि जब कोई आकरके अपनी कठिनाई उनको बतावे और पूछे कि इसका समाधान क्या है, तब उनको

बताना चाहिए। बिना पूछे दवा बताना—शास्त्रमें निषिद्ध है। यह लिखा है कि बिना पूछे अगर कोई दवा बतावे तो उसकी दवा करनी नहीं चाहिए। क्योंकि ऐसे दस जन मिलेंगे, उन्हें रोगके बारेमें ठीक पता नहीं है, दवाके बारेमें कुछ पता नहीं है, जाँच की भी नहीं है, ऐसे ही रास्ता चलते एक दवा बता दिया तो बिना पूछे अगर कोई दवा बतावे, तो उस वैद्यका आदर नहीं करना चाहिए। तो परमार्थके मार्गमें भी जो लोग बिना पूछे बताते फिरते हैं, उनकी बात आदरणीय नहीं होती। तो सभी गुरुजन पूछनेपर ही उपदेश करते हैं—

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥

मनुजीने कहा कि बिना प्रश्नके किसीको धर्मका उपदेश करना नहीं और यदि पूछनेवाला अन्यायसे पूछ रहा हो, रास्तेमें चलते-चलते पूछ ले, बिना आदरके पूछे, बिना श्रद्धाके पूछे, बिना प्रणाम किये पूछे तो भी उसको नहीं बताना चाहिए।

उन्होंने कहा—यद्यपि ज्ञान हो, तब भी मनुष्यके जड़के समान आचरण करना चाहिए मानो वे कुछ जानते ही नहीं हों। न किसीको भगवान्‌ने किसीका जज बनाया है, न कोई पट्टेदार बनाया है, न कोई ठेका दिया है कि तुम उसके उद्धारके जिम्मेदार हो, झूठे ही लोग अपने सिरपर बोझ लिये फिरते हैं। साधारण रीति यही है कि बिना पूछे बताना नहीं, नहीं तो वह वस्तु उपहासास्पद हो जाती है, हल्की हो जाती है। परन्तु यह भी कि जहाँ कोई अपना मित्र होवे, पुत्र हो, शिष्य हो, पत्नी हो, पति हो और (बिना बताये) उसके अहितकी कोई सम्भावना हो तो सहृदय जो पुरुष हैं, वे बिना पूछे भी बताते हैं।

ब्रूयोस्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्यद्।

अपने स्नेही शिष्यके प्रति गुरुजन बिना पूछे भी बता देते हैं—

अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः।

बिना पूछे भी दीनवत्सल गुरुजन उपदेश कर देते हैं।

भगवान्‌के हृदयमें अपने सखा अर्जुनके प्रति महान् सौहार्द्रका भाव है, महान् वात्सल्य है। अर्जुनको यह तो कह दिया कि तुम अपनी अन्तरात्माको मुझमें लगाओ, परन्तु मैं कौन हूँ यह नहीं बताया। अन्तरात्माको कैसे लगाना चाहिए—यह भी नहीं बताया। इसलिए अपना स्वरूप बतलानेके लिए और

अपनेमें मन लगानेकी रीति बतानेके लिए यह आवश्यक है कि आगे और भी कुछ कहा जाय। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण बिना पूछे बोले।

श्रीभगवान् उवाच

श्रीभगवान्का अर्थ है श्रीविशिष्ट भगवान्। श्री हमेशा उनके साथ रहती हैं। श्री माने लक्ष्मी। लक्ष्मी उनको छोड़कर कहीं नहीं जातीं, वह जानती हैं कि संसारमें जितना ऐश्वर्य है, जितना माधुर्य है, जितने सद्गुण हैं, जिनकी सेवा करनेके लिए लालायित रहते हैं, अगर मैं इनको छोड़कर हट जाऊँगी तो इनकी छातीसे कोई और चिपक जायेगा। इसलिए लक्ष्मी स्वयं भगवान्की छातीसे चिपकी रहती हैं वक्ष:स्थलपर निवास करती हैं। श्रीसे मतलब है सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य। ये सब हमेशा भगवान्के साथ रहते हैं। वे भगवान् अब अर्जुनको उपदेश करते हैं—**मय्यासक्तमनाः पार्थ।**

पार्थका अभिप्राय है कि अर्जुन एक तो अपना भाई है (पृथा=कुन्तीका पुत्र) दूसरे मित्र है अपना, तीसरे शिष्य है अपना इसलिए इसका जीवन व्यर्थ नहीं होना चाहिए। **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारा शरणागत हूँ—ऐसा अर्जुन निवेदन कर चुका है, इसलिए इसको बताना आवश्यक है।

पाँच बात भगवान्ने इस श्लोकमें बतायी हैं—

(१) पहली बात है—**मय्यासक्तमनाः**—मुझमें आसक्त है मन जिसका। 'मयि-आसक्तमना:'में मयिका अर्थ क्या है? मयिका अर्थ होता है हिन्दीमें 'मुझमें', 'आसक्तमना:'=आसक्त मनवाला होकर। माने मुझमें मन सटाकर, मुझमें मनको आसक्त करके। तो यह जो भगवान् 'मैं' बोलते हैं, वह भगवान् बड़ी विशाल दृष्टिसे 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं। भगवान् तो कहते हैं—**यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।** मैं अजन्मा हूँ, अनादि हूँ, लोक महेश्वर हूँ, मैं साक्षाद् परब्रह्म परमात्मा हूँ। तो 'मय्यासक्तमना:'=माने मुझ निर्गुण ब्रह्ममें, निराकार ब्रह्ममें, सर्वशक्तिमान ब्रह्ममें, परमेश्वरमें जिसने अपना मन लगा दिया।

पर अर्जुनको तो महाराज वही भगवान् दिखते हैं जो अर्जुनके रथपर बैठे हुए हैं, ये साकार भगवान् हैं। आप देखना गीतामें; ग्यारहवें अध्यायमें जब अर्जुन सम्बोधन करते हैं—

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।

और फिर—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

भगवान् तो कहते हैं मैं निराकार, निर्विकार, निर्विशेष, निर्धर्मक ब्रह्म हूँ, मुझमें मन लगाओ। और अर्जुन कहता है यह जो हमारे रथपर बैठे हुए मानुषरूप श्रीकृष्ण हैं, उनमें मन लगानेपर मन स्वस्थ होता है। गीताके उपदेशके समय भी भगवान् रथपर ही बैठे हुए थे, यह बात बिलकुल साफ मालूम पड़ती है—

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

वेत्र माने भगवान्के बायें हाथमें घोड़ोंको हाँकनेका चाबुक और तोत्र माने लगाम, बागडोर, दोनों हैं। तो बायें हाथमें जब घोड़ोंकी बागडोर और चाबुक है और दाहिने हाथमें ज्ञानमुद्रा है, तो साफ मालूम पड़ता है कि भगवान्ने अर्जुनके रथके घोड़ोंकी बागडोर नहीं छोड़ी है। अर्जुन व्याकुल हो गया, इसलिए यदि भगवान् उसके रथके घोड़ोंकी बागडोर छोड़ दें, तो भगवान्की शरणमें कौन जाय? भक्त चाहे व्याकुल हो, चाहे स्वस्थ हो, चाहे शरणागत हो, चाहे मूढ़ हो, भगवान् अपने भक्तके जीवनरथके घोड़ोंकी माने इन्द्रियोंकी बागडोर अपने हाथमें ही रखते हैं, उनको कभी नहीं छोड़ते हैं। यही तो भगवान्की विशेषता है। इसलिए अर्जुनके रथपर बैठे-ही-बैठे भगवान् बोल रहे हैं—'मयि'। तो अर्जुन समझते हैं कि यही जो मुकुटवारे, यही जो बायें हाथमें घोड़ोंकी बागडोर और चाबुक लिये हुए, यही जो दाहिने हाथमें ज्ञानमुद्रा धारण किये, यह जो प्रपन्नपारिजात ज्ञानमुद्र श्रीकृष्ण हैं, यही बोल रहे हैं कि **मयि आसक्तमनाः**—मुझमें अपने मनको सटा दो अर्जुन!

यह देखो श्रीकृष्णका एक रूप तो है द्वारकाधीश साकार रूप, एक दूसरा रूप है आचार्यरूप—**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** अर्जुनके गुरु बने हुए हैं, और तीसरा रूप है ब्रह्मादिके नियन्ता सकल जगत्के आदि कारण, और चौथा रूप है नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म। ये चार रूप लेकर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके रथपर बैठे हुए हैं।

सारथि रूप जुदा है और आचार्यरूप जुदा है। द्वारकाधीश होकर सारथि हैं—यह भक्त वात्सल्य है। द्वारकाधीश होकर किसीका सारथि बनना यह तो स्नेह है, वात्सल्य है, सौहार्द्र है। और गुरु होकर सारथि होना स्वाभाविक है। क्यों? क्योंकि जब आचार्य होगा तो शिष्यके इन्द्रिय रूपी घोड़ोंकी बागड़ोर अपने हाथमें रखना और उसके जीवन-रथको चलाना, यह तो शिष्यके प्रति गुरुका स्वाभाविक कर्म है। और निराकार रूपसे, सगुणरूपसे अन्तर्यामी हैं। अर्जुनको अज्ञानी बनाकर ज्ञानदानका अभिनय कर रहे हैं। अर्जुनको केवल निमित्त बनाया है। संसारके सम्पूर्ण जीवोंको ज्ञानदान करनेके लिए अन्तर्यामी प्रभुने इस समय अर्जुनके मनमें मोहका संचार कर दिया और मोह-निवृत्तिके लिए स्वयं उपदेश करने लगे। तो ये हैं नर-नारायण। नर हैं अर्जुन और नारायण हैं भगवान् और उनकी जो बातचीत होगी वह समग्र विश्वके मनुष्योंके लिए हितकारी होगी और निर्गुण-निराकार, निर्विकार ब्रह्मके रूपमें जो श्रीकृष्ण हैं वे तो अर्जुनके भी आत्मा ही हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अथवा

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

यह जो आत्मा है वह निराकार निर्विकार परब्रह्म परमात्मा है।

तो 'मयि आसक्तमना'में मयिका क्या अर्थ हुआ? कि तुम्हें जैसा ईश्वर दिखता है वैसा। क्योंकि जब ईश्वर बुद्धिसे अपना मन लगाओगे तब तुम्हारा मन संसारको छोड़कर ईश्वरमें लगेगा। ईश्वर बुद्धि होना आवश्यक है। इसमें भी यह नियम है कि जैसे आप देखो एक मुसलमान गंगाजीमें स्नान करता है तो उसे गंगामें महत्त्व-बुद्धि नहीं होती; उसके लिए तो जैसे कर्मनाशा है वैसे गंगा है; कर्मनाशाके जलमें और गंगाजलमें एक मुसलमान्के लिए कोई फर्क नहीं; वह कहता है, हम पानीमें नहा रहे हैं, दरियामें नहा रहे हैं। और, एक भक्त नलके पानीमें नहाता है पर बोलता है—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

सब नदियाँ आ गयीं नलके जलमें। और एक व्यक्ति ऐसा है जो स्नान करता है गंगाजलमें और उसकी गंगा बुद्धि भी है कि यह भगवत्पदी है, भगवान्के चरणोंका धोवन है। तो देखो फिर क्या होगा? कि गंगाबुद्धि भी है और गंगा-स्नान भी है तो वह सर्वश्रेष्ठ हो गया। और जल है कुएँका या नलका और गंगा बुद्धि है, तो वह भी भावको शुद्ध करनेवाला है। लेकिन जिसको गंगाकी याद ही नहीं आयी उसका तो भाव शुद्ध कहाँसे होगा? तो यह जो भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं, ये साक्षात् नराकृति परब्रह्म हैं। इनके प्रति ईश्वरबुद्धि करके अर्जुन उनके सामने बैठा हुआ है। जब भगवान् बोलते हैं **'मयि आसक्तमनाः पार्थ'**—हे अर्जुन, तुम अपने मनको मुझमें आसक्त करके रहो, तो उसका अर्थ 'हमारे परम हितैषी सद्‌गुरुदेव श्रीकृष्ण' ही हैं। वे द्वारकाधीश सगुण साकार श्रीकृष्ण ही हैं। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण हैं। ये निर्गुण ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णमें-से चारों प्रकारकी बुद्धियाँ निकलती हैं।

'आसक्त'—करनेका अर्थ क्या है? यह दूसरी बात है। यह सक्त शब्द हिन्दीमें सटना बनकर आया है। सक्त होना माने सट जाना। यह आपलोग हँसीकी बात मत समझना। ये हमारे शब्द देश-विदेशमें जाकर नानारूप धारण करते हैं। तो यह आसक्त किसी देशमें जाकर 'आशिक' हो गया और कहीं जाकर यही सेक्स बन गया। कहनेका अभिप्राय यह है कि जैसे स्त्री पुरुषका परस्पर आकर्षण होता है, जैसे प्रेमी और प्रियतमका परस्पर आकर्षण होता है, इसी प्रकार तुम अपने मनको संसारके स्त्री-पुरुषमें आसक्त मत करो, भगवान्में आसक्त करो। जैसे प्रेमी और प्रियतमका मन संसारमें आसक्त होता है, ऐसे अपने मनको संसारमें नहीं, प्रियतममें आसक्त करो।

तो यह मनको आसक्त करना क्या है? ऐसा तो है नहीं कि यह तुलसीका पत्ता लिया और उसको सिरसे सटा दिया—तो वह भी आसक्त हुआ। कहाँ आसक्त हुआ? कि सिरमें आसक्त हुआ। तो यह मन तुलसीके पत्तेके समान तो है नहीं कि उठाया और सिरमें लगा लिया। जैसे बिन्दी सिरमें लग जाती है, ऐसे मन भगवान्में नहीं लगता क्योंकि मन मूर्त नहीं है, मन एक अमूर्त पदार्थ है—माने उसकी मूर्ति नहीं है, उसकी शक्ल-सूरत नहीं है। तो मनको भगवान्में कैसे लगावें? इसको सोचो, कि मन क्या

बिन्दी है कि उसको भगवान्के सिरमें उसका तिलक कर दिया? क्या वह चन्दन है कि उसको भगवान्के चरणोंमें लगा दिया? क्या वह फूल है कि उसकी माला बना करके भगवान्के गलेमें लगा दी? आखिर मनको भगवान्के साथ सटाना कैसे?

असलमें मन है संकल्प-विकल्पात्मक। संकल्प करना और विकल्प करना। यह बढ़िया चीज है, यह मुझको मिलनी चाहिए और यह घटिया चीज है, यह छूट जानी चाहिए, इस तरहसे संकल्प मनमें होते रहते हैं। तो मनको भगवान्में लगाना क्या? यह कि भगवान् सद्गुणोंके आगार हैं अचिन्त्य अनन्त कल्याण-गुणगण-निलय हैं, उनका ऐश्वर्य; उनका माधुर्य, उनका सौन्दर्य, उनकी विभूति, उनका बल अखिलवीर्य है—इस प्रकार भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और उनके सद्गुणोंका, प्रभावका चिन्तन करना और उनके सौन्दर्य-माधुर्यका चिन्तन करना कि कैसे सुन्दर लाल-लाल और उठे हुए उनके नाखून हैं, कैसी उभरी हुई विशाल उनकी छाती है, इसपर मोतीकी माला कैसी शोभा पाती है, उनके कैसे सुन्दर लाल-लाल होंठ हैं और कैसी सुन्दर मुस्कान उसपर खेल रही है, उनकी आँखोंमें कैसी प्रेमभरी चितवन है, उनके कैसे सुचिक्कण कपोल हैं, उनके कैसे घुँघराले बाल हैं, उनकी कैसी मीठी वाणी है, उनके कैसे हृष्ट-पुष्ट भुजदंड हैं, इस प्रकार जब मनमें भगवान्का ही बारम्बार स्फुरण होने लगता है, तब यह समझना चाहिए कि हमारा मन भगवान्के साथ सट रहा है।

भगवान्के साथ मनका सटना माने बारम्बार मनमें भगवान्की स्फुरणा होना, यदि कोई निराकारका ही चिन्तन करता हो, तो परमात्मा सत्य है, परमात्मा ज्ञान-रूप है, परमात्मा अनन्त है, परमात्मा अपूर्व है, अनपर है, भीतर भरपूर है, बाहर भरपूर है। इसप्रकार परमेश्वरके बारेमें बारम्बार कल्पना-संकल्पना होना यही मनका आसक्त होना है।

हमने इस संसारमें देखा है कि जिसका मन जिसमें आसक्त होता है, उसीके बारेमें सोचता है। जब कोई किसीके प्रति आसक्त होता है तो वह उसीके पास रहना चाहता है। इसमें भोगकी जरूरत नहीं पड़ती कि यह चीज इसके पास चिपकी रह जाय। सटना तो तब होता है जब भोगको इसके साथ चिपकाये। इसमें मनको परमात्माके साथ चिपकानेके लिए बाहरी भोगकी

जरूरत नहीं होती है, भीतरी स्नेह ही भोग है। भीतरका स्नेह भोग है और मनका परमात्माके चारों ओर घूमना यही उसका चिपकना है। न उनका चरण छोड़े, न उनका वक्षःस्थल छोड़े, न उनका मुखारविन्द छोड़े। जब देखो तब हमारा मन भगवान्के साथ चिपका हुआ है।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

दूसरी बात यह बतायी कि **योगं युञ्जन्**। भगवान्के लिए निःस्पृह नहीं हो जाना। यह क्या बात? यह बात यह है कि जबतक तुम धनकी प्राप्तिके लिए सक्रिय हो, काम करते हो कि यह काम करेंगे तो धन मिलेगा, मकान बनानेके लिए काम करते हो, इज्जत बढ़ानेके लिए काम करते हो, स्त्रीपुत्रादिसे प्रेम करनेके लिए काम करते हो, अगर इस बीचमें सब काम करते हुए तुम ईश्वरके लिए काम नहीं करोगे—माने संसारके लिए ता काम करोगे और ईश्वरके लिए कांम नहीं करोगे—तो इसका अर्थ यह होगा कि ये जो कर्मके संस्कार हैं ये तुम्हारे मनको विक्षिप्त कर देंगे। यह मन फिर यहाँ गया, फिर वहाँ गया, इस मनके हजारों टुकड़े होकर बिखर जायेंगे। विशीर्ण शब्दका प्रयोग किया है श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने। वे कहते हैं मन विशीर्यमान हो जायेगा, बिखर जायेगा। वहाँ गया, वहाँ गया मन, कोई घर नहीं, कोई ठहरनेका ठौर नहीं। इसलिए 'योगं युञ्जन्'का अर्थ यह है कि थोड़ा आसन बाँधकर बैठना चाहिए। अपने चौबीस घण्टेमें-से, आध घण्टे, दो घण्टे ऐसे होने चाहिए जिसमें भगवान्के लिए आसन बाँधकर बैठे, थोड़ा स्वाँसको स्थिर करें, अपने मनको इन्द्रियोंको चारों ओरसे खींचें, भगवान्में धारण करें और बारम्बार प्रेमसे अपनी वृत्तिको भगवान्में लगावें और भगवान्से तन्मय हो जायें।

'योगं युञ्जन्'का अर्थ है कि जो साधन हैं भगवत्-प्राप्तिके—जैसे भगवान्की पूजा, भगवान्के नामकी माला, भगवान्के लिए भोग तैयार करना, फूल ले आना, चन्दन घिसना—उसमें लगे रहना। 'योगं युञ्जन्'का अर्थ है अपने शरीरसे भगवत्प्राप्तिके लिए कुछ-न-कुछ क्रिया भी करते रहना। अगर केवल ख्याली पुलाव पकाओगे भगवान्के लिए और क्रिया नहीं करोगे, तो वे ख्यालके भाव हैं वे पक्के नहीं होंगे। इसलिए कुछ दूर शरीरसे मन्दिरमें चलकर जाना, दो फूल अपने हाथसे चढ़ाना, जहाँ तक हो

सके नौकरसे चन्दन न घिसवाकर, अपने हाथसे घिसना, नौकरसे माला न बनवाकर, पैसेकी माला न लाकरके अपने श्रमकी माला पहनाना। पैसेसे जो माला आयी, उसमें पैसा कमानेमें जो श्रम हुआ, वह लगा भगवान्‌को। अब देखो किसीको दो-चार आना पैसा दिया, उसको कमानेमें कितना परिश्रम हुआ है। जिसको चार आना कमानेमें कुछ भी परिश्रम पड़ा है, उसकी माला चार आनेकी और जिसको चार आना कमानेमें दिन भर लगा है, उसका परिश्रम माने एकका दिनभर परिश्रम लगा चार आने कमानेमें और एकका एक वक्तका परिश्रम नहीं लगा चार आने कमानेमें, तो अपनी क्रिया लगानी चाहिए भगवान्‌में—'योगं युञ्जन्'का अर्थ है कि साधना अपनी छूटे नहीं, करते रहो।

तीसरी बात है—**'मदाश्रयः'**। कई लोग अपने लक्ष्यकी पूर्ति के लिए दूसरोंका आश्रय लेते हैं, कोई धनका आश्रय लेता है, कोई सेठका आश्रय लेता है, कोई कर्मका आश्रय लेता है, कोई राजाका आश्रय लेता है। परन्तु भगवत्-प्राप्तिके लिए तुम आश्रय लेना तो केवल भगवान्‌का आश्रय लेना—**'मदाश्रयः। अहमेव आश्रयः आधारो यस्य'**। मैं ही तुम्हारा आधार हूँ।

यह नहीं समझना कि मैं तो अब प्रेमी हो गया, तो फिर करनेकी जरूरत नहीं। इसलिए प्रेमी होकर करना यह तो पहली बात कही गयी। बिना प्रेमके जो काम किया जाता है वह तो बेकार होता है। तो 'मय्यासक्त मन':से कहा प्रेमी होना और 'योगं युञ्जन्'से कहा कि काम करना। तो प्रेमी होकर काम करना—यह बात निकली। और काम करना और प्रेमी रहना। बोले कि हम तो बहुत दान करते हैं हमको प्रेमकी क्या जरूरत है? दस रुपया दक्षिणा चढ़ा आये हैं, प्रेम करनेकी क्या जरूरत है? नहीं, दस रुपया प्रेमकी बराबरी नहीं कर सकता, प्रेम बड़ी चीज है। तो काम भी करना, प्रेम भी करना और प्रेम भी करना और दान भी करना। केवल काम करेंगे और प्रेम नहीं करेंगे तो काम श्रम हो जायेगा और केवल प्रेम करोगे और काम नहीं करोगे तो प्रेम निकम्मा हो जायेगा।

अब प्रेम भी क्रिया, काम भी क्रिया, लेकिन आ गया अभिमान, कि मैं इतना तो प्रेम करता हूँ, और इतना दान करता हूँ, अब यह हमारा काम ही हमें ईश्वरसे मिला देगा! तो बोलते हैं नहीं, नहीं, यह मत समझना कि यह मैं

जो काम करता हूँ यह कोई ईश्वरकी कीमत है, कीमत नहीं समझना। क्या समझना कि मैं तो अपना कालक्षेप करनेके लिए करता हूँ, क्योंकि हमारे पास समय है, भगवान्‌का दिया हुआ और भगवान्‌की दी हुई शक्ति है। वैष्णव सम्प्रदायमें भी कालक्षेप चलता है। श्रीरामानुज सम्प्रदायमें कालक्षेपकी बड़ी महिमा है। कालक्षेप माने समयको बहला देना।

देखो काल आता है हमारे पास, क्षण-क्षणमें काल आता है, तो यह जब-जब काल हमारे पास आवे, तो वह आकर यह देखे कि यह तो भगवान्‌के काममें लगा हुआ है, तो कालको बहलानेके लिए, बिता देनेके लिए, समय काट देनेके लिए साधन-भजन है, जैसे किसीसे मिलनेके लिए जाकर बैठे हैं, इन्तजार कर रहे हैं तो उस समय मालूम न पड़े कि कितनी देरसे इन्तजार कर रहे हैं, इसके लिए कोई काम करने लग जाते हैं। तो यह जो अपना साधन है, यह तो कालक्षेप है।

क्या इस साधनसे भगवान् मिलेंगे? नहीं, मिलेंगे तो भगवान् कृपा करके। वे इतने कृपालु हैं—श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने एक प्रसंगमें उद्धृत किया है—**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।** भरोसा उसका रखो, वह जब देखेगा कि यह मेरा बड़ा प्रेमी है और यह देखेगा कि मेरे लिए काम कर रहा है, तो वह स्वयं द्रवित होकर तुम्हारे पास आवेगा। तुम्हारे काममें इतनी शक्ति नहीं है कि तुम उसको जीत सको। इसलिए तीन तरहके लोग होते हैं।

एक तो ऐसे होते हैं कि जप करते हैं, पूजा करते हैं और कहते हैं कि हे भगवान् हमारे पास इतना रुपया भेज दो। पाँच रुपयेकी मैंने पूजा की है, तो इसके बदलेमें पाँच हजार तो हमारे पास आना ही चाहिए। तो करते हैं पूजा और जप और उसके बदले चाहते हैं संसार। तो वे भक्त किसके हैं? वे सेठकी नौकरी तो करते हैं, लेकिन उससे अपनी पत्नीके लिए रुपया भेजनेवाले जैसे नौकर होते हैं वैसे हैं।

दूसरे लोग कैसे हैं? बोले—देखो महाराज, हम रुपया-पैसा कुछ नहीं चाहते, हम स्त्री-पुत्र कुछ नहीं चाहते हैं, हम इतनी तो माला फेर चुके, अरे, करोड़ों, कोई गिनती है! माला फेरते-फेरते कितनी मालाएँ घिस गयीं और अंगुली हमारी घिस गयी और नाम लेते-लेते जीभ थक गयी और दर्शनके

लिए जाते-जाते हमारे पाँव घिस गये और जो कुछ कमाया था सो सब दान कर दिया, अब तो तुम मिलोगे? तो वे भगवान् पर एहसान करते हैं कि हमने तुम्हारे लिए इतना किया तो तुम भी हमारे लिए कुछ करो।

असलमें भाई एक आदमीकी उँगलीका घिस जाना और मालाका घिस जाना या फिर पैसेका जाना, यह कोई भगवान्की कीमत नहीं बनती है। तब? कि जब कीमत नहीं बनती है और वे भगवान्की प्राप्तिके लिए उपाय मुख्य मानते हैं कि हमारा किया हुआ साधन, हमारा किया हुआ उपाय ही भगवान्को पकड़कर ले आवेगा, तो वे गलत रास्तेपर हैं। असलमें संसारमें ऐसी कोई कीमत नहीं है जिसके बदलेमें भगवान् खरीदे जा सकें।

तब? कि तीसरी बात यह है कि भगवान् स्वयं ही उपाय हैं और स्वयं ही उपेय हैं। स्वयं साध्य हैं और स्वयं साधन हैं, यही कृपा करके नाम बनकर आते हैं हमारी जीभपर थोड़ी देर नाचते हैं, वही कृपा करके आते हैं हमारे हाथमें, माला बन करके थोड़ी देर घूमते हैं, वही कृपा करके हमारे हृदयमें थोड़ी देर आते हैं और ध्यान होता है।

ये अनन्योपायसाध्यत्वे महाविश्वासपूर्वकम्।

इस बातपर विश्वास रखो कि हमारे किये साधन नहीं होता है। हम जब उन्मुख होते हैं कि हे प्रभु! हम तुम्हारी ओर चलना चाहते हैं, हम तुम्हें पाना चाहते हैं, तब हमारा मन उन्मुख होता है। वेदान्ती लोग 'अन्तर्मुख' शब्दका प्रयोग करते हैं और भक्त लोग 'उन्मुख' शब्दका प्रयोग करते हैं। अपनी ओर लौटना हो तो कहेंगे अन्तर्मुख हो जाओ और भगवान्की ओर जाना हो तो कहेंगे उन्मुख हो जाओ। अरे, आँख खोलकर देखो, सामने भगवान् खड़े हैं यह उन्मुख हुआ; और आँख बन्द करके देखो, तुम्हारे हृदयमें भगवान् हैं यह अन्तर्मुख हुआ। तो अन्तर्मुख होता है अपनी ओरको और उन्मुख होता है सामनेकी ओरको। जब यह जीव भगवत्प्राप्तिके लिए, तत्पदार्थके साक्षात्कारके लिए उन्मुख होता है और भगवान् देखते हैं कि यह देखो जैसे बौना ऊँचे पेड़का फल तोड़नेकर लिए छलांग भर रहा हो, ऊपर उछल रहा हो और उसका हाथ न पहुँचता हो, तो कोई दयालु पुरुष बड़ा आदमी देख रहा है कि भाई यह तो उछलते-उछलते बेचारा थक गया, इसका हाथ नहीं पहुँचता

है तो उसने झट अपने हाथसे फल तोड़ा और तोड़करके बौनेको दे दिया। तो यह भगवान् कैसे मिलते हैं जीवको? जब देखते हैं कि यह उपाय करते-करते थक गया, इसकी वाणी अब लड़खड़ा गयी, इसका मन अस्त-व्यस्त हो गया, इसने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया, तब भगवान् स्वयं ही अपनेको उसके सामने पेश कर देते हैं, उपस्थित कर देते हैं, हाजिर कर देते हैं कि मेरे प्यारे भक्त तुमने मेरे लिए बड़ी तकलीफ उठायी अब ले मैं तेरे सामने आकर प्रकट हुआ हूँ। तो 'मदाश्रय'का अर्थ हुआ, अपने साधनसे भगवान् मिलेंगे यह अभिमान मत रखना, भगवान् मिलेंगे तो अपनी कृपासे तुमको मिलेंगे यह भगवान्का आश्रय है।

तो **'योगं युञ्जन् मदाश्रयः'**—साधन तो तुम करो परन्तु इसको सफल बनावेंगे भगवान्—यह भगवान्का विश्वास रखो; वही साधन कराते हैं और वहीं फल देते हैं। इसके फलस्वरूप होता क्या है?

असंशयं समग्रं मां यथ ज्ञास्यसि तच्छृणु।

इसके फलस्वरूप यह होता है **'असंशयं ज्ञास्यसि'**—भगवान्का ज्ञान प्राप्त होगा माने पहचान लोगे भगवान्को। यह चौथी बात है। यही तो कठिनाई है कि भगवान् हमारे सामने हैं और वे कहीं जा नहीं सकते। आप निश्चय समझो भगवान्के पास कोई ऐसा पर्दा नहीं है जिसके नीचे वह छिप जाय, बिलकुल नहीं, माया नहीं, आवरण नहीं, कोई विक्षेप नहीं, भगवान्के पास कोई ऐसा लिहाफ नहीं है जिसे ओढ़कर वह अपना मुँह ढँक सकें। कुछ नहीं है और कोई ऐसा कोना नहीं है जिसमें जाकर वह छिप सके। सब जगह वह भरपूर है और सब लिहाफ भी, सब आवरण भी, सब पर्दे भी वही है। दूसरी कोई चीज है; नहीं। परन्तु मनुष्य उसको पहचानता नहीं है। भक्त लोग उसको पहचानते हैं। एक भक्तने कहा—

देख मृत्यु का रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ!

हे नाथ! यदि मौतका रूप धरकर तुम आओगे तब भी मैं तुम्हें पहचान लूँगा और तुमसे डरूँगा नहीं।

तो यह ईश्वरका जो रूप है वह ईश्वर हमसे अलग जगहमें कहीं गया नहीं है, इसकी प्राप्तिके लिए कोई इन्तजार नहीं करनी है और उसका कोई रूप बनाना नहीं है। सब रूप बन करके वही आया हुआ हैं, सब जगह वही

है और सब समय भी वही है। जों लोग नेति-नेति करके निषेध करते हैं, उनको मुक्ति तो हो जाती है, परन्तु यह प्रपञ्च भी उसीका स्वरूप है, यह अनुभव होना साक्षात् जीवन्मुक्ति, विलक्षण आनन्द है—

क्षणमेकं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।

सबका ब्रह्मात्मक रूपसे अनुभव होना 'ज्ञास्यसि'—पहचान लोगे। यह पहचानना जो है यह खास बात है। ईश्वरके पास जाना नहीं है, ईश्वरको पाना नहीं है, ईश्वरको बनाना नहीं है, ईश्वर तो है और यहीं है, अभी है और इन्हीं रूपोंमें है, केवल पहिचाननेकी जरूरत है। इसलिए भगवान्ने कहा—'ज्ञास्यसि'।

किसीने मौसम्बीका नाम सुन रखा हो कि मौसम्बी एक फल है, पर कैसा होता है, न देखा हो और मौसम्बी उसके सामने रखी हो, पर उसके बारेमें जानता है, तो आँखके सामने मौसम्बीके होनेपर भी, 'यही मौसम्बी है', यह ज्ञान उस समय नहीं होगा। जाननेकी जरूरत पड़ेगी, कि जिसको बहुत दिनोंसे तुम मौसम्बी-मौसम्बी सुनते रहे हो, वह तो यही है। ज्ञानसे अविद्यमान वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, ज्ञानसे विद्यमान वस्तुकी प्राप्ति होती है। ज्ञानसे गैर मौजूद चीज नहीं मिलती है, ज्ञानसे मौजूद चीज मिलती है। तो ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानसे ईश्वरकी प्राप्ति, इसका अर्थ हुआ कि ईश्वर अभी यहीं और इन्हीं रूपोंमें मौजूद है, हम पहचानते नहीं हैं। तो ज्ञान ऐसा होवे जिसमें संशय न होवे। असलमें संशय और विपर्यय ही ज्ञानमें बन्धक हैं।

तो चौथी बात यही है कि परमात्माका असन्दिग्ध ज्ञान होना चाहिए।

पाँचवीं बात यह है कि कैसे परमात्माका ज्ञान होना चाहिए, बोले—

'समग्रं माम्।'

येन सर्वमिदं ततम्। २.१७

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना। ९.४

अव्यक्त मूर्ति भगवान्के द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् तत् है। जैसे कपड़ेमें सूत होता है ऐसे यह जगत्रूपी कपड़ेमें सूतके रूपमें भगवान् हैं। बल्कि भगवान् तो कभी-कभी ऐसे ढंगसे बोलते हैं कि सुन करके आश्चर्य हो जाता है। रैदासजीने कहा—

प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी
जाके अंग अंग बास समानी।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा
जैसे सोने में मिलत सुहागा॥

और भगवान्ने क्या कहा? भक्तने कहा तुम मोती हो मैं धागा हूँ और भगवान् कहते हैं कि तुम मोती हो, मैं धागा हूँ। यह इसीमें तो है न—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७.७

भगवान् कहते हैं कि तुम मणि हो और मैं सूत हूँ। वह तो फिर ऐसे व्याख्या की जाती है कि मणि माने मनका। सूतकी मालामें जैसे सूतका मनका बना हुआ हो, सोनेकी मालामें जैसे सोनेके मनके बने हुए हों, इस प्रकार इन सब मनकोंमें सूत्रके रूपमें मैं हूँ। और भक्त कहते हैं—तुम हो मनके और हम हैं सूत। देखो भक्त लोग कैसे बदल देते हैं। तो इसका अर्थ है समग्र भगवान् है।

समग्र भगवान्का अर्थ है जहाँ माया नहीं, अविद्या नहीं, प्रपंच नहीं, संसार नहीं; जहाँ केवल परमेश्वर-ही-परमेश्वर, परमेश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं, उसका ज्ञान जैसे होगा, वह अब मैं तुमको सुनाऊँगा। भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि मैं तो बोलूँगा और '**तच्छृणु**'—तुम सुनो।

सुनो कहनेका अभिप्राय यह है कि सावधान होकर श्रवण करो। ऐसी बात मैं तुम्हें सुनाने जा रहा हूँ कि यदि इसमें तुम्हारा मन इधर-उधर चला जायेगा, तो यह बात समझमें नहीं आवेगी, यह छूट जायेगी मनसे। इसलिए तत्शृणु माने सावधान होकर श्रवण करो और इसके सम्बन्धमें निश्चय करो।

आगे भगवान् कहते हैं कि अब मैं विज्ञान सहित ज्ञान तुम्हें सुनाता हूँ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ ७.२

ऐसा ज्ञान बताता हूँ जिसको जान लेनेके बाद दूसरी कोई चीज जाननेकी बाकी नहीं रहेगी। इस बातको सिवाय सर्वज्ञके और कौन कह सकता है? यह सर्वज्ञ महापुरुष, यह साक्षात् भगवान् सर्वस्वरूप बोलता है ज्ञान और विज्ञान दोनोंका निरूपण तुमसे करता हूँ।

अब इस प्रसंगको कल सुनायेंगे। ❖

२. विज्ञानके सहित ज्ञानकी प्रतिज्ञा

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ ७.२

अर्थ :—मैं तेरे प्रति विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णरूपसे कहूँगा जिसको जानकर फिर इस विषयमें दूसरा कुछ भी जानना शेष नहीं रहता॥ २॥

: २.१ :

ज्ञान और विज्ञानका अर्थ

वल्लभाचार्यजी महाराज ऐसा वर्णन करते हैं कि छठे अध्यायमें जिस योगका वर्णन किया हुआ है, उस योगसे आत्मज्ञान होता है। जिस रीतिसे वहाँ वर्णन किया कि—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ ६.१०

एकान्तमें बैठें और अपना मददगार भी किसीको न रखे। एक बात तो कही थी '**रहसि स्थितः**'—एकान्तमें योग करे। दूसरे, '**एकाकी**' कहा। यह नहीं कि एक जगह बैठ गये और चेला रख लिया, जिस-जिस चीजकी जरूरत पड़ी मँगाते गये, स्वयं बैठे हुए हैं। नहीं, मददगार भी अपने लिए कोई न रखे कि हमारी मदद यह करे, हमारी मदद यह करे। और फिर बताया कि चित्तवृत्तिको प्रतिलोम परिणामसे युक्त, करके लौटावे। लौटानेका अर्थ है कि आँखके रास्ते निकलकरके वृत्ति संसारके विषयमें जाती है, कानसे निकलकर शब्दमें जाती है, नासिकासे गन्ध ग्रहण करती है, रसनासे रस ग्रहण करती है, तो चित्त वृत्तिको प्रतिलोम परिणामसे माने उलटा लौटा लेवे। और

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा (६.१२)—अपने मनको बिलकुल एकाग्र कर ले, और अन्तमें **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।** (६.२५) अपने मनको आत्मामें स्थित कर ले और किसी भी दूसरे विषयका चिन्तन न करे।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। ६.३०

सबमें परमात्माका दर्शन और—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि। ६.२९

सबको अपने आपमें और अपने आपको सबमें—इस प्रकार **भजन्ति एकत्वमास्थितः** अपने परिपूर्ण रूपका अनुभव प्राप्त करे। इस तरहसे छठे अध्यायमें योगीका वर्णन किया जिसको आत्मसाक्षात्कार होता है।

अब कहते हैं कि आत्मसाक्षात्कार होनेके बाद भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिए, तब भगवत् तत्त्वका ज्ञान होता है। माने एक आत्मज्ञान, फिर भक्ति, फिर भगवत्तत्त्वका ज्ञान—ये तीन वस्तु हैं। तो छठे अध्यायमें योगाभ्यास और आत्मतत्त्वका वर्णन किया। अब सातवें अध्यायमें भक्ति और भगवत्तत्त्वके ज्ञानका वर्णन करते हैं। त्वं पदार्थ-प्रधान वर्णनका उपसंहार छठे अध्यायमें हो गया, अब सातवें अध्यायमें तत्पदार्थ प्रधान वर्णन प्रारम्भ करते हैं। भगवान्‌की भक्ति और भगवान्‌का तत्त्वज्ञान-स्वरूप—ये दोनों बात सातवें अध्यायमें बतानी है। ऐसा श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं।

असलमें भक्ति माहात्म्य -ज्ञानके बिना होती नहीं। जब हम किसीकी महिमा जानते हैं तब उसकी भक्ति करनेकी इच्छा होती है। तो

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति ख्यातस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

'निबन्ध' ग्रन्थमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने इस प्रसंगको लिया कि पहले होना चाहिए भगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान। सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, परम दयालु है, सर्वव्यापक है, अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, हमारे ऊपर बड़ा भारी वात्सल्य रखनेवाला है, अचिन्त्य अनन्त कल्याणगुणगण-निधि है—यह प्रभुकी महिमाका गान करके जो न ठगे, वही ठगा जो ऐसे प्रभुका भजन न करे मनुष्य होकर, समझ करके—वही मूर्ख है। तो पहले होवे माहात्म्यका ज्ञान, फिर **सुदृढः सर्वतोधिकः** सबसे अधिक स्नेह होवे भगवान्‌से। यह नहीं कहते कि स्नेह किसीसे मत करो, बालकसे भी स्नेह होवे, मित्रसे भी स्नेह होवे, पतिसे भी स्नेह होवे, पत्नीसे भी स्नेह होवे, पुत्रसे भी स्नेह होवे, परन्तु सबसे अधिक स्नेह भगवान्‌से होवे—**सर्वतोऽधिकः**। यह तैयारी अपने हृदयमें रहनी चाहिए कि भगवान्‌का भजन नहीं छोड़ेंगे, चाहे

सारी दुनिया छूट जाये; और **सुदृढः सर्वतोऽधिकः** स्नेहमें दृढ़ता होवे और सबसे अधिक स्नेह भगवान्‌में होवे।

स्नेह माने समझो हृदयकी द्रवता, मिठास, चिकनाई। सबसे ज्यादा प्रेम तुम किसको देते हो? भगवान्‌को देते हो कि नहीं? और ऐसा तो नहीं है कि जरा-सा विघ्न पड़ेगा और हट जाओगे? तो दृढ़तासे पकड़ो और सबसे अधिक स्नेह भगवान्‌से करो। इस प्रेमका नाम भक्ति है और यह भक्ति ही मुक्ति देनेवाली है।

भक्ति माने अलगाव होता है, भाग-विभाग। इधर बायीं ओर संसार रहा, दाहिनी ओर भगवान् रहे तो हमने अपनी आँखें दाहिनी ओर वाले भगवान्‌से जोड़ दी और बायीं ओरसे अपनी आँख हटा ली। भक्ति माने भाग—**भागो भक्तिः**। हिस्सेदारी कर दी। एक ओर प्रपंचको कर दिया, एक ओर भगवान्‌को कर दिया और अपनी प्रीति भगवान्‌से जोड़ दी।

भजनं भक्तिः भगवान्‌की सेवा करना भक्ति है। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने निरूपण किया है कि 'भज्' धातुका अर्थ सेवा है। और जो 'ति' प्रत्यय है उसका अर्थ स्नेह है। स्नेहपूर्वक भगवत्सेवाका नाम भक्ति है। भगवान्‌की सेवा करो खूब, लेकिन स्नेहसे। तो बालक-भगवान्‌की सेवा करना है तो स्नेह चाहिए और जवान-भगवान्‌की सेवा करनी है तो प्रेम चाहिए। और बड़े ऐश्वर्यशाली भगवान्‌की सेवा करनी हो तो उसमें श्रद्धा, उसमें भक्ति चाहिए। बड़ेके प्रति श्रद्धा होती है, बराबरके प्रति प्रेम होता है और छोटेके प्रति स्नेह होता है। तो उन्होंने 'स्नेह' शब्दका प्रयोग किया है।

ऐसी स्थितिमें योगके बाद आत्मज्ञान, आत्मज्ञानके बाद भगवान्‌की भक्ति, भगवान्‌की भक्तिके बाद परमात्माका ज्ञान। तो सातवें अध्यायमें अब भगवान्‌की भक्ति और भगवान्‌के विज्ञानका, ज्ञानका, तत्त्वज्ञानका वर्णन प्रारम्भ करते हैं अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्ण—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ ७.२

बोलते हैं हम तुमको ज्ञानका उपदेश करते हैं। तो, कभी-कभी ज्ञान परोक्ष भी होता है। जैसे मान लो कोई अणु-बम बनानेकी रीति बताते हैं कि

एक खास धातु होती है, जिसके द्वारा अणुबम बनता है। तो खूब बता देते हैं कि वह धातु ऐसी होती है, ऐसी होती है, उसके अमुक मिश्रणसे अणुब्म बनता है और बनानेवाला समझ भी जाता है और वह धातु मिले तो बना भी सकता है; परन्तु यदि वह मसाला है ही नहीं उसके पास तो उसके बारेमें जितनी जानकारी हुई वह परोक्ष जानकारी हुई, अपरोक्ष जानकारी नहीं हुई। तो अब प्रश्न यह आया कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको ज्ञानका उपदेश करने जा रहे हैं, तो कोई परोक्ष ज्ञानका उपदेश करेंगे कि अपरोक्ष ज्ञानका उपदेश करेंगे?

परोक्ष ज्ञान उसको कहते हैं जिसके बारेमें जानकारी तो बहुत हो, लेकिन अनुभव न हो। और अपरोक्ष ज्ञान उसको कहते हैं जिसके बारेमें साक्षात् अनुभव हो।

जो आँखोंसे परे है उसको परोक्ष बोलते हैं। **अक्षेभ्यः परः परोक्षः**। जो सब इन्द्रियोंसे परे है उसको परोक्ष बोलते हैं। जैसे स्वर्गके बारेमें तो आपलोगोंकी जानकारी होगी। मुसलमान भी जानते हैं कि बहिस्त कैसा होता है! और ईसाई भी जानते हैं कि ईश्वरका स्वर्ग राज्य, दिव्य राज्य कैसा होता है और हिन्दू भी सुनते हैं कि स्वर्ग ऐसा होता है, ऐसा होता है। लेकिन स्वर्गके बारेमें आपकी इतनी जानकारी परोक्ष जानकारी है, प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है, क्योंकि आपने कभी स्वर्गमें जाकरके प्रत्यक्ष देखा नहीं, विश्वासपूर्वक शास्त्रवचनके द्वारा स्वर्गको जानते हैं। तो यह जो भगवान् ज्ञानका उपदेश करने जा रहे हैं वह ज्ञान क्या स्वर्गके ज्ञानके समान ही है? तो बताते हैं कि नहीं, हम ऐसे ज्ञानका वर्णन करने जा रहे हैं जो अपरोक्ष है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ ७.२

ऐसे ज्ञानका उपदेश करेंगे जिसके साथ विज्ञान जुड़ा हुआ है। तो गीतामें वैसे ज्ञान शब्दका प्रयोग कई रीतिसे किया हुआ है। जब कभी गीता पढ़ते हैं तो गीतामें ज्ञान किसको कहा गया है, इसकी खोज करें तो अद्‌भुत-अद्‌भुत अर्थ निकलते हैं।

देखो एक ज्ञान ऐसा है जो परमात्माका स्वरूप ही है। तेरहवें अध्यायमें **सत्यमज्ञानमनन्तम् ब्रह्म** श्रुतिके समान ही जो कहा—**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि**

सर्वस्य विष्ठितम्। (१३.१७) यहाँ 'ज्ञानं' माने ज्ञानस्वरूप ब्रह्म; और ज्ञानगम्यं माने ज्ञानके द्वारा ही जो जाना जाता है। इसका अर्थ क्या हुआ? कि तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य अविद्या निवर्तक जो ज्ञान है उसको 'ज्ञानगम्यं' कहते हैं। एक ही श्लोकमें, एक ही अर्द्धालीमें 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं' कहा है। वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानसे गम्य है। स्वयं ज्ञान है और ज्ञानसे प्राप्त होता है। तो जो प्राप्त होता है वह ज्ञान ब्रह्मका स्वरूप है और जिससे प्राप्त होता है वह तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान है। वृत्ति ज्ञान है।

देखो अठारहवें अध्यायमें ज्ञान क्या बताया—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

एक सात्त्विक ज्ञान है, एक राजसज्ञान है। एक तामस ज्ञान है। ज्ञानमें तीन भेद कर दिया—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८.१८

अब वहाँ देखो, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीका वर्णन है। तो यहाँ ज्ञान शब्दका अर्थ क्या है? और उसके साथ विज्ञान क्या जुड़ा हुआ है, इसपर विचार करें।

भगवान् कहते हैं कि मैं विज्ञान सहित ज्ञानका उपदेश तुमको करता हूँ। मध्वाचार्यजी महाराज कहते हैं कि विशेष ज्ञानका नाम विज्ञान है और परमात्म ज्ञानका नाम विज्ञान है। ज्ञान माने परमात्माका ज्ञान और विज्ञान माने विशेष ज्ञान। सातवें अध्यायमें तीन ज्ञान हैं परा प्रकृतिका ज्ञान, अपरा-प्रकृतिका ज्ञान और परमात्माका ज्ञान। तो परमात्माका जो ज्ञान है—वह तो ज्ञान है और परा प्रकृति और अपरा प्रकृतिका जो ज्ञान है वह विशेष ज्ञान विज्ञान है।

एक महात्मा ऐसे वर्णन करते हैं कि ज्ञान माने साक्षात् अपरोक्ष अनुभव और विज्ञान माने उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए जो विशेष प्रक्रिया है, विशेष प्रयोग है सो; माने जो साधन है उसका नाम विज्ञान है।

अमरकोशमें विज्ञानका प्रयोग शिल्पकलाके अर्थमें किया गया है **विज्ञानं शिल्पकलाः।**

यह देखो, एक पत्थर है और उसमें खोदकर मूर्ति बनानी हो, नक्काशी करनी हो, तो उस नक्काशीके बारेमें जो जानकारी है वह विज्ञान है और यह पत्थर किस किस्मका है, क्या है? वह ज्ञान है।

महात्मा लोग यूँ वर्णन करते हैं इसका कि कार्यपरसे दृष्टि हटाकर कारणविषयक एकताको जानना ज्ञान है। अनेक परसे अपनी नजर हटायी और एकको जाना—इसका नाम ज्ञान है और एकमें-से अनेक कैसे निकला, विविधता कैसे हुई, सर्ग-विसर्ग कैसे हुआ, सृष्टि-विसृष्टि कैसे हुई—इसको जानना विज्ञान है। कारणमें-से कार्यकी उत्पत्ति कैसे हुई इसको जानना विज्ञान है और सारा कारण एक ही कार्यमें कैसे समा जाता है, इसको जानना ज्ञान है।

श्रीमद्भागवतमें ग्यारहवें स्कन्धमें श्रीकृष्ण, जो वहाँ उपदेष्टा हैं—वही जो यहाँ अर्जुनको उपदेश करते हैं—ज्ञान और विज्ञानकी एकता बताते हैं। आप यह देखो, साधनके सम्बन्धमें पूरी जानकारी होनी चाहिए। वह क्या है? जैसे कोई देख ले कि कश्मीर जानेका नक्शा यह है यहाँ से दिल्ली जाना पड़ता है। वहाँसे हवाईजहाजसे श्रीनगर जाना पड़ता है या पठानकोट जाना पड़ता है और वहाँसे बससे कश्मीर जाना पड़ता है। सारा नक्शा किसीने देख लिया, लेकिन गया कभी नहीं; नक्शामें देख लिया पहलगाँव यहाँ है, गुलमर्ग यहाँ है और अमरनाथकी यात्रा ऐसे होती है, सब यात्राका नक्शा प्राप्त कर लिया, पर जाकर कभी नहीं देखा। तो बोले—सामान्य जानकारी तो उसको हो गयी, लेकिन विशेष जानकारी उसको नहीं हुई। तो आजकल जो लोग चार दिन वेदान्तकी बात सुन लेते हैं, उनको नक्शा ही मालूम पड़ता है। जैसे कोई नक्शेमें देखकर कहे कि हम यहाँ पहुँच गये हम कश्मीर पहुँच गये नक्शेमें। तो नक्शेमें देखनेवाला भी कहता है कि हम कश्मीर पहुँच गये और जो सचमुच कश्मीर जाता है वह भी कहता है कि हम कश्मीर पहुँच गये। तो दोनोंमें कोई फर्क है कि नहीं? अरे नक्शेमें पहुँचना दूसरी चीज है भाई और वास्तवमें कश्मीर पहुँचना दूसरी चीज है। तो विज्ञानका अर्थ है कि जो साधनका उपयोग करके, योगमें बैठकर जो कश्मीर पहुँचता है वह वस्तुतः कश्मीरमें पहुँचता है और जो केवल दस मिनट, बीस मिनट, घण्टे-आध घण्टेमें नक्शेमें देखकर ढूँढ लेता है कि यह कश्मीरमें अमुक-अमुक जगह है, वह कश्मीर नहीं पहुँचता है।

तो ईश्वरकी ओर पहुँचना हो तो विज्ञान और ज्ञान दोनों ही प्राप्त करना चाहिए। बिना विज्ञानके जो ज्ञान प्राप्त करेगा, यदि उसमें संशय और विपर्यय बना रह गया, प्रतिबन्ध बना रह गया तो सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी। हम यह नहीं कहते कि ज्ञान प्राप्त हो जानेके बाद क्या करना, क्या नहीं करना लेकिन ज्ञान प्राप्त होनेके पहले जो करना उसपर ध्यान देना चाहिए। तीन बातका विवेक संसारमें करना जरूरी है—

१. असली सुख क्या है और दुःख क्या है?

२. चेतन क्या है और जड़ क्या है? और

३. हित क्या है और अहित क्या है।

जहाँ तुम फँसे हुए हो वह क्या सच्चा सुख है? दिनभरमें पच्चीस दफे दुःखी होते हैं, यह दुःख आया, यह दुःख आया, रोते हैं और कहते हैं हम बड़े सुखी, हम बड़े सुखी!

एक हमारे पास बालक था, उसने एक बार नियम लिया कि अब मैं दुःखी नहीं होऊँगा। अब महाराज, नियम तो ले लिया, लेकिन दुःख तो होय, तो धड़ाधड़ आँखसे आँसू गिरें—स्त्रीने ऐसा कह दिया, भाईने ऐसा कह दिया, झर-झर आँसू गिरें। पर कहे कि स्वामीजी मैंने नियम लिया है कि मैं दुःखी नहीं होऊँगा, आँसू गिरते हैं तो क्या? मैं दुःखी नहीं होऊँगा।

तो देखो संसारमें कितने दुःख है, इसपर विचार तो करो। कभी अपने मनकी वस्तु नहीं मिलती है तो दुःख होता है। कभी अपने मनका काम नहीं होता है तो दुःख मिलता है। कभी अपने मनके अनुसार अपने रिश्तेदार-नातेदार काम नहीं करते हैं, सम्बन्धी काम नहीं करते हैं तो दुःख होता है। कभी अपने अभिमानपर चोट लगती है, तो दुःख होता है। तो अपने मनका भोग न मिलनेसे, अपने मनके अनुसार काम न होनेसे, अपने मनके अनुसार सम्बन्धियोंका मनन होनेसे और अपने अभिमानपर ठेस लगनेसे तरह-तरहके दुःख दिन भरमें आते रहते हैं।

तो देखो दुःख किस पक्षमें है? असलमें दुःख अभिमानपर ही पड़ता है। जबतक अभिमान है तबतक दुःखकी चोट पड़ती रहेगी। तो बेवकूफ लोग क्या करते हैं कि कोई हमको चोट पहुँचावे नहीं, ऐसी कोई कोशिश करते हैं और बुद्धिमान लोग क्या करते हैं? कि अपना अभिमान ही मिटा दो

तो दुःख नहीं होगा। बेवकूफ और बुद्धिमानमें यही फर्क है। ये हमको ऐसा न कहें तो दुःख नहीं होगा—दूसरेकी जुबानपर ताला लगाना—यह बेवकूफीका निशान है। और हम अपने अहंको इतना चिकना, इतना स्निग्ध बनावेंगे कि उसपर अगर कोई चोट मारे तो फिसल जाये। ऐसा निरभिमान अपनेको बना देंगे कि किसीकी चोट नहीं लगे। साधक लोग ऐसे दुःखसे बचनेकी कोशिश करते हैं।

देखो संसारमें कितनी बार तो लोग बेवकूफ बनाते हैं। ग्राहक दुकानदारको बेवकूफ बनाना चाहता है और दुकानदार ग्राहकको बेवकूफ बनाना चाहता है और इसमें ज्यादा सफलता दुकानदारोंको मिलती है। ग्राहक बेचारे तो मजबूर होते हैं। तो यह जो बेवकूफ बनानेकी प्रणाली है, बननेकी और बनानेकी, तो देख लो जिसको संसारमें कोई वस्तु नहीं चाहिए उसको क्या कोई बेवकूफ बना सकता है? हमको यदि परमात्मा चाहिए, ब्रह्म चाहिए, ईश्वर चाहिए, अपने अन्तःकरणकी शुद्धि चाहिए, आत्माका साक्षात्कार चाहिए, तो अब कोई तुम्हारा सब कुछ ले ले तो क्या बेवकूफ बनोगे?

तो सुख क्या है, दुःख क्या है? ज्ञान क्या है, अज्ञान क्या है? बेवकूफी क्या है, समझदारी क्या है? और विनाशी क्या है, अविनाशी क्या है? इसपर विचार करो। तो संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो अविनाशी होवे। तो ज्ञानके मार्गमें चलनेकी प्रक्रिया यह है कि दो ढेर बना लो। इधर जाओगे तो दुःखका ढेर है और उधर जाओगे तो सुखका ढेर है। अब हमको दुःखसे वैराग्य हुआ, दुःख भोगते-भोगते हम ऊब गये, अब सुखके रास्तेमें चलेंगे। यह भी क्या कोई रास्ता है कि रात-दिन दुःखकी ही चोट पड़ती रहे? यह भी क्या कोई रास्ता है कि उसमें हमको हमेशा ही बेवकूफ बनना पड़े? यह भी क्या कोई रास्ता है कि विनाशी वस्तुओंमें ही हम हमेशा फँसे रहे? तो संसारकी ओरसे आँख फेर करके ईश्वरकी ओर चलना, यह विवेकका मार्ग है। नहीं तो आप देखो, सीधी-साधी बात है—एक आदमी किसीसे प्रेम करता है तो यदि प्रेम करनेवाला तो जिन्दा रहे और जिससे प्रेम किया जाय वह मर जाये तो बनेगा कुछ? जिन्दगी भर रोना पड़ेगा। क्यों? तुम ऐसी चीजसे प्रेम करते हो जो मरनेवाली है? जीव अजर है, अमर है, जीव नहीं मरता। अगर वह देहसे भी प्रेम करेगा तो देह मर जायेगा। और जो सबकी है उससे

प्रेम करेगा तो वह चीज भी मरेगी। देह भी मरेगा और देहसे सधनेवाली चीज भी मरेगी। तो यदि तुम ऐसी वस्तुसे प्रेम करोगे जो अजर है, अमर है, अविनाशी है, परमात्मा है तब तो तुम हमेशा सुखी रहोगे और यदि ऐसी वस्तुसे प्रेम करोगे कि तुम तो जिन्दा रहो और वह वस्तु नष्ट हो जाये, भ्रष्ट हो जाये, मर जाये तो दुःखी होना पड़ेगा। इसलिए प्रेम करना हो तो ईश्वरसे प्रेम करो जो कभी मरता नहीं है, जो कभी बेवकूफ बनाता नहीं है, जिसको दुःख कभी छूता नहीं है, परमानन्दस्वरूप है। यही विवेकका मार्ग है।

तो ईश्वरके प्रति राग और जो ईश्वर नहीं है, उसके प्रति वैराग्य! घृणा किसीसे नहीं करना, द्वेष किसीसे नहीं करना लेकिन उसके प्रति वैराग्यका भाव रखना। वैराग्य माने न राग, न द्वेष। उसकी याद ही मत करो। मरे तो मरे और जीये तो जीये। जिसकी याद करनेसे चित्तमें जलन होती है, उसकी याद काहेको करते हो? जिसकी याद आनेसे फन्देमें फँसना पड़ता है उसकी याद क्यों करते हो? जिसके स्मरणमें बन्धन है, जिसके स्मरणमें दुःख है, जिसके स्मरणमें मृत्यु है, उसका स्मरण क्यों करना? उधरसे अपने मनको हटाओ और भगवान्‌में मनको लगाओ। इसीका नाम होता है विवेक और वैराग्य। यह विज्ञान है कि हम अपने जीवनके रहस्योंको समझें, अपने मनकी चालोंको समझें और अपने मनको संसारकी ओरसे समेटकर ईश्वरकी ओर ले चलें, नहीं तो यह संसार हमको बड़ा दुःख देगा। एक बार उसमें किसीकी आसक्ति होवे तो वह जबतक नरकमें पटक नहीं लेगा, तबतक शान्त नहीं होगा। अगर इस रास्तेमें बहोगे तो पहले तो मालूम होगा कि हम देखते भर हैं, फिर मालूम होगा हम बात करते भर हैं, फिर मालूम होगा हम छूते भर हैं और फिर वही देखना, वही बात करना, वही छूना ऐसी जगह ले जाकर पटकेगा जहाँ नरकके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं रहती है। यह संसारका राग ऐसे मार्गमें लिए जा रहा है।

तो इसका विज्ञान यह है कि अपने मनको धीरे-धीरे भगवान्‌में लगाओ। भगवान्‌के नामका सहारा लो, जप करो, बारम्बार नाम दुहराओ—कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! बारम्बार जैसे कोई अंकुश लगा करके—कृष्णमें यह जो 'ऋ' है सो अंकुश है—जैसे अंकुशमें फँसाकर कोई अपने मनरूपी हाथीको दूसरी तरफको मोड़े, इसी तरहसे अपने इस मन-पतंगको मोड़ने लिए यह कृष्ण नाम

अंकुश है। भगवान्‌के सौन्दर्यमें अपने मनको फँसाओ, यह विज्ञान है। अपने मनमें काम-क्रोध मत आने दो। अपनी इन्द्रियोंको विषय-सम्पर्कमें अधिक मत आने दो, इसका नाम विज्ञान है। ज्यादा काम-धंधा मत रोपो, बढ़ाओ मत, बस निर्वाहके मार्गपर चलो। इसका नाम जीवन-विज्ञान है।

अगर कभी कोई दुःख आवे तो दुःखके बदले दुःख देने जाओगे तो क्या करोगे? एकने तुमको गाली दी, अब तुमने कहा कि बदलेमें हम भी गाली देंगे तो वैसे तो संसारके वातावरणमें एक गाली गूँज रही थी, एकने गाली दी। अब तुमने गाली दी तो दो गाली गूँजने लगी और तीसरेने कहा—ये दोनों गाली-गलौज करनेवाले कुछ नहीं, तो तीसरी गाली गूँजने लग गयी, इस प्रकार गाली-पर-गाली, संसारमें गालीका वातावरण बनेगा। और एकने गाली दिया तो दूसरेने चुप लगाकर सह लिया, तो एक ही गाली रही न, उसका तो पता ही नहीं लगेगा संसारमें। बादमें वह खो जायेगी, उसका पता नहीं लगेगा। तो चाँटेके बदले चाँटा नहीं, अपने जीवनमें व्यवहारमें, गालीके बदले गाली, कि अगर उन्होंने ऐसा कहा तो इसका जवाब दिये बिना नहीं मानेंगे। हमारा रोम-रोम काँप रहा है, हमारा जीभ वशमें नहीं है, अरे भाई तुम्हारी जीभ वशमें नहीं, रोआँ रोआँ काँप रहा है, तो जब तुम्हारे शरीरके अंग ही तुम्हारी बात नहीं मानते हैं तो दूसरेसे क्यों मनाना चाहते हो? इसका मतलब यह हुआ कि तितिक्षा अपने जीवनमें आनी चाहिए।

तुम्हें कोई रास्ता बतानेवाला है कि नहीं? इसका विज्ञान यही है कि इसपर बताये हुए मार्गसे चलना पड़ता है। तुमको कोई ज्यादा जानकार अबतक मिला कि नहीं मिला? बोले—नहीं जी, हमसे ज्यादा जानकार दुनियामें और कौन है? इसीको कहते हैं अभिमानकी चोटीपर बैठे हुए हैं। बोले—मिलते तो बहुत हैं, लेकिन हमारा हित चाहनेवाला कोई नहीं है। हमारा मददगार कोई नहीं है। कि इतने असहाय हो तुम? तुम्हारा कोई मददगार नहीं, तुम्हारा कोई सहायक नहीं? यह तुम्हारी स्थिति है! इसका विज्ञान यह है कि जो जानकार हैं उनके बताये हुए रास्तेपर चलना पड़ता है, इसलिए श्रद्धा करनी पड़ती है। और महाराज, यह मनको बहुत हल्का करके चलनेका मार्ग है। जिसका मन हल्का नहीं, वह इस रास्तेपर नहीं चल सकता—

या पै चले न कोई गरबकी लैके गागरिया।
खोर है रसकी सांकरिया॥

यह रसकी खोर सांकरी गली है, इसपर अभिमानका घड़ा सिरपर रखकर कोई नहीं चल सकता।

'अति छीन मृणालके पातहूँ ते'

कमलनालसे जो ताँत निकलती है, उससे भी ज्यादा यह सूक्ष्म है।

यह प्रेमको पंथ करारो महा, तरवार की धार पै धावनो है।

यह प्रेमका मार्ग बड़ा करारा है। यह तो महाराज तलवारके धारपर चलना है। तो अपने मनको इधर-उधर न जाने दे करके शान्त करना और शान्त मनको भगवान्‌की ओर ले चलना।

विज्ञानका अर्थ है प्रयोगात्मक ज्ञान-विशेष ज्ञान। अनुभव करते हुए आगे चलो, अनुभवके रास्तेमें आगे बढ़ो। केवल जबानी जमा खर्चमें, केवल बुद्धिमानीमें फँसे मत रह जाओ, अनुभव करते हुए आगे चलो।

अब देखो न, हम लोगोंकी स्थिति क्या है? सारी दुनियाके बारेमें मालूम होगा कि हमारे पड़ोसीकी बेटी कैसी है, बहू कैसी है? सास कैसी है और ननद कैसी है? सारी बातें लोगोंको मालूम रहती हैं। लेकिन अपना मन कैसा है, इसका पता नहीं रहता है। आपमें हिम्मत है कि आपके मनमें आध घण्टे तक जितनी बातें आवें, वह सब उगलते जाओ? कितनी बुरी-बुरी बातें आती हैं, अटपटी, असंगत बातें! अगर सब बोलते जाओ, तो उसी दिन पति छोड़ दे और उसी दिन पत्नी छोड़ दे। उसी दिन बाप-बेटे अलग हो जायें। उसी दिन मित्र-मित्र बिगड़ जायें। उसी दिन नौकर और मालिक न रह जायें—इतनी ऊटपटाँग बातें आती हैं। रास्तेमें चलते-चलते बात आती है कि सामने जानेवालोंको गिरा दें! तो इसका मतलब यह हुआ कि मन हमारा एकदम पागल हो रहा है। यह तो भीतर बैठकर कलेजेमें पागलपन कर रहा है।

हमारे काशीमें एक सेठ थे, उनके ऊपर जिन्न आता था। तो जब अकेलेमें होते, खूब ताली बजा-बजाकर नाचते और कुरानकी आयत बोलते, और जब लोग आ जाते सामने, तो बिलकुल हाथ जोड़ते और साधुकी तरह बैठ जाते। तो यह हमारा मन जो है, यह हमारे कलेजेमें बैठ

करके 'आयत' पढ़ रहा है। क्या-क्या कल्पना कर रहा है, जरा इसकी तरफ भी तो देखो! यह तो महाराज कभी ऊँटकी तरह सिर उठाता है, तो कभी साँपकी तरह जमीनमें लोट जाता है। विष नहीं छोड़ता। तो क्या ऐसे ही मनको लेकर काम करना है? यह तो भले मानुस तो इसलिए बने हैं कि आप सच समझना, मनमें आता है कि इसे मारें, लेकिन हाथ नहीं उठाते हैं कि हाथपर हमारा काबू है, मनके कहे हाथ नहीं उठाते हैं। मनमें आता है इसे भला बुरा कह दें, लेकिन जीभपर काबू है, नहीं बोलते हैं, इसलिए भले मानुस बने बैठे हैं। अगर यह चामका पर्दा उधेड़ दिया जाय तो असलियत प्रकट हो जाय। प्रभुने बड़ी कृपा करके जो यह पर्दा हमको दिया है, यह उसका बड़ा प्रेम है, बड़ा वात्सल्य है।

एक मित्रने देखा कि उसका मित्र शराबके नशेमें नग्न पड़ा है। तो उसने अपनी चद्दर उतारकरके शरीर परसे उसके ऊपर ओढ़ा दिया कि भाई दूसरे लोग उसको नंगा नहीं देखें। ईश्वरने देखा कि यह जीव बुराइयोंसे घिर गया है। इसके दिलमें बुरे-बुरे भाव उठते रहते हैं, ऊपरसे उसने शरीरकी खोली डाल दी, कि किसीको पता न चले कि यह मनमें बैठकर क्या देख रहा है। देखो यह ईश्वरकी कृपा, यह ईश्वरकी करुणा! क्या कृपा बरस रही है ईश्वरकी, जो हमारी बुराई लोगोंके सामने वह जाहिर नहीं होने देता है। हम सोचते हैं कि दूसरेको गाली दें, दूसरेको मार डालें, दूसरा बहुत बुरा है, इसका छीन लें। इसके साथ बुरा व्यवहार करें, लेकिन ईश्वर उसको जाहिर नहीं होने देता, मनकी मनमें ही दबा देता है। यह ऊपरसे खोल पड़ी हुई है।

तो यह पागल मन लिये हुए हम लोग जो संसारमें डोल रहे हैं, इस पागल मनसे हम कौन-सी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं? भोगका सुख भी नहीं मिल सकता। ऐसे चंचल मनसे, ऐसे दुष्ट मनसे भोगका सुख नहीं मिल सकता। भोग तो आया थालीमें सामने, बहुत बढ़िया बना हुआ है हाथसे मुँहमें डालते जा रहे हैं, पर मन कहाँ है? मन तो दुश्मनसे उलझ रहा है। तो भोजनका स्वाद आवेगा? होम कर रहे हैं और मन कहाँ है? जिसने गाली दिया है वहाँ, या जो विषय भोग प्राप्त करना है वहाँ मन चला गया तो धर्मका आनन्द आवेगा? न धर्मका आनन्द आवेगा, न दानका आनन्द आवेगा, न

भोगका आनन्द आवेगा। अगर हमारा मन इतना चंचल होगा तो कैसे हमारे जीवनमें आनन्दकी प्राप्ति होगी?

तो विज्ञानका अर्थ यह है कि भाई पहला टीका यही लगना चाहिए, प्राक् तिलक यही होना चाहिए, प्रैक्टिकल बात यह होनी चाहिए कि हमारा मन हमारे बताये हुए ढंगसे ईश्वरकी ओर चले-भगवान्का नाम ले, भगवान्की पूजा करे और सचमुच संसारसे छूटनेकी इच्छा हमारे मनमें उदय होवे। तो ये जो परम्परा साधन हैं, ये जो बहिरंग साधन हैं, जो अन्तरंग साधन हैं ये विज्ञान हैं। और इस विज्ञानके द्वारा जो सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है, वह वृत्तिज्ञान है और उस वृत्तिज्ञानके द्वारा अविद्याका नाश हो जानेपर जो रहता है वह परमात्मा है। तो उस विज्ञान सहित ज्ञानका अब हम निरूपण करने चल रहे हैं—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

ऐसा ज्ञान केवल कृष्ण ही कहते हैं। हमारे पार्थ सारथि भगवान्को छोड़ करके और कौन बोलेगा? श्रीकृष्ण वेदके अनुसार बोलते हैं, वैदिक सत्यका प्रतिपादन करते हैं—

यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

एक ऐसी चीज है कि अगर वह जान ली जाये तो सब कुछ जान लिया जाता है। तो भक्ति जो है वह विज्ञान है। अब आप देखो आपको सीधा-सीधा बताते हैं। परा प्रकृति और अपरा प्रकृतिका जो ज्ञान है वह विज्ञान है और साक्षात् जो पुरुषोत्तम भगवान् हैं वे ज्ञानस्वरूप हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।

जिससे भगवान् हमारी आँखोंके सामने आकर खड़े हो जायें, झिलमिल-झिलमिल ज्योति झलकने लग जाये। हमारे सामने पीताम्बरधारी, मुरली मनोहर, साँवरे सलोने, व्रजराजकुमार आकरके जिससे हमारे सामने खड़े हो जायँ, उसका नाम विज्ञान है। और, ये कैसे सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं—यह बात जिससे जान ली जाये उसका नाम ज्ञान है। श्रीकृष्ण भगवान्की सच्चिदानन्दताको जानना ज्ञान है और वह मुरली मनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर आकर हमारी आँखोंके सामने प्रकट हो जायें, हमारा हाथ पकड़ लें, हमारे सिरपर हाथ रख दें, हमको अपने हृदयसे लगा लें, इसका नाम

भक्ति है, इसका नाम विज्ञान है और यह विज्ञान सहित ज्ञानको यदि किसीने जान लिया तो फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

'यद् ज्ञानं ज्ञात्वा'=जिस ज्ञानको जानकर। ज्ञानको जानना क्यों? ज्ञान तो स्वयं प्रकाश है। बोले—हाँ, ज्ञान तो स्वयं प्रकाश है, परन्तु संशय और विपर्ययसे वह प्रतिबद्ध हो जाता है। तो संशय विपर्ययका निवारण करना ही असलमें ज्ञानको जानना है। ऐसा कि वैसा? यह संशय है। और फिर उलटा निश्चय कर लिया कि नहीं, यही—इसका नाम विपर्यय है। जैसे बोले—भाई सुख ईश्वरमें है कि संसारमें है? यह संशय हुआ। अब उलटा निश्चय क्या हुआ कि बोले—सुख संसारमें है। अच्छा जब यह उलटा निश्चय हो गया तो संसारकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करो—तो यह अज्ञान हो गया।

देखो, 'एक परमात्मा सत्य है'—यह ज्ञान है और 'उसीमें यह प्रपंच, उसका स्वरूप ही अलग-अलग दिखायी पड़ रहा है'—यह विज्ञान है, और यह प्रपंच सत्य है—यह अज्ञान है। यदि यह प्रपंच सच्चा है तो यह अज्ञान है। ज्ञान यह है कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं। विज्ञान यह है कि सब दिख रहा है तब भी परमात्मा ही है। और अज्ञान क्या है? कि यह प्रपंच सच्चा है। जादू के खेलको सच्चा समझना, यह जैसे बच्चेका अज्ञान है। इसी प्रकार इस मायिक प्रपंचको सच्चा समझ बैठना और इसमें फँसना, इसका नाम अज्ञान है। तो—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

आओ इस ज्ञानस्वरूप परमेश्वरको जानो। **यज्ज्ञात्वा**में 'यत्' माने यज्ज्ञानं=ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म। और ज्ञात्वा माने तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्ति विषयी कृत्य। महावाक्यजन्य वृत्तिका विषय बनाकरके ब्रह्मको जानकर। '**नेह**'में जो 'इह' है उस इह माने ज्ञानविज्ञान विषय। यदि ब्रह्मको तुमने जान लिया, परमात्माको जान लिया, भगवान्को जान लिया, तो ज्ञान और विज्ञानके विषयमें दूसरा कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता है, माने सब कुछ जान लिया हुआ हो जाता है, कुछ भी अनजाना नहीं रहता है।

अब इस प्रसंगको फिर कलके लिए रखते हैं।

❖

: २.२ :

ज्ञानकी पूर्णता

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।

यहाँ वक्ष्यामिके साथ 'ते' जो पद है, उसका एक अर्थ यह है कि 'तुमको कहूँगा'—**ते त्वा—द्वितीयार्थे चतुर्थी**। इसका दूसरा अर्थ है—'ते तुभ्यं वक्ष्यामि'—तुम्हारे हितके लिए मैं कहूँगा। 'ते'का अर्थ है तुम्हारे लिए, तुम्हारे हितके लिये।

तीसरा इसका अर्थ है—'**ते तवैव ज्ञानं वक्ष्यामि**'—यह जो मैं ज्ञान कहूँगा, यह किसी दूसरेका नहीं, तुम्हारा ही ज्ञान है।

चौथी इसमें ध्वनि है—'**ते तव अहं त्वा वक्ष्यामि**'—मैं तुम्हारा हूँ। ते माने तव—तुम्हारा, अहं माने मैं। मैं बोलनेवाला कौन? तुम्हारा परमप्रिय मित्र। ते तव अहं त्वा वक्ष्यामि—मैं तुम्हारा हूँ। जैसे भक्त लोग जब भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं, तो कहते हैं कि हे प्रभु मैं तुम्हारा हूँ, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हुए कहते हैं—अर्जुन! मैं तो तुम्हारा ही हूँ।

भगवान् जिसके अपने हों, उसके लिए कोई भी ज्ञान, विज्ञान दुर्लभ नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञानोंके निधान—खजाने तो स्वयं भगवान् ही हैं। और भगवान् हैं भक्तके—

हम भगतनके भगत हमारे।
सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे॥

इससे अर्जुन और कृष्णका जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वह सूचित होता है। 'ते तव अहं'—मैं तुम्हारा हूँ।

खांडव दाहके समय इन्द्रका एक मित्र खांडव-वनमें फँस गया था। इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि कृष्ण! हमारे इस मित्रको खांडव-दाहसे बचा लो! तो कृष्णने अर्जुनसे कहा—भाई, इसको बाहर निकल जाने दो, भस्म मत करो। अर्जुनने छोड़ दिया। तो इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्न होकर इन्द्रने कहा कि श्रीकृष्ण वर माँगो, तुम्हें क्या चाहिए? तो कृष्णने इन्द्रसे कहा कि हमारी और अर्जुनकी मित्रता सर्वदा बनी रहे। मैं यही चाहता हूँ कि हमारी और अर्जुनकी मित्रतामें कभी कोई विघ्न, कोई बाधा न पड़े। तो अपने मित्रके

साथ श्रीकृष्ण ऐसी मैत्रीका निर्वाह करते हैं। इसलिए बोलते हैं—ते तव अहं—अर्जुन मैं तुम्हारा ही हूँ।

जब महाभारत युद्ध हो रहा था, एक दिन एकान्तमें कृष्ण-अर्जुन—दोनों बैठे हुए थे। अर्जुनने पूछा कि कृष्ण! युद्धमें जय-पराजय दोनों होते हैं, कहीं किसीका अस्त्र-शस्त्र मुझे लग गया और मैं युद्ध-भूमिमें मर गया, तो क्या करोगे?

यही प्रश्न कर्णने शल्यसे भी किया था—शल्य! तुम हमारे सारथि हो, यदि युद्धमें कहीं अर्जुनके शस्त्रसे मैं मर गया, तो तुम क्या करोगे? तो शल्यने कहा—तुम मर जाओगे तो मैं अपने देश लौट जाऊँगा, और क्या करूँगा?

परन्तु यहाँ श्रीकृष्णने कहा, अर्जुन! पहली बात तो यह है कि मैं जब तुम्हारा सारथि हूँ, रक्षक हूँ, तो तुम्हारा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता, लेकिन कदाचित् ऐसा हो गया कि किसीके ब्रह्मास्त्रने तुम्हें मार दिया तो मैं क्या करूँगा बताऊँ? कि मैं अपने हाथमें चक्र लेकर कौरवोंकी सारी सेनाका संहार कर दूँगा, इतना ही नहीं, समूचे ब्रह्माण्डका प्रलय कर दूँगा, मैं अपने अर्जुनके बिना रह नहीं सकता। मैं अर्जुनका और अर्जुन मेरा।

धृतराष्ट्रने संजयको भेजा था कि जाकर पाण्डवोंका समाचार ले आओ। जब संजय गये श्रीकृष्ण-अर्जुनके पास महाभारततमें उद्योग पर्वमें यह कथा है—उस समय श्रीकृष्ण, अर्जुन, सत्यभामा, द्रौपदी एक ही कमरेमें सब आनन्दमें मग्न हो रहे थे। श्रीकृष्णने संजयसे कहा कि जाकर कह देना धृतराष्ट्रसे, कि—

कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्जुनके आत्माका नाम कृष्ण है और कृष्णके आत्माका नाम अर्जुन है; कृष्ण और अर्जुन ये दोनों दो नहीं हैं—**सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्**। एक ही सत्ता दो आकार धारण करके, दो रूप धारण करके स्थित हो रही है। अर्जुनका अस्तित्व कृष्णसे जुदा नहीं और कृष्णका अस्तित्व अर्जुनसे जुदा नहीं। **सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्** एक ही सत्ता दो रूपमें स्थित है।

तो महाराज प्रेमका निर्वाह करनेवाला कृष्ण सरीखा दूसरा कोई सृष्टिमें नहीं है। इसलिए बोलते हैं—अर्जुन, मैं तुम्हारा हूँ।

अब दूसरी बात क्या है?

अहं वक्ष्यामि—मैं वर्णन करता हूँ। दूसरा कोई वर्णन करे तो उसमें भ्रम हो सकता है। वर्णन करनेमें प्रमाद हो सकता है। वर्णन करनेवाला ठग हो सकता है—विप्रलिप्सु। अथवा वर्णन करनेवालेकी बुद्धि तत्त्वको ठीक-ठीक ग्रहण न करती हो—ऐसा हो सकता है। और, यहाँ श्रीकृष्ण स्वयं सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान भगवान् बोले—**तेऽहं वक्ष्यामि**—वक्ता मैं। इसलिए जिस विषयका मैं वर्णन करूँगा, उसमें किसी प्रकारका भ्रम, प्रमाद होना सम्भव नहीं है। और, वर्णन भी कुछ छोड़कर नहीं करूँगा—**अशेषतः वक्ष्यामि।**

'अशेषतः'का अभिप्राय श्रीवामन बापटने पण्डितने विचित्र ही किया है। महाराष्ट्रमें, मराठी भाषामें, अद्भुत टीका गीतापर लिखनेवाले हुए हैं ये बामन पण्डित—बामन बापट। वे कहते हैं कि यहाँ 'अशेषत:' पदका अभिप्राय क्या है? बोले कि जब वेदान्तकी रीतिसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान हो जाता है कि जो आत्मा सो ब्रह्म, जो ब्रह्म सो आत्मा—आत्मा भी निर्गुण निर्विशेष, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न साक्षी चेतन और ब्रह्म भी—तो ये दोनों तो एकमें मिल गये, जगत्‌का क्या हुआ? तो बोले—देखो ज्ञान तो हो गया, परन्तु अभी कुछ शेष रह गया। क्या शेष रह गया? अब यह वामन पण्डितकी युक्ति है भाई। बोले—आत्मा ब्रह्म है, यह ज्ञान हो गया, परन्तु जगत् भी ब्रह्म ही है—यह ज्ञान अभी नहीं हुआ। तो 'अशेषत: 'का अर्थ यहाँ यह है कि भगवान्‌की प्रतिज्ञा यह तो है ही कि आत्मा ब्रह्म है और यह ज्ञान तो मैं तुमको दूँगा ही, यह जगत् भी ब्रह्म है, यह ज्ञान भी मैं तुमको दूँगा। इसलिए भगवान् अशेषत: पदका प्रयोग करते हैं कि कुछ भी बाकी नहीं रखूँगा। यह नहीं कि जितना पूछा उतना बता दिया या कुछ शेष रख दिया। कि नहीं, शेष कुछ नहीं रखूँगा—'अशेषत:'। माने जगत्‌का ज्ञान भी दे दिया कि यह जगत् भी ब्रह्म रूप ही है।

अब देखो, 'अशेषत:' पदका एक दूसरा अभिप्राय। इस प्रकारका अभिप्राय नासिकमें कोई सौ बरस पहले एक पण्डित हुए हैं श्रीहरिसूरि—उन्होंने दिया है। उन्होंने अशेष पदका अर्थ यह दिया है कि पहले नारायण भगवान् शेषको उपदेश करते हैं, फिर शेष जो हैं वे सनत्कुमारादिको उपदेश

करते हैं, फिर सनत्कुमारादिकी परम्परासे लोकमें ज्ञानका विस्तार होता है। तो मूलमें नारायण, नारायणके बाद शेष, शेषके बाद सनत्कुमार, उसके बाद सांख्यायन बृहस्पतिकी परम्परासे ज्ञान चलता है। तो बोले कि देखो, ज्ञान संसारमें पहुँचते-पहुँचते कई मुखोंमें जाता है। पहले नारायणके मुखसे निकला, फिर शेषके हृदयमें गया, फिर शेषके हजारों मुखसे निकला, फिर सनत्कुमारादिकोंको प्राप्त हुआ। तो ज्ञानमें परम्परा हो गयी। 'अशेषत: 'का अर्थ है अभी शेषके कानमें जो चीज नहीं पड़ी, शेषके हृदयमें जो बात नहीं गयी, वह मैं स्वयं नारायण उस ज्ञानका उपदेश तुमको कर रहा हूँ। इसलिए परम्परासे यदि ज्ञानमें कुछ विकास हो जाये या ह्रास हो जाये, न्यूनाधिक्य हो जाये, तारतम्य आ जाये, तो वह दोष अभी हमारे ज्ञानमें नहीं आया है, क्योंकि स्वयं मैं ही इस ज्ञानका उपदेश कर रहा हूँ। **अशेषतो वक्ष्यामि।**

'वक्ष्यामि' जो क्रिया है, यह भी विलक्षण है। एक तो **ब्रूहि धातुसे वद् आदेश होकरके** 'वक्ष्यामि' बनता है और एक 'वद्' धातुसे वक्ष्यामि—यह रूप बनता है। इसका अर्थ है इस ज्ञान परम्पराका मैं प्रवचन करूँगा और इस ज्ञान-परम्पराका मैं वहन करता हूँ। माने मैं नाश नहीं होने देता हूँ। ऐसे ज्ञानका उपदेश मैं तुमको कर रहा हूँ जो हमेशा ही बना रहेगा। अबतक इस ज्ञानका नाश नहीं हुआ है और आगे भी इस ज्ञानका नाश नहीं होगा, यह ज्ञान अविनाशी है।

यह ज्ञान कैसा? बोले—**ज्ञानं सविज्ञानम्**—विज्ञान सहित ज्ञान है। आप जानते हैं गीतामें ज्ञान-विज्ञान शब्दका प्रयोग स्थान-स्थानपर भिन्न-भिन्न रीतिसे होता है। ब्राह्मणके जहाँ स्वाभाविक कर्म बताये हैं, वहाँ ज्ञान-विज्ञान शब्दका प्रयोग है—

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्। १८.४२

ब्राह्मणका स्वाभाविक कर्म क्या है? बोले—ज्ञान और विज्ञान। ज्ञान सम्पादन करना और उसका अनुष्ठान करना—यह ब्राह्मणका काम है।

अब वहाँ ज्ञान और विज्ञानका क्या अर्थ हुआ? जैसे एक ब्राह्मण है, उसने पाठशालामें जाकर ज्ञान प्राप्त किया कि होम कैसे करना चाहिए—पण्डितने उसको होमका मन्त्र बता दिया, होमकी पद्धति बता दी, लेकिन उसको कभी होम करानेका मौका नहीं पड़ा। तो प्रणीता भी रख ली, प्रोक्षणी

भी रख ली, कुशका प्रस्तार भी कर लिया, संस्कार भी कर दिया कुशका, लेकिन होम उसने कभी किया नहीं है, तो बैठते समय घुटना उसका कैसे होना चाहिए? यह उसे पता ही नहीं। अभी मैंने एक जगह देखा था महाराज, ब्राह्मण लोग कुर्सीपर बैठे थे, पाँव नीचे लटका हुआ और जैसे कोई पानी फेंकता हो, ऐसे हाथ नीचे करके आहुति फेंकते जाते थे। इसका अर्थ है कि उनको होमका विज्ञान नहीं मालूम है या मालूम है तो प्रमाद कर रहे हैं। दो ही बात हो सकती है। क्योंकि होम करते समय **'पातितवामजानुः'**—बायाँ घुटना ब्राह्मणका धरतीपर होना चाहिए। जो चीज प्रणीतामें होम डालनेका है अगर प्रोक्षणीमें पड़ गया तो गलत हो गया। धुँआ आँखमें लगा और आँसू गिर गये तो बिना प्रायश्चित्तके आगे बढ़ना नहीं चाहिए। कुशाकी जड़ अगर दक्षिण या पश्चिमको हो गयी तो प्रायश्चित्ती हो गया। तो यह जो होमका विज्ञान है—कैसा शाकल्य हो, कैसा घृत हो, जिस प्रक्रियासे हवन किया जाय उस समय हाथकी मुद्रा ऐसी होनी चाहिए कि जैसे आदरसे किसीको देते हैं हविष्य वैसी होनी चाहिए। तो देवताके लिए जो आदरभाव होना चाहिए, जो उसकी प्रक्रिया है, विज्ञान है, वह मालूम नहीं है। तो हवन करनेका ज्ञान दूसरी चीज है और हवन करनेका विज्ञान दूसरी चीज है। पाठशालामें ज्ञान प्राप्त किया जाता है और क्रियात्मक रूपसे-प्रयोगात्मक रूपसे उसका विज्ञान प्राप्त किया जाता है।

हमारे वृन्दावनमें एक वैद्य हैं; वे आयुर्वेद शास्त्रमें निष्णात हैं; लेकिन उनसे कहो कि हिंग्वाष्टक चूर्ण बना दें तो नहीं बना सकते। वे आयुर्वेद शास्त्र पढ़ा सकते हैं। तो पढ़ानेका ज्ञान दूसरी चीज है और हिंग्वाष्टक चूर्ण और रस-भस्म निर्माणकी प्रक्रिया दूसरी है और नाड़ी देखकर इस रोगपर यह औषधि लाभ करेगी यह जो उसका विज्ञान है, निदान है, उपशम है, यह चार अंग सहित आयुर्वेदको जानना—यह उसका विज्ञान है क्रियात्मक रूपमें।

तो यह जो परमात्माका ज्ञान है ब्रह्मज्ञान यह तो महाराज रास्तेमें चलता हुआ बालक भी 'तत्त्वमसि' महावाक्य बोल सकता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' बोल सकता है। पर यह तुमने कहीं 'सोऽहं' सुन लिया या 'अहं ब्रह्मास्मि' सुन लिया, तो यह सुन लेनेसे या याद हो जाने से या बोल लेनेसे कोई ब्रह्मज्ञान हो गया कि ब्रह्मविज्ञान हो गया—ऐसा नहीं है। ठीक प्रयोगकी

रीतिसे साधन प्रारम्भ करके, अन्तःकरणको शुद्ध करके उसका अधिकारी हो करके, महावाक्य-जन्य वृत्तिका उदय होनेपर, फिर अविद्याकी निवृत्ति होती है, तब वह ज्ञान होता है, यही है विज्ञान सहित ज्ञानकी प्राप्ति।

एक सज्जन हैं, उन्होंने दस-पन्द्रह दिनमें मोटर चलाना सीख लिया और प्रमाण-पत्र उसका ले लिया, लाइसेंस मिल गया। अब वे मोटर चलाने लगे, लेकिन मोटर चलते-चलते कभी बन्द हो जाय, तो मोटरमें बिजली कैसे पैदा होती है, वह उसके तारोंमें कैसे घूमती है, कहाँ उसका कनेक्शन टूट गया है, ये सब बात वे नहीं पहचानते हैं। तो मोटर रुक गयी। आजकल स्त्रियाँ चलाती हैं न मोटर तो जब रुक गयी तो बोनट खोलकर खड़ी हो गयीं, अब कोई आया, मदद की, तब वह चली। इसका अर्थ है कि मोटर चलानेका ज्ञान तो उनको है, पर मोटर चलनेका जो विज्ञान है जिस विज्ञानके अनुसार वह मोटर चलती है, उस विज्ञानका उनको पता नहीं है। तो ऐसे ही औषधिका विज्ञान होता है, मोटर चलानेका विज्ञान होता है और अनुभव-पर्यन्त विज्ञान होना चाहिए।

जहाँ-जहाँ सविशेष और सगुण पदार्थका विज्ञान होता है, वहाँ ज्ञान जुदा होता है और विज्ञान जुदा होता है। नवें अध्यायके प्रारम्भमें ही बताया है गीतामें और जगह भी बताया है **यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।** (९.१) ज्ञान-विज्ञानका ऐसा वर्णन किया है कि ज्ञान मानो पहले होता हो और विज्ञान बादमें आता है। तो संसारकी जितनी भी चीजें हैं, उनके बारेमें जानकारी पहले और उनका अनुभव बादमें; परन्तु निर्गुण-निराकार ब्रह्मका जो ज्ञान है, उस ज्ञानमें, ज्ञान और विज्ञान जुदा-जुदा नहीं होते, केवल ऐक्यका अपरोक्ष साक्षात्कार होना ही वहाँ ज्ञान और विज्ञानकी समाप्ति है। ऐसी अवस्थामें वहाँ ज्ञान और विज्ञान इन दोनों शब्दोंका अर्थ क्या होगा? तो वहाँ इन दोनों शब्दोंका अर्थ विलक्षण ढंगसे करना पड़ेगा। वह क्या है? तो वहाँ जो सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकता है; यह जो श्रवणजन्य निश्चय है, इसको कहते हैं, ज्ञान, परन्तु इसमें यदि संशय और विपर्यय रह जाय तो वह अपूर्ण ज्ञान होता है। उस संशय और विपर्ययकी निवृत्तिके लिए मननके द्वारा संशयका और निदिध्यासनके द्वारा विपर्ययका निवारण किया जाता है। तो संशय और विपर्ययके निवारण हेतु जो मनन और निदिध्यासन है उसको विज्ञान बोलते हैं और केवल

अज्ञानकी निवृत्तिका जो हेतु है उसको ज्ञान बोलते हैं। ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है और विज्ञानसे संशय और विपर्ययकी निवृत्ति होती है। तो निश्चय हो गया कि आत्मा ब्रह्म ही है; परन्तु मैं जीव हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं कर्त्ता हूँ, मैं संसारी हूँ—इस प्रकारका जो विपर्यय है वह विपर्यय अभी छूटता नहीं है। उस विपर्ययको छुड़ानेके लिए जो क्रियात्मक रूपसे विजातीय प्रत्ययका तिरस्कार करके सजातीय वृत्तिका प्रवाह अन्त:करणमें किया जाता है उसको ही निदिध्यासन कहते हैं जो विज्ञानशब्द वाच्य है। कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि मनन निदिध्यासन सहित तत्त्वज्ञानका निरूपण करनेके लिए यह अध्याय प्रारम्भ होता है।

तो भाई, इस अध्यायकी ओर देखें—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

विज्ञान सहित ज्ञान—इसमें ज्ञान मुख्य हुआ और विज्ञान उसका सहयोगी हुआ। जैसे कोई मन्त्री हो और मन्त्रीके साथ सहमन्त्री हो। जैसे कोई सभापति हो और उसके साथ सहसभापति हो। तो सभापति मुख्य होता है और सहसभापति गौण होता है, मन्त्री मुख्य होता है और सहमन्त्री गौण होता है। इसीलिए यहाँ ज्ञान तो मुख्य मल्लका निर्वहक है, सबसे बड़ा जो पहलवान है उसको पछाड़नेवाला है। ज्ञान प्रधान मल्लकी तरह है। दूसरे पक्षका जो पहलवान है उसको पछाड़नेवाला है ज्ञान और उसके साथ वाले जो हैं वे अन्योंको पछाड़नेवाले हैं। जैसे कंसको पछाड़नेवाले श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण चाणूरको मारनेवाले हैं और मुष्टिक, शल, तोपलको मारनेवाले बलरामजी हैं। तो बलराम विज्ञानरूप हैं और श्रीकृष्ण ज्ञान रूप हैं। जैसे कंसकी सभामें जब प्रवेश करते हैं, तो कृष्ण और बलराम दोनों ही प्रवेश करते हैं, परन्तु कंसको मारनेवाले श्रीकृष्ण ही हैं।

कंस माने हिंसक—***कसि हिंसायाम्; कंसति, हिंसति इति कंसः***। जो हिंसा करे माने एकसे काट-काटकर अनेक कर दे इस छेदक-परिच्छेदकका नाम ही कंस है। तो कृष्ण ज्ञानस्वरूप हैं और वे द्वेष पैदा करनेवाले कंसको मारते हैं; और बलरामजी कृष्णके सहयोगी हैं, कंसके अधीन रहनेवाले दूसरे जो मल्ल हैं मुष्टिकादि उनको बलरामजी मारते हैं। तो विज्ञानरूप

बलरामजी हैं और ज्ञानरूप श्रीकृष्ण हैं। इसमें अन्तमें देखो बलरामजी अपने शरीरको छोड़ते हैं और श्रीकृष्णजी स्वयं अपने ज्ञानमय श्रीविग्रहको लेकरके अपने धाममें प्रवेश करते हैं। इस प्रकारसे इसका निरूपण होता है।

अब यह ज्ञान यदि प्राप्त हो जाय तो?

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

इस ज्ञानकी महिमा बताते हैं। यह ज्ञान स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीमद्भागवतमें बताया—

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्। ४.३.२३

विशुद्ध सत्त्वका नाम वसुदेव है। विशुद्ध सत्त्व माने विशुद्ध अन्त:करण और देवकी सर्व देवतामयी प्रज्ञा है, बुद्धि है—

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

वसुदेवके पेटमें कृष्ण नहीं, देवकीके पेटमें कृष्ण माने ब्रह्माकार जो वृत्ति है उसके पेटमें ब्रह्मज्ञान और वसुदेव शुद्ध अन्त:करण। वसुदेव शमदमादि बहिरंग साधन-स्वरूप हैं और देवकी-श्रवण-मननादि स्वरूप है। श्रवण-मननादि ज्ञानका अपरोक्ष जनक है और बहिरंग साधन जो है वह करण शोधक है।

तो अब आओ 'यज्ज्ञात्वा'का अर्थ क्या है? यह श्रीकृष्णरूप ज्ञान कंस निवर्तक, पूतना-निवर्तक, अविद्या निवर्तक यह कृष्णरूप ज्ञान है। इसको जान लो, पहिचान लो। माने ज्ञानस्वरूप जो ब्रह्म है उसको अपनी वृत्तिका विषय बना लो। तब क्या होगा?

बन्धन=पाश=फंदे, बन्धन। 'पाश' शब्द जो है संस्कृतमें उससे फाँसी शब्द बना है। पाशका हो गया गलफाँस, फन्दा। परमात्माका ज्ञान होगा तो सारे पाश, सारे बन्धन कट जायेंगे।

तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति।

यदि परमात्माको जान लोगे तो यहीं अमृतत्वकी प्राप्ति हो जायेगी। मरनेके बाद नहीं।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।

परमात्माको जान लोगे तो मृत्युका अतिक्रमण हो जायेगा, मृत्युके पार चले जाओगे।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

ब्रह्मानन्दको जिसने जान लिया, वह निर्भय हो गया। तो

यज्ज्ञात्वा ज्ञातव्यं नावशिष्यते।

अब यह तीसरी बात हुई। एक बात तो यह हुई कि इसको जान लेनेसे अमृत हो जाते हो माने अविनाशी हो जाते हो, सत् हो जाते हो। और, उसको जान लेने से आनन्दरूप हो जाते हो—यह दूसरी बात हुई। और उसको जान लेनेसे संसारके जो सारे पाश हैं, सम्बन्ध हैं वे कट जाते हैं, बन्धनसे मुक्त हो जाते हो।

अब चौथी बात यह बतायी कि जड़ता फिर कभी नहीं आ सकती, अज्ञान कभी नहीं आ सकता। इसको जान लेनेसे फिर मृत्यु नहीं, बन्धन नहीं, दुःख नहीं, अज्ञान नहीं। क्योंकि कुछ भी जानना शेष नहीं रहता—

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

परमात्माका ज्ञान हो जानेपर सर्वका विज्ञान हो जाता है। तो **'भूय अन्यत् ज्ञातव्यं न अवशिष्यते'** फिर दूसरा कुछ भी जाननेके लिए बाकी नहीं रह जाता। जिसने सोनेको जान लिया, उसके लिए कौन-सा कड़ा है और कौन-सा कंगन है और कौन-सा कुण्डल है, यह पहननेके लिए तो जानना बाकी है, लेकिन धातुके रूपमें कुण्डल भी स्वर्ण है, कटक भी स्वर्ण है यह बात उसने जान ली, धातु कोई ज्ञातव्य बाकी नहीं रही। जिसने मिट्टी जान ली उसने सकोरा और घड़ा सब जान लिया। जिसने लोहेको जान लिया उसने तलवार, नहरना (Nailcutter) और सुई सब जान लिया, क्योंकि सब लौहमें ही कल्पित हैं। इसी प्रकार जिसने परमात्माको जान लिया उसके लिए जानना कुछ भी बाकी नहीं रह जाता है, क्योंकि परमात्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है।

यह बात आयी है उपनिषद्में जब श्वेतकेतु सम्पूर्ण विद्या प्राप्त करके लौटे तब अभिमान ऐसा बढ़ गया, महाराज, कि पिताको प्रणाम ही नहीं किया। विद्याका अभिमान था। सच्ची विद्या वह है जिससे विनय आये। **विद्या ददाति विनयम्**—विद्या विनय देती है। जो सच्चा विद्वान् होगा वह विनयी होगा। अब यहाँ श्वेतकेतु तो बड़ा सात्त्विक पुरुष था, इसीलिए उसको श्वेतकेतु बोलते हैं। केतु माने झण्डा, पताका और श्वेत माने सफेद, सात्त्विकताका झण्डा ऊँचा किये हुए, बड़ा ऊँचा झण्डा उसका, बड़ा पवित्र आचरणवाला और बड़ा

विद्वान्। परन्तु जब पढ़कर आया तब अपने बापको प्रणाम नहीं किया—स्तब्ध! बोले—यह क्या विद्याका फल! अभिमान निवृत्ति विद्याका फल है, अभिमानकी वृद्धि तो विद्याका फल नहीं है। पिताने कहा—बेटा, क्या-क्या पढ़ आये? अब उसने गिनती गिनाना शुरू किया, यह पढ़ा, यह पढ़ा, यह पढ़ा। वह तो जानता था कि हमारे पिताजीको इतने शास्त्रोंका नाम ही नहीं मालूम होगा; वे तो मूर्ख हैं। पिताजीने अन्तमें पूछा कि क्यों बेटा तुमको उस वस्तुका ज्ञान हुआ जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है? उसने कहा कि पिताजी ऐसा होना सम्भव ही नहीं है कि किसी एकको जाने और दूसरेका ज्ञान हो जाये! मोहनको जानें और सोहनका ज्ञान हो जाये! मिट्टीको जाने और पानीका ज्ञान हो जाये! ऐसा कैसे हो सकता है! एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होना सम्भव नहीं है और यदि हमारे गुरुजीको यह बात मालूम होती तो वे हमको यह बात भी तो बताते न! तो हमारे गुरुजीने भी नहीं बताया, तो ऐसा होना सम्भव नहीं है। उन्होंने बताया क्यों नहीं हो सकता बेटा! जब एक मिट्टीके जान लेनेसे मिट्टीके सारे विकार जान लिये जाते हैं, एक सोनाको जान लेनेसे सोनेके सारे विकार जान लिये जाते हैं और एक लोहेके सब विकारका ज्ञान हो जाता है। तो सम्पूर्ण जगत्के मूलमें जो बैठा हुआ है अभिन्न निमित्तोपादान कारण, जिसने जगत्को बनाया और बनाया दूसरी चीजसे नहीं, स्वयं बन गया। वह जो जगत्का मूल मसाला है, उस मूल उपादानको जान लेनेपर क्यों नहीं ऐसा हो सकता कि सारे जगत्का ज्ञान हो जाये?

श्वेतकेतुने कहा—हाँ, है, ऐसा होना सम्भव तो है। पिताजीने कहा—सम्भव है तो बेटा उसको सीखो, अभिमान मत करो! तब श्वेतकेतुका अभिमान टूट गया और उसने ब्रह्मविद्या प्राप्त की।

३. तत्त्वज्ञानकी दुर्लभता

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ७.३॥

अर्थ :—सहस्रों मनुष्योंमें कोई ही सिद्धिके लिए (अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए) यत्न करता है और उन यत्नशील सिद्धोंमें कोई-कोई ही मुझको तत्त्वतः जानता है॥ ३॥

: ३.१ :

मनुष्यका बन्धन कहाँ है ?

यह ब्रह्मज्ञान वह ब्रह्मज्ञान है जिसको जान लेनेपर, प्राप्त कर लेनेपर दूसरी वस्तु जाननेके लिए शेष नहीं रह जाती, परन्तु यह ज्ञान बहुत आसान नहीं है। पहले तो ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेकी लोगोंको इच्छा ही नहीं होती। नोन-लकड़ीमें ही सन्तोष हो जाता है, चार रोटी मिल गयी खानेको, कपड़ा पहन लिया, थोड़ा भोगविलास कर लिया, थोड़ी पलटन हो गयी अपने घरमें, थोड़े नोटोंके बंडल घरमें आगये, थोड़ा मकान हो गया, बस अब हम संसारमें कृतकृत्य हो गये।

बोले—हाँ भाई फर्नीचर तो तुम्हारे घरमें बहुत आ गया, लकड़ी, पत्थर और लोहेकी बनी चीजें तो तुम्हारे घरमें बहुत आ गयीं। एकके घर हम गये थे। उन्होंने बताया कि जिस ड्राइंगरूम (बैठक)में हम बैठे थे, वह एक करोड़ रुपयेकी सामग्रीसे सजाया हुआ है। इसमें वह विदेशी सामग्री और वे मूर्तियाँ थीं। नटराजकी मूर्तिके बारेमें बताया कि नब्बे हजार रुपयेमें उन्होंने खरीदी है। क्या आनन्द है! हाँ चार वस्तुएँ तुम्हारे ड्राइंगरूममें ज्यादा आ गयीं, पर ज्ञान कितना है, चेतन कितना है? जड़ तो बहुत आया तुम्हारे पास, चेतन कितना आया तुम्हारे पास? चेतन भी तो चाहिए न! तो मनुष्य भोगके लिए प्रयास करता है, जो कि रोगके मूल हैं। भोगोमें-से रोग निकालते हैं।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।

भोग तो भोगे नहीं गये, भोगोंने ही हमको भोग डाला। भोजन समाप्त नहीं हुए दाँत घिस गये। अब यह समझो कि रोटी और सब्जीने दाँत तो खा लिया कि दाँतने रोटी सब्जीको खाया? रोटी और सब्जीने दाँतोंको खा

लिया, ऐसे घिस गये कि ऊपरके दाँत अलग पड़ गये और नीचेके दाँत अलग, अब बीचमें ग्रास डालो तो दबे ही नहीं। घिस गये दाँत—**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः**। भोग नहीं भोगे गये, हम भोगे गये।

तपो न तप्ता वयमेव तप्ताः—तप नहीं तपा गया, हम ही तप गये।

कालो न यातो वयमेव याताः—समय तो कटा नहीं, हम ही कट गये। काल तो गला हुआ है और हम बीतते जा रहे हैं। समय नहीं बीत रहा है, समय बना हुआ है और हम बीतते जा रहे हैं। हम बीत जायेंगे और समय बना रहेगा।

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा—लालच तो खत्म हुई नहीं और हम खत्म हो गये। मरनेके दिनतक लालच बनी रहती है, मरते समयतक लालच बनी रहती है, अगली पीढ़ी और अगले जन्मके लिए भी लालच बनी रहती है। यह तृष्णाका स्वरूप है।

हम भोग करनेमें धन इकट्ठा करनेमें, कामका गोरखधन्धा बढ़ानेमें लगे हैं। देखो, हम काम करते हैं किसलिये? करेंगे नहीं तो भोग कहाँसे मिलेगा? भोग करते हैं किसलिये? कि भोगेंगे नहीं तो काम कैसे करेंगे? लेकिन परमात्माको भूल गये, आत्माको भूल गये, सत्यको भूल गये। यह स्थिति है। तो महाराज यह देखो कि तुम्हारे जीवनमें सच्चाईका ज्ञान कितना आया! सच्चा आनन्द कितना मिला? अपने जीवनमें सच्चरित्रताका प्रवेश कितना हुआ!

हमारे सच्चिदानन्दका सीधा-सीधा अर्थ है, बहुत टेढ़ा नहीं। सत्का अर्थ है हमेशा रहना। तो दूसरेको रहने दो और खुद रहो माने दूसरोंको मारो मत और खुद मरो मत। ऐसा अविनाशी जीवन प्राप्त करो कि मरना मारना तुमसे दूर रह जाय।

चेतनाका अर्थ यह है कि तुम अगर चेतन हो तो किसीके बनाये बेवकूफ बनो मत और दूसरेको बेवकूफ बनाओ मत। दूसरोंको ठगो मत और खुद ठगे जाओ मत। दुनिया तुम्हें ठग रही है और तुम दुनियाको ठगनेकी कोशिश कर रहे हो, यह कोई चेतनता हुई, यह कोई ज्ञान हुआ?

आनन्दका अर्थ यह है कि तुम खुद दुःखी बनो मत और दूसरेको दुःखी करो मत। तब तुम सच्चिदानन्द स्वरूप हो और खुद दुःखी और दूसरेको दुःखी कर रहे हो, खुद बेवकूफ और दूसरेको बेवकूफ बना रहे हो, खुद मौतके मुँहमें और दूसरेको मौतकी ओर धकेल रहे हो, इसका नाम सच्चिदानन्द नहीं है।

तो भाई, एक ऐसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करो, जिसको जान लेनेके बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

मनुष्य अपने मनसे एक वातावरण बनाता है और उसमें फँस जाता है। निरुक्तमें मनुष्य शब्दकी व्युत्पत्ति ही यही दी हुई है—***'मनसा सीव्यति'*** अर्थात् जो मनसे सी लेता है। जैसे हम सुईसे एक कपड़ेको दूसरे कपड़ेके साथ सी लेते हैं तो क्या होता है कि दोनों कपड़े आपसमें बँध जाते हैं। सुई-डोरा अपने हाथमें और दो कपड़े हमने लेकर सी दिये! इसीको बोलते हैं ***सीव्यति।*** सुईसे सी रहा है! तो मनुष्य किसको बोलते हैं? बोले—***'मनसा सीव्यति'।*** मनसे जो सीवे।

अरे! अपने शरीरको उनका बना दे, उनके साथ रिश्ता जोड़ दे, उनका इनके साथ रिश्ता जोड़ दे! यह मनुष्य कहते ही उसको हैं जो दुनियामें रिश्ता जोड़ता फिरे, सम्बन्ध जोड़ता फिरे। पैसेके साथ अपनेको सी दिया, पैसा मेरा मैं पैसेवाला। पत्नीके साथ अपनेको सी दिया, पुत्रके साथ अपनेको सी दिया। उनका वह, तेरा मैं, मेरा तू। इस प्रकार मेरा-तेरा जो बनाता फिरे, उसका नाम मनुष्य। पक्षियोंमें ऐसा ज्यादा नहीं चलता है, उड़ जाते हैं वे तो। पशुओंमें भी ज्यादा नहीं चलता है, देवताओंमें भी ऐसा ज्यादा नहीं चलता है।

यह जो सम्बन्ध है, बन्धनका ही नाम सम्बन्ध है। कोई बढ़िया मानके बँधते हैं। कोई महाराज, लोहेकी हथकड़ी-बेड़ी बनाकर ले आया, बोले—हट, हम लोहेकी बेड़ी-हथकड़ीमें नहीं बँधेंगे। वह सोनेकी बेड़ी-हथकड़ी बनाकर ले आया, बोले—हाँ लगा दो। चलो भाई बेड़ी हथकड़ीके रूपमें ही सही, सोना तो मिलेगा। तो सोना लेनेके लिए अपने हाथमें हथकड़ी और पाँवमें बेड़ी लगवा लिया। इसीका नाम है मनुष्य। मनुष्य माने जो अपनेको बाँध ले। मनुष्य शब्दका अर्थ है सम्बन्ध बनानेवाला। सम्बन्ध बना बनाके इसने अपनेको बाँधा। तो—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

यह जो महाराज बँधे-बँधे डोल रहे हैं, पूँछ नहीं है और बँध गये। अगर पूँछ होती तो कोई बाँध देता! चोटी-से-चोटी नहीं बँधी, कपड़े-से-कपड़ा नहीं बँधा। कपड़ा तो एक दिन बँधता है और बँध जाते हैं जिन्दगी भरके लिये। तो मनुष्यके लिए कोई प्रत्यक्ष बन्धन नहीं है, मनसे ही बँधा

हुआ है। मनसे बँध गये और मनसे खुल गये। बन्धन मनका ही है। मनसे ही बँध-बँधे डोलते हैं।

अब यह मनुष्य कैसे छूटे? तो बोले देखो—**मनुष्याणां सहस्रेषु**=हजार हजार मनुष्योंमें-से। **'सहस्रेषु'** पदका बहुवचनमें प्रयोग कर दिया। ये शत-शत, सहस्रेषु आदि जितने शब्द होते हैं वे अनन्तके वाचक होते हैं। माने अनगिनत मनुष्योंमें कोई ऐसा मनुष्य होता है जो सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है। अगणित, असंख्य मनुष्योंमें-से कोई एक मनुष्य ऐसा होता है जो सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है। सिद्धि माने अन्तःकरणकी शुद्धि।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। ३.२०
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। १८.४६
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे। १८.५०

गीतामें सिद्धि शब्दका प्रयोग कर्मकी सफलता और अन्तःकरणकी शुद्धि दो अर्थमें किया हुआ है।

यहाँ यह बात बतायी—**सहस्रेषु** कम-से-कम तीन हजार तो इसका अर्थ लेना है—**सहस्रं च सहस्रं च सहस्राणि तेषु सहस्रेषु। मनुष्याणां सहस्रेषु**—कम-से-कम तीन हजार मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य ऐसा निकलता है जो यह चाहता है कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध होवे। सिद्धि मिले हमको।

साल भरमें पाँच-दस आदमी तो ऐसे आते हैं हमारे पास जो आकर थोड़ा रोते हैं और कहते हैं कि हमको भगवान्‌का दर्शन करा दो, हाय-हाय हमको भगवान् नहीं मिले। एक दो आदमी इस बातके लिए भी आते हैं कि हमको तत्त्वज्ञान करा दो, बड़ी व्याकुलता है। लेकिन दो-दो, चार-चार, बरसमें भी कोई एक आदमी ऐसा नहीं आता जो यह कहे कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध कर दो। लोग दुश्चरित्रताको छोड़नेके लिए राजी नहीं हैं, दुर्भावको, दुर्गुणको छोड़नेके लिए राजी नहीं हैं। ईश्वरको पानेके लिए तो कभी-कभी उत्सुक भी हो जाते हैं। जब ईश्वरकी महिमा सुनते हैं और सोचते हैं कि पैसेसे ज्यादा कीमती है, तो मनमें आता है कि उसको भी हम अपने घरमें इकट्ठा कर लें। लेकिन उसके लिए जो तैयारी है—दुश्चरित्रता, दुर्भाव और दुर्गुणका परि-त्याग—वह करनेके लिए राजी नहीं। तो हजार-हजार मनुष्योंमें कोई ऐसा मनुष्य होता है जो अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए तत्पर होता है। ❖

: ३.२ :

तत्त्वज्ञानका अधिकारी

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

पहली बात इसमें यह है कि '**प्राणिनां सहस्त्रेषु कश्चिन्मनुष्यो भवति**'—करोड़-करोड़ प्राणियोंमें-से कोई मनुष्य होता है। यह बात श्लोकमें छोड़ दी है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि सब मनुष्य नहीं होते हैं।

अनादिकालसे अबतक कर्मके अनुसार ईश्वरके सहाय्यसे यह प्राणी भवसागरमें डूब-उतरा रहा है। जब इसके पापकर्म किंचित् शिथिल होते हैं, पुण्यकर्म भी किंचित् शिथिल होते हैं, तब दोनोंके मिश्रणसे मनुष्य-योनिकी प्राप्ति होती है। क्योंकि पुण्यकी प्रधानतासे तो देव आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं और पापकी प्रधानतासे नारकी पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य-योनि तब प्राप्त होती है जब मनुष्यके धर्माधर्म सम कोटिमें आते हैं। अधर्मका तराजू भी झुका हुआ न हो, धर्मका तराजू भी झुका हुआ न हो, धर्माधर्मके साम्यसे मनुष्य-योनिकी प्राप्ति होती है।

इसीसे मनुष्ययोनिमें यह विशेषता है कि अब तुम अपने पुरुषार्थको जिस ओर जोड़ोगे उसी ओर बढ़ जाओगे। धर्म करो तो अनादि कालसे अबतक किये हुए धर्मके संस्कार जाग्रत् हो जायेंगे और तुम धर्मात्मा बनकर आगे बढ़ोगे; और अधर्म करो तो अनादि कालसे अबतक किये हुए अधर्मके संस्कार जाग्रत् हो जायेंगे, तुम अधर्मात्मा बनोगे और फिर नरककी ओर बढ़ोगे। यह मनुष्य-योनि ईश्वरकी कृपासे स्वतन्त्र योनि है—चाहे धर्म करे और चाहे अधर्म करे, चाहे ऊपर उठे, चाहे नीचे गिरे।

अब समझो सत्कर्मके परिपाकसे अथवा ईश्वरकी कृपासे यह मनुष्य योनि प्राप्त हुई। तो यहाँ मनुष्य शब्दका एक अर्थ तो कल आपको सुनाया—

'मनसा सीव्यति'=जो मनसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। देखो, पशु और पक्षी और दूसरे प्राणी यह बात भूल जाते हैं कि यह मेरा बेटा है और यह मेरी बेटी है और यह मेरा बाप है और यह मेरा भाई है। आप देखो, कुत्तोंको इसका स्मरण कहाँ रहता है? बैलोंको इसका स्मरण कहाँ रहता है? गायके जो बछड़े होते हैं वे बड़े होनेपर भाई-भाईको याद नहीं करते हैं और न तो वे माँ-बापको याद करते हैं। परन्तु मनुष्य-शरीर सम्बन्ध बनानेवाला है। तो कहते हैं कि इसमें सबसे बढ़िया सम्बन्ध बनानेकी चीज क्या है? यत्न।

कश्चिद्यतति सिद्धये।

अगर तुम्हें किसीसे सम्बन्ध बनाना है तो सिद्धिके लिए किया जानेवाला जो प्रयत्न, उस प्रयत्नके साथ अपना सम्बन्ध बनाओ। माने एक मन्त्र बनाओ कि यह मेरा मन्त्र है, एक इष्ट बनाओ कि यह मेरा इष्ट है, एक साधनाकी पद्धति स्वीकार करो कि मैं इस मार्गसे चलनेवाला हूँ; अपने प्रयत्नके साथ सम्बन्ध जोड़ो और ऐसा जोड़ो कि जन्म-जन्ममें यही साधन करेंगे, क्योंकि तुम मनुष्य हो।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने '**मनुष्याणां**'की जो व्याख्या की है यह इससे किंचित् विलक्षण है। वे कहते हैं यहाँ मनुष्य पदका अर्थ मनुष्य योनि नहीं, है। तब क्या है? बोले—**शास्त्राधिकारयोग्यः** माने जो शास्त्रके अधिकारी हैं—**मनुष्यस्य हि शास्त्राधिकारित्वात्**। क्योंकि मनुष्य ही शास्त्राधिकारी है।

अब '**अमुक यज अमुक यज** अथवा '**अहरहः सन्ध्यामुपासीत्**'—प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करना चाहिए, ईश्वरकी आराधना करनी चाहिए'—यह जो शास्त्रका विधान है, यह किसी पशुके लिए नहीं है, पक्षीके लिए नहीं है, यह तो मनुष्यके लिए है। तो जो शास्त्रका अधिकारी है, उसीको यहाँ मनुष्य कहा हुआ है।

तब क्या मनुष्य-योनिके सिवाय और कोई शास्त्रका अधिकारी है? बोले—हाँ, देवता भी शास्त्रके अधिकारी हैं। यदि ये शमदमादि साधनसे सम्पन्न होकर और स्वर्ग लोकसे वैराग्यवान् होकरके ईश्वरकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करे, तो ब्रह्मसूत्रमें जो देवताधिकरण है—अधिकारीका जहाँ निर्णय है वहाँ यह कहा है कि देवता लोग भी भगवान्‌के भजनके मार्गमें चल सकते

हैं और उसको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए केवल मनुष्य-योनिमें पैदा हुआ—यही अभिप्राय नहीं है, बल्कि देवता-योनिमें मैदा हो, मनुष्य-योनिमें पैदा हो और असुर योनिमें भी पैदा हो, परन्तु यदि उसको यह ज्ञान है कि हमारा यह धर्म है, हमारा यह अधर्म है, हमको यह करना चाहिए तो वह भी यहाँके मनुष्य शब्दके अर्थमें आता है। माने देवताओंमें कोई-कोई सिद्धि-लाभके लिए प्रयत्न करते हैं, असुरोंमें भी कोई-कोई सिद्धिलाभके लिए प्रयत्न करते हैं, मनुष्योंमें भी कोई-कोई सिद्धिलाभके लिए प्रयत्न करते हैं, इसलिए जो शास्त्रके अधिकारी हैं उन सबके लिए यह बात कही—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज इस मनुष्य पदका अर्थ थोड़ा और विलक्षण करते हैं। देखो महापुरुष लोग एक ही शब्दको पढ़ते हैं और उसमें-से क्या-क्या अभिप्राय निकालते हैं। वे कहते हैं कि इसमें मनुष्य, देवता, दैत्य—यह नियम क्यों करते हो? मनुष्य पदका अर्थ है—

भगवत्सेवौपयिक शरीरः।

भगवान्‌की सेवाके लिए उपयोगी जिनका शरीर है। कोई कोयल है और वह कुहू-कुहू करके पंचम स्वरमें बोलती है और भगवान् उसको सुनकर प्रसन्न होते हैं, तो वह कोयलका शरीर भी भगवत्सेवौपयिक है, पक्षी भी। आखिर गीध भी तो भगवान्‌का भक्त है। जटायु गीध भी भगवान्‌का भक्त है। कागभुशुण्डि भी भगवान्‌के भक्त हैं, शुक भी भगवान्‌के भक्त हैं। यहाँ तक कि व्रजमें तो वृक्ष भी भगवान्‌के भक्त हैं।

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्। (भा. १०.२२.३३)

वे भी अपना सिर झुका करके फल-फूल भगवान्‌की सेवामें अर्पित करते हैं। वहाँकी लताएँ नाचती हैं, वहाँके वृक्ष फल-फूल देते हैं। श्रीगिरिराज गोवर्द्धन पत्थरके बने हुए हैं तो क्या? उनके झरने उनके वृक्ष, उनके पाषाण भी भगवत्सेवौपयिक हैं—जब वर्षा हो जाती है तब धुल जाते हैं और अपने ग्वालबाल-सखाओंके साथ श्यामसुन्दर अपने छींके खोलते हैं और उनमें-से भोजन निकालकर उन शिलाओंपर ही रखते हैं और उन शिलाओंको पत्तलकी जगहपर बनाकर भोजन करते हैं। तो वह शिला भी भगवान्‌की सेवामें प्रयुक्त होती है, इसलिए उसका जन्म भी धन्य है। मनुष्य

ही श्रेष्ठ नहीं है, वह शिला भी श्रेष्ठ है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियोंमें कोई-कोई ऐसे होते हैं जो भगवान्‌की सेवाके लिए उपयोगी शरीर प्राप्त करते हैं। उस उपयोगी शरीरका नाम ही मनुष्य-शरीर है। दो हाथ और दो पाँववाले जानवरका नाम मनुष्य नहीं है, बल्कि जो भगवान्‌की सेवामें लगे, उसका नाम मनुष्य है।

अब मनुष्य शब्दका यह अर्थ आप ध्यानमें कर लो।

१. जो संसारमें सम्बन्ध बनाता है, वह भगवान्‌से सम्बन्ध बनाने लग जाये सो।

२. जो शास्त्रका अधिकारी है सो;

३. जिसका शरीर भगवान्‌की सेवाके लिए उपयुक्त है सो।

शङ्कराचार्य भगवान्‌का अभिप्राय इस सम्बन्धमें दूसरे ढंगका है। उनका अभिप्राय यह है कि यह जो जगत् है इसमें नाम-रूप ये दो तो जगद्रूप हैं और इसमें जो सत-चित् आनन्द—अस्ति-भाति-प्रिय हैं वह ब्रह्म है—

तत्र त्रय ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।

नाम-रूप तो जगत् है और अस्ति भाति प्रिय—ये ब्रह्म है। अस्ति माने सत्, भाति माने चित् और प्रिय माने आनन्द। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है और यह जो तरह-तरहकी शक्ल सूरतें हैं कि यह स्त्री है यह पुरुष है, यह पशु है, यह पक्षी हैं इनके अलग-अलग जो नाम और रूप हैं यह जगत् है।

तो जिस नाम और जिस रूपमें सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति ज्यादा होवे वह अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है। देखो, पत्थरमें सत्‌की तो अभिव्यक्ति हुई, लेकिन चित् और आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं हुई; पक्षीमें, पशुमें सत्-चित् दोनोंकी अभिव्यक्ति हुई पर आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। तो जिसमें सत् माने सच्चरित्रता चित् माने तत्त्वको समझनेवाली बुद्धि और प्रिय माने परमानन्दके अनुभवकी योग्यता ये तीनों जिसमें प्रकट होवे, वह अभिव्यक्ति श्रेष्ठ है।

देखो, मनुष्यके शरीरमें ये दो हाथ हैं, हाथवाला और कोई प्राणी नहीं है, पशु-पक्षी किसीको हाथ नहीं हैं। ये बन्दर-वन्दरके जो हाथ हैं वे होम करनेके लिए नहीं हैं, वे ठाकुरजीकी सेवा-पूजा करनेके लिए नहीं हैं, मनुष्यका हाथ सेवा-पूजा करनेके लिए है। इस मनुष्यकी समझदारी कितनी बढ़िया है—लोक-परलोक सब समझ ले; और आनन्दके लिए तो यह

कैसी-कैसी युक्ति रच लेता है! रसोई पकाना मनुष्यके सिवाय और किसी प्राणीको आता ही नहीं है। ये कपड़े सीकर पहनना मनुष्यके सिवाय और किसीको नहीं आता। यह जो यज्ञ है, दान है, होम है, जप है, तप है, उपवास है, आनन्द—मुस्कान है यह मनुष्यकी ही विशेषता है। यह चेहरेपर जो मुस्कान है, जिसको देखकर लोग लुभा जाते हैं, यह मनुष्यके ही शरीरमें प्रकट होती है।

कहते हैं कि देवता हो कि मनुष्य हो कि दैत्य हो, ये सब ज्ञानाधिकारी हैं। देवता-दैत्य, तो फल योनिमें हैं, भोग योनिमें हैं। इनको कर्म करनेका अधिकार न होनेपर भी तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पानेका अधिकार है, यद्यपि प्रतिबन्ध—रुकावट तो बहुत है। दैत्य लोगोंका ज्ञानी होना बहुत मुश्किल है। क्यों? कि वे तो जगह-जगह लड़ाई-झगड़ा करते रहते हैं। एक आदमी जो लड़ाई कर लेगा, वह दिनभर फिर उसीके बारेमें सोचेगा, ईश्वरके बारेमें नहीं सोचता। सास-बहू सबेरे उठकर दो-दो बार नोंक-झोंककर लें, तो अब दिन भरके लिए मसाला मिल गया, अब ईश्वरकी याद क्या करोगे? बाप-बेटेमें सबेरे उठकर दो-दो बात हो गयी, भाई-भाईमें हो गयी, अब दिनभर वे यह सोचेंगे कि बाप ऐसा, भाई ऐसा, बेटा ऐसा, अब ईश्वरकी याद करनेके लिए समय कहाँ मिलेगा? तो जो लोग संसारमें मारपीट, लड़ाई-झगड़ा, नोंक-झोंक करते रहते हैं, वे तत्त्वज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। वे मनुष्य शरीरमें हुए, तब भी दैत्यपना उनके अन्दर ज्यादा है। क्रोध दैत्यका चिह्न है। इस जन्ममें मनुष्य हैं भले, पर पूर्व जन्ममें भी दैत्य न रहे हों तो अगले जन्ममें होने जा रहे हैं, क्योंकि उसके गुण प्रकट हो गये। भागवतमें ऐसे लिखा है—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥ ४.२९.६६

मन ही बता देता है कि यह आदमी पूर्वजन्ममें क्या था। आगे प्राणी क्या होगा, इसको भी मन ही बता देता है। तथैव न भविष्यत—यह आदमी जीवन्मुक्त हो जायेगा यह बात भी मन बता देता है। कैसे? कि जब वासना कम होती है, निर्वासन होता है मनुष्य, तो पता चल जाता है कि यह जीवन्मुक्त होनेवाला है।

तो तुम्हारे अन्दर दैत्य-समुचित वासना है कि देव-समुचित वासना है, कि मनुष्य-समुचित वासना है? मनुष्य यदि समुचित वासना है तब तो उसका नाश कर लोगे। दैत्यको ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह क्रोधी है। और देवताको भी ज्ञान होना बड़ा कठिन है क्योंकि उसके पास भोग है—कि इस नन्दनवनमें घूमनेके लिए चलो, इस विमानपर चढ़ो, यह अप्सरा साथ रखो, यह अमृत पीओ। भोग बाहुल्यके कारण, जो कामसे व्याकुल है, यहाँ जाना, वहाँ जाना, दिनभर जो भटक रहा है और यह भोगो, वह भोगो—ऐसा करके जो भोगके लिए व्याकुल हो रहा है उसकी बुद्धिके लिए ब्रह्मचिन्तनका अवसर ही कहाँ है?

तो भोगप्रधान, कामी देवताके लिए ब्रह्मज्ञान दुर्लभ और द्रोहीके लिए भी ब्रह्मज्ञान दुर्लभ और, लोभी मनुष्यके लिए भी ब्रह्मज्ञान दुर्लभ। यह मनुष्य लोभी है। दैत्य इतना लोभी नहीं है, उसको तो क्रोध आवे तो अपने सर्वस्वमें आग लगाकर भी अपने दुश्मनको मारेगा। और देवता अपने संचित पुण्यका नाश करके भी भोग भोगेगा। लेकिन यह मनुष्य महाराज न खाये न खिलाये, न भोगे न भोगावे, यह तो इकट्ठा करनेके निन्यानबेके चक्करमें पड़ गया। सबसे बड़ी कमजोरी मनुष्यके अन्दर यही है। वह किसलिये इकट्ठा कर रहा हैं, इसका उसको कुछ पता नहीं। वह यह नहीं सोचता है कि जैसे मैं कमाता हूँ, वैसे मेरा बेटा भी कमायेगा। यह तो कभी सोचता ही नहीं। सोचता है हम ही बेटेके लिए व्यवस्था कर जायें, कहीं वह न कमा सके तो? यही सोचनेमें लगा है। और, बेटे महाराज खींचनेमें ही लगे हैं। तो लोभ मनुष्यका प्रधान दोष है, इकट्ठा करना। अरे भाई आनेका रास्ता अगर तुम अपने घरमें रखते हो तो थोड़ा-सा जानेका भी रखो, निकलनेका भी कोई मार्ग रखो। निकलनेका मार्ग बिलकुल बन्द कर दिया और आनेका रखा, तो एक दिन फट जायेगा भला! वह थैली फटनेवाली है, टिकनेवाली नहीं है। तो मनुष्यकी कमजोरी है लोभ।

तो क्रोधी दैत्यको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता और कामी देवताको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता और लोभी मनुष्यको भी ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

कम-से-कम तीन हजार मनुष्योंमें-से एक हजार मनुष्योंको कामकी ओर फेंक दो, एक हजार लोभकी ओर फेंक दो, एक हजार क्रोधकी ओर फेंक दो; इन तीन हजार मनुष्योंमें कश्चित् कोई एक ब्रह्मज्ञानकी ओर चलता है। वह भी दुर्लभ है। कश्चित् माने पूर्वजन्मका परिपाक जिसका है और ईश्वरकी कृपा है जिसपर वह। अद्वैत वेदान्तके जो बड़े-बड़े ग्रन्थकार हैं उनका यह मानना है कि—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैत वासना।
महद्भयपरित्राणा द्वित्राणामुपजायते ॥

पहले मैंने अवधूत गीता ही पढ़ी थी। हमारा वेदान्तका संस्कार बहुत बचपनका है। तो 'अवधूतगीता' पहले पढ़ी थी, मैं समझता था कि यह श्लोक अवधूतगीताका ही है—ईश्वरका बड़ा भारी अनुग्रह होवे तब कहीं मनुष्यके मनमें अद्वैत वासनाका जागरण होता है। तो **'महद् भयपरित्राणा विप्रानां उपजायते'**—बचपनमें तो हमको यही याद था, क्योंकि अपने लिए थोड़ा गौरवकी बात मालूम पड़ती थी कि अच्छा चलो भाई! एक बात तो ईश्वरने हमको दी है, हमारे अन्दर ब्रह्म जिज्ञासा उत्पन्न होगी। तो वह बात बचपनकी थी।

यह 'खण्डन खण्ड खाद्य'का श्लोक है। श्रीहर्ष इतना बड़ा तार्किक, इतना बड़ा युक्ति-प्रधान पुरुष है कि अनिर्वचनीयतावादका मूल संस्थापक समझो; उसका कहना है कि ईश्वरकी जब कृपा होती है तब मनुष्यके मनमें ईश्वरकी ओर चलनेका संकल्प उदय होता है। सबके मनमें ईश्वरकी ओर चलनेका संकल्प उदय नहीं होता, चींटी-माटेकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षीकी तो बात ही क्या! मनुष्य हैं, दो हाथ हैं, दो पाँव हैं, खाते हैं, पीते हैं, पहनते हैं, उनको सारे विश्वका इतिहास मालूम है, आगे क्या होनेवाला है यह भी सोच लेते हैं, लेकिन अपने आत्माका स्वरूप क्या है, ईश्वरका स्वरूप क्या है, इसके बारेमें जिज्ञासा नहीं उत्पन्न होती! तो यह सबसे बड़े दुर्भाग्यकी बात यही है कि मनुष्यके हृदयमें ईश्वरकी ओर चलनेकी इच्छाका उदय नहीं होता है। तो—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

ये तीन बात बड़ी दुर्लभ है संसारमें और ईश्वरकी बड़ी कृपा हो तब मिलती हैं। क्या? कि—मनुष्यत्वं, मुमुक्षुत्वं, महापुरुषसंश्रयः। मनुष्य होना और फिर मनमें मोक्षकी इच्छा होना और फिर किसी सत्पुरुषके पास-महापुरुषके पास जाकर आश्रय लेना—यह अत्यन्त दुर्लभ है।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि हजार-हजार मनुष्योंके बीचमें **'कश्चित् यतति सिद्धये'**—कोई एकाध पुरुष ऐसे होते हैं महाराज, जो इस मोक्षमार्गमें चलते हैं; और चलनेपर भी माया आगे चलकर मिलती है, तो वहाँ चलकर भी किसीकी आसक्ति मनमें होती है, किसीकी आसक्ति गद्दीमें होती है, किसीकी स्त्रीमें होती है, किसीकी पुरुषमें होती है। घरकी चाची, घरकी ताई, घरकी नानी छोड़कर घरकी बहन-बुआ, छोड़कर साधु हुए, वहाँ भी बहन, बूआ, चाची, ताई! वहाँ भी गुरुभाई, गुरुबहन बीसों बन जाते हैं। कहनेका अभिप्राय यह कि रुकावटें बहुत हैं, इसलिए **'कश्चित् यतति सिद्धये'**—कोई-कोई ऐसा पुरुष होता है जो सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है।

अब सिद्धिके लिए प्रयत्न क्या है? यह बताया कि यह बात बड़ी दुर्लभ है और सबको मिलनेवाली नहीं है। कोई आकर प्रश्न करे कि संसारमें इतने विद्वान् हैं, इतने बुद्धिमान् हैं, इतने धनी हैं, इतने चतुर हैं—जज हैं, बैरिस्टर हैं, ये सब भगवान्‌की ओर क्यों नहीं चलते हैं? बोले—भाई बुद्धिमान् होनेसे नहीं चलता, धनी होनेसे ही नहीं चलता, यह तो जिसके सत्कर्मका परिपाक होवे और ईश्वरकी कृपा होवे, तब जाकर इस ओर रुचि होती है। इधर रुचि होना बहुत दुर्लभ है। इसलिये बताया—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

और नहीं तो महाराज कोई-कोई गये तो जाकर भी गोस्वामीजीने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। मानसरोवरका जहाँ वर्णन किया है, वहाँ बोले कि

आवत एहिं सर अति कठिनाई।
रामकृपा बिनु आई नहिं जाई॥

और फिर यह बताया है कि ***जातेहिं नींद जुड़ाई होई***—किसीको बुखार आ जाता है, किसीको नींद आ जाती है। तो जो कायर हैं वे वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकते हैं। कोई बीच ही में किसीके साथ फँस जाते हैं, माने उस रास्तेमें चलना बड़ा कठिन है।

अब **'सिद्धये यतति कश्चित्'**—तो सिद्धिके लिए कोई-कोई ही प्रयत्न करते हैं, ईश्वरकी प्राप्तिके लिये। अब देखो 'सिद्धये यतति' का अर्थ क्या है? यतति माने प्रयत्न करता है—**यति प्रयत्ने।**' सिद्धिके लिए प्रयत्न करना बड़ा कठिन है। सिद्धि माने अन्तःकरणकी शुद्धि। यह बात तो आप जानते ही हो, कल सुनाया आपको कि आसमानमें उड़नेका नाम सिद्धि नहीं है या दूसरी जगहसे किसी चीजको ला देनेका नाम सिद्धि नहीं है। ये सब तो क्षुद्र-खुदरा सिद्धि हैं और ईश्वरकी प्राप्तिके लिए खुदरा सिद्धिसे काम नहीं चलता, उसके लिए तो थोक सिद्धि चाहिए महाराज, थोक माल चाहिए, खुदरा मालसे काम नहीं चलता।

तो सिद्धि क्या है? वैसे तो सिद्धि शब्दका नाम ही आराधना है। आराधना, साधना, राधना—**राध्साध् संसिद्धौ**—इसीका नाम सिद्धि है। जब ईश्वरकी आराधना होने लगे मनमें, और ईश्वरकी प्राप्तिके लिए साधना होने लगे तो समझ जाना कि सिद्धि मिली। बिना किसी प्रयत्नके भगवान्‌के नामका उच्चारण होवे, भगवान्‌का स्मरण होवे, संसारकी याद न आवे, सत्सङ्ग मिले और मन सत्सङ्गमें रम जाये, तब समझना कि सिद्धि मिली। पर इस सिद्धिके लिए, माने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए अनेक पद्धति महापुरुषोंने निकाली है उसमेंसे चार-पाँच पद्धति संक्षेपमें मैं सुनाता हूँ। यतति है ना—प्रयत्न करना। कैसे प्रयत्न करना?

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं कि इस प्रयत्नमें सात बातका होना जरूरी है—विवेक, विमोक, अभ्यास, कल्याण, क्रिया, अनवसाद, अनुद्धर्ष। जैसे शांकर सम्प्रदायमें साधनचतुष्टय बोलते हैं—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा—वैसे इसको यहाँ साधन-सप्तक बोलते हैं।

उसमें पहली जो चीज है, उसका नाम है विवेक। तो विवेक माने शंकराचार्य वाला विवेक नहीं, श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका विवेक! वह क्या? बोले—भोजन तुम क्या करते हो यह देखो। अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहते हो तो खाते क्या हो, यह विवेक करो।

(क) स्वरूप-दोष :—बोले—क्या कोई ऐसी चीज खाते हो जो जन्मसे ही गन्दी होती है, अशुद्ध होती है? जैसे मांस, मछली, लहसुन, प्याज है—

ये सब नाम बताये? बोले—ऐसी कोई चीज खाते हो क्या? ऐसी चीज खाओगे तो तुम्हारा मन पवित्र नहीं होगा। एक बात।

(ख) दूसरे निमित्त-दोष :—बोले कि चीज तो बहुत पवित्र होवे, लेकिन मसालेके रूपमें दूसरी चीज उसमें डाल दी जाये, तो? तो बोले—वह भी अशुद्ध हो जाता है। बोले—भाई दूध तो बहुत शुद्ध लेकिन उसमें अंडा डाल दिया तो? उसको कौआ जूठा कर गया तो? उसमें बाल पड़ गया तो, गन्दी चीज पड़ गयी तो? निमित्त बलसे वह दूषित हो गया। ऐसी चीज खाओगे तो भी चित्त पवित्र नहीं होगा।

(ग) आश्रय-दोष :—बोले आश्रय, बर्तन कैसा है? पहले जिसमें माँस बनाया गया हो, मछली बनायी गयी हो, तो बर्तन स्वभावसे ही अशुद्ध हो, मिट्टीका बर्तन हो, जूठा हो! और बनानेवाला कैसा है? कामी है, क्रोधी है, लोभी है, रोता जा रहा है, आँसू रोटीपर गिरते जा रहे हैं। अब वह रोटी खाओगे तो चित्त कैसे पवित्र होगा? रसोई बनाते समय मन बहुत शुद्ध, निर्मल होना चाहिए। उसका मन पवित्र होवे, तब खानेवालेका मन भी पवित्र होवे।

(घ) स्वत्व-दोष :—भोजन ईमानदारीकी कमाई, हमारे हककी कमाईका है कि नहीं! जो चीज तुम खाते हो उसपर तुम्हारा धर्मशास्त्रके अनुसार स्वत्व है कि नहीं? वह तुमने परिश्रम करके कमाया है कि तुम्हारे बापसे उत्तराधिकारमें प्राप्त हुआ है, कि कहीं ब्राह्मण हो तो उसे दान मिला है, राजा हो तो उसने विजय प्राप्त किया है? माने स्वत्वकी पद्धतिके अनुसार उस चीजपर तुम्हारा हक है कि नहीं? भोजन शुद्ध करके तुम्हारा मन शुद्ध होगया ऐसा एक मत है।

शंकराचार्य भगवान्‌ने कहा कि केवल जीभका भोजन ही नहीं, सारी इन्द्रियोंके भोजनपर ध्यान रखो, क्या देखते हो, क्या सुनते हो, क्या छूते हो, क्या सूँघते हो—सब पर ध्यान रखना होगा।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः॥

इस मन्त्रकी व्याख्यामें श्रीरामानुजाचार्यने जहाँ भोजनकी प्रधानतासे व्याख्या की है, वहाँ शंकराचार्य भगवान्‌ने इस मन्त्रकी व्याख्या सम्पूर्ण इन्द्रियोंके भोजनकी दृष्टिसे की है।

आह्रियन्ते इति आहाराः विषयाः। (शांकर-भाष्य)

देखो यह चित्त-शुद्धिका प्रयत्न है। अब तुम अपने मनको तो साफ करना चाहते हो और इतना भी करनेको राजी नहीं हो कि गन्दा भोजन छोड़

दें। तो मुँहको गन्दा बनाओगे और मनको शुद्ध बनाना चाहोगे तो यह कैसे होना मम्भव है? इसलिए भोजनकी पवित्रता चाहिए, यह एक प्रयत्न है।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका जो साधन सप्तक है, उनकी व्याख्या मैंने नहीं की, उसमें-से केवल आहार-शुद्धि जो है, वह ले ली। संक्षेपमें **विवेक** माने भोजन-सम्बन्धी विवेक और **विमोक** माने जो त्याज्य है उसको छोड़ देना। **अनवसाद** और **अनुद्धर्ष**का अर्थ है कि बहुत रोना भी नहीं और बहुत हँसना भी नहीं। भगवान्‌की ओर चलना हो तो बहुत रोना नहीं—अनवसाद। हर समय चेहरा लटकाये मनहूसकी तरह नहीं रहना, अच्छे रास्तेमें चल रहे हो तो हर समय रोना क्या? और अनुद्धर्ष भी, बहुत हँसना भी नहीं। अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करना **क्रिया** है; और जो अभ्यास गुरुने बताया है सो करना अभ्यास **कल्याण** पदार्थ जो हैं तिलक आदि, उनका ठीक-ठीक सेवन करना। ये (सात) साधन करनेसे चित्त पवित्र होता है।

पद्धति-२—अब दूसरी पद्धति है इसमें कर्मकी शुद्धि। तुम पाँवसे चलकर कहाँ जाते हो? तुम हाथसे कौन-सी चीज पकड़ते हो? जीभसे क्या बोलते हो? मूत्रत्याग और मल-त्यागके सम्बन्धमें क्या नियम हैं तुम्हारे? ये जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, इन कर्मेन्द्रियोंके द्वारा पवित्रतासे कर्मका अनुष्ठान करना माने धर्मानुष्ठान करना और कर्म पवित्र होना—यह दूसरी बात है।

तीसरी पद्धति है कि हर समय भाव पवित्र होवे किसीको देखकर यह ख्याल मनमें नहीं आवे कि यह पापी है, यह चोर है, यह व्यभिचारी है यह अनाचारी है। यह चित्तकी पवित्रताका साधन है।

सबमें भगवान् है परन्तु जो स्वयं जैसा होता है उसको वैसा ही दीखता है। **पापी सर्वत्र पापमाशंकते।** एकने कहा कि भाई, तुम तो हमको भले दीखते हो—बोले अरे भाई, हम कहाँ भले हैं! एकने कहा कि हमको तो तुम बुरे दीखते हो—बोले कि हाँ भाई, बुरे हैं तभी तो दिखते हैं। दूसरेने कहा कि न तो तुम भले हो, न तो बुरे हो, जो भला है उसको भले दिखते हो जो बुरा है उसको बुरे दिखते हो, दोनों अपने-अपने चश्मेसे देखते हैं। तो देखनेमें क्या विद्या है इसकी—

यदा न कुरुते भावे सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

कर्मका रहस्य उसने समझा, जो संसारमें कर्मसे, मनसे, वाणीसे किसीको बुरा नहीं समझाता, यह है भावकी पवित्रता।

चित्तकी पवित्रता की चौथी पद्धति है कि संसारका चिन्तन छोड़कर एकान्तमें चित्तका समाधान प्राप्त करे—अर्थात् निर्विषय होकर मन बैठा हुआ है! यह भी चित्तकी एक पवित्रता है।

पद्धति-५ बोले—देखो सबसे बढ़िया पवित्रता यह है कि पवित्र है एक ईश्वर, पवित्र है एक भगवान्, पवित्र है एक ब्रह्म। ब्रह्म कहो, भगवान् कहो, परमात्मा कहो, आत्मा कहो, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त जो पदार्थ है, वह पवित्र है। तो अन्त:करणका कोई स्वरूप नहीं है, न लाल, न काला, न पीला, न लम्बा, न चौड़ा। चिन्तन ही अन्त:करणका स्वरूप है। तो जिसका अन्त:करण शुद्धका चिन्तन करता है, उसका अन्त:करण शुद्ध और जिसका अन्त:करण अशुद्धका चिन्तन करता है, उसका अन्त:करण अशुद्ध। इसलिए परमात्माका चिन्तन ही अन्त:करणकी शुद्धि है।

तो **यतति सिद्धये** का क्या अर्थ हुआ? सिद्धि माने अन्त:करणकी शुद्धि। यह बात आप देख लेना, गीतामें तो अनेक जगह आयी है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। १८.४६

सिद्धि माने आकाशमें उड़ना नहीं, सिद्धि माने अन्त:करणकी शुद्धि। अपना दिल साफ होना, अपना मन निर्मल होना—इसका नाम सिद्धि है। सबसे बड़ी सिद्धि यही है कि सिद्ध वस्तुमें अपने अन्त:करणकी स्थिति होवे।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ १८.५०

भगवान्‌ने अट्ठारहवें अध्यायमें बताया कि जिसको सिद्धि प्राप्त होती है उसको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। तो सिद्धि माने अन्त:करणकी शुद्धि। इसके लिए आपको बताया—भोगकी शुद्धि-एक, कर्मकी शुद्धि-दो, भावकी शुद्धि-तीन, स्थितिकी शुद्धि-चार और परमात्माका चिन्तन अर्थात् चिन्तनकी शुद्धि-पाँच—इन पाँच बातोंमें-से एक बात भी धारण करो तो चित्त शुद्ध

होगा और पाँचों बात धारण करो तब तो कहना ही क्या है? फिर तो चित्त शुद्ध ही शुद्ध है।

अब यह बात आयी कि इस तरहसे जो-जो यत्न करते हैं, उन सबका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है क्या? तो—

यतताभपि सिद्धानां। यततामपि कश्चित् सिद्धो भवति।
सिद्धानामपि कश्चिन्मां बेत्ति।

यह दो विभाग इसका ऐसे कर दिया। प्रयत्न तो अन्तःकरणशुद्धिके लिए बहुत करते हैं, लेकिन एक ही जन्ममें अन्तःकरण शुद्ध हो जाये, इसका कोई ठेका नहीं है। यह तो सद्‌गुरुकी कृपा होवे तो चाहे कितनी भी काई पानीमें होवे!

एक आदमी जल ढूँढ़नेके लिए गया और सरोवर देखा। परन्तु सरोवरमें सब काई-काई ही ऊपर छाई हुई थी। उसने कहा कि वहाँ जल नहीं है, वहाँ तो घास है। वह लौटने लगा, इतनेमें एक जानकार आदमी मिल गया। उसने कहा—नहीं, नहीं, जल है। बोले—कहाँ जल है, यहाँ तो काई है। तब उस आदमीने दोनों हाथसे काई हटायी और दिखाया कि देखो यह नीचे जल है। उसने काईके भीतर जल दिखा दिया!

तो सद्‌गुरुकी कृपा होवे तब तो अन्तःकरणमें जो मलिनता है, वासना है, संकल्प है उनको महाराज दोनों हाथ लगाकर हटा दे और भीतर जो उसके परमात्मा बैठा हुआ है, उसका दर्शन करा दे।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ४.३६

अथवा

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ९.३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ९.३१

भगवान्‌की कृपा होवे तो वे खुद ही मशाल लेकरके 'ज्ञानदीपेन-भास्वता' आ जाते हैं, प्रकट हो जाते हैं और अन्धकारको दूर कर देते हैं।

भगवत्कृपा और सद्‌गुरुकी कृपा जिसको प्राप्त हो जाये उसको थोड़े प्रयत्नसे ही लाभ हो जाता है **यततामपि कश्चित् सिद्धो भवति।** और नहीं तो महाराज यदि अभिमानी प्रयत्न करे, तो इसमें अभिमान ही सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा जो है वह अभिमानरूप पापको दूर करने के लिए रसायन है। श्रद्धा है रसायन और अभिमान है बड़ा भारी मल। इस मलको दूर करनेके लिए मसाला है श्रद्धा।

यदि मनुष्य अभिमान करले कि हम यह कर लेंगे, यह कर लेंगे—एक महात्माने कहा कि यदि तुम पुण्य कर्म करते हो, शास्त्रोक्त कर्म करते हो, विद्या पढ़ते हो, यज्ञ करते हो और उससे अभिमान बढ़ता है कि मैं बड़ा भारी याज्ञिक और मैं बड़ा भारी विद्वान्—तो पाप बढ़ रहा है। और, कभी पापकर्म हो गया और उसमें पश्चात्ताप हुआ, ग्लानि हुई और अपने अभिमानकी निवृत्ति हो गयी कि अरे हमसे तो पुण्य कर्म भी नहीं बनता है, पापका त्याग भी नहीं बनता है, हमें ईश्वरकी सहायताकी जरूरत है, गुरुकी जरूरत है, अगर ऐसा भाव आ गया तो तुम्हारे बुरे कर्मने भी तुम्हें रास्तेमें ला दिया! कोई जाना चाहता था नदीपार अपने घर; उसका पाँव फिसल गया, नदीमें गिर पड़ा। लेकिन नदीकी एक लहर ऐसी आयी कि इसने उसको ले जाकर ऐसी जगह लगा दिया, जहाँ उसका घर था। तो नदीमें गिरना तो अच्छा काम नहीं है, परन्तु ईश्वरकी ऐसी कृपा, ऐसा अनुग्रह कि वह नदीकी लहर भी उसको उसीपार ले जाकर छोड़ आयी, जिस पार जाना था। तो महाराज शाप होना जीवनमें अच्छा नहीं है। लेकिन अभिमान तोड़नेके लिए कभी-कभी ईश्वरका अनुग्रह है। इससे मनुष्यका अभिमान कि हम बड़े, वह टूट जाता है।

तो **यततामपि कश्चित् सिद्धो भवति** प्रयत्न करनेवालोंमें भी कोई-कोई सिद्ध होता है माने किसी किसीका अन्तःकरण शुद्ध होता है और **सिद्धानामपि कश्चित् तत्त्वतः मां वेत्ति**—सिद्धोंमें भी कोई-कोई ऐसे होते हैं शुद्धान्तःकरण जो तत्त्वको जानते हैं। हमने शुद्धान्तःकरण बहुत देखे हैं, अभी वृन्दावनमें शुद्धान्तःकरण बहुत सारे हैं, जिनका हृदय बड़ा पवित्र है, बड़ा शुद्ध है। अयोध्यामें, चित्रकूट में बहुतसे सिद्ध हैं। पण्ढरपुरमें बहुतसे साधु हैं जिनका हृदय बड़ा पवित्र है, बड़ा शुद्ध है। गंगा किनारे विरक्त लोग

घूमते हैं, बड़े शुद्ध हैं। परन्तु यह कहो कि वे विरक्त और वे शुद्धान्तःकरण सब-के-सब ब्रह्मवित् हो गये तो नहीं, ब्रह्मविद् नहीं हैं। ब्रह्मवेत्ता होना दूसरी बात है और पवित्र हृदय होना दूसरी बात है।

भाई, थाली माँज ली, साफ कर ली, पवित्र हो गयी, यह बात दूसरी है और उसमें खीर परोसी और उसको खा लिया यह बात दूसरी है। तो यह अन्तःकरण तो पात्र है, यह शुद्ध भी हो जाये, सिद्ध भी हो जाये, इसको आगमें तपा लो, इसको माँज लो, इसको गंगाजलसे धो लो, पोंछ लो, सब कुछ कर लिया, लेकिन अभी इसमें अमृत तो आया ही नहीं, परोसा ही नहीं गया अमृत! तो भाई थाली तो बहुत होती हैं, लेकिन किसी-किसीकी थालीमें वह आता है और किसी-किसीकी थालीमें नहीं भी आता।

यततामपि सिद्धानां—श्रीशङ्कराचार्य भगवान् कहते हैं कि इसमें डरना नहीं; शुद्ध अन्तःकरण होनेपर भी यदि ब्रह्मवेत्ता गुरु न मिले तो ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान तो होगा ब्रह्मविद् गुरुकी प्राप्तिसे ही, ठीक वैसे ही जैसे कि यदि एक प्रेमी मिल जाये, एक भक्त मिल जाये तो वह तुम्हारे हृदयमें भक्तिकी स्थापना कर देगा। तो **कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः** इसका अर्थ है कि सद्‌गुरु कृपाका जो अधिकारी बनता है, कृपा पात्र बनता है, वह मुझे तत्त्वतः जानता है।

अब यह तत्त्वतः ज्ञानकी प्रक्रिया क्या है? सो अपरा प्रकृति और परा प्रकृति, यह विज्ञान सहित ज्ञानका निरूपण करना है, ज्ञान तो यह है कि—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय॥ ७.७

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। ८

परन्तु विज्ञान क्या है? विज्ञान यह है कि अपरा प्रकृति और परा-प्रकृति भी ईश्वरसे भिन्न नहीं है, बात समझाना विज्ञान है।

यह प्रसंग अब फिर आगे आवेगा।

❖

: ३.३ :

कोई बिरला ही तत्त्वज्ञानी

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यों तो मनुष्य होना ही दुर्लभ है। फिर मनुष्य होनेके बाद भी शास्त्रोंपर विश्वास करना बड़ा दुर्लभ है।

राजन स्वल्पपुण्यानां विश्वासो नैव जायते।

जिनके पुण्य अल्प होते हैं वे ईश्वरपर, शास्त्रपर, गुरुपर विश्वास नहीं कर सकते। यह पुण्य संस्कारकी कमीके कारण ही विश्वासकी कमी होती है। उसको यही विश्वास नहीं होता कि शास्त्र हमारी भलाई चाहता है, गुरु हमारी भलाई चाहता है, कि ईश्वर हमारी भलाई चाहता है। यह जब पुण्यकी कमी हो जाती है अन्तःकरणमें, तब ऐसी स्थिति होती है। सबके प्रति पाप, सबके प्रति पाप।

शास्त्रपर विश्वास भी होवे तो भी यज्ञ करेंगे, याग करेंगे, होम करेंगे, स्वर्गमें जायेंगे, भोग भोगेंगे या इस लोकमें धनी होंगे, परलोकमें भोगी होंगे, अगले जन्ममें भी सम्पन्न होंगे—इस प्रकार लोक-परलोकमें मनुष्य फँस जाता है। तो शास्त्रपर विश्वास होकर मनुष्य ईश्वरका भजन करे और उस भजनसे ईश्वरको ही प्राप्त करना चाहे और वह भजन भी ईश्वरकी कृपा है, ऐसा अनुभव करे। एक तो भजन करके ईश्वरको ही पाना चाहे, संसारको न पाना चाहे; और ईश्वरको पाना चाहनेपर भी भजनकी कीमतपर ईश्वर नहीं मिलता है; यह तो उसकी एक कृपा ही है कि भजनके रूपमें हमारे जीवनमें ईश्वर प्रकट हो रहा है।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।

प्रयत्न करनेवाले थोड़े होते हैं। मनुष्य तो होते हैं परन्तु ईश्वरके लिए प्रयत्न करनेवाले थोड़े होते हैं। प्रयत्न करनेवालोंमें भी जिनका हृदय शुद्ध हो जाये, निर्मल और ईश्वराकार, वे भी थोड़े ही होते हैं। केवल निर्मल ही काफी नहीं है। बोले—संसारके विषयोंका चिन्तन नहीं होता। हम अर्थ नहीं चाहते, हम भोग नहीं चाहते, हम कर्म नहीं चाहते, परन्तु केवल संसार चित्तमें-से निकल जाये, इतना ही काफी नहीं है, ईश्वराकार वृत्ति आनेकी जरूरत है। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं—

प्रीतिपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते।

प्रीतिपूर्वक भगवच्चिन्तन होवे। मुमुक्षापूर्वक, जिज्ञासापूर्वक भगवत्तत्त्वचिन्तन होवे। माने व्याकुलता होवे, लालसा होवे। ईश्वरदर्शनकी लालसा, ईश्वर-मिलनकी लालसा, ईश्वरसे मिलकर रसानुभूतिकी लालसा, अपने आपको ईश्वरमें मिला देनेकी, खो देनेकी लालसा-व्याकुलता—यह जीवनमें आवे। तो **कश्चित् यतति सिद्धये**—इस सिद्धिके लिए कोई-कोई प्रयत्न करते हैं।

अब कहो कि प्रयत्न करनेवाले सब सिद्ध हो जाते हैं। तो भगवान् शंकराचार्य तो कहते है कि यदि ईमानदारीसे कोई प्रयत्न करेगा तो वह सिद्ध जरूर होगा। प्रयत्नमें ईमानदारी सबसे बड़ी चीज है। आदमीकी नीयत खराब न हो और बुरा काम उससे हो जाये, तो ईश्वर उसको बुरा नहीं मानता है। नीयत खराब नहीं होनी चाहिए। और नीयत खराब हो और काम अच्छा कर रहा हो तो वह ईश्वरको पसन्द नहीं है।

महाराज गंगाजीके घाटपर काशीमें सबेरेसे ही पहुँच जाते हैं—स्नान करकर, भस्म लगाकर और माला लेकर दो-चार घण्टे वहीं जो गंगाजीके जलके ऊपर जो पटिया होती है लकड़ीकी, उसपर बैठकर भजन करते हैं। अब यह घाटका भजन समझो क्या? महात्मा लोग कहते हैं कि कोई हाटमें बैठकर भजन करे, कोई घाटमें बैठके भजन करे, तो जरा सावधान रहना। वह भजन करता है सो तो अच्छा है, उसको तो हम हाथ जोड़ते हैं, बहुत बढ़िया काम कर रहा है, लेकिन अपने लिए थोड़ा सावधान रहना! घाट-बाट-हाटकी चाट ही अच्छी होती है, भजन अच्छा नहीं होता। तो भजन करना तो बहुत अच्छा है पर नीयत यह है कि कोई आँखका अन्धा, गाँठका पूरा शिकंजेमें फँस जाये तो यह भजनका काम अच्छा होनेपर भी, नीयत खराब होनेसे वह अच्छा नहीं रहता। और ईमानदारी होवे तो आप जानते हो रास्तेमें जो चलता है उसीका पाँव फिसलता है, जो चलेगा ही नहीं उसका पाँव क्या फिसलेगा?

आदमी चलेगा तो कहीं पाँव फिसल भी जायेगा, कभी आदमी गिर भी जाता है। तो पाँव फिसलना मनुष्यका अपराध नहीं है, गिर जाना भी मनुष्यका अपराध नहीं है, उसमें प्रमाद जो हुआ, असावधानी जो हुई, यह

दोष है। परन्तु पाँव फिसलनेके बाद फिर न उठना, आगे न चलना-यह बड़ा भारी अपराध है। एकबार पाँव फिसल गया तो बैठ गये, बोले भाई अब तो हम नहीं जाते। हमने देखा है, बद्रीनाथकी यात्रामें ऐसी-ऐसी वृद्ध स्त्री जिनकी उम्र नब्बे-नब्बे बरसकी, पचासी-पचासी बरसकी पैदल, दोनों हाथमें लकड़ी लेकर टेकते हुए आगे बढ़ती चली जा रही हैं और ऐसे जवान भी देखे महाराज जो पहाड़की ऊँचाई देखकर डरने लग गये और बोले कि अब तो हम लौटते हैं—लौट आये।

तो नीयत अपनी अच्छी होनी चाहिए ईश्वरकी ओर चलनेकी। टूटी कमरसे भी पहुँच सकते हैं, लठिया टेकते हुए भी पहुँच सकते हैं, पाँवसे चलते-फिसलते भी पहुँच सकते हैं, गिरते-गिरते भी पहुँच सकते हैं, क्योंकि उठानेवालेका हाथ बड़ा लम्बा है हम जहाँ होंगे, वहींसे वह उठा लेगा, बड़ा लम्बा हाथ उसका है।

तो अपनी ओरसे प्रयत्न करना। इसीसे वेदान्तियोंने ध्यान शब्दका प्रयोग नहीं किया है; निदिध्यासन शब्दका प्रयोग किया है। ध्यान माने होता है ध्येयाकार वृत्ति और निदिध्यासन माने होता है ध्येयाकार वृत्तिकी चेष्टा, अपनी ओरसे चेष्टा करना। हमारा काम यह है कि हम अपनी वृत्तिको ब्रह्माकार बनानेकी कोशिश करें। हमारा काम है कि हम अपनी वृत्तिको भगवदाकार बनानेकी कोशिश करें। होना-न-होना उनके हाथमें, लेकिन यह कोशिश ही इतना बड़ा पुण्य है, यह प्रयत्न ही इतनी बड़ी साधना है कि यदि हम बारम्बार चेष्टा करते रहें कि हम भगवान्से मिल जायँ, तो हम तो नहीं पहुँच पाते, लेकिन भगवान् हमारे पास पहुँच जाता है और बुला लेता है।

हारे खेल जितावहिं मोहीं।

भरतजी कहते हैं कि जब मैं हार जाता हूँ खेलमें, तो हमारे बड़े भाई भगवान् रामचन्द्र जिता देते हैं। इसका अर्थ है कि जब जीव अपनी कोशिशमें हार जाता है तब भगवान् उसको जिता देते हैं, माने मिल जाते हैं, उसके हो जाते हैं। तो जो ईमानदारीसे साधन करेगा, भजन करेगा, वह अगर कभी चूक भी जायेगा—ऐसा लगे कि अब हमारा प्रेम ईश्वरको छोड़कर किसी औरसे होने लग गया—तो वह चाँटा मारेंगे महाराज, कि वाह तू मुझसे प्रेम करनेके लिए घरसे चला था कि संसारमें प्रेम करनेके लिए चला था? वह

चाँटा मारेंगे महाराज, भले एक जन्म नहीं, दो जन्म लगें, एक शरीर छोड़ना ही पड़े, लेकिन वे अपने सिवाय दूसरे किसीसे प्रीति होने देंगे नहीं, काटकर छोड़ेंगे। अगर ईमानदार साधक ईश्वरकी ओर चलेगा तो वे बीचमें कहीं दूसरी ओर जाने नहीं देंगे, भटकने नहीं देंगे। इसलिए ईमानदारका मददगार कौन? ईमानदारका सहायक कौन? ईमानदारका सहायक ईश्वर।

तो **यततामपि सिद्धानां**—शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि जो ईमानदारीसे प्रयत्न करता है वह सिद्ध होता-ही-होता है। इसलिए **यततामपि कश्चित् सिद्धो भवति, सिद्धानां कश्चिन्मां वेति**—ऐसा अन्वय करनेकी जरूरत नहीं है।

यततामपि सर्वेषां सिद्धानां—जो यत्न करते हैं वे अन्ततो गत्वा सब-के-सब सिद्ध होते हैं।

भाई सिद्ध तो सब होते हैं, लेकिन शंकराचार्य और दूसरे आचार्योंमें थोड़ा-थोड़ा प्रक्रियाका मतभेद है। शंकराचार्य भगवान्का यह विचार है कि जीव ही अविद्याके कारण कर्ता-भोक्ता बना हुआ है। आत्मा अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण, माने अविद्याके वशवर्ती होकर अपनेको कर्ता, भोक्ता परिच्छिन्न संसारी मानकर बैठा हुआ है। इसलिए अविद्या निवृत्तिका सारा प्रयत्न जीवको ही करना पड़ता है; और जब वह अविद्याको निवृत्त कर लेता है तो परमात्मा तो अपना स्वरूप है, मिला मिलाया है। इसीसे—**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**। इस मन्त्रके अर्थमें आचार्यने कहा कि **एष साधकः यं परमात्मानं वृणुते तेन वरणेन लभ्यः**। यह साधक जब परमात्माका वरण करता है कि मैं तुम्हें जयमाला पहनाता हूँ—पहले जयमाला—वरमाला साधकको ही भगवान्के गलेमें डालनी पड़ेगी, उसके बाद तो कहेंगे कि वाह-वाह-वाह! तुमने हमको यह वरमाला पहना दी, आओ हमारे हृदयसे लग जाओ।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं कि—

एष परमात्मा यं साधकं वृणुते तेन साधकेन लभ्यः।

बोले—पहले भगवन् पसन्द करते हैं कि यह जीव हमारे पास आने लायक है। जब वे पसन्द कर लेते हैं, स्वीकृति दे देते हैं कि यह जीव हमारे पास आने लायक है, तब वह जीव उनके गलेमें वरमाला पहनाता है। तो ये बड़े लोग पसन्द भी तब करते हैं, आप जानते हो जब पहले पता लगा लेते हैं।

हमारे पास एक बहुत बड़े आदमीका एक बार पत्र आया। स्वयं नहीं, उन्होंने अपने सेक्रेटरीसे लिखवाया कि यदि हम आमन्त्रित करें तो क्या स्वामीजी महाराज आमन्त्रण स्वीकार करके पधारनेकी कृपा करेंगे? अब हम जब कहते हैं कि हाँ, हम आपका आमन्त्रण स्वीकार कर लेंगे, तब जाकर उनके यहाँसे आमन्त्रण आता है। नहीं तो पहले आमन्त्रण आ जाये और हम कह दें कि हम नहीं आते तो उनके बड़प्पनपर धक्का लगता है। बड़ा ऊँचा पद। बोले—नहीं, पहले आप निमन्त्रण स्वीकार करेंगे, स्वीकृति दे दीजिये तब आमन्त्रण दिया जायेगा। संसारकी ऐसी मर्यादा है!

तो भगवान् भी अपनी पसन्दगीकी चिट्ठी तब लिखते हैं कि हम तुम्हें पसन्द करते हैं, हमारे पास आओ। सबको चिट्ठी नहीं लिखते हैं, सबके पास सन्देश नहीं भेजते हैं, सबके पास उनके दूत-दूती नहीं जाते। जब वे देख लेते हैं, जान लेते हैं कि हाँ, यह हमारी ओर आना चाहता है, हमसे मिलना चाहता है, हमारा नाम जपता है, हमारा ध्यान करता है, हमारे लिए माला फेरता है, तब उसके पास भगवान्का आमन्त्रण आता है कि आओ। तो—

यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः। तो पहले साधन भजन करे, फिर भगवान् वरण करें: तो देखो, पहले साधक वरण करेगा, क्योंकि निर्गुण भगवान् अपनी ओरसे कोई चेष्टा नहीं करेगा, साधक वरण करेगा और साधक आवरण भंग करेगा तब परमात्माकी प्राप्ति होगी। ईश्वर बड़ा कृपालु है जिसको वह योग्य अधिकारी देखता है, उसके पास निमन्त्रणपत्र भेज देता है।

तो **'ये यतन्ति ते सिद्ध्यन्ति'** जो यत्न करते हैं वे सिद्ध होते हैं। और **'ये यतन्ति तेषां कश्चिद् सिद्धो भवति, सिद्धानां कश्चिन्मां तत्त्वतो वेत्ति'**। अब यह बात हुई कि जो प्रयत्न करते हैं उन्हें सिद्धि मिलती है, इसलिए उनको अलग-अलग मत करो। **'यततामपि सिद्धानां'** प्रयत्न करनेवाले जो सिद्ध हैं उनमें-से कोई-कोई मुझे जानता है—तत्त्वतः। और यह हुआ कि प्रयत्न करनेवाले हजारोंमें भी कोई-कोई सिद्ध होते हैं और उन सिद्धोंमें कोई हमको जानता है। यह दो प्रकारका यहाँ विभाग होगया।

अब **'सिद्धानां'**की बात देखो। सिद्ध किसको बोलते हैं? एक बार किसीने परमहंस रामकृष्णसे पूछा कि महाराज सिद्धकी क्या पहचान है?

तो बोले कि सिद्ध माने ऐसा समझो कि पका हुआ भात, भक्तम्। संस्कृतमें भक्त शब्द चलता है इसके लिये। नपुंसकमें होवे भक्तं शब्द तो उसका अर्थ भात होता है—पका हुआ चावल। और पुँल्लिंगमें भक्त शब्द होवे, तो भगवान्‌का भजन करनेवाला—यह अर्थ होता है। *'भक्ति अस्यास्ति इति भक्तः'*—जिसके हृदयमें भक्ति है, मत्वर्ती अत् प्रत्यय होकर भक्त शब्द बनता है, *'भक्ति अस्यास्ति'*—जिसके हृदयमें भक्ति है, उसको बोलते हैं भक्त। और *'भक्तं—भज्यते निखलैः इति'*—जिसको ऊपरसे कूटा जाता है। अथवा *'भुङ्क्ते रसिकैः'*—चावल जिसका रसिक लोग बड़े प्रेमसे सेवन करते हैं उसका नाम भक्त। तो वह भक्त कैसा होता है? कि *'विभक्तमपि अहंकारकणिकारहितम्'*। चावल अलग-अलग होना चाहिए, वह हलुवा नहीं होना चाहिए। चावल हलुवा हो गया तो गया। और चावलमें कण बिलकुल न रहे, कणिका रहेगी तो कच्चा है। और मिल गया तो सब-का-सब बेकार हो गया। *विभक्तमपि भक्तं कणिकारहितम्*—अलग-अलग रहकर भी वह अहंकारकी कणिकासे रहित और सेवनीय होता है।

तो सिद्ध कौन? कि सिद्ध वह जो भातकी तरह रहे। अलग-अलग दिखते हैं, ये सिद्ध हैं, ये सिद्ध हैं, यह सिद्ध हैं। पक गया चावल तो सिद्ध हो गया—अलग-अलग है, चमकता है। कैसा उज्ज्वल है—श्वेत वर्णका, बिलकुल निर्मल है, कोई रंग संसारका इसमें नहीं है; परन्तु अहंकार की कणिका नहीं है; अलग है, दूसरेको स्वाद देनेवाला है, दूसरेको रस देनेवाला है, यह सिद्धका लक्षण है। बोले—भाई सिद्ध हो गये कौन? परमहंसजीने कहा—कि बस जिसमें अहंकारकी कणिका न रहे उसका नाम सिद्ध।

एक बार सन्तोंकी सभा जुड़ी थी महाराष्ट्रमें। तो यह हुआ कि देखो, इनमेंसे सिद्ध कौन है? तो मुक्ताबाईके जिम्मे यह काम दिया गया। तो उन्होंने घड़ा बनानेकी जो थापी होती है, वह उठायी और एक-एक सन्तकी पीठ ठोंकना शुरू कर दिया। जब नामदेवजीकी बारी आयी, तब उन्होंने कहा कि सन्तोंकी परीक्षा क्या थापीसे होती है? यह क्या वाह्यात है? मुक्ताबाईने कहा कि और सब सिद्ध हैं, बस यही कच्चा है। कच्चेकी आवाज दूसरी होती है। तो सिद्ध होनेका अर्थ हुआ अहंकारकी कणिका मिट गयी।

परन्तु कहते हैं कि सिद्ध हो जाने पर भी परमात्माको जान लेना बड़ा कठिन है। सिद्ध तो हो गये, परन्तु अभी परमात्मा नहीं जाना गया—

सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।

अद्वैत वेदान्तमें ऐसा मानते हैं कि जिनको सायुज्य मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है, उनको भी लौटना पड़ता है, सालोक्यकी तो बात छोड़ दो। सालोक्यमें तो कभी-कभी भगवान् भेज देते हैं कि जाओ जरा धरतीका चक्कर लगा आओ। सालोक्य माने भगवान्‌के गाँवमें रहना। अपने प्रीतमके गाँवमें प्रजा होकर रहना, इसका नाम सालोक्य है। हम दोनों एक ही गाँवमें रहते हैं—सालोक्य। और, सारूप्य माने चतुर्भुज हो गये, पीताम्बरधारी होगये, वैसा ही मुकुट धारण किया, उन्हींकी उतारी हुई माला और उन्हीं का उतारा हुआ वस्त्र और वैसा ही रूप-रंग, वेश-भूषा भी वैसी, ऐसे मुसाहिब बने जिनको वेशभूषा भी सरकारी मिलती है। सामीप्य माने एकदम पास—कोई कंगन बनकर हाथमें है, कोई माला बनकरके गलेमें है, कोई भँवरा बनकर गुंजार कर रहा है, कोई कंठमें हार बनकर रह रहा है, इसका नाम सामीप्य है। ठाकुरजीको पानी पीनेकी जरूरत हुई तो झट गिलास बनकर पानी लेकर आगये, गिलासके रूपमें भगवान्‌के होंठोंसे भी लग गये, इसका नाम सामीप्य होता है। और सायुज्य क्या होता है? बिलकुल भगवान्‌में लीन हो जाना। लेकिन भगवान्‌में लीन हो जानेके बाद भी यदि भगवत्संकल्प होवे कि यह लीन हुआ जीव हमारेमें-से निकल कर बाहर आ जाये, हम इससे कोई काम लें तो सगुण-निराकार सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी जो ईश्वर है, उसके संकल्पसे सायुज्यको प्राप्त जो जीव है, वह जीव भी वहाँसे निकल आता है। माने भगवान्‌का रखा हुआ जीवका जीवत्व सायुज्य दशामें भी बना रहता है।

परन्तु यह जिसको वेदान्ती लोग कैवल्य मोक्ष कहते हैं, इसमें तत्त्वतः जो जीवत्व और ईश्वरत्वका भेद है, उस भेदकी नींवभूता जो अविद्या है, वह अविद्या ही निवृत्त हो जाती है, अविद्या ही नहीं रहती है। अविद्या नहीं रहनेसे भेद नहीं रहता है तो कैवल्यवादमें समझो निर्गुण ब्रह्मवादमें फिर वहाँसे उठना, फिर वहाँसे निकलना नहीं मानते। वह भगवान्‌का स्वरूप हो गया। अब भगवान्‌के संकल्पसे उसकी स्थिति नहीं है, वह भगवत्स्वरूप है। इसलिए ऐसा

मानते हैं कि जो ब्रह्मज्ञानी होता है, उसका न स्वतः न परतः—अपने आप भी नहीं और किसी दूसरेके संकल्पसे भी नहीं—उसका उत्थान नहीं होता। वह परमात्माके स्वरूपको छोड़कर बाहर नहीं आ सकता।

तो वह जो **कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः यततामपि सिद्धानां**, है उसके लिए श्रुति कहती है कि जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती, उसको लौटना नहीं पड़ता।

यद्गत्वा न स पुनरावर्तते तद्धाम परमं मम।

गीता कहीं है जहाँ जाकर लौटना नहीं होता, वह भगवान्‌का परम धाम है। ब्रह्मसूत्र कहता है—

अनावृत्तिः शब्दात्—अनावृत्ति हो जाती है। तो

न स पुनरावर्तते—यह श्रुति है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते—यह स्मृति है।

अनावृत्तिः—यह वेदान्तदर्शनका सूत्र है। मुक्तिमें-से पुनरागमन नहीं होता।

तो अब वह अपुनरागमन अगर कहीं जाकरके होगा, तो जहाँ जानेका मार्ग होता है वहाँसे लौटना भी होता है। और अगर आत्मनाश होकर अपुनरागमन होगा, तो होगा ही क्या? तो जाना जो है वह तो क्रिया है और जानना जो है वह पहलेसे मौजूद वस्तुको जानना है। जाना कर्म है; कर्म उसको कहते हैं जो साध्य वस्तुका निर्माण करे, करनेवाला है और ज्ञान उसको कहते हैं जो सिद्ध वस्तुको प्रकाशित करे। हाथसे पकड़कर चीज इधरसे उधर की जाती है, पाँवसे चला जाता है, जीभसे बोला जाता है, लेकिन आँख जो है वह मौजूद चीजको दिखाती है। तो ज्ञानकी पद्धति दूसरी होती है और कर्मकी पद्धति दूसरी होती है।

धर्म, वासना और योगमें श्रद्धाकी प्रधानता है, आवृत्तिरूप साधना है और साध्यवस्तुका निर्माण उससे होता है; और तत्त्वज्ञान जो है वह श्रद्धामूलक नहीं है, प्रमाणमूलक है—यह जो वस्तु जैसी है उसको प्रकाशित करता है और इसमें आवृत्ति या दुहराना नहीं है; एक बार एक चीज ठीक-ठीक देखली गयी तो बस देख ली गयी। एक बार दीआ जलाया और देख लिया कि यह साँप नहीं, रस्सी है, अब तान दुपट्टा सो जाओ, रातको जाग

कर दीआ जलाकर देखनेकी जरूरत नहीं है। और यदि मान लिया कि यहाँ साँप नहीं रस्सी है, तो बार-बार जब नींद टूटेगी, शंका होगी, नींद नहीं आवेगी, बारम्बार दियासलाई जलाओ, ठीक-ठीक नहीं देखा तो फिर-फिर देखो। तो श्रद्धा, आवृत्ति और साध्याकार अवस्था—यह उपासनाका रूप है; और प्रमाण वृत्तिके द्वारा खोज, आवृत्ति न होना और जो वस्तु जैसी है उस वस्तुको उस रूपमें साक्षात्कार करना—यह तत्त्वज्ञानका मार्ग है। तो—

सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः—सिद्धोंमें-से कोई-कोई, जिनके ऊपर महाराज सद्‌गुरुकी कृपा है; और वेदके महावाक्यपर—तत्त्वमस्यादि महावाक्य और उसका विवरण करनेवाला जो वेद है, उसपर—जिसकी श्रद्धा है; और अन्तःकरणकी निर्मलता, ईश्वरका प्रसाद जिसको प्राप्त है, वही कश्चित्—कोई-कोई मुझे तत्त्वसे जानते हैं सब नहीं जानते। गीतामें एक दो जगह तो ऐसी बात कही है कि मुझे कोई जानता ही नहीं है। आप देख लेना,—

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। (२.२९)

सुन-सुनकर लोग हार गये, पर परमात्माको जान नहीं सके। और इसी सातवे अध्यायमें कह दिया—मुझे कोई जानता ही नहीं—

मां तु वेद न कश्चन। (७.२६)

लेकिन यहाँ भगवान्‌ने बताया—**सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**। यह कश्चित् तो ऐसा सिद्ध निकला महाराज, **मां तत्त्वतो वेत्ति**—परमात्माको तत्त्वतः जानता है।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्—अट्ठारहवें अध्यायमें यह प्रसंग आया है।

अब तत्त्वतः परमात्माको जानना, यह क्या अद्‌भुत लीला है? इसका मतलब यह है देखो—नामसे तो बहुत लोग जानते हैं, हम कलकत्ते जाते थे, छोटे-छोटे बच्चे आते, बोलते—स्वामीजी हमको भगवान्‌का दर्शन करा दो। तो चित्र होता न, तो हम बताते देखो, वे भगवान् हैं, दर्शन करो। तो बोलते—यह नहीं असली (भगवान्‌का दर्शन कराओ) तो नाम तो बहुतसे बच्चे जानते हैं भगवान्‌का; राम किसका नाम है? कि भगवान्‌का। ब्रह्म किसका नाम है? कि भगवान्‌का। और देखो, आकारसे भी लोग पहचानते हैं—साँवरे हैं, गोरे

हैं, पीले कपड़े पहननेवाले हैं, चार हाथवाले हैं, दो हाथवाले हैं, बड़े चमकदार हैं, ऐसी नाक है, ऐसे होंठ हैं! और गुणसे जानना तो सौभाग्य है—दयालु हैं, मृदु हैं, अकिञ्चन प्रिय हैं, सौशील्यवात्सल्य-जलधि हैं, उनके सद्‌गुणोंको जानता है; उनका जानना, कितना कोमल है—

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। सु.का. ५६.५
उमा राम सुभाउ जेहिं जाना॥
ताहि भजन तजि भाव न आना॥ सु.का. ३३.३

तो भगवान्‌के स्वभावको, प्रभावको, गुणको, रूपको, नामको, महिमाको, प्रतापको जानना, ये सब जानना तो है, यह तत्त्वत: जानना क्या है जिसके लिए भगवान् कहते हैं कि **कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वतः**—कोई मुझे जानता है। ठीक है, श्यामसुन्दर मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी, गोपीजनवल्लभ, वृन्दावन बिहारी—हमारे इस रूपको कोई जानता है। परन्तु 'कश्चित् तत्त्वतो मां वेत्ति', कोई तत्त्वसे मुझे जानता है—यह तत्त्वसे जानना क्या है? बोले—भाई पहले तत्त्व जानो, फिर तत्त्वसे जानो—तत्त्वसे भगवान्‌को जानो।

देखो जी, आप सेबको जानते हो, वजन बता सकते हो आप? कई लोग ऐसे महाराज, दूकानपर काम करते हैं, उनका हाथ ऐसा सधा हुआ होता है कि हाथमें उठाया और ठीक-ठीक वजन बता दिया, इतना तोला-इतना माशा-इतनी रत्ती; सेबका वजन आँखसे दिखता है और स्वाद बताना हो तो जीभपर लेकर बता देंगे; बहुत लोग तो महाराज आँखसे ही देखकर बता देंगे कि खट्टा होगा कि मीठा होगा। तो सेबकी गन्धको जानना दूसरी बात है, वह तो गुण है। इसके स्वादको जानना दूसरी बात है, इसके रंगरूपको जानना दूसरी बात है। इसकी कोमलता-कठोरताका जानना, यह पक्का निकलेगा कि कच्चा, यह दूसरी बात है, इसकी गोलाई जानना, इसकी लम्बाई जानना यह कुल्लूका है कि कश्मीरका है, यह अमरीकासे आया है यह दूसरी बात है। बड़े-बड़े सेब देखे महाराज, मैंने काले-काले, अमेरिकासे आये हैं, बड़े ही सुन्दर। सेब हिन्दुस्तानके अच्छे होते हैं।

पर तत्त्वत: सेब क्या है? स्वाद इसका तत्त्व नहीं है। इसमें तो गुण है। खानेपर शरीरमें क्या असर पड़ेगा, वह गुण हुआ। चार-दस दिन रखनेपर सड़ जायेगा यह इसका स्वभाव हुआ। इसके खानेपर शरीरमें यह विटामिन

बढ़ेगा यह इसका गुण हुआ। यह लाल-लाल, महाराज, यह इसका रूप हुआ। सूँघनेपर जो इसमें-से ललचौनी गन्ध आती है वह इसका गुण है। लेकिन तत्त्वत: यह सेब क्या है? तो बोले—भाई सेबमें अगर तत्त्वकी परीक्षा करें तो कुछ मिट्टी, कुछ पानी, कुछ गर्मी, कुछ हवा, कुछ आसमान। बोले—ये तो सब जगह होता है, पंचभूत तो केलेमें भी होता है, केलेमें भी वही है, चीकूमें भी वही है, गुलाबके फूलमें भी वही पंचभूत है। देखो, गुलाबके फूलमें रंग और सुगन्धकी प्रधानता है और सेबमें स्वाद और गुणकी प्रधानता है। पर पंचभूत तो फूलमें भी है, फलमें भी है और तनेमें भी है और पत्तेमें भी है। तो पंचभूत होनेसे सब सेब नहीं हो जाते—कोई केला कहलाता है। बोले—यह तो बीजका प्रभाव है। बीज विशिष्ट जो पंचभूत है वह केला होता है, चीकू बनता है! अगर बीज न होवे तो केला, चीकू और सेबका भेद कैसे बनेगा? गुलाब और चमेलीका भेद कैसे बनेगा? बीजमें भेद है।

तो बीज तो तत्त्व नहीं है और पंचभूत तत्त्व है तो उसमें सेब और केलाका भेद नहीं है। असलमें पंचभूत तत्त्व नहीं है। एक जड़ तत्त्व होता है, एक चेतन तत्त्व होता है, एक सर्वव्यापक तत्त्व होता है। **तच्च तच्च तच्च तानि, तेषां भावस्तत्त्वम्।** यह जड़ वर्ग, यह चेतन, जीव वर्ग और ईश्वर ये सब तत् हैं और इन तीनोंकी भावात्मक जो सत्ता है सच्चिदानन्दघन, उसको बोलते हैं तत्त्व। रामके आकारमें भी वही है। राम कृष्णसे कुछ लम्बे थे और साँवलापन भी उनका कुछ हल्का था, कृष्णका ज्यादा था। हम लोगोंकी अपेक्षा कृष्ण भी लम्बे थे। वामनजी महाराज बहुत छोटे थे। भगवान्‌के अवतार कोई गोरे हैं कोई लाल हैं, कोई काले हैं, कोई पीले हैं। रंग अलग-अलग हैं, शक्ल-सूरत सबकी अलग-अलग है, जाति भी अलग-अलग है, कोई मछली है, कोई कछुआ है, कोई वाराह है, कोई सिंह है। कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय है। अब यह तत्त्व क्या है? तो जाति अलग होनेपर भी शक्लसूरत अलग-अलग होनेपर भी, समय अलग-अलग होनेपर भी, नाम अलग-अलग होनेपर भी जो सबमें एक चीज है, उसको बोलते हैं तत्त्व।

❖

४. विज्ञानका निरूपण—१

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ७.४

अर्थ :—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशरूप सूक्ष्मभूत, मन (अहंकार), बुद्धि (महत्तत्त्व) और अहंकार (अविद्यासंयुक्त अव्यक्त)—इन आठरूपोंमें विभक्त मेरी अपरा प्रकृति है॥ ४॥

: ४.१ :

अपरा प्रकृति

पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णने अपने सखा अर्जुनको विज्ञान सहित ज्ञानके उपदेशकी प्रतिज्ञा की, और यह बताया कि इसके जान लेनेके बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

मय्यासक्तमना पार्थ योगं युञ्जन मदाश्रय—(७.१)

इस श्लोकमें तो भक्ति और साधनकी विशेषता बतायी और **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं**—इस श्लोकमें विज्ञान सहित ज्ञानकी व्यापकता बतायी कि सर्वज्ञ हो जाओगे, कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा, अगर हमारी बतायी हुई बात ठीक-ठीक जान लोगे।

तीसरे श्लोकमें यह बात बतायी कि यह ज्ञान बहुत दुर्लभ है और संसारमें किसी-किसीको ही प्राप्त होता है। यह सर्वसाधारणके लिए सुलभ नहीं है।

अब वह विज्ञान सहित ज्ञान क्या है, इसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं। दो श्लोकोंमें पहले विज्ञानका निरूपण समझो (अपरा प्रकृति और परा प्रकृतिका) और फिर

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ७.६ तथा
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय॥ ७.७

इन श्लोकोंमें ज्ञानका निरूपण है। तो अब विज्ञानका माने प्रकृतिका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

प्रकृतिके वर्णनसे क्या लाभ? क्या प्रयोजन? तो पहले प्रयोजन बताना आवश्यक है। क्यों? कि संसारके जो मनुष्य हैं वे संसारकी वस्तुओंको मेरी-मेरी-मेरी करते हैं। यह मेरी जमीन, यह मेरा मकान, यह मेरा बगीचा, यह मेरी चाँदी, यह मेरा सोना। तो ये मेरे हैं कि नहीं, इसका पता तो लगाते ही नहीं, और इनको मान लेते हैं मेरा, और मेरा मानकर इनके साथ अपनेको बाँध लेते हैं। संसार जीवको नहीं बाँधता है, जीव ही संसारकी वस्तुओंको मेरा मानकरके उनके साथ बँध जाता है। सोना, चाँदी, जमीन या मकानमें-से किसीने नहीं कहा कि तुम मेरे हो। जब कहा तब मनुष्यने ही इनको कहा कि तुम मेरे हो। और यह मेरा पेट जब संसारसे भर लिया गया तो संसार अपने दिलमें घुस गया और हम संसारके साथ बँध गये। यही बन्धनका हेतु है।

तो अब पहले अपरा प्रकृतिका बन्धन देखो—यह अपनी नहीं, भगवान्‌की है। संसारकी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो अपनी हो। संसारकी सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं। यही बात तो भगवान् पहले (चौथे श्लोकमें) बता रहे हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ७.४

इसमें **भूमिरापोऽनलो वायुः** पर नहीं, मेरे पर ज्यादा जोर है। यह प्रकृति मेरी है, तेरी नहीं। अतः ममता छोड़ दे क्योंकि ममता छोड़े बिना कोई अहंताको छोड़ नहीं सकता। कई लोगोंको ऐसा भ्रम रहता है कि पहले अहंता छूटेगी फिर ममता छूटेगी। नहीं, ममता अन्तःकरणकी अशुद्धि है और अहंता भ्रान्ति है। दोनोंके स्वरूपको समझ लो। अहंता तो एक भूल है और ममता जो है वह अन्तःकरणमें वासनाओंके कारण बननेवाला एक दोष है। भ्रम है अहंता और मलिनता है ममता। तो मलिनताको मिटाये बिना कोई चाहे कि हम अहं विषयक भ्रमको छोड़ देंगे, तो वह भ्रम मिटाना सम्भव नहीं होता है। ममता छोटे दर्जेकी चीज है और अहंता ऊँचे दर्जेकी चीज है। जब मनुष्य छोटा-छोटा दोष छोड़ देता है, तब बड़ा दोष छूटता है। पाँच रुपयेकी चोरी छूट नहीं सकती है और पाँच हजारकी चोरी छूट जाये, यह कठिन है।

असलमें अहं कहते किसको हैं? मेरा-मेरा-मेरा, इन सब मेरा-मेराको पकड़कर जो मेरावाला है, उसीको अहं बोलते हैं। यदि मेरा-मेरा

कुछ नहीं रहे तो किसको लेकर अहं बनेगा? इसलिए अहंका जो झूठा पिशाच खड़ा हो गया है, वह कुछ नहीं, न लम्बा न चौड़ा, न काला, न नीला। अहं नामका कोई भी छोटा पदार्थ नहीं है। लेकिन जब दुनियामें मेरा-मेरा करके धनवाला मैं, स्त्रीवाला मैं, पुत्रवाला मैं, मकानवाला मैं, धरती वाला मैं। एक विशेषण जब हम अपने साथ जोड़ने लगते हैं, तब विशेषणवाला मैं बनकर हम बन्धनमें फँस जाते हैं। इसलिए पहली बात परमार्थके मार्गमें चलनेवालोंके लिए यह है कि वे मेरापना छोड़ें।

तो मेरापना छोड़नेका एक उपाय है। एक तो समझो कि यह कहते हैं कि यह सब शून्यका विलास है अथवा चित्तका विलास है; अथवा यह कहते हैं कि यह अनादि सिद्ध संसार इसी प्रकारसे चल रहा है. इसमें मेरा कुछ नहीं है। तो जैन सांख्य ऐसा कहते हैं कि अनादि कालसे यह संसारका प्रवाह ऐसे ही चल रहा है, इसमें मैं-मेरा करना यह गलती है; और बौद्ध और दृष्टि-सृष्टिवादी ऐसा कहते हैं कि यह सब शून्यका विलास है, मनो विलास है, मायाका विलास है। दोनोंमें जो अन्तर है वह दूसरी चीज है, वह समझानेका अभी समय नहीं है। हम यह कहना चाहते हैं कि इस मेरेपनेको काटनेके लिए सभी आध्यात्मिक मार्गोंमें कोई-न-कोई युक्ति स्वीकार की हुई है। जब चित्तका विलास है तो स्वाप्निक पदार्थोंमें मेरापन कहाँसे आया? और जब यह अनादिकालसे ऐसा ही चल रहा है तो इसमें मेरापन क्या है? संसारको कोई प्रकृतिका विलास बोलते हैं, कोई चित्तका विलास बोलते हैं, कोई अनादि प्रवाह बोलते हैं। कहनेका अभिप्राय यह कि विवेककी प्रधानतासे मेरेपनको काटनेके लिए यह एक मार्ग है।

अब दूसरा मार्ग देखो। दूसरा मार्ग भावकी प्रधानतासे मेरापन काटनेका है। वह भावकी प्रधानता क्या है? कि मेरा-मेरा-मेरा—या हाथ मेरा, यह पाँव मेरा, यह जीभ मेरी—और हमारे आसपास जितनी चीजें हैं वे मेरी—यह किताब मेरी, यह मकान मेरा—इसको मेरा-मेरा कहनेवाला कोई है। तो क्या यह जो सम्पूर्ण प्रपंच है, सम्पूर्ण सृष्टि है, इसको मेरा कहनेवाला मालिक कोई नहीं है? है भाई, इस सृष्टिको भी मेरी कहनेवाला, इस सृष्टिको भी अपनी कहनेवाला कोई है। तो वह कौन है? तो देखो भगवान्; साफ ही साफ कह रहे हैं कि यह सृष्टि मेरी है। **मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।** ❖

५. विज्ञान-निरूपण-२

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ७.५

अर्थ :—हे महाबाहो! यह अष्टधा प्रकृति तो मेरी अपरा प्रकृति है। इससे भिन्न जो मेरी परा प्रकृति है उसको तुम जानो; वह है जीवभूता प्रकृति जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है॥ ५॥

: ५.१ :

पराप्रकृति

विज्ञान सहित ज्ञान-तत्त्वके निरूपणकी प्रणाली यह है कि वे एक तो यह कहते हैं कि मैं हूँ, यह अखण्ड सत्य है, इसको कोई काट नहीं सकता। कोई यह सम्भावना तो कर सकता है कि पहले मैं नहीं था, और यह सम्भावना भी कर सकता है कि मैं बादमें रहूँ कि न रहूँ, क्या पता है? पहले था कि नहीं था, यह सन्देह हो सकता है और बादमें रहूँगा कि नहीं रहूँगा यह सन्देह भी हो सकता है, परन्तु मैं हूँ कि नहीं हूँ यह सन्देह कभी नहीं हो सकता। अगर कोई यह शंका करे कि मैं हूँ कि नहीं हूँ, तो वह पागल होगा।

नहि कश्चिद् प्रतीयात् नाहमस्मि।

कभी किसीको यह प्रत्यय, यह निश्चय, यह वृत्ति नहीं हो सकती कि मैं नहीं हूँ। क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' जिसको यह निश्चय होगा वह तो है ही है।

तो यह तो पक्का स्थापित कर लो कि मैं हूँ। अब उसके बाद यह विचार करना पड़ेगा कि मैं पहले था कि नहीं था और बादमें रहूँगा कि नहीं रहूँगा। तो इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर देखो बहुत सीधा सादा है। मैं नहीं रहूँगा, अपने अभावकी जो स्थिति होगी वह क्या किसीके अनुभवमें आवेगी कि नहीं आवेगी? यदि किसीके अनुभवमें आयी, तब तो आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो गया, अनुभव करनेवाला है वहाँ, और वह अनुभव करनेवाला कैसे सिद्ध होगा? बिना मैं हुए तो अनुभव करनेवाला भी सिद्ध नहीं होगा। और पहले मैं नहीं था, अगर यह निश्चय किसीको करना हो, तो किसने अनुभव किया

कि मैं नहीं था? और किसने अनुभव किया कि वह वहाँ था, यह कैसे मालूम हुआ? तो उसके लिए भी मैं-का होना अनिवार्य है। इसलिए आत्माका अस्तित्व न होना—यह किसी भी प्रमाणके द्वारा, किसी भी अनुभवके द्वारा सिद्ध नहीं होता। यह पहले था, आगे रहेगा और अब है।

तो यह जो अहं है, गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्णका अहं है वह अनादि है, अनन्त है, अविनाशी है। ज्ञान-तत्त्वमें यह प्रथम वस्तु है। उसमें दूसरी वस्तु क्या है? जीव प्रकृति, परा प्रकृति, चेतन प्रकृति जो सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रही है, तीसरी वस्तु है जड़ प्रकृति जो धारण की जा रही है। तो परमात्मा अद्वितीय है, चेतन प्रकृति एक है और जड़ प्रकृति एक होनेपर भी अनेक रूपमें फूटती है।

तृतीय तत्त्व जो जड़ प्रकृति है, उसके आठ प्रकार हुए—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँच भूतात्मा, मन प्रज्ञानात्मा, बुद्धि विज्ञानात्मा और अहंकार सत्त्वात्मा। आठ विभागवाली यह क्षर प्रकृति है भगवान्‌की। इसके अतिरिक्त पुरुष अक्षर (जीवात्मा) और भगवान्‌का अहं पुरुषोत्तम—यह सविज्ञान ज्ञानके निरूपणकी प्रणाली भगवान्‌ने विचारके लिए प्रस्तुत की।

इसमें सबसे पहले हमारी जो ममता है कि यह मेरा, यह मेरा, यह मेरा, इस मेराको छुड़ानेके लिए भगवान्‌ने कहा कि यह प्रकृति मेरी है। पृथिवी माने गन्ध तन्मात्रा, जल माने रस तन्मात्रा, अनल माने रूप तन्मात्रा, वायु माने स्पर्श तन्मात्रा, आकाश माने शब्द तन्मात्रा। वेदान्तकी भाषा में इनका नाम है अपंचीकृत पंचमहाभूत और श्लोकमें आये हुए मन, बुद्धि और अहंकार—ये भी कार्यके रूपमें नहीं हैं कारणके रूप में हैं (अर्थात् अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्तात्माके रूपमें हैं)। और प्रकृति शब्द जो श्लोकमें है, उसका अर्थ है—क्षर प्रकृति, मूल प्रकृति जो है, सो। यह सारा विस्तार भगवान्‌का है, इसीसे यह सारी सृष्टि बनती है। सृष्टिके मालिक भगवान् हैं, बनाने वाले भगवान् हैं, और बननेवाले भी भगवान् हैं।

आपुन खेल आप करि देखे।
खेल संकोचे तब नानक एकै।

एक ही प्रभु सर्वरूपमें प्रकट हो रहा है। अब जीव-तत्त्व (अक्षर पुरुष)का वर्णन करते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ७.५

इयम् तु अपरा प्रकृतिः—यह जिसका वर्णन किया गया जो आठ टुकड़ों में बँट जाती है, आठ प्रकारकी हो जाती है। (वह तो थी मेरी अपरा प्रकृति); अब इससे भिन्न—**इतस्तु अन्याम् मे मम पराम् प्रकृतिं विद्धि**—यह जो जड़ प्रकृति है, इससे जुदा मेरी जो दूसरी प्रकृति माने चेतनात्मिका, क्षेत्रज्ञ लक्षणा जो परा प्रकृति है उसको जानो। माने हम जिसको मेरा-मेरा कहते हैं वह (अपरा प्रकृति) तो भगवान्‌की है ही, जिसको हमलोग मैं-मैं बोलते हैं अलग-अलग, वह परा-प्रकृति भी भगवान् की है।

परा प्रकृति माने जीवभूता प्रकृति। शरीर सब अलग-अलग हैं और सबमें जीव हम—एक ही चेतन जीव सब शरीरोंमें मैं-मैं-मैंके रूपमें मालूम होता है। उस-उस अन्तःकरणकी, उस-उस देहकी उपाधिको लेकरके, अहंकारके साथ तादात्म्यापन्न होकर वही एक चेतन मैं-मैं-मैं-मैं बोल रहा है। जैसे देखो, एक ही मिट्‌टी सबके शरीरमें है; लेकिन हम लोग एक-एक शरीरको मैं बोलते हैं, सबके शरीरको मैं नहीं बोलते हैं। अगर मिट्‌टीको लेकर मैं बोलना है, तो समझो कि मैं मिट्‌टी हूँ। और मैं मिट्टी हूँ तो सबके शरीर में जो मिट्टी है सो मैं हूँ, लेकिन यह एक माँ-बापके साँचेमें ढलकर निकला हुआ जो शरीर है उसीको हम मैं बोलते हैं, सब शरीरोंको तो मैं नहीं बोलते हैं! क्यों नहीं बोलते हैं? जब मिट्टी सबमें एक है, जब पानी, हवा, आग सबमें एक है, जब यह साँस जो हम लोग लेते हैं सबके शरीरमें एक ही है? अपनी-अपनी साँस लिए तो नहीं घूमते हो न? बोले कि नहीं, हम अपनी साँसका थैला अलग लिये घूमते हैं, तुम अपनी साँसका थैला अलग लिए घूमते हो। परन्तु ऐसा नहीं है; गंगाजीके समान एक ही वायु शुद्ध बह रही है, उसमें-से हम नाक भर-भरकर पीते हैं और भीतरसे जो साँस निकालते हैं वह गन्दगी सहित निकालते हैं। तो सबकी साँस एक है। हम सब एक प्राण द्वै देही—देह हमारे अलग-अलग हैं और साँस सबकी एक है। इसी प्रकार जो भीतर सबके आत्मा है वह आत्मा तो एक ही है, लेकिन उस आत्माको न जाननेके कारण हम एक-एक शरीरमें मैं-मैं-मैं करके व्यवहार करते हैं। भगवान् इस बातको जानते हैं। तो यह जिस-जिस चीजको

हम मैं-मैं-मैं बोलते हैं, वह क्या है? बोले वह जीव-प्रकृति है। और वह परा प्रकृति है।

जीव प्रकृतिको परा प्रकृति कहनेका अभिप्राय क्या हुआ? परा और अपरामें भेद क्या? अपरा प्रकृति आठ प्रकारकी हो गयी है; लेकिन यह परा प्रकृति आठ प्रकारकी नहीं है, एक ही प्रकारकी हुई है। यही इसका परापन है।

पर माने परे, श्रेष्ठ। क्या परे है यह? तो देखो, गन्धकी प्रधानतासे शरीरमें नाक बन गयी, रसकी प्रधानतासे जीभ बन गयी, रूपकी प्रधानतासे आँख बन गयी, स्पर्शकी प्रधानतासे त्वचा बन गयी, शब्दकी प्रधानतासे कान बन गये, मनकी प्रधानतासे दिल बन गया, बुद्धिकी प्रधानतासे दिमाग बन गया, अहंकारकी प्रधानतासे सारे शरीरमें व्यवस्था होने लग गयी। सब व्यवस्था होती है शरीरमें अहंकारकी प्रधानतासे। यह क्रिया जो शरीरमें होती है—खूनका दौड़ना, बालका बढ़ना, भोजनका पचना, एक जगहसे दूसरी जगह जाना, हाथका मुँहमें ही पहुँचना, पाँवका रास्तेपर ही पड़ना; यह सब काम जो व्यवस्थापूर्वक होता है, यह शरीरमें अहंकार होनेसे होता है।

यह बात समझनेकी है, क्योंकि हम दुनियाके बारेमें तो बहुत कुछ समझते हैं, अपने बारेमें कुछ नहीं समझते। यह जाग्रतावस्था बुद्धिप्रधान है, इसमें जो काम हम करते हैं वह सब काम अच्छा-बुरा समझ करके, हित-अनहित समझ करके, प्रिय-अप्रिय समझ करके, बुरा-भला समझ करके-करते हैं। निश्चयपूर्वक जाग्रतावस्थामें काम किया जाता है इसलिए जाग्रतावस्थाकी महारानी बुद्धि है। लेकिन सपनेमें निश्चय करके कुछ नहीं किया जाता—किसी दिन गोदान कर लो तो किसी दिन गोवध कर लो! सपनेका क्या ठिकाना—सदाचारका पालन कर लो, यज्ञ कर लो, सपनेमें किसी दिन और किसी दिन दुराचार कर लो! सपनेका कोई ठिकाना नहीं। जो लोग सपनेके बलपर अपना बड़प्पन बघारते हैं, वे सपनेका एक देश ही लेते हैं। नहीं तो अच्छे सपने भी आते हैं, बुरे सपने भी आते हैं। अच्छा सपना आया तो लोगोंको बता दिया, आज तो हमें बड़ा भारी भगवान्‌का सपना आया और बुरा सपना आया तो बोले—चुप-चुप-चुप, किसीको बताना नहीं। तो यह स्वप्न तो मनका खेल है। इसलिए स्वप्नावस्थाका राजा है मन।

देखो, बुद्धि महारानी है, वह जाग्रतावस्थामें निश्चयपूर्वक सब काम दृढ़तासे करवाती है। मन नपुंसक है, इसलिए मनका कोई शासन स्वप्नपर नहीं चलता है—चाहे जैसा संस्कार उदय हो गया, चाहे जैसी वासना उदय हो गयी, उनका कोई सुपरिन्टेन्डेण्ट नहीं। वहाँ न कोई कमीशन है न कोई कमिश्नर है! अर्थात् वहाँ कोई ईशन करनेवाला नहीं है। जो दिलको, दिमागको पकड़करके कमाका अर्थात् कर्मका ईशन करे सो कमिश्नर! हमारे सुखका, हमारे विचारका, हमारे रसका, हमारे सिरका, जो ईशन करे, ऐसा कोई कमिश्नर वहाँ नहीं है। वहाँ कोई निरीक्षक नहीं है चाहे जो हो जाये। बिना राजाकी प्रजा जैसी होती है, वैसा सपना है। क्यों? कि वहाँका राजा नपुंसक है, मन है। वह किसीको अपने काबूमें नहीं रख पाता है।

सुषुप्ति अवस्था देखो जब आती है, तो न तो उस समय बुद्धि काम करती है और न तो मन काम करता है। लेकिन क्रिया सारी-की-सारी उसके प्रभावसे होती रहती है। अहंकार जो है यह पुरुष है, यह बिना मनके, बिना बुद्धिके भी सुषुप्ति अवस्थामें सारी व्यवस्था कर लेता है—पाचन भी हो लेता है, बाल भी बढ़ लेते हैं और भोजन भी पच जाता है, खून भी चल लेता है, कहीं मच्छर काटे तो अनजानमें ही हाथ जाकर पटसे मार भी देता है, खुजला भी लेता है, सोते-ही-सोते करवट भी बदल लेते हैं, कुछ ज्यादा ध्यान देनेकी जरूरत नहीं पड़ती। अहंकारकी क्रिया वह शरीर-सम्बन्धी सारी व्यवस्था करती रहती है।

देखो, समाधि अवस्था जब आती है तब न बुद्धि काम करती है—उस समय निश्चय नहीं होता है—और न मन काम करता है—सपने नहीं होते हैं—और न उस समय पाचन होता है, न रुधिराभिसरण होता है, न बाल बढ़ते हैं। जैसा पेट लेकर बैठो, जैसा बाल लेकर बैठो, जिस उम्रमें बैठो, समाधि टूटेगी तो वही उम्र, वही बाल, पेटकी वही दशा, पाचन भी नहीं होता, प्यास भी नहीं लगती, भूख भी नहीं लगती, अन्नका एक कण इधर-से-उधर नहीं होता, ऐसी दशा समाधिमें होती है। वहाँ क्या रहता है? बोले—वहाँ वृत्ति नहीं रहती, चित्त रहता है। वृत्ति माने व्यवहार। वहाँ चित्तके व्यवहार नहीं होते हैं, परन्तु चित्त रहता है।

कैसे मालूम भाई, कि समाधि-दशामें चित्त रहता है? ऐसे मालूम कि जब हम उठते हैं समाधिसे, तो फिर पहले दिनकी जाति, पहले दिनका वर्ण,

पहले दिनकी माँ, पहले दिनका बाप, पहले दिनके धर्म, पहले दिनकी भाषा, समाधिसे पहले वाले सब समाधिके बाद याद आ जाते हैं; तो समाधि दशामें वे कहाँ रहते हैं? बोले—कि जिसमें वे सब समाये रहते हैं, उसका नाम चित्त होता है। तो अहंकार, मन और बुद्धि—ये तीनों तो वृत्ति हैं और चित्त द्रव्य है। जीवन्मुक्ति होनेपर भी यह चित्त बना रहता है और इसमें वृत्तियोंका उदय भी होता रहता है, लेकिन यह चित्त बाधित होता है। बाधित माने आत्मज्ञानके द्वारा यह अनुभव हो गया कि अपने आत्मदेवसे पृथक् न यह चित्त है न चित्तकी वृत्ति है, न कोई जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न समाधि है। ये चारों अवस्थाएँ बाधित हो गयीं और एक अखण्ड आत्मतत्त्व विद्यमान है।

यह जो सबमें रहनेवाला एक है चेतन, इसको अवच्छेदवादकी दृष्टिसे कूटस्थ बोलते हैं—अवच्छिन्न-चेतन। यह जो अवच्छेदवादियोंकी रीतिसे कूटस्थ चेतन है, आभासवादियोंकी रीतिसे आभास चेतन है, और एक जीववादियोंकी रीतिसे एक जीव है, यह भगवान्की पराप्रकृति—सर्वोत्कृष्ट स्वभाव है। क्यों? कि इसमें ज्ञान भी है, इसमें जीवन भी है, इसमें आनन्द भी है। बस बात केवल इतनी है कि यह अपरा प्रकृतिके साथ (सच्चा) सम्बन्ध रखकर व्यवहार कर रहा है और जो शुद्ध चेतन है उसमें अपरा प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, बाधित है। इतना ही फर्क समझो दोनोंमें।

इस परा प्रकृतिको जीव चैतन्य क्यों कहते हैं और श्रीकृष्णको परमात्म चैतन्य क्यों कहते हैं? श्रीकृष्ण परमात्मा है और उनकी यह परा-प्रकृति जीव चैतन्य है। दोनोंमें फर्क क्या? चेतन तो एक ही है, लेकिन जीव चैतन्य अपराप्रकृतिको सच्ची समझकर, उसके साथ एक हो करके सम्पूर्ण व्यवहारोंमें कर्ता-भोक्ता बन रहा है; और परमात्मा चैतन्य अपने स्वरूपमें रहता हुआ अपरा प्रकृतिके साथ अपना कोई सम्बन्ध न जोड़ करके, उसको सच्ची न समझ करके उसके व्यवहारके साथ अपनेको तादात्म्यापन्न नहीं कर रहा है। जीव चैतन्य और परमात्मा चैतन्यका विश्लेषण ही यह है कि एक ही चेतन जब वह ब्रह्मरूपसे ज्ञात है तब उसका नाम परमात्मा है और जब ब्रह्मरूपसे ज्ञात नहीं है तो उसका नाम जीव है। असलमें एक ब्रह्म चैतन्य है। तो ज्ञानकी अपेक्षासे जिसको ज्ञान दृष्टिसे भगवान् श्रीकृष्ण अहं बोलते हैं, अज्ञानी जीवोंकी दृष्टिसे उसीको परा प्रकृति बोलते हैं। वह परा प्रकृति भी

एकरस निर्धर्मक ही है, बस अज्ञानके कारण उसका स्वरूप आवृत-सा हो रहा है। और उस आवरणका स्वरूप यह है कि अपरा प्रकृति **भूमिरापोऽनलो वायुः** के साथ जुड़करके इनके विकारोंके साथ जुड़करके 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं संसारी हूँ'—इस भ्रान्तिमें यह पड़ा हुआ है।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

'हे महाबाहो'—यह अर्जुनके लिए सम्बोधन है। बड़े-बड़े बाहु जिसके हैं, उसका नाम है महाबाहु। रहे तो एक जगह और उसका बाहु सब जगह काम करे, उसको महाबाहु बोलते हैं।

एक बारकी कथा है श्रीसीता रामचन्द्र दोनों झूलेपर बैठे हुए झूल रहे थे और, हनुमानजी झुला रहे थे। दोनोंने आपसमें कुछ इशारा किया। हनुमानजी तो मगन थे—सीता राम-सीताराम जप रहे थे और सीता राम दोनोंने आपसमें संकेत किया। सीताजीने कहा कि हमसे हनुमानका बहुत प्रेम है; रामचन्द्रने कहा कि नहीं, हमसे बहुत प्रेम है। बोले—आओ आज परीक्षा ही हो जाय। रामचन्द्रने कहा कि हनुमान! प्यास लगी है। सीताजी ने कहा—हनुमान! गर्मी बहुत लगती है पंखा झलो! रामचन्द्रने कहा—पहले पानी ले आओ, सीताजीने कहा—पहले पंखा झलो! अब दोनों काम सामने आया। हनुमानजीने कहा कि यह झूला झुलाना भी बन्द नहीं होना चाहिए। तो इधर झूलेको भी धक्का लगाते रहे और उधर एक हाथ बढ़ाकर गिलासमें पानी लिया और दूसरा हाथ बढ़ाकरके पंखा लिया—जहाँ-के-तहाँ खड़े और दोनोंके सामने एक ही साथ, एकको पंखा झल रहे हैं, एकको पानी! बर्हितबाहु!! तो हनुमानजी महाराज 'महाबाहु' हैं।

महाबाहु उसको कहते हैं जो महाराज रहे तो एक जगह, पर उसके बाहु सब जगह काम करें। रावणके बीस भुजा थीं। एक हजार बाहुके सहस्रार्जुन थे। बाणासुरको एक हजार भुजा थी। यह भुजा जो है यह क्रिया शक्ति है। तो जो रहे तो एक जगह, पर उसकी क्रियाशक्ति सब जगह व्याप्त हो सो महाबाहु। अर्जुन महाबाहु है, अपने हाथसे घुटना छू लेता है, उसके हाथ घुटनेतक पहुँचते हैं। वह बाण मारता है तेजीसे, रहता है एक जगह और कौरव-पांडव दोनों सेनाको अपने वशमें रखता है, इसलिए उसको महाबाहु बोलते हैं।

तो कहते हैं कि हे अर्जुन, जैसे तुम अपनी भुजाके द्वारा कौरव और पांडव दोनों सेनाको अपने वशमें करके रखते हो, ऐसे ही यह जो हमारी

जीवभूता परा प्रकृति है, यह भी वैसे ही महाबाहु है। यह जीव-प्रकृति महाबाहुकी तरह अकेली होकरके भी सारी दुनियासे अपना काम कराती रहती है; सबको नचानेवाली यही है। यह जो जीवशक्ति है यही सबको नचा रही है। परा प्रकृतिकी पहचान बताओ? बोले—सबके शरीरमें जीवनरूपसे यही बैठी हुई है। अगर वह न हो तो जगत्‌को धारण कौन करे?

ययेदं धार्यते जगत्।

जंगत् माने बस जिसकी हर समय गत बनाती रहे। जगत् माने? **गच्छति इति जगत्**—जो चलता रहे उसका नाम होता है जगत्। कभी स्थिर न होवे। **गमनात् जगत्।** इसमें गति-ही-गति है। आजतक किसीने जगत्‌को पकड़कर रखा नहीं। ऐसे-ऐसे राजा हुए सप्तद्वीपवती पृथिवी उनके हाथके नीचे थी। सारे विश्वपर उनका शासन चलता था, परन्तु उसमें कितने उत्थान हुए और कितने बिगड़े, जो अमीर थे वे गरीब हो गये, जो गरीब थे वे अमीर हो गये। जिनके अमर होनेकी बात थी वे मर गये और जो मर गये थे वे जिन्दा हो आये। यह संसारमें इतिहास इतनी पुनरावृत्ति करता है, ऐसा अदलता-बदलता रहता है संसार! संसार माने होता ही संस्कृतमें यही है—संसरणात्। संसार: कस्मात्? संसारको संसार क्यों कहते हैं? बोले—'संसरणात्'—यह सरकता है। जैसे सड़कपर कितने ताँगे, कितने घोड़े, कितने रिक्शे आते-जाते रहते हैं, इसी तरह इस संसारमें कितने लोग आते हैं और जाते हैं, कोई पकड़कर इस संसारको रख नहीं सका।

एक महात्मासे किसीने पूछा कि महाराज संसार किसको कहते हैं? वे बोले—संसार उसको कहते हैं जिसको आजतक पकड़कर कोई नहीं रख सका, सरक जाता है, इतना चिकना है कि सरक जाता है। तुम तो उससे संग जोड़ो कि यह हमारे पास बना रहे, लेकिन वह तुम्हारे पास बना नहीं रहेगा, वह सरक जायेगा। रावण, हिरण्यकशिपु, दिलीप, रघु, अज, दशरथ बड़े-बड़े प्रतापशाली राजा-महाराजा हुए, किसीके रोके यह रुका नहीं, बहता जा रहा है, इसका नाम संसार। बचपन बह गया, जवानी बह गयी, बुढ़ापा बहा जा रहा है, शरीर बह जायेगा, यह दुनिया बहनेवाली है, किसीके रोके रुकी नहीं।

बोले—परमात्मा किसको कहते हैं? परमात्मा उसको कहते हैं जिसको कोई छोड़ न सके। संसार तो उसको कहते हैं जिसको कोई पकड़

न सके! वह परमात्मा हमारे हृदयमें बैठा हुआ हमारा प्यारा, हमारा सर्वस्व, सच्चिदा-नन्दघन प्रभु, उसको अगर तुम चाहो भी कि हम उसको निकालकर फेंक दें तो निकालकर फेंक नहीं सकते।

इसीको बोलते हैं 'गच्छतीति जगत्'। एक बात और इस प्रसंगमें है कि श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने जगत् और संसार इन दोनों शब्दोंका अर्थ अलग-अलग माना है। जगत् दूसरी चीज है और संसार दूसरी चीज है! यह बात अद्वैत वेदान्ती भी मानते हैं और सांख्यवादी भी मानते हैं। वह क्या? तो पहले जगत् और संसारका भेद देखो। जगत् माने है मिट्टी, पानी, आग, हवा; और संसार माने मेरा-तेरा। तो वल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि जगत् दु:ख नहीं देता पर यह जो मेरा-तेरा रूप संसार है, यह दु:ख देनेवाला है। ईश्वरकी प्राप्ति होनेपर यह मेरा-तेरा रूप जो संसार है वह छूट जाता है; क्योंकि दु:खदायी यही है। पैसा किसीको दु:ख नहीं देता, जो उसको मेरा मानता है उसको दु:ख देता है। बेटा-स्त्री, पुत्र-पति किसीको दु:ख नहीं देते, स्त्री किसीको दु:ख नहीं देती, जो मेरी मानता है, मेरा मानता है उसको दु:ख देता है।

वेदान्ती लोग इसको ऐसे बोलते हैं कि एक है जीव-सृष्टि और एक है ईश्वर-सृष्टि। तो यह मिट्टी, पानी, आग, हवा तो ईश्वर सृष्टि है—ईश्वरकी बनायी हुई सृष्टि है, यह दु:खदायी नहीं है; परन्तु जो जीवने मेरी सृष्टि गढ़ रखी है कि यह मेरा, ये सम्बन्ध, रिश्ते-नाते मेरे और यह मैं—यह जीवकी गढ़ी हुई जो सृष्टि है वही दु:ख देती है।

यह जगत्‌को किसने रच रखा है, धारण कर रखा है? जगत्‌को किसने धारण किया? देखो, जगत्‌को जीवने धारण कर रखा है। हे भगवान्! यह क्या नयी बात कही? जगत्‌को तो ईश्वरने धारण कर रखा है, जीवने नहीं। बोले-हाँ, ईश्वर तो धारण करता है, लेकिन कर्मानुसार ही धारण करता है। तो **ययेदं धार्यते जगत्** का एक अभिप्राय यह है कि यह संसारमें जितनी जीव-प्रकृति है यह एक-एक शरीरमें बैठकर कर्म करती है—कोई अच्छा काम करता है, कोई बुरा काम करता है। जो बुरा काम करता है वह अपनेको भी नीचे ले जाता है और दूसरोंको भी नीचे ले जाता है। बुरा काम कहते ही उसको हैं। तीन जोड़ा बुरा काम है—

१. दूसरेको दुःख देना और खुद दुःखी होना; यह बुरा काम है। इसमें आत्मघातका दोष है, खुदकुशी है यह, क्योंकि आत्मा अपना भी और दूसरेका भी आनन्दरूप है। उस आनन्दरूप आत्मामें चाहे इधरसे दुःख पैदा करो और चाहे उधरसे दुःख पैदा करो, आनन्दकी हत्या है। इसलिए एक जोड़ा तो यह है पापका कि दूसरेको दुःख देना और खुद दुःखी होना, हिंसा करना और हिंसित होना। और,

२. दूसरा जोड़ा है पापका-दूसरे को ठगना, बेवकूफ बनाना और खुद मूर्ख रहना। और,

३. तीसरा जोड़ा पापका है—दूसरेको मारना और दूसरेके मारे अपनेको मरनेवाला समझना। यह भी समझका ही दोष है, पाप है।

न तो किसीको मारो और न तो मरो, न किसीको बेवकूफ बनाओ, न बनो और न किसीको दुःख दो और न तो दुःख लो।

अगर ये तीन जोड़े तुम्हारे जीवनमें नहीं हों तो पाप तुम्हारे जीवनमें आयेगा ही नहीं। इन्हीं तीन जोड़ोंका नाम पाप है। बिना तुम दूसरेको दुःख दिये पापी हो नहीं सकते और जब छल करते हो, कपट करते हो, विश्वासघात करते हो, जब अपने अन्दर जानबूझकर दुःख धारण करते हो, हिंसा धारण करते हो तो बड़ा भारी पाप करते हो, इसीका नाम पाप है। ऐसे भी समझो कि जिस कामसे दूसरेकी अवनति होवे और अपनी भी अवनति होवे उसका नाम पाप और जिसके द्वारा दूसरेकी भी उन्नति होवे और अपनी भी उन्नति होवे उसका नाम पुण्य है। अपनेको अलग मत करना, इससे भला! क्यों? बोले—अपना भी तो वही आत्मा है; एक हिस्सा अगर उसका नीचे जायेगा तो दूसरा हिस्सा ऊपर कबतक जायेगा फिर तो उसको भी नीचे ही जाना पड़ेगा इसलिए अपनी आत्माको भी उन्नत करना और दूसरेके आत्माको भी उन्नत बनाना। हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रकी पुड़ियामें आसक्त होना और इसके लिए पाप करना, दूसरेको दुःख पहुँचाना, यह बड़ा भारी पाप है।

यह जीव जगत्को कैसे धारण कर रहा है? स्वकर्म द्वारा। **ययेदं धार्यते जगत् स्वकर्मणा**—यह जो जीव है, यह अपने कर्मके द्वारा इस जगत्को धारण कर रहा है। जीव अच्छे-अच्छे कर्म करके इसमें सुख और ज्ञानकी सृष्टि कर रहा है और सच्चरित्रताकी सृष्टि कर रहा है। देखो जब आदमी स्वयं अच्छा

काम करेगा तो दूसरेको सुख मिलेगा, अपनेको सुख मिलेगा, दूसरेको रोशनी, अपनेको रोशनी मिलेगी। दूसरेको सच्चरित्रता मिलेगी, अपनेको सच्चरित्रता मिलेगी। तो यह जीव ही असलमें अपने कर्मके द्वारा सारे जगत्को धारण कर रहा है। ईश्वर तो सूर्यके प्रकाशके समान है। जैसे यह बल्ब यहाँ रोशनी फैलाता है, लेकिन यह रोशनी कहाँसे आती है? बिजलीसे, सूर्यसे; इसका केन्द्र सूर्य है। इसी प्रकार रोशनीका केन्द्र सूर्य है वहाँसे रोशनी आती है। लेकिन रोशनी बल्बमें ही क्यों आती है? कोयलेमें क्यों नहीं आती? खम्भेमें क्यों नहीं आती? बोले—भाई बल्बमें इतनी स्वच्छता आ गयी है, ऐसा संस्कार उसका किया गया है कि वह रोशनीको पकड़ सके; और कोयलेमें ऐसा संस्कार नहीं किया गया है कि वह रोशनीको पकड़ सके। इसी प्रकार सत्कर्मको ग्रहण करनेकी और सत्-ज्ञानको ग्रहण करनेकी और सच्चे आनन्दको ग्रहण करनेकी योग्यता जिस जीवने अपने कर्मके द्वारा अपने हृदयमें उत्पन्न कर ली है, वह सम्पूर्ण जगत्को उन्नत बना रहा है और स्वयं ऊपरको जा रहा है। और जिसने अपने हृदयकी यह योग्यता खो दी है वह कोयला हो गया, वह पत्थर हो गया, वह जड़ हो गया। तो अपने हृदयमें आनन्द ग्रहण, चिद्ग्रहण और सद्ग्रहणकी जो योग्यता है उसको उत्पन्न करना चाहिए।

यह जीव ही असलमें परमात्माको जगत्में दिखाता है। असली बात तो यह है कि एक ही परमात्मा अज्ञानका आश्रय होकरके जीव बन गया है और अज्ञानका विषय होकरके जगत् बन गया है। अज्ञानसे जितना हिस्सा दब गया उसका नाम जीव और जो चीज अज्ञानमें-से झलक रही है, अज्ञानमें-से दिखायी पड़ रही है उसका नाम जगत्। असलमें एक ही परमात्मा है, वही अज्ञानका आश्रय जीव भी है और वही अज्ञानका विषय जगत् भी है। एक ही चीज अज्ञानके कारण दो रूपोंमें दिखायी पड़ रही है। तो **ययेदं धार्यते जगत्** यही जो जीव-प्रकृति है यह अज्ञानका आश्रय बनकर स्वयं परमात्मा होनेपर भी जीव हो रही है और यही अज्ञानका विषय बनकरके स्वयं परमात्मा होनेपर भी जगत् बन रही है। तो यह असलमें परमात्मा ही अविद्याके कारण जीव और जगत्के रूपमें अनुभव हो रहा है, परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

❖

६. ज्ञान-निरूपण

अब भगवान् यह बात बताते हैं कि असलमें मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ७.६

अर्थ :—सभी भूत इन्हीं दो प्रकृतियों—अपरा और परा-से उत्पन्न होते हैं और मैं स्वयं सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय हूँ—ऐसा बुद्धिमें धारण करो॥ ६॥

: ६.१ :

भगवान्‌का अहम्

एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणि। सर्वाणि भूतानि भवन धर्मितानि—जितने पैदा होने-वाले पदार्थ हैं, पहले पैदा हुए, अब पैदा हो रहे हैं और आगे पैदा होंगे, उनका नाम है भूत। बहुत सोच-विचार करके यह नाम भूत दिया गया होगा। यह जो मैं-मेरा है न संसारमें, यह क्या है? बोले—भूत है। और मैं-मेराको छोड़करके जो असली चीज है, असली मैं और असली मेरा, वह क्या है? बोले—वह भूत नहीं है, वह तो परमात्मा है। तो भूत उसको कहते हैं कि जो चीज होवे तो नहीं, लेकिन दीखे और डरावे बहुत। हो तो असलमें कुछ नहीं, लेकिन डर उससे बहुत लगे और दीखे बड़ा भारी।

योजन भर भर हाथ।

वह है न नामदेवजी महाराजका किस्सा—कि कहीं जा रहे थे तो देखा सामने भूत खड़ा है। बोले—'*भले बने हो लम्बकनाथ।*' फिर बोले—पहचान गया, तुम भगवान् ही हो।

तो यह जो भूत है, भूत जो दिखायी पड़ रहे हैं—चींटीसे लेकर ब्रह्मातक जितने शरीरधारी हैं, सबको भूत बोलते हैं और मिट्टीसे लेकरके महत्तत्त्व पर्यन्य जितना कार्यजगत् है वह सब भूत है। यह परमात्मामें क्या है? बोले—भूत है। भूत है माने असली नहीं बनावटी। यह श्मशान चेत

रहा है! शंकरजीके श्मशानमें ऐसा मालूम पड़े जैसे कि मुर्दे उठकरके नाच रहे हैं, उनका आपसमें व्याह हो रहा है! यह कई लोग जब श्मशान साधना करते हैं तो मुर्देके शरीरपर बैठ जाते हैं—ऐसा वर्णन मिलता है। हमने कभी किया नहीं है, हमारा कोई अनुभव इसके बारेमें नहीं है; परन्तु वर्णन ऐसा मिलता है पुरानी पोथियोंमें कि जब लोग मन्त्रके द्वारा मुर्दे पर बैठकर साधना करते हैं तो मुर्देका मुँह खुलता है; तब उसके मुँहमें लोहेके चने डालते हैं। और थोड़ी देरमें देखते हैं तो श्मशानमें बड़ी भारी बारात आयी हुई है, दूल्हा है, दुलहिन है, बराती हैं, घराती हैं, लड़ाई है, झगड़ा है, खाना है, पीना है, नाचना है, गाना है; और जब उनकी वह साधना बन्द होती है, उठते हैं तो कहीं कुछ नहीं। तो वह सब कहाँसे दिखायी पड़ता है? बोले—वह श्मशान चेत गया है।

इसी प्रकार जो लोग इस संसारमें वासना पूर्तिकी साधना कर रहे हैं यह मुर्दा है, बिलकुल शव है। यह शिव नहीं है, शव है। जो इसमें वासना पूर्तिकी साधना कर रहे हैं उसके लिए ये सारे-के-सारे भूत हैं।

भवन्तीति भूतानि—यह बच्चा हो गया, अब पेटमें आया, गर्भाधान करो, पुंसवन करो, सीमन्तोन्नयन करो, जातकर्म करो, कि अब बड़ा हुआ, बोले—अब इसका नामकरण करो, अब कर्णवेध करो, मुण्डन करो, यज्ञोपवीत करो, विवाह करो। सारे संस्कार हुए, अन्तमें महाराज, अन्त्येष्टि संस्कार कर आओ। कहाँसे तो वह टपक पड़ा था, एक बूँद पानीके रूपमें और कहाँ जाकर अन्तमें उसको पानीमें डाल आये। अब पानीमें डालनेके पहले वह क्या था, और बादमें वह क्या है? और एक बूँद पानी अण्डेमें आनेके पहले या बीजमें आनेके पहले वह क्या था? इस बातपर विचार करो, तो जैसे भूत कहीं प्रकट हो जाये और बच्चेके रूपमें पैदा हो, जवान हो, व्याह करे, बच्चे पैदा करे, बूढ़ा होये और वह भूत मर गया। अब न वह भूत पैदा हुआ, न मरा और खेल सारा-का-सारा हो गया। इसी प्रकार यह—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।

'सर्वाणि भूतानि'—ये जितने प्राणी हैं-पशु, पक्षी, मनुष्य, ये सब-के-सब 'एतद्-योनीनि' हैं। माने यह परा प्रकृति और अपरा प्रकृति योनि वाले

हैं, माने इनका कारण यही प्रकृतियाँ हैं। माने यह चेतन देवता जो है यही अज्ञानका आश्रय और अज्ञानका विषय होकर सारे भूतोंके रूपमें प्रकट हो रहा है, इस बातका निश्चय करो।

बोले—महाराज ये सब भूत हैं तो असली चीज क्या है? बोले—असली चीज तो एक ही है, दो-चार असली चीज नहीं होती है। वह असली चीज मैं ही हूँ—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

यह परा प्रकृति-अपरा प्रकृति कुछ नहीं, वे दोनों भी हमारी ही हैं और हममें-से ही निकलती हैं। वे हमारे ही सम्पूर्ण स्वरूपमें कल्पित हैं और हमसे जुदा नहीं हैं। इसलिए परा प्रकृति सहित, अपरा प्रकृति सहित सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव और प्रलय मैं ही हूँ।

प्रभव माने कारण। ***'प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः'***=जिससे सब पैदा हों उसका नाम प्रभव; और प्रलीयते ***'अस्मिन् इति प्रलयः'***=जिसमें सब लीन हों उसका नाम प्रलय है। जैसे घड़ा पैदा किसमें हुआ? बोले—माटीमें। वह माटी मैं हूँ। और 'प्रलयः' घड़ा फूटकर मिला किसमें? कि माटीमें वह माटी मैं हूँ। अरे, घड़ा कुछ बना भी था? कि हाँ, माटीमें एक शक्ल बनी थी, माटी हो तो थी! तब वह शक्ल क्या थी—सच्ची कि झूठी? बोले—तत्त्वकी दृष्टिसे झूठी और व्यवहारकी दृष्टि से सच्ची। घड़ेमें पानी ला सकते थे यह तो व्यवहार था, व्यवहारकी दृष्टिसे सच्ची; और तत्त्वकी दृष्टिसे माटीमें वह घट कुछ नहीं था, क्योंकि मिट्टीसे जुदा उसका कोई वजन नहीं था। इसी प्रकार यह जो संसार, यह जो सृष्टि दिखायी पड़ रही है, यह तत्त्वकी दृष्टिसे परमात्मा है और व्यवहारकी दृष्टिसे इसमें स्त्री अलग, पुरुष अलग, पशु अलग, पक्षी अलग, मनुष्य अलग। व्यवहारकी दृष्टिसे अलग-अलग होनेपर भी तात्त्विक दृष्टिसे, दार्शनिक दृष्टिसे सबमें एकत्व भरा हुआ है। वह एक कौन है? श्रीकृष्ण भगवान् बताते हैं—वह एक मैं हूँ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

'कृत्स्न' माने सम्पूर्ण, सर्व। क्या अभिप्राय है? कि जैसे ब्रह्माजीने जब बछड़े और ग्वाले चुरा लिये, तब भगवान् सब बन गये। बछड़े बन

गये—एक काला बछड़ा था, एक लाल था, एक सफेद था, एक दो दिनका था और एक छह महीनेका था, सब बछड़े भगवान् ही बने। इसमें कालका व्यवधान नहीं है। एक ढाई फुटका था और एक तीन फुटका था और एक बढ़ करके चार फुटका हो गया था। लेकिन सब बछड़े भगवान् ही थे। उसमें छींका था, छड़ी थी, बाजा था और खानेकी सामग्री थी। एक काना लड़का था, एक छाँगुर था, एक लँगड़ा था, एक लूला था, एक काला था, एक गोरा था। सबके रूपमें कौन बना? अकेले भगवान् बने। वहाँ दूसरा कोई नहीं था। इसी प्रकार यह जो सारी दुनिया—कोई काला, कोई गोरा, कोई छाँगुर, कोई पंचांगुल, कोई लँगड़ा, कोई लूला, कोई दो पाँववाला, किसीके एक ही हाथ है, किसीके एक ही आँख है; इस तरहसे तरह-तरहके लोग हैं—कोई स्त्री है, कोई पुरुष है, कोई साँप है, कोई पशु है, कोई पक्षी है; सबकी शक्ल-सूरत जुदा-जुदा, सबके नाम जुदा-जुदा, सबके गुण जुदा-जुदा, सबके धर्म और स्वभाव जुदा-जुदा, सबकी अवस्था जुदा-जुदा, लेकिन—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

सबके भीतर उपादानके रूपमें, मसालेके रूपमें भगवान् हैं और द्रष्टाके रूपमें भगवान् हैं। ईक्षण कर्ता चेतनके रूपमें भगवान् और मसालेके रूपमें भगवान् हैं; सबकी सत्ता भगवान्‌की सत्ता और सबका ज्ञान भगवान्‌का ज्ञान, इसलिए संसारमें कहीं राग-द्वेष करने योग्य नहीं है। राग-द्वेषरहित होकर सबको भगवद्रूप अनुभव करो। यही बात भगवान् अगले श्लोकमें बड़े सुन्दर ढंगसे समझाते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।

अब इस प्रसंगको कलके लिए रखते हैं।

❖

जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारण भगवान्

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्र अर्जुनको विज्ञान सहित ज्ञानका उपदेश करते हुए यह बता रहे हैं कि संसारमें जितने पैदा हुए या पैदा होनेवाले पदार्थ हैं, वे सब-के-सब अपरा प्रकृति और परा प्रकृतिसे ही होते हैं। संसारमें कोई भी कार्य, कोई भी पदार्थ जो भी देखनेमें आता है, उसमें जड़, चेतन दोनों ही भाव देखनेमें आते हैं।

हमारे गंगातटके मोकलपुरके बाबा हमलोगों को बचपनमें बताते थे कि घाससे मांस और मांससे घास; संसारमें जो प्राणियोंके शरीरमें मांस बनता है वह घाससे बनता है। जौ, गेहूँ, मटर, चना, दूब, मोथा—ये सब घास हैं। इन्हींको खा-खाकर प्राणीके शरीरमें मांस की उत्पत्ति होती है और यह मांस अन्तमें जब माटीमें मिलता है तो माटीमें मिलनेके बाद उसमें फिर घास पैदा होती है। मांससे घास और घाससे मांस।

तो यह जो सृष्टिका क्रम चल रहा है—जिसको आज हम चेतन समझते हैं कि यह मनुष्य चलता-फिरता प्राणी चेतन है, यह जब मरता है तब इसकी क्या गति होती है? इसमें जो जड़ता मिली हुई है वह साफ-साफ मुर्दा बनकरके रह जाती है, पंचभूतोंमें मिल जाती है; और जो प्राणी आज अपनेको चेतन कहता हुआ फिरता है, इसको अगर जौ, चना, मटर यही पंचभूतोंकी बनी हुई चीजें खानेको न मिलें तो इसकी सारी बुद्धि और सारी चेतनता व्यर्थ हो जाये। तो जो कुछ संसारमें हो रहा है वह जड़ और चेतन दोनोंके मेलसे ही हो रहा है। इसीको चिज्जड़-भ्रान्ति बोलते हैं।

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

यह जड़ शरीर ऐसा मालूम पड़ता है जैसे चेतन हो और चेतन ऐसा मालूम पड़ता है जैसे शरीर हो। असलमें शरीर चेतन नहीं है और चेतन शरीर नहीं है। परन्तु वस्तु-तत्त्वके मूलभूत तत्त्वके अविवेकके कारण यह ऐसी दोनोंकी गाँठ पड़ गयी है कि संसारमें जो कुछ होता दीखता है वह सब इन्हीं दोनोंके संयोगसे मालूम पड़ता है। तो—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।

संसारमें जो कुछ हुआ और जो कुछ होता है वह इन्हीं दोनोंके संयोगसे होता है। ऐसा 'उपधारय'—निश्चय कर लो, ऐसी धारणा बना लो। इन दोनोंके बिलकुल सन्निकट रहकर ही जड़ चेतनकी प्रक्रियासे विश्वसृष्टि चल रही है, पर तुम इनसे बिलकुल तटस्थ हो जाओ, तुम दोनोंसे अपनेको जुदा कर लो। न तुम यह विकारी जड़ प्रकृति हो और न तुम कर्ता-भोक्ता चेतन हो, दोनों से विलक्षण हो।

देखो संसारमें एक होती है विकृति और एक होती है कृति। जड़ और चेतन दोनों हर जगह मौजूद रहते हैं, लेकिन जहाँ चेतन अपनेको जड़से मिलाकर काम करता है वहाँ कृति होती है और जहाँ चेतन अपनेको जड़से मिलाकर काम नहीं करता, वहाँ विकृति होती है।

ये जो संसारकी वस्तुएँ सड़ जाती हैं या विकारको प्राप्त होती हैं, बचपनसे जवानी और जवानीसे बुढ़ापा—ये जो काले बाल हैं, सफेद हो जाते हैं—यह क्या है? कि यह विकृति है। बच्चेका शरीर जवान होता है, यह विकृति है। शरीरमें फोड़ा होना विकृति है। चेतन जीव इनका कर्ता नहीं होता, यह प्रकृतिमें विकृतियाँ स्वयं होती रहती हैं। लेकिन मनुष्यके मनमें जो संस्कार पड़ते हैं वे कृति हैं। अच्छे काम करोगे तो अच्छे संस्कार पड़ते हैं और बुरे काम करोगे तो बुरे संस्कार पड़ते हैं। बुरे काम करोगे तो आगे चलकर दुःख पाओगे और अच्छे काम करोगे तो आगे चलकर सुख पाओगे। अच्छे कर्मका परिणाम सुख है और बुरे कर्मका परिणाम दुःख है। और ये दोनों अच्छे, बुरे काम तब होते हैं जब जीवात्मा कर्तापन करके बैठता है। यदि वह कर्तापन करके न बैठे और प्रकृतिमें स्वयं जो विकृति हो रही है, केवल वही होवे तो प्रकृतिमें विकार तो होगा, परन्तु जीवको पाप अथवा पुण्य उससे नहीं लगेगा। यह कर्तृत्त्व—भोक्तृत्वका जो सम्बन्ध है वही पाप और पुण्यका स्रष्टा है।

इस तरह परा प्रकृति जो जीव है वह इस शरीरमें बैठकरके अपरा प्रकृतिके कार्य इस शरीरके साथ तादात्म्यापन्न होकर पाप और पुण्य करता है और पाप और पुण्यके द्वारा वह इस सृष्टिको बनाता बिगाड़ता रहता है। कभी पशु-शरीर प्राप्त करता है, कभी पक्षी-शरीर प्राप्त करता है, कभी देव-शरीर

प्राप्त करता है, कभी दैत्य-शरीर प्राप्त करता है। ये सब-के-सब शरीर कर्मोंके फलस्वरूप होते हैं। उत्तम कर्मोंसे उत्तम शरीर और अधम कर्मोंसे अधम शरीर। जब कभी इस संसारमें भटकते-भटकते मनुष्य मध्यम कक्षामें पहुँचता है, जब उसके पाप और पुण्यकर्म साम्यदशाको प्राप्त होते हैं, उस समय उसको मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति होती है। यह मनुष्य शरीरकी प्राप्ति अनेक-अनेक योनियों में भटकनेके बाद होती है।

तो यह मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर जो कोई सत्संग द्वारा सदाचरण करके, सद्विवेक करके, ईश्वरकी उपासना करके युक्त होता है वह उस भवबन्धनसे मुक्त होता है; और जिसके जीवनमें सत्संग नहीं, सदाचार नहीं, सद्विवेक नहीं, सदुपासना नहीं वह इस संसार-सागरसे पार नहीं जा सकता। इस तरह यह परा प्रकृति और अपरा प्रकृतिके संयोगसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और स्थिति होती रहती है।

अब भगवान् मूल तत्त्वका निरूपण करनेके लिए यह प्रारम्भ करते हैं कि असलमें यह परा प्रकृति और अपरा प्रकृति ये दोनों मुझसे ही प्रकट हुई हैं और मुझमें ही स्थित हैं और मुझमें ही लीन होती हैं—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

भगवान् कहते हैं कि यह जो जीव-प्रकृति और जगत्-प्रकृति जगत्में क्रियाशील हो रहे हैं, इन दोनोंका उत्पत्ति-स्थान क्या है? और इन दोनोंका प्रलय-स्थान क्या है? क्योंकि उत्पत्ति-स्थान और प्रलय-स्थानका ज्ञान होनेपर निमित्त कारण और उपादान कारण इन दोनोंका ठीक-ठीक पता चल जाता है। बनानेवाला कौन है और किस चीजसे वस्तु बनी हुई है!

आप समझ लो कि जैसे एक घड़ा बनता है तो बनानेकी जो क्रिया है, वह बनानेवाले कुम्भकारमें रहती है। उसके पास थापी होगी, उसके पास चाक होगा, उसके पास डंडा होगा; और हाथवाला जो कुम्हार है वही घड़ेको बना रहा होगा, वही माटी भी उठावेगा और वही माटीको हाथमें लेकर संकल्प भी करेगा कि इस माटीसे ऐसा घड़ा हमको बनाना है। तो घड़ा बनानेके लिए माटी तो चाहिए ही, माटीके साथ-साथ चाक, डण्डा, सूत और थापी भी चाहिए और उसको बनानेकी क्रिया भी करनी चाहिए। तो यह जो कर्ता है कुम्भकार, उसको निमित्त-कारण बोलते हैं। यह जो दंड,

सूत्र, थापी—ये सब जो पदार्थ हैं ये सहकारी कारण हैं। और जो मृत्तिका है उसमें (घड़ेमें) वह समवायी कारण है अथवा यों समझो कि उपादान कारण है। यह उपादान कारण कार्य बननेके बाद भी कार्यके साथ जुड़ा रहता है। जैसे घड़ेमें मिट्टी है। घड़ेमें डंडा-सूत-थापी कुछ नहीं है, घड़ेमें कुम्हार भी नहीं है। वह जो घड़ा बना उसमें सिर्फ माटी तो रह गयी और बाकी सब जुदा हो गये।

अब समझो कि ये ब्रह्माण्ड-घट निर्माण होते हैं—एक ब्रह्माण्ड नहीं, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड घटका निर्माण होता है। ब्रह्माण्ड ऐसे हैं मानो घडे। अब देखना यह है कि इसका उपादान कारण कौन है, निमित्त कारण-कुम्हार कौन है और सहकारी कारण क्या है?

हमारे जो पाँचों स्मार्त हैं—गाणपत्य, गाणपत्य माने गणेश और शैव, वैष्णव, शाक्त—सब यह मानते हैं कि सृष्टि का निमित्त कारण और उपादान कारण ईश्वर ही है। गणपति की उपासना करनेवाले महाराष्ट्रमें बहुत ज्यादा चलती है। सौर माने सूर्य की उपासना करनेवाले मगधीय देशों में हैं। वहाँ आज भी सूर्यकी उपासना बहुत चलती है; वहाँ सूर्यके मन्दिर हैं। पहले भारतवर्षमें सूर्यकी उपासना बहुत प्रचलित थी। आज गणेशकी उपासना प्रचलित है। वैसे आज भी प्रत्येक ब्राह्मण, प्रत्येक द्विजाति जो गायत्रीका जप करता है वह 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'में सूर्यकी उपासना करता ही है। शिवकी उपासना तो शिवभक्तोंमें सर्वत्र प्रचलित ही है। क्या दक्षिणमें और क्या काशीमें, और क्या उत्तरकाशीमें—केदारनाथ, अमरनाथ, तुङ्गनाथ, उधर रामेश्वर भगवान्, यह शिवकी उपासना है। विष्णुकी उपासना रङ्गनाथसे लेकरके बद्रीनाथ तक है। देवीकी उपासना कन्याकुमारीसे लेकरके अन्नपूर्णा देवी तक सर्वत्र प्रचलित है।

तो ये सौर, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य—ये जो पाँच सम्प्रदाय हैं उपासकोंके, इन पाँचों सम्प्रदायों में बिना भेदभावके मानते हैं कि ईश्वर ही जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ये सबके सब प्रायः विशिष्टा-द्वैतवादका आश्रय लेकर ऐसा मानते हैं कि यह चित्-प्रकृति और अचित्-प्रकृति—दो प्रकारकी प्रकृति ईश्वरके विशेषण हैं, ईश्वरके शरीर हैं, ईश्वरके अंश है और स्वयं ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

अर्थात् उनका यह कहना है खुद ईश्वर बनाता है और खुद ईश्वर बनता है। माटी भी वही है और कुम्हार भी वही है।

देखो! हम लोग ईश्वरके कितने निकट हैं। कुम्हार एक घड़ा बनाता है और उसको जब बेचने के लिए बाजारमें भेज देता है और घड़ा बिककर गृहस्थके पास चला जाता है, तो गृहस्थको यह पता भी नहीं लग सकता कि इस घडेको बनानेवाला कौन-सा कुम्हार है? लेकिन जब इस घड़ेमें माटीके रूपमें बनानेवाला भी व्याप्त होवे तो प्रत्येक घरमें जो घड़ा पहुँचा, उसमें घड़ेके साथ-साथ बनानेवाला भी पहुँच गया और वह मसाला माटी भी पहुँच गयी। तो यह जो ब्रह्माण्ड बना इसमें क्या मिट्टी, क्या पानी, क्या आग, क्या हवा, क्या आसमान, इन सब चीजोंके साथ इनका जो असली उपादान ईश्वर है, वह हर जगह भरपूर है।

तो शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य—यह पाँचों ही प्रकारकी जो उपासना-पद्धति है, इनमें ईश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जाता है। और भी, आप देखो तो विशिष्टाद्वैतके ही ये पाँच भेद हैं। इसके सिवाय जो द्वैतवादी मध्वाचार्य हैं, उनके सम्प्रदायमें भी ईश्वरको जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ही माना जाता है; ईश्वर ही बना है और ईश्वरने ही बनाया है। उसमें जीव और ईश्वरके भेदको तो मुख्य मानते हैं, परन्तु ईश्वर और जगत्के भेदको मुख्य नहीं मानते हैं।

निम्बार्काचार्य महाराजका द्वैताद्वैत सम्प्रदाय है; उसमें कारणावस्थामें अद्वैत है और कार्यावस्थामें द्वैत है। इस द्वैताद्वैतके भी कई भेद हैं। औपाधिक द्वैताद्वैत भास्कराचार्यका मत है, स्वाभाविक द्वैताद्वैत निम्बार्काचार्यका मत है, अचिन्त्य द्वैताद्वैत गौड़ेश्वर सम्प्रदायका मत है। इन तीनोंमें भी समझो कि अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके रूपमें ईश्वरको ही माना जाता है अर्थात् ईश्वर हमसे दूर नहीं है। यह ईश्वर केवल सातवें आसमानमें छिपा हुआ ही नहीं है, बल्कि यह हमारी नाक, हमारी आँख, हमारा कान, हमारी जीभ, हमारा हाथ, हमारा पाँव, हमारा दिल, हमारा दिमाग जिस मसालेसे बना हुआ है, उस मसालेके रूपमें ईश्वर ही हमारे शरीरमें भरा हुआ है, और शरीरमें ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्डमें 'अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्य नारायण: स्थित:' वही नारायण अन्तर और बाहर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है।

अब समझो कि श्रीवल्लभाचार्यजीके मतमें शुद्धाद्वैत जिसको बोलते हैं उसमें तो इदं भी ईश्वर रूप है और अहं भी ईश्वररूप है। उसमें भी यही माना जाता है कि अभिन्ननिमित्तोपादान कारण जगत्का ईश्वर ही है—वही कुम्हार और वही घड़ा, वही माटी और वही कुम्हार, घड़ेको बनानेवाला भी वही और घड़ेके रूपमें बननेवाला भी वही। वही चेतनके रूपमें भी और वही जड़के रूपमें भी। न माया न छाया, ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं।

तो श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य और यह विष्णु मतान्तर्गत श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज—ये जितने वैष्णवोंके भेद हैं ये सब-के-सब; उसमें श्रीरामानन्द सम्प्रदायको भी ले लो और इधर विष्णुपुराणी सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय, इधर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय और उसके अन्तर्गत हरिदासी सम्प्रदाय, इधर श्रीराधावल्लभजी महाराज हितहरिवंश महाप्रभुका सम्प्रदाय, कोई स्वतन्त्र मानते हैं और कोई गोपालभट्टके अन्तर्गत मानते हैं, इस सम्बन्धमें उनमें स्वयं बहुत विवाद है। परन्तु जितने वैष्णवोंके शाक्तोंके, शैवोंके, सूर्योपासकोंके, गाणपत्योंके विभाग हैं, सब विभाग यही बात मानते हैं कि यह जो सम्पूर्ण जीव-जगत् है, यह ईश्वररूप ही है, इस सबका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर है।

अभी अवधके एक दो सन्त आये थे हमारे वृन्दावनमें। श्रीवासुदेवजी सार्वभौम आये थे, खाकी आये थे। दतियाके दातारजी आये थे और कई महात्मा लोग आये थे। तो वहाँ एक दिन यह प्रसंग चल गया कि यह जो दो प्रकारकी पद्धति चल गयी है कि एक तो यह मानना कि ईश्वर सर्वका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और फिर सभी सम्प्रदाय उपासनाके लिए ईश्वरका एक ऐसा रूप मानते हैं जो इस जगत्से और जीवसे नितान्त पृथक् है। तो यह क्या ऐसी बात है? तो जहाँ ये दो बात मानी जायेंगी कि उपासनाके लिए मूर्ति अलग और सिद्धान्तके लिए तत्त्व अलग, वहाँ क्या दृष्टिकोण होना चाहिए? तो यह दृष्टिकोण होना चाहिए कि—

उपासकानाम् सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना।

यह श्रुति रामरहस्योपनिषद्की है, इसकी दृष्टि ही प्राप्त होगी, क्योंकि सिद्धान्तके रूपमें तो ईश्वर सर्वका अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है

और उपासनाकी दृष्टिसे एक देशमें, एक रूपमें उसकी उपासना होती है। असलमें ईश्वरके बारेमें भाई जो कहो सो ठीक है—अचिन्त्य है न! वह 'सर्वदेशमें है' ऐसा कहो तो भी ठीक है, वह एक देशमें है ऐसा कहो तो भी ठीक है। वह राम भी है, कृष्ण भी है, शिव भी है, नारायण भी है। उसका नित्यलोक वैकुण्ठ धाम भी है, साकेतधाम भी है, गोलोक भी है। श्रुतियोंमें ब्रह्मलोक कहकर जिसका वर्णन किया गया है, उपासक लोगोंको भिन्न भावानुरूप जिसकी प्राप्ति होती है, यह सब भी ठीक है; और यह बात भी सर्व मान्य है कि जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण केवल ईश्वर है :

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

दर्शनोंमें चार्वाक दर्शनके पास तो ईश्वरकी चर्चा नहीं है; उसके तो परलोक भी नहीं है, उसके पुनर्जन्म भी नहीं है, उसके तो मृत्यु ही मोक्ष है और यावत् जीवन सुखसे रहना, लोकायत—लोक बिलकुल ठीक रहे इतनी ही दृष्टि है; उसका तात्त्विक अनुसन्धान भूत-चतुष्टय पर्यन्य ही सीमित है।

जैनोंमें समझो कि जीव-द्रव्य भी है और अजीव द्रव्य भी है। द्रव्य दो तरहका मान करके उनके लिए सृष्टि नित्य चलती रहती है। जो अष्टदषदूषण रहित होता है, महापुरुष होता है उसकी ऊर्ध्वगति हो जाती है—देश-प्रधान ऊर्ध्वगति, सिद्ध शिलापर बैठ जाना; यहाँ इस लोकमें वह प्रकट है, तीर्थंकर है और जब वे सूक्ष्म रूपसे रहते हैं सिद्ध शिलापर तब भी तीर्थंकर हैं। जैन सिद्धान्त देश-प्रधान, ऊर्ध्वगति-प्रधान है।

बौद्धोंमें उपादान तो सबका एक मानते हैं, परन्तु आन्तर उपादानकी दृष्टिसे या तो विज्ञानको मानते हैं या शून्यको मानते हैं। विज्ञानको मानते हैं तो उनके मतसे वह तब बौद्ध-दर्शन काल-प्रधान हो गया, उपादान-प्रधान नहीं रहा, क्योंकि कालमें उपादान नष्ट-भ्रष्ट होता रहता है। यदि शून्यको वे जगत्का उपादान मानते हैं, तब भी उनके यहाँ ईश्वर-वस्तुकी मान्यता नहीं है।

अब यही समझो कि बौद्धोंके चार भेद, जैन और चार्वाक—ये छह दर्शन ऐसे हैं जो वस्तु तत्त्वकी दृष्टिसे अभिन्न निमित्तोपादान कारणकी दृष्टिसे

ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, वैसे उपास्य रूपसे ईश्वरको वे भी स्वीकार करते हैं। वे कैसे स्वीकार करते हैं कि जो तीर्थंकर हो गया वह ईश्वररूप है। जो बुद्ध हो गया वह ईश्वर रूप है। अर्हण कहकर जैन लोग ईश्वरकी पूजा करते हैं और आदिजिन कहकर जैन लोग ईश्वरकी पूजा करते हैं, परन्तु वे जगत्के अभिन्न निमित्तोपादान कारणके रूपमें ईश्वरको स्वीकार नहीं करते हैं। वे उनको जगत्से पृथक् जगत्से न्यारा अष्टादश दूषणरहित आदि जिन—नित्य जिनके रूपमें ही स्वीकार करते हैं। ये सम्यक् संकल्प, सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् समाधि—इनकी सिद्धि किसीमें प्रयत्नपूर्वक होती है और किसीमें अनादि सिद्ध है। तो जिसमें अनादि सिद्ध है वह ईश्वर रूप है। इसको अर्हण बोलते हैं अथवा उसको आदि बुद्ध बोलते हैं, आदि जिन बोलते हैं।

परन्तु महाराज, यह तो आस्तिक दर्शन है, इनमें एक तो ईश्वरकी पृथक् स्थापना करनेके लिए कर्ता-ईश्वरकी स्थापना की नैयायिकोंने और तटस्थ ईश्वरकी स्थापना की वैशेषिकोंने। आत्माका द्रष्टारूपसे और विभुरूपसे वर्णन किया, योग और सांख्योंने और पूर्वमीमांसकोंने बताया कि यह सृष्टि असलमें कर्मके कारण ही भिन्न-भिन्न रूपमें हो रही है। उनके अनुसार यह सृष्टि जो है वह कार्मिक है। और यह जो वेदान्त-दर्शन है, इसके सारे ही पक्ष इस विषयको लेकरके प्रचलित होते हैं कि इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण केवल ईश्वर है। यह वेदान्त-दर्शनका समूचा पक्ष ही है।

अब अभिन्न निमित्तोपादान कारण पक्षमें फिर बहुत सारे मतभेद हैं कि वह विशिष्टाद्वैत है कि द्वैताद्वैत है। सभी आचार्य इसपर अपनी-अपनी व्याख्या करते हैं। तो—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

इसमें अब अहं पदका अर्थ लो! अहं माने कौन? भक्तोंको तो यही अच्छा लगता है कि जब कोई अहं पदका उच्चारण करे तो वह उसीको अहं बोले, जो बोल रहा है। भक्तोंको यही अच्छा लगता है। हमने देखा है कि श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज जब कभी वेदान्तका सत्संग करते थे, तो वे जाकर अलग बैठते थे और वहाँ वेदान्तकी चर्चा होती थी। उस समय

जब वे बोलते थे कि "देखो, मेरे स्वरूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश और प्रकृतिसे लेकर तृणपर्यन्त, ब्रह्मासे लेकर चींटीपर्यन्य ऐसे-ऐसे अनगिनत ब्रह्माण्ड मेरे स्वरूपमें चिंगारियोंके समान उदय और विलयको प्राप्त हो रहे हैं और अपने स्वरूपमें इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है; केवल स्फुरण-मात्र है, केवल प्रतीति-मात्र है"—ऐसे जब वे बोलते थे, तो एक बहनजी थीं, वे भी बैठी रहती थीं। तो बोलतीं—"देखो, देखो, देखो, क्या कह रहे हैं! देखो ये कह रहे हैं कि मैं ही हूँ। अरे तुम लोग दूसरेकी उपासना काहेको करते हो? यह ईश्वर तो तुम्हारे सामने बैठा है, ये बोल रहे हैं कि मैं ही हूँ। इन्हींको चढ़ाओ चन्दन, इन्हींको पहनाओ माला, इन्हींकी करो पूजा, ये तो साफ कह रहे हैं कि मैं ही हूँ।" लेकिन उनके बोलते समय उनके मैंका स्वरूप क्या होता, वे किस वस्तुको ध्यानमें रखते हुए, किस वस्तुके लिए 'मैं' शब्दका प्रयोग करते थे? उसको तो जो विवेकवान वेदान्ती थे, वे ही ग्रहण कर पाते और जो विवेकवान वेदान्ती नहीं थे, वे उसको ग्रहण नहीं कर पाते थे। उनको तो ऐसी बुद्धि होती कि यह जो हस्त पादादियुक्त श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका विग्रह हमारे सामने बैठा हुआ है, इसीके लिए ये अहं शब्दका प्रयोग करते हैं।

हमने देखा वहाँ तिरुवन्नामल्लैमें श्रीरमण महर्षिके पास जब वे 'सोऽहं'का अनुसन्धान कराते हुए अहंके स्वरूपका निरूपण करते। ऐसा नहीं समझना कि वे मौन ही रहते थे या मौनोपदेश ही करते थे; नहीं, वे बोलकर समझाते थे और खूब अच्छे ढंगसे समझाते थे। उनके समझानेकी प्रणाली बहुत बढ़िया थी। उन्होंने एक तमिल भाषामें पुस्तक लिखी है, उसका संस्कृत अनुवाद भी हुआ है, उसमें वह शैली है। तो उनके यहाँ दो पार्टी थी, एक तो उनके कहे अनुसार 'अहं' पदका अनुसन्धान करती थी और एक कहती थी कि रमण भगवान् हैं,—ये जो रमण महर्षि हमारे सामने बैठे हुए हैं, यही साक्षात् भगवान् हैं। देखो, दो पक्ष हो गया। यह क्यों दो पक्ष हो गया? कि जिस तत्त्वका वे निरूपण करते थे उसको ग्रहण करनेवाले लोग तो अपनेमें उस वस्तुका अनुसन्धान करते और जो उसको ग्रहण नहीं कर सकते, वे उनमें मानते। यही तो ज्ञान-पार्टी और ध्यान-पार्टी दो हो गयी

न! एक ज्ञानमार्ग हो गया, एक ध्यानमार्ग हो गया। ध्यान करनेके लिए रमण भगवान् हो गये और ज्ञान प्राप्त करनेके लिए 'सोऽहं'का अनुसन्धान हो गया। यह दो पक्ष हो गया।

अब '**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**'में भगवान् श्रीकृष्ण जब अहं पदका उच्चारण करते हैं तो अहं माने क्या होता है? क्या अहं माने मुरली मनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर नन्दनन्दन वृन्दावनवाले? नहीं महाराज! तो क्या रुक्मिणीवल्लभ, द्वारकाधीश, शंख-चक्र गदाधारी—यह अहं पदका अर्थ है? नहीं, नहीं, यहाँ ये दोनों अर्थ नहीं हैं। तो यह कहो कि पार्थ सारथि, तोत्रवेत्रैकपाणि, ज्ञानसमुद्र जो श्रीकृष्ण हैं वह यहाँ अहं पदका अर्थ है? यह भी अर्थ है। क्योंकि भगवान्के शरीरमें जो एक-एक रोमकूप है अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड चिन्गारीकी तरह चमकते रहते हैं। महा-नारायणोपनिषद्में वर्णन है—

यस्य समन्ततो रोमकूपेषु अनन्तानि ब्रह्माण्डानि प्रज्वलन्ति।

यह हमलोगों के रोएंके साथ एक गड्ढा होता है, इसको संस्कृतमें बोलते हैं रोमकूप—रोएँका कुआँ। बोले—भगवान्के शरीरमें जो एक-एक रोमकूप है, उस एक-एक रोमकूपमें चारों ओर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड चिनगारीकी तरह चमकते रहते हैं। कैसा होगा उनका श्रीविग्रह? हम लोगोंको तो नहीं दिखता है परन्तु अर्जुनको जब भगवान्ने दिव्यदृष्टि दी, तो उसने देखा भगवान् श्रीकृष्णके शरीरमें ही यह प्रभवः प्रलयस्तथा—कितने ब्रह्माण्ड उसमें समा रहे हैं और कितने निकल रहे हैं।

प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः। प्रलीयते अस्मिन् इति प्रलयः। अथवा प्रलीयते अनेन इति प्रलयः।

वही सबके कर्ता हैं और वही सबके संहर्ता हैं, वही अर्जुनके रथपर विराजमान हैं परन्तु रथ टूटता नहीं, घोड़े दबते नहीं और हाथमें बागडोर लिए हुए और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका भार अपने एक-एक रोमकूपमें समाये हुए श्रीकृष्ण अर्जुनके रथमें बैठे हुए हैं। वह श्रीकृष्ण ही हैं **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।**

वही सम्पूर्ण जगत्के प्रभव और प्रलय हैं।

अच्छा, इस कल्पनाको उठा दो, इस भावसे अलग चलें। तो भाई, श्रीकृष्ण अपनेको विराट् रूपमें अनुभव कर रहे हैं और उस विराट्को ही 'अहं'

कह रहे हैं। और आगे चलो— भगवान् अपनेको सूत्रात्मा हिरण्य-गर्भके रूपमें अनुभव कर रहे हैं और अपनेको अहं बोल रहे हैं। और आगे चलो तो अपनेको भगवान् ईश्वरके रूपमें परमेश्वरके रूपमें अनुभव कर रहे हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ १०.८

सबके आदि कारण भगवान् श्रीकृष्ण और सबके प्रवर्तक भगवान् श्रीकृष्ण—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ९.४-५

मया ततमिदं सर्वं—यह संसार कैसा? बोले—कपड़ा है। इसमें सूत कौन है? बोले—मैं। महाराज कपड़ा फटे तो सूत भी टूट जाये? बोले—**अव्यक्तमूर्तिना**—मेरी मूर्ति व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। अव्यक्तरूप होकर मैं सर्वमें भरपूर हूँ। तो यह जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, इसके अनेक रूप गीतामें देखो न हैं—आचार्यरूप है भगवान्का, दिव्यरूप है—देवता रूप है। आचार्यरूपसे उपदेश करते हैं—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

अर्जुनने जिनकी शरणागति ग्रहण की। गुरु न होते तो शरणागति कैसे ग्रहण करता? यह आचार्यरूप भगवान्का है। सारथि-रूप है भगवान् कृष्णका। विराट्रूप है, जो अर्जुनको दर्शन दिया और भगवान्का जो निराकाररूप है, जिसको ध्यानमें रखकर भगवान् बोलते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना॥

जो सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है, उस अपने स्वरूपको दृष्टिमें रखकर भगवान् बोलते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। १८.४६
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

सारी दुनिया, छोड़ना नहीं एक कण भी, एक तृण भी, एक चींटी भी और ब्रह्मा भी, किसीको छोड़ना नहीं—**कृत्स्नस्य जगतः**—जो चलने-

नेवाली चीज है, जो आकार-विकार-संस्कार-प्रकार है, जो आधि-धि-समाधि-उपाधि है, वह सम्पूर्ण जगत्के रूपमें जो कुछ है, उसका व माने उत्पत्ति-स्थान और प्रलय माने प्रलयस्थान मैं ही हूँ। यह ाण्डरूपी घड़ा मुझ मिट्टीमें बना और मुझमें लीन होता है, मैंने अपने पको इस घड़ेके रूपमें बनाया है और मुझमें ही यह घड़ा फूटकर लीन ता है अर्थात् तत्त्वरूपसे मुझसे जुदा दूसरी कोई चीज नहीं है—यह बात ावान् श्रीकृष्ण यहाँ समझा रहे हैं।

अब इस बातको बिलकुल स्पष्ट करनेके लिए तीन रीतिसे समझाते हैं र पन्द्रह दृष्टान्त देते हैं। इसको हमारे एक मित्र बोलते थे कि यह दृष्टान्त-दशी है, दृष्टान्त पूर्णिमा।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ......

कोई दृष्टान्त देता है तो एक-दो दृष्टान्त देता है, हदसे ज्यादा तीन ष्टान्त देता है। लेकिन महाराज यह भगवान् श्रीकृष्ण पार्थसारथि अपने त्रके प्रति वात्सल्य स्नेहसे इतने अभिभूत हो गये, इतने द्रवित हो गये, इतना ह उमड़ा उनके हृदयमें कि अर्जुन एकसे नहीं समझता तो दो-से, दों-से हीं समझता तो तीन-से, तीन-से नहीं समझता तो लो पूर्णिमा ही कर दें, ष्टान्तों की! आकाशमें दृष्टान्तोंका पूर्णचन्द्र छिटका दें कि अर्जुनकी मझमें यह बात आवे।

❖

७. भगवान्‌की अहं-परत्व-पराकाष्ठा

मत्तः परतरं न्यायत्किंचदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७.७

अर्थ :–हे धनञ्जय ! मेरेसे परतर अन्य कुछ भी नहीं है। यह सब मुझमें इस प्रकार पिरोया हुआ है जैसे सूत्रमें मणियों का समूह॥ ७॥

: ७.१ :

'धनञ्जय'का अर्थ

धनञ्जय अर्जुनका बड़ा प्यारा नाम है। धनञ्जय अग्निका भी नाम है और एक प्राणका भी नाम है। शरीरमें प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान—ये तो पाँच मुख्य प्राण हैं और पाँच उपप्राण हैं जिनके नाम हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इस प्रकार धनञ्जय नाम एक प्राणका भी है। यह धनञ्जय प्राण कहाँ रहता है? तो यह नखसे लेकर शिखापर्यन्त सारे शरीरमें रहता है और यह मुर्देको भी नहीं छोड़ता—**मृतमपि न जहाति।** जिससे शरीर बँधा हुआ रहता है, अँगूठा बिखर नहीं जाता, हाथ बिखर नहीं जाता, पाँव बिखर नहीं जाता, मरनेके बाद सब सटे-सटे रहते हैं, यह सबको सटाये रखनेवाला जो प्राण है, उसको धनंजय बोलते हैं, बड़ा स्नेही है **न जहाति धनंजयः।** यह धनंजय प्राण जो शरीर में रहता है, वह मुर्देको भी नहीं छोड़ता है।

तो भगवान्‌का प्रेमी जीव अर्जुन कैसा होना चाहिए? बोले—धनंजय जो कभी छोड़े नहीं, एक दूसरेको सटाकर रखे, उसका नाम धनंजय। देखो, धनंजय प्राण ही शरीरको नहीं छोड़ता है। मुर्देको जीव छोड़ देता है, लेकिन मुर्देको भगवान् नहीं छोड़ता। आप यह बात बिलकुल पक्की याद करके रखलो, अगर आपको न मालूम हो तो जानलो कि मुर्देको जीव छोड़ देता है। मुर्देको छोड़कर इन्द्र भाग जाता है, हाथमें-से, मुर्देको छोड़कर सूर्य भाग जाता है आँखमें-से, मुर्देको छोड़कर मनमें-से चन्द्रमा और अन्तःकरणमें-से ब्रह्मा भाग जाता है, लेकिन मुर्देको छोड़कर ईश्वर नहीं भागता है। यह नर-नारायण का साथी है। यह धनंजय महाराज ईश्वरका साथी है। जब धनंजय ही नहीं छोड़ता है तो ईश्वर कहाँसे छोड़ेगा? भगवान्‌ने सम्बोधन किया—'हे धनंजय'।

धनंजयका अर्थ अग्नि भी है। जो सबको भस्मसात् करनेमें समर्थ है वह द्वैतको भस्म कर दे, इसमें क्या आश्चर्य है! अग्नि सबको भस्म करने में समर्थ है।

धनंजय उसको कहते हैं जो धनका उपार्जन करे **धनं जयति।** जो दिग्विजयमें धनको जीतकरके ले आवे, उसका नाम धनंजय। तो जो ज्ञानरूपी धनको प्राप्त करे उसका नाम धनंजय। है धनंजय! मैं तुमको ज्ञान, धनकी उपलब्धिकी बात बताता हूँ।

अर्जयतीति अर्जुनः—जो अर्जन करे उसका नाम अर्जुन। तुम ज्ञानार्जन करो। कौन-सा ज्ञानार्जन करें महाराज? कि यह ज्ञानार्जन करो कि परमात्मा जो है, परमेश्वर जो है, वह सम्पूर्ण जगत्‌का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। माने वही माटी है, वही कुम्हार है उसके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है।

बोले—अच्छा, जब कारण होता है तो कार्य भी होता है। भगवान् हुआ कारण, तो कार्यको भी तो होना चाहिए न! और कार्य-कारणका भेद बनना चाहिए।

अब भगवान् बताते हैं कि यह जो कार्य-कारणका भेद है, यह भेद वास्तविक नहीं है। माने यह अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण तो है परन्तु अविकृत-परिणामी-अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण अथवा परिणामी अभिन्न-

निमित्तोपादान कारण नहीं है। तब कौन-सा कारण है? बोले—विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसलिए यह तत्तत् रूपमें होता है, तत्तत् रूपमें भासता है क्योंकि वस्तुतः उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यही बात भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७

मत्तः परतरं-परोक्ष और अन्यत् समवर्ती और किंचित्-परवर्ती। हमसे परे भी कुछ नहीं है—परतरं। भगवान् कहते हैं हमसे परे कुछ नहीं है। अच्छा, परे न हो, वह आँखके बराबर हो, बोले—अन्यत्—दूसरा भी कुछ नहीं है। अच्छा, आपसे छोटा ही होवे कुछ? बोले—किंचित्।

तीन बात हैं—**परतरं नास्ति, अन्यत् नास्ति, किंचित् नास्ति।** परतरं माने हमसे परे भी नहीं है, हमारी बराबरीका भी नहीं है और हमसे छोटा भी नहीं है। किंचित् माने छोटा, अन्यत् माने हमारी बराबरीका दूसरा और परतरं माने हमसे श्रेष्ठ, हमसे बड़ा, हमसे परे। तो ये तीनों चीज हमसे जुदा नहीं हैं। इसका अर्थ हुआ मैं-ही-मैं केवल हूँ। कार्य भी मैं ही, कारण भी मैं ही, जीव-जगत् भी मैं ही, मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं।

अब इस प्रसंगको और कलके लिए रखो।

❖

: ७.२ :

मत्तः परतरं नान्यत्

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा

भगवान् श्रीकृष्ण आगे यह बात कहनेवाले हैं कि **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।** इस मायाके परे कौन जाते हैं? 'कस्तरति मायां?' बोले—'मामेव ये प्रपद्यन्ते'—जो मेरी शरणमें आते हैं, वे मायाके पार जाते हैं। तो भगवान्‌की शरणमें जाना! केवल जुबानसे कह देना कि हे प्रभु मैं तुम्हारी शरणमें हूँ—यह बात दूसरी हुई और प्रभुके माहात्म्यको जानकर उनकी शरणमें जाना, यह बात दूसरी है। अपना माहात्म्य बतानेके लिए कि जीव सुगमता पूर्वक भगवान्‌की शरण ग्रहण कर सके, भगवान्‌को पहचान सके, भगवान्‌ने कहा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

बहुत जन्मोंके बाद तब कहीं मनुष्यको भगवान्‌का ज्ञान होता है और जब ज्ञान होता है तब भगवान्‌की ठीक-ठीक प्रपत्ति होती है। इसलिए भगवत्तत्त्वका ज्ञान होना भी आवश्यक है। पहचानोगे नहीं तो सहारा किसका लोगे? और बिना पहचाने उसका सहारा ले भी लिया, पार भी हो गये; पर सहारा लेनेमें जो मजा आना चाहिए, व नहीं आवेगा।

यह क्या बात हुई? कि हम कहीं जंगलमें भटक गये हों और हमको बादशाहका सहारा मिल जाये—जंगलमें भटकते-भटकते कहीं एकाएक बादशाह मिल जाये और वह हमारा हाथ पकड़ले और हाथ पकड़कर जंगलमें रास्ता बता दे और जहाँ पहुँचना चाहिए वहाँ पहुँचा दे—एक तो यह बात हुई कि पहुँच गये। और दूसरी बात यह हुई कि जिस समय रास्तेमें

भटकते हुए वह मिला, उसी समय हम पहचान गये कि यह तो बादशाह है। जो जिस समय मिला तबसे लेकरके जो रास्तेमें वह हाथ पकड़कर चला और रास्ता बताया और हमारे साथ-साथ विश्राम किया, हमारे साथ खाया, हमारे साथ छूआ और फिर ले जाकर जहाँ पहुँचना था वहाँ पहुँचा दिया। तो देखो, बादशाहका सहारा तो मिला दोनोंको। एकने पहचान लिया है उसको और एकने नहीं पहचाना उसको। तो पहचाननेवालेको जो मजा, जो रस, जो अनुभव पहले ही क्षणमें हो जायेगा, वह अनुभव न पहचाननेवालेको कब होगा? कि जब धुरधाममें पहुँचनेके बाद वह देखेगा कि अरे जिनके पास मैं इतने दिनों तक रहा, जिन्होंने मेरा हाथ पकड़ा, जिनके साथ मैं खाता-पीता, बोलता रहा वे तो स्वयं भगवान् हैं। तो दोनोंके आनन्दमें फर्क पड़ेगा कि नहीं पड़ेगा? मुक्तिमें फर्क नहीं पड़ेगा, लेकिन दोनोंके साधन कालीन आनन्दमें बड़ा भारी फर्क पड़ेगा।

इसलिए पहले भगवान्‌को पहचानकर फिर उसके साथ-ही-साथ चलें। भगवान्‌ने यह कह रखा है कि तुम मेरी ओर आओ। यह जो संसारकी नदी बह रही है, जब तुम देखोगे कि इस नदीको पार करके भगवान्‌के पास जाना है, तब एक मल्लाह नाव लेकर तुम्हारे पास आवेगा और तुम उस नावपर बैठ जाना। तुमको डाँड़ नहीं चलाना पड़ेगा, तुमको पतवार नहीं पकड़नी पड़ेगी, वही पतवार घुमा लेगा और वही पतवार चला लेगा। तुम तो बैठे-बैठे मल्लाहके छोकरेको देखते रहना और वह तुमको भवनदीसे पार कर देगा।

बोले—महाराज, वह मल्लाह कौन होगा? पहचानना तुम उसको। भगवान्‌ने बता दिया—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

स्वयं भगवान् ही नाव लेकर—साधनकी नाव लेकर और वह ठीक दिशामें चले इसके लिए पतवार पकड़कर दिशा-निर्देश करते हुए, स्वयं नाव खेते हुए आते हैं और जो पार जानेवाला यात्री है वह तो उस खेनेवालेको देखकर आनन्द ले रहा है। हमारा नाव चलानेवाला कौन है? हमारा प्यारा है, हमारा प्रभु है।

इस प्रकार यह यात्रा पूरी करनी है अगर तुम मृत्यु संसारके समुद्रमें डूब रहे हो तो भगवान् तुम्हारा हाथ पकड़कर निकालनेके लिए बिलकुल तैयार खड़ा है।

तो भगवान्‌को पहचाननेकी जरूरत है कि हम उसको पहचानें। अब यह पहचानना क्या है? हम बहुत सरल रीतिसे आपको बताते हैं। किसी-किसीके दिमागमें इतनी जटिलता होती है कि जबतक चार कठोर शब्द न बोलें, कुछ भाषाके दाँव-पेंच न दिखावें, कुछ अवच्छेदकावच्छिन्न न होवे, तो वे समझते हैं कि बहुत मामूली बात कही गयी। तो बात तो जितनी बड़ी-से-बड़ी बात जितनी मामूली-से-मामूली ढंगसे कही जाती है उतनी ही वह लोगोंके दिमागमें ज्यादा बैठती है और ज्यादा समझमें आती है।

अब देखो कि इस संसारके बनानेवाला कौन है? तो घड़ेको बनानेवाला कौन है? तो कुम्हारने कहा कि घड़ेको मैंने बनाया है। कुम्हारका दावा है। एक बार ब्रह्मा और कुम्हारमें झगड़ा हो गया था। व्याकरणके एक ग्रन्थमें इसका उल्लेख है—

घटानां निर्मातुः त्रिभुवनविधातुश्च कलहः।

घट-निर्माता और त्रिभुवन-विधाता—दोनोंमें कलह हुआ। कुम्हारने कहा कि तुमने ब्रह्माण्ड बनाया और मैंने घड़ा बनाया, दोनों बनानेवाले। हमारी जाति एक है। हमारी जातिके तुम हो। हमारे बराबर बैठो, हमारे बराबर खाओ। हमारे बराबर पीओ।

तो घड़ेको बनानेवाला कौन? कुम्हारका दावा है कि मैंने बनाया। ठीक बात है कुम्हारने बनाया, मान लो। पर कुम्हारने माटी भी बनायी है कि सिर्फ घड़ा ही बनाया है? कुम्हारने माटी नहीं बनायी है, सिर्फ घड़ा बनाया है। सुनारने जेवर गढ़ा जरूर, पर सोना नहीं बनाया। अब बताओ सोना किसने बनाया? माटी किसने बनायी? इस बातकी खोज करो।

कुम्हारने कहा—मैंने घड़ा बनाया। ईश्वरने कहा—घड़ेमें जितनी माटी है, वह लौटा दे, क्योंकि वह तो तुम्हारी बनायी है नहीं, और कुम्हारजी! घड़ा तुम अपने पास रखो। तो कुम्हार के पास क्या बचेगा? इसलिए देखो, इस ब्रह्माण्डके घड़ेका विचार करो कि यह विश्वमें जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, घड़े-पर-घड़े, घड़े-पर-घड़े, क्या इनको ईश्वरने बनाया तो ऐसा ही

बनाया कि माटी पहले से पड़ी हुई थी और ईश्वरने कुम्हारकी तरह ये ब्रह्माण्ड-घट बना दिये? जैसे महाराज हमारे लोग बड़ी-बड़ी मशीन बनाते हैं, तो कैसे? कि बड़े-बड़े पुर्जे बनकर आते हैं, यहाँ एक घड़ी बनानी हो तो घड़ीके पुर्जे नहीं बनते हैं, पुर्जे दूसरी जगहसे बनकर आते हैं और उनको जोड़ देते हैं। और पुर्जे बनानेवाले भी पुर्जे तो गढ़ते हैं लेकिन पुर्जेमें जो धातु है, वह क्या उन्होंने गढ़ा है? वह किसकी गढ़ी हुई है। तो उसकी खोज करोगे तब ईश्वरका पता ठीक ठिकानेसे लगेगा।

अब घड़ेसे पूछा तो घड़ेने कहा हम खुद ही बन गये। कैसे बन गये भाई? कि हम बड़े पुण्यात्मा हैं।

एक बार एक सत्संगकी सभा जुड़ी हुई थी। उसमें किसीने एक घड़ा गंगाजल लाकर बीचमें रख दिया और बोला—सन्तो! यह जल पीओ, सन्तोंने गंगाजल पीआ, बड़ा शीतल, तृप्ति हुई, प्यास बुझी, बोले—देखो भाई, यह घड़ा भी बड़ा भाग्यशाली है कि सन्तोंकी सेवाके लिए गंगाजल लेकर आया, यह पूर्वजन्मका बड़ा पुण्यवान् है। यह कर्मकी जो निरूपण प्रणाली है, उसमें घड़ेका भी कर्म होता है, पूर्वकर्म, पूर्वसंस्कार। सब माटी घड़ा नहीं बनती है। जो पूर्व-पूर्व घटके संस्कारसे संस्कृत माटी होती है, उसीसे घट बनता है, ऐसी भी मान्यता है। राधेश्याम कहो!

किसीने पूछा कि घड़ा बताओ, हे घट बताओ, तुमने क्या पुण्य किया है कि यह तुमको घटाकृति प्राप्त हुई? अब उसने बताया पहले मैं सब मिट्टीकी तरह मिट्टीमें मिला हुआ था। एक कुम्हार आया और मेरे ऊपर फावड़े मारने लगा। तो मैंने समझा कि मेरे साथ बड़ा अन्याय हो रहा है, बड़ा दुःख हुआ। उसके बाद वह गधेपर लादकर अपने घर ले गया और खूब पीटा, पानी मिलाया, रौंद दिया हमको। उसके बाद चाकपर चढ़ाया और फिर हमको काटा-पीटा, बराबर किया, कपालद्वय संयोग हुआ, गला उसका काटा गया, थापीसे पीटा गया। क्या तपस्या करनी पड़ी! बोले—फिर जब थोड़ा-थोड़ा सूख गया तो आँवेमें रखा गया, आगमें पकाया गया, फिर बाजारमें गया तो जो आवे सो ठोंके। उसके बाद किसीने दो पैसेमें खरीद लिया, गंगाजल भरा, सन्तकी सभामें लाकर रखा, कितनी तपस्याके बाद यह सन्त सभा प्राप्त हुई है।

बोले—हाँ ठीक है, बड़े सौभाग्यशाली हो तुम, लेकिन घट जी, यह तुम्हारे अन्दर जो मृत्तिका है वह क्या है? तुम्हारा स्वरूप क्या है?

बोला—हमारा स्वरूप यह है कि पेट बड़ा और गला छोटा। संस्कृतमें ऐसे ही बोला जाता है घड़ेके लिये। घड़ा क्या होता है? कि—'पृथु उदरे'—गोल-गोल और बड़ा जिसका पेट होवे; और 'कम्बुग्रीवः' शंखके समान जिसका गला होवे; घटित होवे—कुम्हारने गढ़ करके जिसको बनाया हो। यह घटित, गढ़ना शब्द जो है, यह संस्कृतके 'घट् धातु'से बना हुआ है। घटित हुआ, गठित हुआ, गढ़ा गया।

अच्छाजी तो तुम्हारा स्वरूप क्या है? तो घड़ेने बताया—यही बड़ा पेट और छोटा गला यही मेरा स्वरूप है। देखो, किसी आदमीसे पूछो कि तुम्हारा क्या स्वरूप है? तो वह क्या बतावेगा? कि दो हाथ, दो पाँव, हस्तपादाभिमान यह जो आकृति विशेष है, इसीका नाम मनुष्य है।

बोले—''नहीं भाई, तुम्हारे अन्दर तुमसे परे एकचीज है मिट्टी''—मिट्टी बिगड़ कर बोली घड़े से। ''तुम केवल बड़े पेट और छोटे गलेवाले आकार-विशेष नहीं हो, तुम मिट्टी हो, मेरे सिवाय तुम और कुछ नहीं। दे दो हमारी मिट्टी!''

अब मिट्टीको अभिमान हो गया कि मैं घड़ा बनी। तो पानी बोला—अगर स्निग्धता न होती तो क्या घड़ा बन सकता था? मेरे सिवाय घड़ा नहीं। आग बोली—गर्मीके सिवाय घड़ा बन सकता है क्या? हवा बोली कि मेरे दबावके बिना क्या घड़ा धरतीपर रखा जा सकता है? क्या आसमानमें उठाया जा सकता है? मेरे बिना घड़ा कुछ नहीं। आकाशने कहा कि आकाश न हो तो घड़ेके पेट ही न हो, अगल न हो, बगल न हो, ऊपर न हो, नीचे न हो।

तब यह घड़ा क्या है? इसका मतलब हुआ कि पंचभूतके सिवाय घड़ा और कुछ नहीं है। बनानेवाला कुम्हार और बननेवाला घड़ा पंचभूतका पुतला।

अब देखो, कुम्हार भी तो एक पुतला है। जैसे घड़ेमें माटी-पानी-आग-हवा-आसमान हैं, वैसे कुम्हारमें हैं कि नहीं? अरे, उसका भी पेट बड़ा है भाई, उसका भी गला छोटा है, यह बात दूसरी है कि पेंदी उसकी

थोड़ी लम्बी है और यह चल लेता है भला और इसके हाथ बने हुए हैं, यह पकड़ लेता है। संड़ासीकी तरह इसको हाथ मिल गये और मशीनी औजार इसको पाँव मिल गया। यह चलता है, फिरता है, पकड़ता है, यही न इसकी विशेषता है! जैसे वह घड़ा पंचभूतके सिवाय नहीं है, वैसे ही यह भी जो कुम्हार रूप घड़ा है वह भी पंचभूतके सिवाय नहीं है। तब उसमें बनानेवाला कौन है, उसकी जिज्ञासा हुई भला! एक देशमें, एक समयपर, एक व्यक्तिके मनमें संकल्प आनेपर कि मैं घड़ा बनाऊँ, तब पंचभूतके द्वारा घड़ा बनाया गया। आप ठीक समझो, इसी प्रकार संसारका यह जो विश्वब्रह्माण्ड बना है मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश जो बना है इसको बनानेके लिए किस कुम्हारने संकल्प किया है? वह कुम्हार किस देशमें रहता है? किस कालमें रहता है? किस रूपमें रहता है? उसकी शक्ल-सूरत क्या है? क्योंकि जब घड़ा भी बिना संकल्पके बनाओ तो नहीं बनता, तो यह सारी सृष्टि बिना संकल्पके बनाये कैसे बनेगी?

एक सज्जन थे बड़े बुद्धिमान। उनको यह अभिमान था कि यह सृष्टि अपने आप ही बन जाती है। बड़ा अनुसन्धान किया था उन्होंने, बड़ी खोज की थी। आस्तिक तो श्रद्धालु लोग होते हैं भला! लेकिन नास्तिक लोग अपनेको श्रद्धालु नहीं, बड़ा बुद्धिमान मानते हैं। हालाँकि विचार करके देखो तो उनकी नास्तिकतामें भी बड़ी भारी श्रद्धा रहती है। कैसे? कि खोज तो पूरी हुई नहीं है उनकी, सम्पूर्ण विश्व-विज्ञानकी खोज उनकी क्या पूरी हो गयी है? नहीं हुई। वह विद्यार्थी मात्र है किन्तु वह अपने नास्तिक प्रोफेसरकी बात मानता है; और कोई प्रोफेसर नास्तिक है इसलिए कि वह किसी वैज्ञानिककी बात मानता है। कोई वैज्ञानिक नास्तिक है तो वह अपने गणित और विज्ञानके अभिमानमें चूर है; अपनी बुद्धिपर श्रद्धा रखता है। बिना श्रद्धाके तो उनकी भी नहीं चलती है। अपनी बुद्धिपर श्रद्धा करके खुद अपने ऊपर सम्मोहित हो जाते हैं, स्वयं मैस्मराइज्ड हैं, हमारी बुद्धि सबसे बड़ी, हमारी समझ सबसे बड़ी। जरा इस बातको समझ करके देखो। नास्तिक लोगोंको अपनी बुद्धिका बहुत अभिमान होता है और यह अपनी बुद्धिका जो बहुत बड़ा अभिमान है, वही उनको ईश्वरके दर्शनमें बाधा डालता है। क्योंकि खोज किसीकी पूरी हुई नहीं है।

तो वह सज्जन कहते थे कि यह संसार अपने आप बन गया। एक दिन उनके लड़केने एक तस्वीर बनायी, बहुत बढ़िया सुन्दर तस्वीर बनायी, चित्र बनाया और उनको मेजपर रख दिया। अब वे पिताजी आये, बोले—भाई, यह चित्र किसने बनाया है! यह तो बहुत बढ़िया है। अब घरमें कोई हाँ न करे। जब बहुत खोजकी उन्होंने तो लड़केने कहा—पिताजी, अपने आपही बन गया है। बोले—हे भगवान्, यह चित्र भी कहीं अपने आप बनता है? इसमें ये सुन्दर बड़ी-बड़ी आँखें और ऐसा सुन्दर चेहरा, ये चमकते हुए दाँत, ये बिम्बाफलके समान होंठ, ये खंजनसे नयन क्या ऐसे ही बन गये? यह जैसे जगह-जगह फूल ही रखे हों, जैसे इस शरीरको फूलोंसे सजा दिया हो। यह क्या बिना सजाये ही यह गुलदस्ता बना है? एक गुलदस्ता ही है यह शरीर! इसमें कमल सरीखे हाथ हैं, ऐसा बढ़िया गुलदस्ता बना हुआ है। इसमें गुलाबके फूल हैं, इसमें कनेरके फूल हैं। इसमें क्या खरगोशके रेशे सरीखे तो बाल हैं। देखो न, क्या सुन्दर बना हुआ है। यह गुलदस्ता क्या ऐसे ही सज गया?

लड़केने कहा—पिताजी अपने आप ही बन गया है, किसी ने बनाया नहीं है। बोले—भाई बिना बनाये नहीं बन सकता।

अरे एक चित्र बिना बनाये नहीं बन सकता और सारी सृष्टि बिना बनाये बन जाती है! यह जो इतना बड़ा रचना-कौशल दीख रहा है, सबकी आँख सामनेकी ओरमें, सबके कान अगल-बगलमें, एक आँख पीछे होती और एक आँख आगे होती तो कैसा लगता? ये दोनों कान ऊपरको होते तो कैसा लगता? हमको एक वैज्ञानिकने बताया कि धरती सूरजके चारों ओर घूम रही है लेकिन जितनी दूरीपर धरती है सूर्यसे, अगर उसके एक फीट भी दूर या एक फीट नजदीक होती, तो न तो ऐसे दिन-रात होते, न उत्तरायण, दक्षिणायन होते, न समुद्र ऐसे रहते, न चन्द्रोदय ऐसे होता, न तिथियाँ ऐसे होतीं। अगर एक फीटका फर्क होता, तो क्या-क्या फर्क पड़ जाता दुनियामें, ऐसे हिसाब लगाकर बताया। तो यह धरती जो सूर्यकी परिक्रमा करती है, उसकी गतिमें क्या फर्क होता?

इसलिए किसी तटस्थके द्वारा अथवा अपने आप यह सृष्टि नहीं बनी है, इसको तो संकल्पपूर्वक बनानेवाला कोई है—

तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेय। (छां० ६.२.३)

कोई-न-कोई संकल्पपूर्वक इस सृष्टिको बनानेवाला है, उसीको ईश्वर बोलते हैं।

जन्माद्यस्य यतः।

जो सम्पूर्ण विश्व सृष्टिको जन्म देता है, बुद्धि देता है और आनन्द देता है; 'जन्माद्यस्य यतः' में जो आदिपद है, उससे यह निकल आता है कि वह शरीरको जन्म देता है, अन्तःकरणको निश्चय करनेकी शक्ति, बुद्धि देता है और हमारी प्रियतामें, हमारी तृप्तिमें जो आनन्द भरता रहता है; जो प्रत्येक व्यक्तिको सच्चिदानन्दका दान कर रहा है; जिसके जन्म-स्थिति भंगकी प्राप्ति होती है, वह प्रभु, वह परमात्मा।

अब देखो उस परमेश्वरके बारेमें हमारे मुसलमान और ईसाई भाई कहते हैं कि पहले उसमें संसार नहीं था। उस ईश्वरमें पहले संसार था ही नहीं बिलकुल। एक दिन उसने अपनी अचिन्त्य शक्तिसे कह दिया 'कुन्' (कुन माने हो जा) और सारी सृष्टि हो गयी। लेकिन होने के बाद सृष्टि कभी बिगड़ती नहीं है। ईसाई और मुसलमान मतमें यह सृष्टि सादि तो है, परन्तु अनन्त है। कयामत भी होता है तो कयामतमें भी दोजख और बहिश्त जो मिलते हैं—पापियोंको दोजख और पुण्यात्माओंको बहिश्त—वह हमेशाके लिए मिलते हैं और हमेशा बने रहते हैं। तो ईसाई और मुसलमान मतमें सृष्टि सादि और अनन्त है।

बौद्ध मतमें सृष्टि अनादि और सान्त है।

जैनमतमें सृष्टि अनादि और अनन्त है।

अपने नैयायिकोंके मतमें सृष्टि अनादि और अनन्त है।

सांख्य और योगमें सृष्टि अनादि और अनन्त है।

पूर्वमीमांसामें सृष्टि अनादि और अनन्त है।

वेदान्तियोंने अनन्तताका दो विभाग कर दिया है—एक प्रवाही अन्त और एक स्वरूपसे अनन्त। तो ब्रह्म स्वरूपसे अनादि और अनन्त है और सृष्टि अनादि और प्रवाहरूपसे अनन्त है। प्रवाही नित्य है सृष्टि, क्योंकि तत्त्वज्ञान होनेपर सृष्टिका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है।

इस दो विभागको समझो। ब्रह्म तो अनादि और अनन्त है और सृष्टि

अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य है और स्वरूपसे सृष्टि अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। तत्त्वतः ब्रह्मरूप है और प्रतिभाससे जो उसकी पृथक्ता है वह अनादि और प्रवाही नित्य है। माने नित्यता दो तरहकी, एक प्रवाही नित्यता और एक स्वरूपगत नित्यता। तो स्वरूपसे नित्य तो केवल ब्रह्म है और सृष्टि प्रवाहसे नित्य है। ये इसके विभाग हैं।

तो इसमें क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, जितने ईश्वरवादी हैं, उनमें केवल निमित्तकारणवादी तो मुसलमान, ईसाई नैयायिक हैं और हमारे वेदान्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवादी हैं।

अभिन्न निमित्तोपादन कारणवादीमें कल सुनाया था—श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज, विष्णु स्वामी सम्प्रदायके अन्तर्गत अविकृत परिणामवादी हैं। उनके मतमें परब्रह्म परमात्मामें कोई विचार होता नहीं और वही सृष्टिके रूपमें होता है, जीवके रूपमें भी और जगत्के रूपमें भी—न माया, न छाया, न अविद्या, केवल वही-वही है। अभक्तिके कारण, परमात्मामें प्रीति न होनेके कारण, यह सृष्टि उससे (परमात्मा) जुदा दिख रही है। यदि उससे प्रीति हो जाये, भक्ति हो जाये, भक्ति विशिष्ट ज्ञान हो जाये, स्नेह हो जाये उसके प्रति; 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्तु सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिरितिख्याताः तया मुक्तिर्नचान्यथा'—यदि माहात्म्यज्ञान पूर्वक उस प्रभुसे स्नेह हो जाये तो मुक्ति हो जाय—सब मुक्तस्वरूप ही है दूसरा कुछ नहीं रहता। स्नेह जगानेके लिए बालक बनाकर परमात्माको गोदमें खिलाते हैं, यह स्नेह हुआ।

सृष्टिके सम्बन्धमें श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं कि चिद् और अचिद् दोनों परमेश्वरके शरीर हैं, विशेषण हैं और यह विशिष्ट हैं।

निम्बार्काचार्यजी कहते हैं कि यह कार्य और कारण दोनों अवस्था परमात्माकी ही है।

इस तरहसे यह सारा विचार चलता है। बड़ा भारी इसके सम्बन्धमें शास्त्रीय विचार है। अब उधर आपको ज्यादा नहीं ले चलते। अब श्लोकका अर्थ देखिए।

यह 'मत्तः' बोलनेवाला है न, कौन? कि जिसने पहले 'अहं' कहा—**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा—**मैं इस सम्पूर्ण जगत्का प्रभव (माने

उत्पत्तिस्थान) और प्रलय (माने लयस्थान) हूँ—मुझमें यह सृष्टि उदय होती है और मुझमें ही यह सृष्टि विलय होती है। जैसे जलमें तरंग उठती है और जलमें ही तरंगका लय होता है, इसी प्रकार यह सृष्टि (परमात्मारूपी जलकी तरंग है) मध्यकालके सन्तोंने 'मौज' कहा है। यह संसार क्या है? बोले—यह संसार हमारे सर्वेश्वर प्रभुकी, कुल्लए मालिककी मौज है। यह जैसे तरंगमें जल है, वैसे इस सृष्टिमें परमात्मा है और जैसे जलमें तरंग है वैसे परमात्मामें यह सृष्टि है।

तो इसके दृष्टान्त कई तरहके होते हैं, जैसे मिट्टीमें घड़ा—यह पार्थिव दृष्टान्त है। जैसे जलमें तरंग—यह जलीय दृष्टान्त है। जैसे अग्निमें लपट—यह तैजस दृष्टान्त है। जैसे वायुमें प्राण, यह वायव्य दृष्टान्त है। जैसे घटाकाशमें महाकाश यह आकाशीय दृष्टान्त है। पाँच भूतके पाँच दृष्टान्त हैं और जैसे मनमें सपना—यह मनका दृष्टान्त है। और जैसे रज्जुमें सर्प, यह बुद्धिके भ्रमका दृष्टान्त है।

दृष्टान्तोंका भी यह नहीं समझना की सब धान् बाईस मंसेरी है, कोई भी दृष्टान्त कहीं भी दे दिया, ऐसे नहीं बनता है। इनका भी एक हिसाब-किताब होता है। तो यह सारी सृष्टि कैसी है? जब तुम मनुष्य बनकर सोचोगे तब यह मालूम पड़ेगी दूसरे ढंगकी; और जरा ईश्वरसे एकता करके इसको देखो तो यह सृष्टि मालूम पड़ेगी दूसरे ढंगकी।

अभी कल बनारसके एक स्वामीजीकी चिट्ठी आयी। उन्होंने कहा—हमने माण्डूक्य-प्रवचन पढ़ा, बड़ा आनन्द आया। बड़ी प्रशंसा लिखी है। बोले कि हिन्दीमें ऐसी दूसरी कोई पुस्तक वेदान्तके सम्बन्धमें नहीं है—यह बात मैं दावेके साथ कह सकता हूँ, लेकिन यह जो आप बारम्बार सृष्टिको स्वप्नवत् कहते हैं, यह बात समझमें नहीं आती। क्या यह सूर्य, यह चन्द्रमा, ये तारे, ये ग्रह, ये नक्षत्र, यह सारी सृष्टि स्वप्नवत् भी हो सकती है? हमारे बड़े प्यारे महात्मा हैं। और बड़े अच्छे विचारवान् हैं।

तो देखो, बात नहीं आती ध्यानमें कि सूर्य भी हमारी कल्पना हैं, चन्द्रमा भी हमारी कल्पना है। क्यों नहीं आती? कि हम सूर्यके नीचे बैठकर तो विचार कर रहे हैं, सूर्यकी रोशनीमें एक देहधारी बनकर तो विचार कर रहे हैं, तो कहाँसे बात ध्यानमें आवे? यह कालिजके पुस्तकालयमें स्टड़ी करके

बतानेकी बात नहीं है। यह तो यह देखो कि जब तुम देह बनकर बैठे हो तब यह पुस्तक तुम्हारे उत्तर बन गयी, यह भीत तुम्हारे दक्षिण बन गयी, इधर दाहिने हो गया, इधर बायें हो गया, उधर पूर्व होगया, पश्चिम होगया। यदि हम इस कल्पनाको छोड़दें कि हम देह हैं, अपनेको आकाशकी धारणासे युक्त कर लें कि मैं आकाश हूँ तो क्या यह पुस्तक उत्तर रहेगी और भीत दक्षिण रहेगी? नहीं रहेगी। क्या ये लोग हमारे पूर्व होंगे और ये लोग हमारे पश्चिम होंगे? और छत हमारे ऊपर होगी और धरती हमारे नीचे होगी? आकाशसे तादात्म्य करते ही देशकी कल्पना सारी-की-सारी कट जायेगी।

अब समझो कि ईश्वर बैठकर सृष्टि करता है तो अपनी किस दिशामें करता है? जरा कल्पना करो कि ईश्वरने सृष्टि बनायी तो अपने उत्तरकी ओर बनायी कि दक्षिणकी ओर बनायी कि पूर्वकी ओर, कि पश्चिमकी ओर बनायी? ईश्वरने अपने किस दिशामें यह सृष्टि बनायी? यह कोई बता दे! अगर ईश्वर भी एक देहधारी साढ़े तीन हाथका पुरुष होता तो उसने सृष्टि उत्तर या दक्षिण बनायी होती।

अब देखो, ईश्वरको यह सृष्टि अपने भीतर इसके सारे देश, सारे काल, सारी वस्तुएँ सहित ठीक वैसी ही दिख रही हैं जैसे हमको अपने भीतर स्वप्न दिखता है। यह तो हम अपनेको देह मानकर विचार करते हैं, इसलिए सृष्टिका रहस्य ठीक-ठीक समझमें नहीं आता है। तो बोले—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् उदय हो रहा है और मुझमें ही यह सम्पूर्ण जगत् विलय हो रहा है, मैं सम्पूर्ण जगत्के उदय और विलयका एकमात्र स्थान हूँ।

अब फिरसे उस प्रसंगको पकड़ो—मिट्टीसे परे पानी है और पानीसे परे अग्नि है और अग्निसे परे वायु है, तो ईश्वरसे परे भी कुछ होना चाहिए. जैसे मिट्टीसे परे पानी है, वैसे ईश्वरसे परे क्या चीज है? बोले—अब अनुभवकी दृष्टिसे देखो तब मालूम पड़े—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

ईश्वरसे परे दूसरी कोई नहीं है। यह बात भगवान् बोलते हैं।

देखो, हम लोग ऐसे कल्पना करें कि एक ऐसी चीज है जिसको हम

अनुभव नहीं कर सकते। और दूसरा कोई भी अनुभव नहीं कर सकता और कभी अनुभव नहीं कर सकता। एक ऐसी चीज़ है जो कभी अनुभवमें नहीं आ सकती। अच्छा, तो कभी अनुभवमें नहीं आ सकती, तो वह चीज़ है, इसमें प्रमाण क्या है?

बोले—हम हाथ जोड़कर सिर झुकाते हैं। सीताराम कहो, भगवान्‌का नाम लो। बस सीता-राम ही इसमें शरण है, दूसरी कोई शरण नहीं है। भगवान्‌का नाम लो, प्रभुकी शरण ग्रहण करो। यदि ब्रह्माके अनुभवमें भी वह चीज नहीं आयी, वसिष्ठके अनुभवमें भी नहीं आयी, किसीके अनुभवमें नहीं आयी, हमारे अनुभवमें नहीं आयी और आगे भी नहीं आवेगी, तो ऐसी कोई चीज है, यह बात कल्पना करके ही कही जा सकती है। कल्पित होनेके सिवाय वह चीज और कुछ हो ही नहीं सकती अगर वह भी किसीके अनुभवमें न आयी, न आवेगी।

अच्छा, बोले भाई कि नहीं आ रही है क्या? कि यही है। अच्छा, यही है, तब तो अनुभव में तो जो चीज यही है उसमें जन्म भी लगा है, मृत्यु भी लगी है, रोग भी लगा है, उसके साथ नाश लगा है। प्रत्यक्षके साथ तो जन्म-मरण और नाश लगा है। और (यदि कहो कि वह है तो) परोक्ष के साथ कल्पना जुड़ी हुई है। अब क्या कोई ऐसी चीज भी हो सकती है जो परोक्ष भी न हो और प्रत्यक्ष भी न हो और होवे? क्या कोई ऐसी चीज हो सकती है? तो देखो यह अपना आत्मा जो है यह घटके समान तो प्रत्यक्ष नहीं है और ब्रह्मलोकके समान परोक्ष नहीं है। यह अनुभव क्या चीज है? इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान् साफ-साफ बोल रहे हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

अर्जुन, मुझसे परे दूसरी कोई चीज़ नहीं है। बोले—अच्छाजी, परे न हो तो आपके साथ-ही-साथ होवे! कि 'अन्यत् नास्ति'—दूसरी कोई चीज नहीं है। अच्छा महाराज, कोई आपका बेटा ही, नाती-पोता होवे। तो ईश्वरके देखो क्या-क्या नहीं होता। एक तो ईश्वरके बाप नहीं होता। श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में है यह श्रुति—

न तस्य कश्चिद् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ६.९॥

न तस्य कश्चिद् जनिता—ईश्वरका कोई बाप नहीं है। कारण नहीं है ईश्वरका। अगर ईश्वर किसी दिन उत्पन्न हुआ हो और जिस दिन उत्पन्न हुआ उसके पहले ईश्वर न रहा हो, तब तो सारी बात बिगड़ जायेगी न, गड़बड़ा जायेगी—'न तस्य कश्चिज्जनिता।'

अच्छा भाई, ईश्वरका कोई मालिक होवे जो ईश्वरको नचाता होवे? कि **न चाधिपः**—उसका कोई मालिक भी नहीं है।

परम स्वतन्त्र न सिरपर कोई।

माँ-बाप नहीं, माने कारण नहीं और मालिक नहीं। अच्छा, बोले भाई कोई भाई-बन्धु होवे ईश्वरके! कि **न तु द्वितीयमस्ति।** श्रुति कहती है कि उसका कोई दूसरा नहीं है। अच्छा तो, बोले—बेटा ही होवे उसका। तो

न कारणं करणाधिपाधिपः।

उसका कार्य भी नहीं है, बेटा भी नहीं है। तो माँ-बाप नहीं, मालिक नहीं, भाई बन्धु नहीं, और बेटा नहीं। अच्छा बोले भाई किसीको बुलाकर नौकर-चाकर रख लिया हो, मन्त्री होए। एक सचिवालय हो। मान लें माँ-बाप न हों, मालिक भी न हो, बेटा भी न हो, पर एक सचिवालय हो उसके पास, सेक्रेटरी हो उसके, मन्त्री हो, हाथ पाँव हो। यही न! राजा लोगोंके हाथ-पाँव कौन होते हैं? यही सेक्रेटरी। बड़े सेठ लोग होते हैं, उनको यह नहीं मालूम रहता है कि बाजारमें क्या भाव चावल आता है, उनका नौकर जो बतावे वही भाव आता है। तो उनकी आँख कौन है? उनका कान कौन है? कि नौकर है। तो कोई कारण है, कोई मन्त्री है, अमात्य है, सचिव है, सेनापति है, रानी है, कोई है? बोले—नहीं, **करणं च न विद्यते**—औजार भी उसके पास नहीं, बिलकुल अकेला। तो कहो कि फिर राधारानी कौन हैं? सीताजी कौन हैं? गौरी कौन हैं? लक्ष्मी कौन हैं? बोले—वह अपने ही, खुद लक्ष्मी और खुद नारायण बनकर आता है। वही गौरी, वही शंकर, वही राधा, वही कृष्ण, वही सीता वही राम। ये दो नहीं हैं। दोकी कल्पना नहीं करना, अकेला ही है। अपनेको ही स्वयं प्यार करता है और स्वयं अपनेसे ही प्यार करता है, दूसरेको नहीं। तो

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

मत्तः। प्रभवात् प्रलयात् च मत्तः। जो पहले श्लोकमें अपनेको प्रभव बताया और प्रलय बताया, दोनों क्यों बताया? *प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः*—निमित्तकारण हो सकता है; लेकिन *प्रलीयते अस्मिन् इति*=उपादान कारण। मैं ही निमित्त हूँ; मैं ही कुम्हार और मैं ही माटी। यह जो सृष्टि बनी इसमें कुम्हार भी वही और माटी भी वही—यह बात बतानेके लिए दो कहा गया। तो प्रभवरूप और प्रलयरूप माने अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूप जो मैं हूँ, उस मैं-से जुदा न कोई मुझसे परे कोई है कि मैं नहीं था और वह था या कि वहाँ वह है और मैं नहीं हूँ या कि जब वह है और मैं नहीं हूँ या कि वह मैं नहीं हूँ, कोई दूसरा है। माने कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ मैं न हूँ। कोई ऐसा समय नहीं है जहाँ मैं न हूँ, कोई ऐसी चीज नहीं है जहाँ मैं न हूँ।

'मत्तः परतरं' का अर्थ कैसे करोगे? बोले—देखो, भाई मैं तो छतके नीचे रहता हूँ। और जो मुझसे परतर है वह छतके ऊपर रहता है, एक बात तो यह हो सकती है, वह तुमसे परे है और दूसरी बात यह हो सकती है कि घण्टे भर तो मैं रहता हूँ और घण्टे भरके बाद कोई दूसरा आ जाता हो। तो वह मुझसे परे होगा। या मैं कोई दूसरा हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ और दूसरा कोई क्षत्रिय आ जाता है, वह परतरं हो जायेगा। तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझसे आगे-पीछे, दाँये-बाँये, ऊपर-नीचे दूसरी कुछ भी चीज़ मेरे सिवाय नहीं है।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

देखो न, क्या अद्‌भुत दृष्टि है। अगर यह किसीको प्राप्त हो जाये ईश्वर कृपासे, शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषको यह दृष्टि प्राप्त हो जाये तो उसके लिए फिर न कहीं राग है, न द्वेष है, न काम है, न लोभ है। बस समता है, एकता है, शान्ति है, परमानन्द है, इसके लिए जिसको इस दृष्टि की प्राप्ति हो गयी।

: ७.३ :

सूत्रे मणिगणा इव

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह बात कही कि सम्पूर्ण जगत्, चाहे वह लौकिक हो पशु-पक्षी मनुष्यादिके रूपमें, चाहे पारलौकिक हो, ब्रह्मा इन्द्रादि देवताके रूपमें और चाहे वह लोकोत्तर होवे साकेत गोलोकादिके रूपमें, जो भी वस्तु गतिशील है, जगत् है, वह मुझसे मुझमें ही पैदा हुई है और वह फिर मुझमें ही आकरके लीन होती है, वह मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

उपनिषदोंमें कही-कहीं इस ढंगसे वर्णन आया है, जैसे कठोपनिषद्‌में, कि सबका कारण प्रकृति है और प्रकृतिका भी कारण परब्रह्म परमात्मा है। **अक्षरात्परतः परः** सबसे परे जो अक्षर प्रकृति है उस अक्षर प्रकृतिसे भी परे यह वस्तु है। तो जैसे वहाँ अक्षर प्रकृतिसे परे परब्रह्म है वैसे यहाँ सबसे परे तुम श्रीकृष्ण हो—यह बात तो मान ली, परन्तु तुमसे परे और कोई नहीं है यह बात तो नहीं निकली। तो भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे ही यह बात बताते हैं कि जैसे प्रकृतिसे परे मैं हूँ, वैसे मुझसे परे दूसरा कोई नहीं है। तो,

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

इसमें यदि पूर्व श्लोक के तथा—जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा—वहाँसे खींचकर इस श्लोकके साथ लगालें तो इसका अर्थ हो जायेगा कि—**यथा अक्षरात्परतः परः अन्यत् कश्चिद् पदार्थः अस्ति तथा मत्तः परतरं अन्यत् किंचित् अस्ति।** तथाको पूर्व श्लोकसे खींचकरके इसमें लगा लो।

तथा मत्तः परतरं किंचित् अन्यत् नास्ति।

अर्थात् 'मैं सर्वोपरि कारण हूँ, मुझसे परे दूसरा कोई कारण नहीं है।'

कारणता कैसी? आधार रूपसे कारणता अथवा प्रकाशक रूपसे कारणता? दो प्रकारकी कारणता देखनेमें आती है। पहले ही विभाग कर लो। एक फूल दीखता है, एक तो प्रकृतिमें अथवा पंचभूतोंमें बीजके संस्कारसे फूल खिला है और एक आँखोंके द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा फूल देखा जाता है। फूलका होना और फूलका प्रकाशना। तो फूलका होना अपरा प्रकृतिमें होता है। अपरा प्रकृतिमें बीजके संस्कारसे फूल पैदा होता है और परा प्रकृतिके होनेसे फूलका ज्ञान होता है, फूल देखा जाता है, कि 'अहं पुष्पं जानामि'—मैं फूलको जानता हूँ। तो प्रत्येक वस्तुके अनुभवमें यही दोहरी बात देखने में आती है कि वह अपरा प्रकृतिसे पैदा हुआ और परा प्रकृतिके द्वारा अनुभव किया जाता है।

अब भगवान् यह मर्मस्थान बताते हैं जहाँ अपरा प्रकृति और परा प्रकृति ये दो नहीं होतीं, जहाँ सत्ता और ज्ञानका भेद नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें ईश्वरके निरूपणकी यही शैली बतायी गयी है—

भूतं प्रसिद्धं च परेण यत् यत् तदेव तत् स्यात् इति मे मनीषा।

जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है और जिससे प्रकाशित होती है, वह वस्तु अपने कारण और प्रकाशकसे जुदा नहीं होती। तो संसारमें जितनी भी वस्तुएँ देखनेमें आ रही हैं, अपने कारण अपरा प्रकृति और अपने प्रकाशक परा-प्रकृति—इन दोनोंका मूल कारण जिनको भगवान्ने बताया 'अहं प्रभवः प्रलयस्तथा' वह जो भगवान्का अहं है, माने भगवान्का अपना निज स्वरूप है, उस निज स्वरूपसे पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है। भगवान्का निजस्वरूप ही फूल बनकरके देखा जा रहा है और आँख बनकरके देख रहा है। वही स्त्रीके रूपमें भी है और वही पुरुषके रूपमें भी है। वही बालक है और वही बालिका है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ (श्वेता० ४.३)

उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। तो अब देखो, कारणताकी बात दो तरहसे समझाते हैं। एक तो जगत्का कारण होता है ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणपति आदि और दूसरे जगत्का कारण होता है मृत्तिका, जल, अग्नि आदि उपादान रूप। तीसरे कर्मोंके संस्कार होते हैं। अब भगवान् बताते हैं—

मत्तः परतरं— ऐसा कोई बलवाला, शक्तिवाला, ज्ञानवाला, ऐश्वर्यवाला मुझसे परे दूसरा कोई नहीं है जो जगत्का कारण बने। जैसे अक्षरसे परे ब्रह्म है वैसे मुझसे परे दूसरा कोई नहीं है अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ।

मत्तः परतरं अन्यद् किंचित् न अस्ति।

मुझसे परे अन्य कुछ नहीं है, दूसरा कुछ नहीं है।

अब 'मत्तः'का अर्थ देखो! एक ऐसा भगवान् चाहिए हमारे सामने जो कहे कि मुझसे यह सृष्टि हुई है। नहीं तो केवल विश्वास-ही-विश्वासमें आदमी कबतक अपनी बुद्धि और ज्ञानको दबा सकता है? माने धर्म सम्बन्धी जो विश्वास होते हैं या उपास्य देवता सम्बन्धी जो विश्वास होते हैं, धर्म करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है अथवा उपासना करनेसे अपने इष्टलोककी प्राप्ति होती है, क्या इस बातका विश्वास लिये ही हम आजीवन रहें कि इसका कुछ प्रत्यक्ष भी होना चाहिए? तो असलमें प्रत्यक्ष भी होना चाहिए। कैसे प्रत्यक्ष होना चाहिए? स्वयं वह कारण हमारे सामने प्रकट हो और प्रकट होकर स्वयं वह छाती ठोंककर कह दे—**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** तुम किसको ढूँढ़ रहे हो—

'मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पासमें।' मुझे तू क्या ढूँढ़ रहा है बन्दे, मैं तो बिलकुल तेरे पासमें हूँ। जबतक वह अपनेको अपरोक्ष, अपनेको प्रत्यक्ष, अपनी आत्माके रूपमें, जबतक वह जगत्का कारण नहीं अपनेको प्रकट करे, तबतक उसका साक्षात्कार नहीं हुआ। यह समझो जीवका सौभाग्य कि अर्जुनका सौभाग्य कि वह कृपा करके पकड़ा गया है। यह कृपा एक ऐसा उसका गुण है जिससे वह पकड़ा गया। कहाँ पकड़ा गया? कि अर्जुनके रथपर 'धनञ्जय-स्यन्दनाभूषण्'—वह अर्जुनके रथका आभूषण बनकरके—सारथि बनकर पकड़ा गया है। अर्जुन है जीव और यह शरीर है उसका रथ और ये दसो इन्द्रियाँ हैं उसमें घोड़े और मनकी है बागडोर। अर्जुनने अपने जीवनरथकी बागडोर अपने श्रीकृष्णरूप सारथिके हाथोंमें दे दी है। यही देखना है कि तुमने अपनी बागडोर अपने हाथमें रखी है कि घोड़ोंको उन्मुक्त छोड़ दिया है कि ईश्वरके हाथमें दे दी है? यह बात देखनी पड़ेगी।

जब इन्द्रियरूपी घोड़ोंको छोड़ दिया कि वे संसार देखने जहाँ चाहें वहाँ जायें—**विषयास्तेषु गोचरान्।** इन्द्रियाँ जहाँ-जहाँ जाती हैं, जिन-जिन

विषयोंमें, उसीको देश बोलते हैं। तो घोड़े जो हैं इस संसारके जंगलमें स्वच्छन्द होकर चरें, इसके लिए तुमने अपने इन्द्रियरूपी घोड़ोंको छोड़ दिया है क्या? अगर छोड़ दिया है और ये रथके साथ जुड़े हुए हैं तो पता नहीं, तुम्हारे शरीररूपी रथको ये किस गड्ढेमें, किस नाले में, किस नदीमें लेजाकर पटक देंगे, न जाने किस कुएँमें गिरावेंगे। और यदि इन्द्रियरूपी घोड़ोंको तुमने अपने हाथमें रखा है तो घोड़ोंकी बागडोर संभालना भी और काम, क्रोधादि शत्रुओंसे युद्ध करना भी—यह दोहरा काम तुमको करना पड़ रहा है, सारथिका काम भी और रथीका काम भी, कोई तुम्हारा सहायक नहीं, कोई तुम्हें रास्ता बतानेवाला नहीं, तुमने भगवान्‌की शरण अभी तक ग्रहण नहीं की।

तो भाई यह नर है अर्जुन, नर माने जीव समझो और इसके भीतर अन्तर्यामी रूपसे बैठा हुआ जो नारायण है वह सारथि है। नरका सारथि कौन? नारायण। नरके हृदयका नाम है नार; उस नार माने नरके हृदयरूप नारमें, हृदयकूपमें जो रहता है वह नारायण। कण्ठसे लेकर दिलतक देखो कैसा कुआँ सरीखा मालूम पड़ेगा। तो यह मुँहसे लेकर दिलके कुएँमें जो फँसा हुआ जीव है, इसको निकालनेका उपाय भी बहुत बढ़िया है। सन्तों ने बताया है कि शब्द सूरत, भगवान्‌के नामकी डोरी-डालकरके इसको नीचेसे ऊपर खींच लो! कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण यह जो भगवान्‌का नाम है, यह इस गड्ढेमें फँसे हुए जीवको ऊपर खींचनेके लिए है।

प्रश्न तो यह है कि तुमने अपने इस जीवनरथमें जुते हुए इन्द्रियरूपी घोड़ोंको स्वच्छन्द विषय-देशमें चरनेके लिए छोड़ दिया है कि इनकी बागडोर अपने हाथमें रखी है? अपने हाथमें रखी है तो दो काम करने होंगे—बागडोर अपने हाथमें रखना भी और शत्रुसे लड़ना भी। शत्रुको तो आप जानते ही हैं—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। ३.४३

यह शत्रु कामरूप हैं, क्रोधरूप हैं, लोभ रूप हैं, और अपने शरीरमें ही रहता है और यह हमारी इन्द्रियोंको खींचकर इधर-से-उधर ले जाता है। इससे युद्ध भी करना है, इसको मारना भी है। तो कैसे मारें?

अब, कि भाई शत्रु रहता कहाँ है?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते। ३.४०

इन्द्रियाँ भी शत्रुके पक्षमें मिल गयी हैं। घोड़ोंको खिला-पिलाकर शत्रुने अपने पक्षमें कर लिया है। बागडोरको ऐसी ढीली-ढीली टूटनेवाली बना दिया है कि जब कभी जोर पड़े वह मनकी बागडोर टूट जाये और बुद्धिरूप जो सारथि है वह भी शत्रुसे मिल गया है। तो अब हमें सारथि कौन चाहिए? कि बुद्धिको सारथि बनानेसे काम नहीं चलेगा, हमको तो नारायणरूप सारथि की जरूरत है। अगर ड्राइवर ही अपना किसी डाकूसे मिला हुआ होवे तो मालिककी खैरियत कहाँ है? तो मालिक सुरक्षित कहाँ है? यह रक्षित शब्दको जरा हेरफेरकर देखोगे तो उसमें 'खैरियत' निकल आवेगी। रक्षितमें खैरियत है। यह तो पूर्वपश्चिमके भेदसे, जातिके भेद से, उच्चारणके भेदसे शब्द नानारूप धारण कर लेते हैं।

तो अब यह देखो कि तुम्हारे जीवन रथकी बागडोर नारायणके हाथमें है कि नहीं है? न होय, तो अभी कुछ बिगड़ा नहीं। अनादि कालसे अबतक जो भूल हुई सो हुई, अब सावधान हो जाओ और नारायणके हाथमें अपने रथकी बागडोर सँभला दो और देखो वह नारायण कह रहा है कि मैं सिर्फ तुम्हारा अन्तर्यामी सारथि ही नहीं हूँ। सारथि होना माने अन्तर्यामी होना। अन्तर्यामी माने भीतरका जाननेवाला नहीं होता, चलानेवाला होता है। अन्तर्यामी माने भीतर रहकर इस जीवनरथको चलानेवाला अपना स्वामी। अन्तर्यामी माने **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।** जो भीतर रहकर लोगोंका शासन करता है।

अभी जब तुमने बताया कि तुम हमारे सारथि हो, तो उसने कहा—मैं केवल सारथि ही नहीं हूँ, बल्कि जिसको तुम पाना चाहते हो, जो तुम्हारे जीवनका इष्ट है, जो लक्ष्य है वह मैं ही हूँ। यह क्या बात हुई? कि यह ऐसी बात हुई—आपने नौका लीला कभी देखी होगी या सुनी होगी! एक दिन गोपियाँ दही बेचकर लौटीं तो सायंकाल हो गया। थोड़ा दिन बाकी रह गया, जमुना बहुत बढ़ी हुई थीं, पार जाना था। उनको जल्दी इसलिए थी कि सायंकाल हो रहा है, गोचारण करके मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर लौटेंगे तो हम अपने घर पहुँचकर अपने दरवाजेपर खड़े होकर, छज्जेपर खड़े होकर उनका दर्शन करेंगी, इसलिए बड़ी जल्दी थी पहुँचने की।

अब जमुनाजी बढ़ी हुई थीं, कोई नाव नहीं थी वहाँ। इसी बीचमें उन्होंने देखा कि एक बालक काला-काला, मल्लाहका बालक नाव लिए आ रहा है। उन लोगोंने पुकारा; वह नाव लेकर आया, बोला—हम तो भूखे हैं, नाव कैसे लेकर चलें। तो उनके मटकोंमें जो दही बचा था, जो दूध था, जो मक्खन था, वह सब बालक सफाचट कर गया—खा गया। इसके बाद उसने कहा—तुम बहुत हो, एक-एक, दो-दो करके चलो। उन्होंने कहा—नहीं, हम तो एक साथ ही चलेंगी, जल्दी करो हमको श्यामसुन्दरका दर्शन करना है। बोला—अच्छा तो मटके फेंक दो। तो उन्होंने अपने ददिया सासके जमानेके जो पुराने-पुराने दही-दूध पीए हुए मटके थे, वे फेंक दिये।

ग्वालिनोंका अपने मटकोंके प्रति कितना मोह होता है, वह तो वे लोग जानते हैं महाराज, जिनके घरमें कभी दही-दूध पैदा हुआ हो। दही सारा ले लो, पर दहेंड़ी वापिस कर दो। गाँवके लोग दही देना पसन्द करते हैं, दहेंड़ी देना पसन्द नहीं करते हैं। घी देना पसन्द करते हैं पर वह घीका बर्तन देना पसन्द नहीं करते हैं, पर ग्वालिनोंने कृष्ण-दर्शनकी उत्कट लालसासे अपने दहेंड़ी, अपनी कमोरी, अपने मटके सब जमुनाजीमें फेंक दिये। बादमें उसने कहा कि तुम्हारे आभूषण बहुत भारी हैं, उनको भी जमुनाजीमें फिंकवा दिया। बादमें बोला कि तुम्हारे कपड़े भी भारी-भारी हैं, उनको भी जमुनाजीमें फिंकवा दिया। बादमें किसी तरह महाराज जब नौका ले करके चला तो बोला कि गोपियो! अब तो हमसे नाव चलायी नहीं जाती है, बहुत खाकरके मेरा शरीर जरा भारी हो गया है, मैं लेटता हूँ और तुम हमारा पाँव दबाओ और नावको छोड़ दो, जमुनाजीमें बहे। ऐसी होती है नावलीला। नौकालीला बोलते हैं।

अखिरी बात उसमें क्या होती है कि वह कहता है कि नाव तो अब डूब जायेगी। तो गोपियाँ कहती हैं कोई उपाय करो जिससे हम जल्दी पार हो जायें। श्यामसुन्दरका दर्शन करें, नाव डूबना ठीक नहीं है। तो सब कुछ त्याग करनेके बाद, खुद तो उठा-उठाकर उनको नावपर चढ़ाया और उनको इतना परेशान किया, कहा पाँव दबाओ, सेवा करो, यह करो, वह करो, नाव डूब जायेगी। लेकिन गोपियोंके मनमें यह ख्याल है कि हम जल्दी श्यामसुन्दरके पास पहुँचें, इसलिए सब कुछ त्याग करती जाती हैं, सब कुछ

सहती जा रही हैं, सब कुछ करती जा रही हैं। अन्तमें उसने कहा कि अब हमसे मन्त्र लो नहीं तो नाव डूब जायेगी। बोलीं—भाई मन्त्र तो हम नहीं लेंगी। अच्छा अन्तमें यह बात तय हुई कि हमारी जो मुखिया हैं—श्रीराधारानी, यह अगर तुमसे मन्त्र ले लें तो हम सब मन्त्र ले लेंगी। राधारानीने कहा कि भाई यदि श्यामसुन्दरसे मिलना है तो अब ज्यादा इस बातपर विचार नहीं करना चाहिए, देर भी नहीं करनी चाहिए, वहाँ पहुँचना है जल्दी। अगर मन्त्र लेनेसे नाव पार हो जाती है और श्यामसुन्दरका दर्शन मिलता है तो क्यों न मन्त्र ले लें!

तो उस मल्लाहके छोकरेने कहा कि अच्छा कान हमारी तरफ करो। अब वह कानके पास मुँह ले गया और बोला कि जिससे तुम लोग मिलनेके लिए इतनी व्याकुल हो, वह तुम्हारा प्राणप्यारा श्यामसुन्दर तो मैं ही हूँ। तुम किससे मिलनेके लिए व्याकुल हो रही हो? देखो न, जो पहले नाव चलानेवाला था वह बादमें कौन निकला? वह बाद में अपना प्राण प्रियतम निकला, इष्टदेव निकला।

यह अर्जुनका जो रथ है, यह नौकाके समान है। इसपर जो पहले सारथि बनकर आकरके बैठा कि हम तो सिर्फ तुमको रास्ता बतावेंगे, हम तो सिर्फ तुमको तुम्हारे लक्ष्यकी ओर ले चलेंगे, अन्तमें उसने ठीक उसी मल्लाहके छोकरेकी तरह यह कहा कि मैं केवल तुम्हारा सारथि नहीं हूँ—**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**। मैं तो सम्पूर्ण जगत्का कारण हूँ, प्रकाशक हूँ और, **मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय**। मुझसे परे दूसरी कोई चीज नहीं है। माने जिस ब्रह्मका ज्ञान, जिस ईश्वरका ज्ञान, जिस ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान तुम प्राप्त करना चाहते हो, वह ईश्वर, वह ब्रह्म, वह आत्मा, वह जगत् कारण-कारण मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं है।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय—हे धनंजय, धनंजय शब्दका अर्थ कल परसों आपको बताया था। देखो, इस जगत्की उत्पत्ति कैसे हुई? एक बार फिर इस बातपर दृष्टि डालो। किसीने कहा कि जगत् ईश्वरसे नीचे आया—'**ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्**'। १५.१ किसीने कहा कि नहीं, नहीं, जगत् नीचेसे ऊपर आया। उत्पत्ति शब्दका अर्थ ही यही होता है। उत्पत्ति माने **उत्पत्तनम्**—नीचेसे ऊपर को। जैसे बीजमें-से अंकुर निकलकर ऊपरको

जाता है, वैसे अपने बीज कन्दमें-से सृष्टिकी उत्पत्ति हुई। कि नहीं, सृष्टि आकाशमें घूम रही है, ऐसा समझो, बायें से दायें आयी कि दाहिनेसे बायें गयी, कि ऊपरसे नीचे गयी कि नीचेसे ऊपर गयी, अथवा किसी एक देशमें यह स्थिर है। तो बोले—भाई हम उस बड़ी चीज़को देख रहे हैं जिसमें यह सष्टि आती है, जिसमें यह सृष्टि जाती है, जिसमें रहती है, जिसमें चलती है, अभी तुमने जगत्के कारणको नहीं देखा। तब क्या देखा? बोले—केवल देशका पता तुमको चला, उस चीजका नाम ब्रह्म नहीं है, जिसके एक कोनेमें यह सृष्टि आती-जाती रहती है, मरती-मिटती है; वह तो देश है। वह तो आकाश है, वह तो अवकाश है। उस अवकाशमें देशकी कल्पना हुई है पूर्व-पश्चिमकी, उत्तर-दक्षिणकी। एकने कहा—हमने जान लिया, जान लिया, सृष्टि कैसे पैदा हुई। क्या जाना आपने? कि हमने यह जाना कि सृष्टि पहले नहीं थी, बीचमें पैदा हो गयी और बादमें नहीं रहेगी। तो वह तो अनन्त काल है। देखो, देशकी लम्बाई-चौड़ाई रूप अनन्ततामें यह सृष्टि एक कणके बराबर भी नहीं है। ऐसे अविनाशी जो अनादि, अनन्त काल है उसमें एकबार यह सृष्टि सपनेकी तरह फुर गयी और फिर मिट गयी। बोले—भाई, अभी तुमने सृष्टिके कारणको नहीं जाना। अभी तो तुमने कालको जाना। कालकी अनन्ततामें कभी यह सृष्टि हुई और कभी मिट गयी। इसकी लम्बाई-चौड़ाईमें कहीं यह सृष्टि पैदा हुई और कभी मिट गयी, वह तो देश हुआ। बोले—अरे एक बूँद पानीमें यह सृष्टि बनी और फिर बिगड़ गयी। बोले—भाई वह एक बूँद पानीको जान लेना, यह सृष्टिको जानना नहीं हुआ, वह तो केवल कारणवारि एक वस्तुको तुमने जाना, जगत्के कारणको नहीं जाना। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश—ये जो आकृतिवाले देवता हैं, वे तो सृष्टिके अन्तर्गत हैं। जो शिव हैं, जो विष्णु हैं, जो ब्रह्मा हैं—इन सबका अर्थ जहाँ ब्रह्म है वह सृष्टिका कारण है अपने शास्त्रमें जो बताया जाता है कि जगत्के कारण हैं शिव, जगत्के कारण हैं। विष्णु, जगत्के कारण हैं ब्रह्मा, वह कैसे बताया जाता है? तो वह जो ब्रह्मावच्छिन्न चैतन्य है उसकी दृष्टिसे ब्रह्माको जगत्का कारण कहा जाता है। असलमें ब्रह्मा जगत्का कारण नहीं है, ब्रह्मामें रहनेवाला ब्रह्म जगत्का कारण है। इसी प्रकार शिवावच्छिन्न चैतन्य जगत्का कारण है, विष्णु अवच्छिन्न चैतन्य जगत्का कारण है। रामावच्छिन्न,

कृष्णावच्छिन्न, देव्यवच्छिन्न, गणेशावच्छिन्न, यह जो तत्तद् भिन्न-भिन्न आकारोंमें रहनेवाला एक अखण्ड चैतन्य सत्ता है, वह जगत्का कारण है; उसमें ऊपर-नीचे, दायें-बायें यह देशका भेद नहीं है; उसमें आगे-पीछे, पहले-पीछे यह कालक्रमका भेद नहीं है और उसमें यह वह मैं तू—यह सब विषयगत भेद नहीं है।

वह जो अखण्ड वस्तु है, बोले—क्या उसके भीतर यह सृष्टि हुई? सीताराम कहो! भीतर और बाहरका भेद मूल वस्तु में, तत्त्व वस्तुमें हो ही नहीं सकता। न तो उसके यह सृष्टि है स्वप्नवत्; जैसे हमारे देहके भीतर स्वप्न होता है, वैसे उस परिपूर्ण सत्ताकी देहके भीतर यह सृष्टि नहीं है और जैसे हमारे देहके बाहर ये वृक्षादि जगत् दिखायी पड़ते हैं वैसे उसके देहके बाहर ये वृक्षादि रूप जगत् दिखायी नहीं पड़ रहे हैं। न उसके भीतर है, न उसके बाहर है। न उसमें 'कभी' है और न 'कहीं' है और न उसमें 'कुछ' है। ऐसी जो अखण्ड वस्तु है, अखण्ड चैतन्य वस्तु, उसको 'अहं' बोलकर श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण—ये पार्थसारथि, तोत्रवेत्रैकपाणि, ज्ञानमुद्र, भगवान् श्रीकृष्ण—उस वस्तुके प्रति 'अहं' शब्दका प्रयोग करके बोलते हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

अर्जुन! मेरे सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं है—मुझसे परे नहीं है और मेरे बराबर का नहीं है—'अन्यत्'। और 'किंचिद्'—मुझसे छोटा नहीं है। देखो, तीन तरहसे इसको ध्यानमें लो—(१) जब मैं नहीं था, तब वह था या जब मैं नहीं रहूँगा तब वह रहेगा। ऐसे कालमें मुझसे परे दूसरा कोई कारण नहीं है; (२) और देशमें जहाँ मैं नहीं हूँ, वहाँ वह है और जहाँ वह नहीं है, वहाँ मैं हूँ—ऐसा देशमें भी हमसे जुदा कोई कारण नहीं है; और (३) वस्तुमें जो मैं हूँ, वह वह नहीं है और जो वह है, वह मैं नहीं हूँ—ऐसा विषय-भेद भी नहीं है। माने मेरे सिवाय काल नहीं, मेरे सिवाय वस्तु नहीं, मेरे सिवाय देश नहीं। मैं ही अखण्ड चित्तसत्ता परिपूर्ण हूँ।

अन्यत् किंचित् न अस्ति। मुझसे परे माने परोक्ष कुछ नहीं है, अन्यत् माने समान-सत्ताक कुछ नहीं है और किंचित् माने न्यूनसत्ताक कुछ नहीं है। इसमें देखो, तीन बात जोड़ लो। परतरं माने अधिक सत्ताक—ज्यादा रहनेवाला; और अन्यत् माने सम सत्ताक—मेरे बराबर रहनेवाला; और

किंचित् माने न्यून सत्ताक। मुझसे कम उम्रवाला, मुझसे छोटी जगहमें रहनेवाला और मुझसे कम वजनवाला, मुझसे छोटे समयमें रहनेवाला भी नहीं है। बराबर समय, बराबर जगह और बराबर वजनवाला भी नहीं है, और ज्यादा समय, ज्यादा जगह और ज्यादा वजनवाला भी नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि मेरे सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। तो

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

'मयि इदं सर्वं प्रोतं'—यह एक वाक्य यहाँतक है और **'सूत्रे मणिगणा इव'**—यह दृष्टान्त है। **सर्वं मयि प्रोतं**—सब मुझमें ओत-प्रोत है--तो शंकराचार्य भगवान्ने इस इतने भागको अलग कर दिया और प्रोतंको भी दृष्टान्त रूपमें समझाया। प्रोतं क्या होता है? लोकमें एक 'ताना-बना' शब्द चलता है। जैसे कपड़ा बनाते हैं; अपने मनके भावको जो ढक दे उसका नाम होता है कपट, और शरीरको जो ढके उसका नाम होता है, पट—कपड़ा। आच्छादनरूप सादृश्यके कारण दोनों चीज़ें ढकनेवाली हैं—एक मनके भावको ढकनेवाली है और एक शरीरके भावको ढकनेवाली है। इसलिए महाराज अवधूत दशामें इसकी (पटकी) भी जरूरत नहीं रहती है। जैसे अपने स्वरूपको ढकनेवाली कपटरूपा माया है और अपने सूक्ष्म शरीरके भाव को ढकनेके लिए कपटरूपा वृत्ति है, वैसे ही अपने शरीरको ढकनेवाला यह कपट रूप—कर्पटरूप कपड़ा है। 'पट' शब्द तो संस्कृतमें चलता ही है न। क-पट। असलमें कपटमें-से 'क' का लोप करके पटको ले लिया और वह पट हो गया। नैरुक्त व्युत्पत्ति 'पट' शब्दकी यही है । नैरुक्त माने वस्तुके भावको देखकर व्युत्पत्ति की जाती है जिसमें धातु और प्रत्ययका इतना ज्यादा आग्रह नहीं होता है।

तो अब देखो आप—**मयि सर्वमिदं प्रोतं**—कपड़ा बनाते हैं। तो कपड़ा जो बनाते हैं शरीरको ढकनेवाला, वह कैसे बनता है? एक तो सूतकी लम्बी ताँत होती है और एक होती है आड़ी। कपड़ेमें दो तरहके सूत होते हैं एक लम्बे धागे और एक आड़े धागे। तो कपड़ा जो बनता है उसमें सूत ओत-प्रोत होता है। माने ताना भी सूत ही है और बाना भी सूत ही है। तत्त्वकी दृष्टिसे अगर देखो, तो सूतसे जुदा कपड़ा नहीं है। कपड़ा कहाँ प्रोत है? बोले सूतमें। ओत-प्रोत है माने ताना भी सूत और बाना भी सूत।

श्रुति भगवती वर्णन करती हैं कि **ओतं प्रोतं पटवत् यत्र विश्वं**। इसमें यह सम्पूर्ण विश्व कैसे रहता है? जैसे पट सूत्रमें ओत-प्रोत रहता है। कपड़ेका ताना-बाना दोनों जैसे सूत हैं, इसी प्रकार यह जो विश्व दिखायी पड़ रहा है, इसमें ताना भी वही और बाना भी वही। प्रोतं पदसे ताना-बाना लेना।

मयि सूत्रात्मनि विश्वं पटवत् प्रोतं।

मैं हूँ सूत्रात्मक। तो सूत्र कहो, फिर रेशे कहो, फिर पंचभूत मिट्टी कहो, इसके बाद सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ कहो, उसके बाद ईश्वर कहो, उसके बाद ब्रह्म कहो, जैसे कपड़ा सूतसे जुदा नहीं है, इसी प्रकार यह विश्व मुझसे जुदा नहीं है। तो—

मयि सर्वमिदं प्रोतं।

यह उसका पहला हिस्सा है। प्रोतं माने कपड़ा जैसे अपना ताना-बानामें है, वैसे यह विश्व **मयि सूत्रे इदं सर्वं प्रोतं मणिगणा इव।**

यदि सूतके ताने-बाने आपसमें ऐसे ढंगसे उलझ जायँ कि उसमें बेलबूटा भी खूब मजेदार दिखे—इसमें मोर बना हुआ है, इसमें यह पेड़ बना हुआ है, इसमें यह लता लिपटी हुई है। इसमें और है क्या? बोले—सूतके सिवाय और कुछ नहीं है।

मैंने अहमदाबादके साबरमती आश्रममें देखा, एक वस्त्र है वहाँ रखा हुआ; वह कहीं विदेशसे आया हुआ है, बहुतकर जापानसे। उसमें 'गाँधीजी हाथमें डंडा लिए डाँडी यात्रा कर रहे हैं'—यह चित्र बना हुआ है। रंग नहीं है, उसमें है केवल सूत, लेकिन वह इस ढंगसे बिठा दिया गया है जैसे कपड़ा बनता है, उसी ढंगसे, ऐसे बिठा दिया गया है सूतमें, गाँधीजीका पाँव अलग, उनका सिर अलग, आँख अलग, हाथ अलग, डंडा अलग, चलना अलग मालूम पड़ता है। तो अब बताओ वह जो गाँधीजीका चित्र है, वह कपड़ेसे अलग है कि कपड़ा ही है? कि भाई है तो कपड़ा ही। बोले—अच्छा, वह जो कपड़ा है वह सूतसे अलग है कि सूत ही है? तो बोले कि सूत ही है। तो बोले—अच्छा, यह जो सूत है वह रुईसे अलग है कि रुई है? तो तत्त्वकी दृष्टिसे सूतसे जुदा वह कपड़ा नहीं है, परन्तु व्यवहारकी दृष्टिसे कपड़ेमें समतल भूमि अलग है, डंडा अलग है, पाँव अलग हैं, सिर अलग है। व्यवहारकी दृष्टिसे हाथ लगाकर बता देंगे, देखो यह आँख है, यह छाती

है, यह पाँव है, यह हाथ है, लेकिन सूतरूप जो तत्त्व है उसकी दृष्टि से उसमें कोई अलगाव नहीं है। इसी प्रकार **मयि सर्वमिदं प्रोतं।**

यह जो परमात्मा है इसमें यह जगत्‌रूपी तस्वीर न बाहर बनी है, न भीतर।

निरुपादानसंरम्भं अभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कला श्लाघ्याय शूलिने॥

शून्य भीतिपर चित्र, रंग नहीं, तन बिनु लिखा चितेरे।

महाराज, बिना सूतके यह जगत्‌का चित्र है; इसमें न बाहर है न भीतर है। अरे यह तो वही है, बिलकुल वही। **मयि सर्वमिदं प्रोतम्**—यह सम्पूर्ण विश्व उसीमें ओतप्रोत है। उसीमें सराबोर है। उसीमें पगा हुआ है। जैसे सूतसे कपड़ा जुदा नहीं है वैसे यह विश्वसृष्टि उससे जुदा नहीं है। यह कैसे है? तो दूसरा दृष्टान्त देकरके समझाते हैं—**सूत्रे मणिगणा इव।**

आपने माला कई तरहकी देखी होंगी। तिब्बतियोंकी माला देखी होंगी, सिक्खोंकी भी देखी होंगी। सिक्ख लोग महाराज, ऊनकी माला बनाते हैं, उसीमें गाँठ दे देते हैं; अब उससे माला फेरें—एक-एक मनकेपर अलग-अलग वाह गुरु, वाह गुरु करते हैं। एक तो मनका है और एक उसमें चलनेवाला सूत है। तो क्या सूत और मनका दोनों जुदा-जुदा हैं? अच्छा, अपने घरमें ही भाई आजकल खादीका सूत बनाते हैं, और खादीके सूतमें गाँठ देते चले जाते हैं। सौ धागे हैं और उनमें एक पहली गाँठ पड़ी, दूसरी गाँठ पड़ी, तीसरी गाँठ पड़ी। अच्छा वह भी ध्यानमें न बैठता हो—यह तो नयी बात हुई—आप लोग कभी अनन्त बनाते हैं सूतका क्या? भादों महीनेमें अनन्तकी पूजा करते हैं तो चौदह गाँठवाला अनन्त बनाते हैं कि नहीं? वह गाँठ देना सबको नहीं आता है, उसको सीखना पड़ता है। यह यज्ञोपवीत बनाते हैं, इसके सिर पर गाँठ देते हैं। पाँच प्रवर वालोंकी गाँठ दूसरी और तीन प्रवर वालोंकी गाँठ दूसरी और ब्रह्मग्रन्थि दूसरी। अब सूत-तो-सूत ही है और उसमें गाँठ तो उलझाना जो हुआ, वह केवल उलझानेका प्रकार विशेष हुआ। असलमें वह सूत तो दूसरा हो नहीं जाता।

अच्छा भाई आप सोनेकी माला बनावाते होंगे, तो उसमें सोनेका ही धागा और सोनेके ही मनके। तो वह मनका कोई जुदा तत्त्व है और

धागेवाला सोना कोई जुदा तत्त्व है क्या? परन्तु वह सूत ढक जाता है और मनके-मनके दिखायी पड़ते हैं। तो जैसे सोनेकी मालामें सूत और मनका जुदा-जुदा नहीं है, जैसे ऊनकी मालामें मनका और ऊन जुदा-जुदा नहीं है, जैसे सूतकी मालामें सूत और मनका जुदा-जुदा नहीं, इसी प्रकार यह जो सारी सृष्टि बनी हुई है वह **सूत्रे ममिगणा इव।** यह सूतमें मणि माने सूतमें ही जो सूतके मनके बनाते हैं। मणि माने मणि-माणिक्य, हीरा-मोती नहीं। मणि माने मनके।

एक बार कोई सज्जन जो बड़े भक्त थे, एक मन्दिरमें उनका पारस बँधा हुआ था; रोज वहाँ भोजनके समय जाते थे तो उनको वहाँसे पारस मिलता था। पारस माने भोजन। रोज उनका प्रसादका भोजन खाने भरका मिलता था; उसका नाम पारस था। अपने मन्दिरोंमें उसको पारस बोलते हैं, पारस मिलता है। उस मन्दिरके जो पुजारी महात्मा थे उनके गलेमें एक मणि बँधा हुआ था। एक दिन मन्दिरके पुजारी महात्मा और पारस पानेवाले महात्माजीमें लड़ाई हो गयी। ऐसी लड़ाई हुई महाराज, कि मुकदमा चला। अब अदालतमें दोनोंने दोनोंपर दावा ठोंक दिया। वह पुजारी साधु कहता था कि इसने हमारी मणि तोड़ दी, इसने हमारा हीरा छीन लिया। तुलसीके जो दाने होते हैं, मनके जो गलेमें बाँधते हैं, उन तुलसीके मनकेको हीरा बोलते हैं। वह कहता था पुजारी कि इसने हमारा हीरा तोड़ दिया, छीन लिया हीरा। और वह पारस पानेवाला साधु कहता था कि इसने हमारा पारस जो बँधा हुआ था, वह छीन लिया; यह हमारा पारस नहीं देते हैं। वह कहता ये हमारा हीरा नहीं देते हैं। अदालतमें मुकदमा चला। अब वह मजिस्ट्रेट बेचारा! वह क्या जाने कि क्या होता है पारस और क्या होता है हीरा! वह बड़े आश्चर्यमें था कि ये दोनों कंगले, भिखमंगे, ये भिखारी, इनके पास पारस कहाँसे आया, इनके पास हीरा कहाँसे आया? जब उसने पूछा कि तुम्हारे पास पारस कहाँसे आया? बोले—मन्दिरमें-से बँधा हुआ था। अरे भाई पारस क्या होता है? कि रोज मिलता था हमको, इसने बंद कर दिया, नहीं देता हमारा पारस। अरे क्या चीज है जो रोज पारस देता था? दुनियामें आजतक कहीं ढूँढ़े वैज्ञानिकोंको पारस मिला नहीं। पारस उसको कहते हैं कि जिसको लोहेसे छुआ दो तो लोहा सोना हो जाये, वह पारस आजतक कहीं मिला नहीं और

तुम्हें रोज पारस मिलता था। और वह बोले—इन्होंने हमारा हीरा छीन लिया। बोले—हीरा कहाँ था? कि हमारे गलेमें बँधा था। हीरा तुमको कहाँ मिला? कि हमारे गुरुजीने दिया था, अब गुरुजीके पास हीरा कहाँसे आया? अब उसने पता लगाया तो मालूम हुआ कि वे तुलसीके मनकेको हीरा बोलते हैं और वे रोजके भोजनको पारस बोलते हैं।

तो नाम समझे बिना आदमी कभी-कभी भूलमें पड़ जाता है। यहाँ भी यह 'मणि' शब्दका अर्थ हीरा नहीं है, पारस-मणि स्पर्श-मणि यहाँ मणि शब्दका अर्थ नहीं है। या हीरा अर्थ नहीं है। यहाँ **मणिगणा**का अर्थ है मनके। एक मालामें बहुतसे मनके बने हुए होते हैं, उनका नाम है मणिगणा; वह जैसे सूतमें मनके बनते हैं। नहीं तो महाराज, यह कृष्ण अपनेको मणि बनाते और दुनियाको झूठ बता देते। अगर कीमतकी दृष्टिसे देखना हो तो मणिकी कीमत ज्यादा और सूतकी कीमत कम।

प्रभुजी तुम मोती हम धागा।

रैदासजी तो ऐसे बोलते हैं, कि मोती है भगवान् और धागे हम हैं और भगवान् बोलते हैं कि नहीं, धागे हम हैं और मनके तुम हो। यह देखो बोलनेकी दृष्टिकोण ही तो जुदा-जुदा है न! तो भगवान् कहते हैं कि मैं हूँ धागा और धागेमें बने हुए मनके जैसे होते हैं, मनकेमें धागा छिप जाता है। लोग उसको धागा कहकर नहीं बोलते कि वह धागा लेकर आओ। क्या बोलते हैं? कि माला लेकर आओ। तो जैसे मनकोंमें धागा है, जैसे कपड़ेमें सूत है, इसी प्रकार इस सम्पूर्ण विश्वमें भगवान् भरे हुए हैं माने सम्पूर्ण विश्व भगवन्मय है।

अब इस बातको पन्द्रह दृष्टान्त देकर भगवान् बोलते हैं। 'दृष्टान्त पंचदशी' इसको बोलते हैं, दृष्टान्त पूर्णिमा। एक तरहसे नहीं, पन्द्रह तरहसे यह बात समझाते हैं कि मैं कैसे विश्वमें भरपूर हूँ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय इत्यादि।

८. जल, सूर्य, चन्द्र, वेद, मनुष्य और आकाशमें तत्त्व-दृष्टि

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

अर्थ :—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जलमें मैं रस हूँ, सूर्य-चन्द्रमें मैं प्रभा हूँ। सब वेदों में मैं प्रणव हूँ, आकाशमें मैं शब्द और मनुष्योंमें मैं पौरुष हूँ॥८॥

: ८.१ :
रसोऽहमप्सु

भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा अर्जुनसे बहुत गुह्य, अत्यन्त गोपनीय जो वस्तु है वह बता रहे हैं। सबसे गोपनीय वस्तु क्या है? जो स्वयं स्वरूपसे ही सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्वरूपमें रहकर भी स्वयं छिपा हुआ है। छिपानेवाला दूसरा कोई नहीं है, कोई आवरण नहीं, कोई पर्दा नहीं, कोई माया नहीं, ममता नहीं, खुद अपनेमें ही आप छिपा बैठा है।

खूब जाना है कि अनजाना बने बैठे हैं।
आपमें आप छिपे पर्दा ढके बैठे हैं।

आपमें आप छिपे! ब्रह्म इतना छोटा नहीं है कि मायाका लिहाफ उसको ढँक दे। ब्रह्म ऐसा छोटा-मोटा नहीं है कि अविद्या उसको आवृत कर दे। नहीं, अविद्याने नहीं ढँका, मायाने नहीं ढँका, अपने आप ही (छिपा है)। तो जब स्वयं उसका ऐसा स्वभाव है कि अपनेको ढँक करके रहे; है तो अद्वैत, लेकिन द्वैत बनकर दिखायी पड़े; है एक अनेक दीखे; है ज्ञान, जड़ दीखे; है आत्मा, अनात्मा दीखे; है अपना आपा, अन्य दीखे; तो जब इस तरहसे वह अपनेको अपने आपसे ही ढँककर बैठा है, तो जबतक वह स्वयं पर्दा न हटावे, तबतक कोई उसको कैसे पहचाने?

इसीसे बताया कि—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

कोई खूब बढ़िया प्रवचन करे तो उसके प्रवचनपर मुग्ध होकर आत्मा उसके सामने अपनेको प्रकट कर दे, ऐसा यह प्रवचनपर रीझनेवाला नहीं है। अच्छा, बड़े बुद्धिमान हैं; कि नहीं बुद्धिके सामने भी प्रकट नहीं करते हैं। अच्छा, बहुत बड़ा विद्वान् है; नहीं, विद्वत्तासे भी नहीं। पंडित लोग 'विद्वत्ता' शब्दका उच्चारण कम करते हैं, वैदुष्य शब्दका उच्चारण करते हैं। यह विद्वान् शब्दके भावमें वैदुष्य शब्दका प्रयोग पंडित लोग करते हैं। तो बुद्धि-वैभवसे, प्रवचन-वैभवसे, विद्या-वैभवसे, कोई चाहे कि हम परमेश्वरको प्रकट करलें, वैभवके बलसे तो जो लोभी होगा, लालची होगा, कमजोर होगा वही वशमें आवेगा। बोले, फिर ईश्वर कैसे मिलता है?

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।

दोनों ओरकी प्रेरणा होनी चाहिए। जब यह साधक दोनों हाथमें वरमाला लेकर उसको पहनानेके लिए खड़ा होता है कि मैं तुम्हारे गलेमें वरमाला डालता हूँ, मैं तुमको वरण करता हूँ, (तब मिलता है)। रुक्मिणीने कहा—प्रभु मैंने मन-ही-मन तुम्हारे गलेमें वरमाला डाल दी। श्रीमद्भागवतमें यह कथा है—मैंने तुम्हें वरण कर लिया—**आत्मार्पितश्च**। मैंने अपनी आत्माका अर्पण कर दिया। अब मैं तुम्हारा भाग हूँ, तुम्हारा हिस्सा हूँ, तुम्हारे हककी वस्तु हूँ। यदि तुम स्वीकार नहीं करते तो बस लोग यही कहेंगे कि शेरका हिस्सा, शेरके लिए जो चीज रखी हुई थी, उसको गीदड़ उठा ले गया, इसमें बदनामी हमारी नहीं, तुम्हारी है।

जब मनुष्य अपनी ओरसे प्रभुको वरण करता है, कि मैं तुम्हें प्राप्त करना चाहता हूँ; जब उसके हृदयमें मुमुक्षा होती है—मोक्षकी प्राप्तिकी इच्छा; जब उसके हृदयमें जिज्ञासा होती है—ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा; जब उसके हृदयमें प्रेप्सा—भगवत्प्राप्तिकी तीव्र लालसा उदय होती है, वह व्याकुल होता है कि प्रभु! अब तुम्हारे बिना हमसे एक क्षण भी नहीं रहा जाता; तड़प उठता है जब दुनियामें; तब उसकी व्याकुलता देखकर, उसका वरण देखकर, कि इसने हमको वर लिया है, **तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।** उस साधकके प्रति, उस मुमुक्षुके प्रति, उस जिज्ञासुके प्रति, यह जो आत्मा अपने हृदयमें बैठा हुआ अपना आत्मा ही परमात्मा है, वह 'स्वाम् तनूं विवृणुते'—अपने

शरीरको विवृत कर देता है। विवृत कर देता है माने नंगा कर देता है, निरावरण कर देता है। वह जो अपने आपमें अपना आप बना छिपा हुआ है, छिपना मिटा देता है और जाहिर हो जाता है।

आज अर्जुन जिज्ञासु बनकर—**शिष्यस्तेऽहं शाधि माम्**—मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मुझे शिक्षण दो। श्रीकृष्णके सम्मुख उपस्थित हुआ है। आज वह अपने रथके सारथिको, जीवनके सारथिके रूपमें वरण कर चुका है। जो रथके सारथि बनकर बैठे थे, केवल इन्द्रियोंकी बागडोर अपने हाथमें लेकर; इन्द्रियाँ घोड़े हैं और मन बागडोर है और उनके अपने हाथमें लेकर बुद्धिरूप जो सारथि है, उसके अन्तर्यामी वासुदेव होकर अर्जुनके जीवन-रथपर बैठे थे। अर्जुनने कहा—नहीं केवल इन्द्रियरूप घोड़ोंके सारथि तुम नहीं हो, केवल इस बागडोरको पकड़नेवाले नहीं हो, केवल रथीका नौकर जो सारथि होता है, वह सारथि तुम नहीं हो, तुम हमारे जीवनके सर्वस्व हो। मैं तुम्हें अपने प्रभुके रूपमें वरण करता हूँ—**शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। भगवान् आगे कहनेवाले हैं—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

जो मेरी शरणमें आते हैं, वे मेरी इस मायासे पार हो जाते हैं।

अब भगवान् **विवृणुते तनूँ स्वाम्**—अपने आपको अर्जुनके सामने विवृत कर रहे हैं। माने निरावरण कर रहे हैं, खुला रख रहे हैं, विवरण; माने खुलासा, खुलेरूपमें रख रहे हैं कि अर्जुन! पहचान लो मुझको। मैं कौन हूँ। **मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।**

कहते हैं कि वेदान्तोंमें परमात्माको सेतुरूप कहा गया है और उनका उन्मान बताया गया है और सम्बन्ध बताया हुआ है जीवके साथ और भेद भी बताया हुआ है। सेतु बताया हुआ है—**हेतुसेतुर्विधरणाः**—ये संसारकी सेतु है। सेतु माने होता है मेड़, जैसे एक खेत पूरा हो जाता है, तो उस खेतको धरतीसे जुदा करनेके लिए मेड़ बँधी होती है। तो यह परमात्मा कैसे हैं? कि जहाँ संसार समाप्त हो जाता है, वह संसारकी मेंड़पर मौजूद है, सेतु है। अथवा यूँ कहो कि एक नदी बह रही हो, उसके इस पार हमलोग हों और उस पार कोई दूसरा रह रहा हो, तो दोनोंको मिलानेको सेतु—पुल बनता है, उस पुलके रूपमें परमात्मा है।

बोले—इससे तो यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा अलग है और हम अलग हैं। फिर उन्मान बताया हुआ है—**से तु यावन् आकाशः**—यह आकाश जितना बड़ा है, उतना बड़ा परमात्मा है। देखो, तत् परिमाण हो गया, इसलिए परिमाण होनेसे परिच्छिन्न होगया परमात्मा। फिर यह बताया गया है कि जब सुषुप्ति दशा आती है तब **'तत्त्व सम्पन्नो भवति'** तब तत्त्वसे यह जीवात्मा मिल जाता है। तो जिससे मिलता है, उससे अलग रहता होगा, तभी तो उससे मिलता होगा? सुषुप्तिमें मिलता है और फिर जाग्रत्में उठ जाता है। सम्बन्ध भी बताया हुआ है कि वह मनुष्यकी आँखमें रहता है। **यो दक्षिणाक्षिणि वै पुरुषः** दाहिनी आँखमें रहता है। कि बाईं आँखमें कोई और रहता होगा, कान में कोई और रहता होगा, शरीरमें कोई और रहता होगा। बोले—यह भी बताया हुआ है कि,

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

यह संसार एक वृक्ष है और इसपर दो पक्षी रहते हैं। तो जब दो रहते हैं तो दोनों अलग-अलग होंगे तभी तो दो हैं! तो ये जो मन्त्र हैं इनका लोग ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते, इसलिए ऐसा भाव उसमें-से निकालते हैं।

अब भगवान् मानो इसी पूर्वपक्षका उत्तर देनेके लिए बोलते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

असलमें भगवान् कोई पुल नहीं है, कोई मेंड़ नहीं है। तब क्या हैं? कि **सेतुरिव सेतुः**। यह जो हमारी मर्यादा है, जिससे पशुके चार पाँव होते हैं और मनुष्यके दो हाथ होते हैं, इस कर्मानुसारिणी मर्यादाको बाँधनेवाले, इस मेंड़को कायम करनेवाले भगवान् हैं। मनुष्यके शरीरमें दो आँख आगेकी ओर होंवें, दो कान अगल-बगलमें होंवें, मुँहसे खाया जाये और नीचेको प्रवाहित होवे, निकले, यह सब शरीरमें मर्यादा है कि नहीं है। तो यह जो मर्यादा देखनेमें आती है, यह मर्यादा भगवान्की वजहसे चलती है। संसार जहाँ खत्म होता है, उसकी जहाँ मेंड़ होती है, भगवान् वहाँसे शुरू नहीं होते, भगवान् इस संसारमें रहते हैं। हमारी आँखमें रहके आँखको आँख बनाये रखते हैं, कानमें रहकर कानको कान बनाये रखते हैं, जीभमें रहकर जीभको जीभ बनाये रखते हैं—**श्रोत्रस्य श्रोत्रं। चक्षुषश्चक्षुः। प्राणस्य प्राणः**। प्राणको प्राण बनानेवाला कौन, आँखोको आँख

बनानेवाला कौन, कानोंको कान बनानेवाला कौन, वह ईश्वर कहीं जुदा नहीं है, कि भाई सुषुप्तिमें तो देखो हम जाकर उससे मिल आते हैं और जाग्रत्में उससे अलग हो जाते हैं। नहीं, नहीं, यदि हम और वह दोनों एक न होते तो सुषुप्तिमें मिलते ही नहीं। जाग्रत न होनेपर, स्वप्न न होनेपर सुषुप्ति दशामें जो हम रहते हैं वही वह रहता है। न वह बोलता है, न हम बोलते हैं, कैसा मौन! दोनोंका मन एक हो जाता है, एक समय, दोनोंकी वाणी एक हो जाती है, दोनोंकी बुद्धि एक हो जाती है, दोनोंकी सत्ता एक हो जाती है। देखो न, सुषुप्तिमें हमारा और उनका मिलन कितना गाढ़ा होता है।

तद्यथा प्रियया जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।

जैसे अपनी प्रिय पत्नीसे आलिंगित होकर पुरुषको बाह्य और आभ्यन्तरका भेद पता नहीं होता, इस प्रकार यह जीवात्मा सुषुप्तिमें परमात्मासे एक हो जाता है, भेद केवल औपाधिक है। सूक्ष्म शरीरकी उपाधिसे स्थूल शरीरकी उपाधिसे इस आत्मामें भिन्नता दिखायी पड़ती है, वास्तविक नहीं है। और यह कहो कि सम्बन्धका वर्णन है तो जैसे अनेक शीशा लगाकर एक दीपक प्रज्वलित कर दिया जाये तो हरे शीशासे वही एक रोशनी हरी होकर निकल रही है और लाल शीशेमें-से वही रोशनी लाल होकर निकल रही है। इसी प्रकार हमारे भीतर जो हृदय में परमात्माकी लौ जल रही है, वही इन्द्रियों की उपाधि से अलग-अलग मालूम पड़ती है। असलमें आँखमें-से उसीकी रोशनी निकल रही है और कानमें भी वही सुन रहा है, जीभमें भी वही स्वाद ले रहा है, उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। अच्छा, **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**में जो भेदका व्यपदेश है, वह देखो कहाँ है? परमात्मा अलग देशमें रहता है और जीवात्मा अलग देश में रहता है, यह वर्णन किया गया है या कि एक ही देशमें दोनों रहते हैं? (एक ही वृक्षपर हैं इसलिए देश भेद नहीं है।) तो केवल अज्ञानके कारण जहाँ भोक्तृत्व है उसका नाम जीव है और जहाँ तत्त्वज्ञान हो जानेसे भोक्तृत्व नहीं है, उसका नाम परमात्मा है। श्रीमद्भागवतादि में तो इसकी बड़ी अद्भुत व्याख्या है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—**मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।**

न भेद है, न सम्बन्ध है, न उन्मान है, न सेतु है, एक मात्र परमात्मा है, परमात्मासे परोक्ष दूसरा कोई नहीं, दूसरे कालमें कोई नहीं, दूसरे देशमें कोई नहीं और दूसरी वस्तुके रूपमें कोई नहीं।

परतरं कारणं अन्यत् समसत्ताकं, किंचित् कार्यं।

तीन बात कही। एक तो परमात्माके परे कोई चीज हो! बोले—नहीं, नहीं है। अच्छा, परमात्माका कोई कारण हो? कि नहीं है। अच्छा, परमात्मासे पहले कुछ हो! कि नहीं है। इन तीन बातोंका निषेध करनेके लिए भगवान्ने बताया कि मुझसे परतर कोई नहीं है। परतर माने जब मैं नहीं था, तब रहा हो। बोले—ऐसा तो कोई समय नहीं था जब मैं नहीं था। तो मुझसे पहलेका कोई नहीं है और मेरा बाप-कारण कोई नहीं है और मुझसे बड़ा कोई नहीं है। मुझसे बड़ा कोई नहीं है—देशमें। मुझसे पहले कोई नहीं है—कालमें। और मेरा कोई कारण नहीं है—वस्तुके रूपमें। विषयकी दृष्टिसे मेरे सिवाय कोई नहीं, देशकी दृष्टिसे मेरे सिवाय कोई नहीं और काल की दृष्टिसे मेरे सिवाय कोई नहीं। यह बात तो परतरं में बतायी। माने अधिक सत्ताक कोई नहीं है।

अब बराबर सत्तावालेका निषेध करते हैं—**मत्तः अन्यत् नास्ति।** मेरी बराबरीका पहले न रहा हो मान लो। पहले नहीं था। बड़ा नहीं है, कारण भी नहीं है, बराबर हो! कि नहीं, 'अन्यत् नास्ति'—दूसरा भी नहीं है। अच्छा, बोले—**किंचित्** बादका बताओ! भगवान्के बराबर और भगवान्से बड़ा तो कोई है ही नहीं। बोले—अच्छा, पीछे पैदा हुआ हो? कि किंचिद् नास्ति। **न तस्य कार्यं च श्रूयते**—भगवान् का कोई कार्य भी नहीं है। तब यह सृष्टि फिर कहाँ है? कि—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

कल बताया था कि इसमें दो दृष्टान्त हैं। एक 'प्रोतं' शब्दसे निकलता है दृष्टान्त, सो और दूसरा 'सूत्रे मणिगणा इव' स्पष्टरूपसे कहा हुआ है, सो। जैसे सूतमें कपड़ा ओतप्रोत है माने सूतसे जुदा जैसे कपड़ा नहीं है। इसी प्रकार परमात्मासे जुदा यह सृष्टि नहीं है; और जैसे धागेमें धागेके बने हुए मनके वह माला जैसे सूतसे जुदा नहीं है या सोनेकी जंजीर और सोनेकी मणि, ऊनका ही सूत और ऊनकी ही गाँठ, जैसे सिक्खोंकी माला होती है,

जैसे तिब्बतियोंकी माला होती है, जैसे सोनेकी लोग माला बनवाते हैं, लेकिन महाराज माला बनती है तो सूत बेचारा ढक जाता है और माला दीखने लगती है। मनके तो दिखते हैं और सूत ढक जाता है। तो इस सृष्टि में मनके-मनके तो दिखायी पड़ रहे हैं और सूत ढक गया है जो सबमें एक है। हम सबलोग उसी सोनके बने हुए मनके हैं। और उनमें सबको जोड़नेवाला कौन? कि वह भी सोनेका ही सूत। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज अविकृत परिणामके दृष्टान्तमें सुवर्णको ही मुख्य रूपसे लेते हैं। जैसे अद्वैत वेदान्ती रज्जु सर्प और दशुक्तिका-रजत और मृगमरीचिका और जलका दृष्टान्त लेते हैं, वैसे ही श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज सुवर्णका दृष्टान्त लेते हैं। भागवतमें यह दृष्टान्त दिया हुआ है—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथ मनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥
नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया,
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतया वसितम्।

बोले—एक आदमीको सोनेका ज्ञान हो गया, तो उसने कहा—देखोजी सोना तो धातु है और ये जो सोनेके बने हुए कड़े हैं, कुण्डल हैं, हार हैं ये तो विकृति हैं, यह तो परिणाम है। कि अच्छा, भाई, यदि तुम्हें सोनेसे इतना प्रेम है तो जो तुम्हारे घरमें हार हो, कंगन हो, कुंडल हो सो तो निकालकर फेंक दो कूड़ेंमें और जो सोना-सोना हो सो रख लो। तो **नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य**—स्वर्णसे बने हुए जो आभूषण होते हैं उनको कोई घरसे निकालकर फेंकता नहीं है। क्यों? कि **तदात्मतया,** क्योंकि वे जो आभूषण हैं वे तो स्वर्णरूप ही हैं। **स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतया वसितम्**—

इसलिए तत्त्वज्ञानी पुरुष देखते हैं कि आत्मामें यह जो सृष्टि बनी है, परमात्मामें जो सृष्टि बनी है, यह सृष्टि परमात्मरूप ही है। जैसे आभूषण कोई निकालकर फेंक नहीं देता, वैसे परमात्मामें बनी हुई यह सृष्टि फेंकनेके लिए नहीं है।

तो **सूत्रे मणिगणा इव।** अरे बाबा? न सोनेकी जंजीर फेंकने लायक है, न उसमें पोये हुए मनके फेंकने लायक हैं, पहचाननेकी जरूरत है कि ये मनके काँचके नहीं हैं, ये मनके पीतलके नहीं हैं, ये मनके भी सोनेके हैं। तो कुछ जुदा है इसका निषेध करनेके लिए रज्जुसर्पादिका दृष्टान्त दिया जाता है और वही वही है—यह समझाने के लिए स्वर्णका दृष्टान्त दिया जाता है।

बोले—अच्छा, ईश्वर सब जगह भरपूर है? हाँ भाई, सब जगह भरपूर है तो आओ अब संसारमें ईश्वरको ढूँढ़ें—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

रसोऽहम् अप्सु—देखो एक बात क्या बढ़िया है! संस्कृतमें यह अप् शब्द जो है जिससे आपः अपः अप्सु, अपाम्, आदि शब्द बनते हैं, ये 'नित्यं बहुवचनान्ताः'। यह 'अप' शब्द जो संस्कृतमें है यह नित्य बहुवचन है। नित्य बहुवचनका अर्थ क्या है? कि यह जल कोई एक तत्त्व नहीं है, कण-कण है, अलग-अलग है। यह बात सूचित करनेके लिए आजकल मशीनपर चढ़ाकर पानीको महाराज, उड़ा देते हैं बिलकुल। कुछ पानी नहीं रहा। क्या रहा? कि दो तरहकी गैस है, पानी कोई तत्त्व ही नहीं है। आजकलके विज्ञानकी प्रतिपत्ति यह है कि सरयू स्नानका कोई तत्त्व नहीं है, न यह तीनमें है, न चारमें है, न पाँचमें है, न अट्ठत्तरमें है, न नब्बेमें है। तत्त्वोंकी किसी गणनामें जल नामकी वस्तु नहीं है। यह आजके विज्ञानकी प्रतिपत्ति है। दो प्रकारके गैस मिलाते हैं, उससे पानी बनाकर बरसा भी देते हैं और बने हुए पानीको बिलकुल भाप बनाकर उड़ा देते हैं, कहीं कुछ चीज बचती नहीं है, कोई वज़न नहीं बचता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि जल जो है वह कण-कणसे बना हुआ है इसलिए इसक बहुवचन प्रयोग किया गया आपः अपः। *अप् शब्दो नित्य बहुवचनान्तः।*

भाई, तब ये हमारे जो दार्शनिक है, वैदिक दार्शनिक और हिन्दू दार्शनिक, बौद्ध दर्शन भी, जैन दर्शन भी, चार्वाक दर्शन भी नास्तिक दर्शन भी जलको तत्त्व मानते हैं, चार्वाक भी मानता है जलको तत्त्व। और आस्तिक दर्शन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा

सब-के-सब जलको तत्त्व मानते हैं। यह क्या विज्ञान-विरुद्ध बात? आजकल तो विज्ञानके विरुद्ध कोई बोले तो आदमी सुननेको तैयार ही नहीं, बोले—'**अविचार्य किंचित् यत् प्रतिपाद्यमानो मूढा**'—बिना सोचे-विचारे जो कुछ मान बैठे कि जल भी एक तत्त्व है, यह मूढ़ताका लक्षण है। अब देखो आपको अपना शास्त्रीय दृष्टिकोण सुनाते हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय—बोले—ठीक है भगवान् कहते हैं जलके बूँद-बूँदमें, कण-कणमें मैं रस रूपसे व्याप्त हूँ। अब जरा रसकी तरफ ले चलो अपने ध्यानको। देखो, हमारे यन्त्रका आधाररूप **स्थायी** है। कानसे जो सुनायी पड़ता है सो शब्द। कानसे जो शब्द सुनायी पड़ता है, क्या आँखसे दिखता है? कि नहीं। कानसे सूँघा जाता है? कि नहीं। कि त्वचासे छूआ जाता है कि नहीं। जीभसे उसका स्वाद आता है? कि नहीं। अच्छा, आँखसे जो रूप दिखायी पड़ता है, वह कानसे सुनायी पड़ता है? नहीं। अच्छा त्वचासे छूआ जाता है? कि ना। लाल है कि काला है यह छूकर थोड़े ही पता चलता है। गन्ध क्या आँखसे दिखायी पड़ता है? नहीं। तो प्रमाणान्तरसे जो अवेद्य हो—माने जो किसी दूसरे किसी प्रमाणसे जानी न जाये और प्रमाणान्तरसे अबाधित हो—माने जो दूसरे प्रमाणसे खण्डित भी न हो, ऐसी वस्तु हमारी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होती है। अब बताओ आप, नाकसे जो गन्ध आती है उसको जीभसे खाकर तुम मना कर दोगे कि नहीं आती है? तब जीभपर जो स्वाद आता है उसको आप कैसे मना करोगे कि यह कोई चीज नहीं है? हम आपसे पूछते हैं कानसे स्वाद सुनायी पड़ता है? आँखसे स्वाद दिखायी पड़ता है? त्वचासे क्या स्वादका स्पर्श होता है? नाकसे क्या स्वाद सूँघा जाता है? नहीं, स्वाद केवल जिह्वा रूपी इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है और जिह्वाके अतिरिक्त दूसरी कोई इन्द्रियाँ कह दें कि स्वाद नहीं है, तो क्या उनसे खण्डित होता है? नहीं होता है। तो इसका अर्थ हुआ कि जिह्वा इन्द्रियाँ हमारे पास प्रमाणके रूपमें मौजूद है। हमारा गला कौन? कि हमारी रसना। हमारी जो स्वाद लेनेवाली जीभ है, वह हमारे पास गलाके रूपमें मौजूद है, साक्षी है। जिह्वोपाधिक जो आत्मा है वह रसका साक्षी है। संसारमें खट्टा है, मीठा है, चरपरा है, नमकीन है, इसका साक्षी कौन?

बोले—साक्षी तो आत्मा है, हम ही जानते हैं कि खट्टा होता है, मीठा होता है। कि तुम जानते हो न! अच्छा, तो तुम कैसे जानते हो? कि जब जीभका चश्मा लगाकरके, जब जीभकी खुर्दबीन लगाकर हम किसी वस्तुको जीभपर रखते हैं तब वह खट्टी, मीठी, चरपरी मालूम पड़ती है। तो देखो, मशीन क्या है? मशीन है जीभ और उसकी जाँच करनेवाला कौन है? कि आत्मा। और उस जीभसे एक ऐसी चीजका दुनियामें पता चलता है जो दूसरी किसी इन्द्रियके द्वारा जाना भी नहीं जाता और दूसरी किसी इन्द्रियके द्वारा कटता भी नहीं।

अब विज्ञानकी प्रतिपत्ति। खुर्दबीनसे अगर रस नहीं मिलता है, तो क्या तुम मना कर सकते हो कि हमारी जीभपर रस आता ही नहीं है? अरे भाई, जिह्वापर जो रस आता है वह एक ऐसी हमारी नयी अनुभूति है जो दूसरी इन्द्रियों द्वारा नहीं होती। नाकसे सूँघे जानेवाले गन्धका आश्रयभूत जो सत्ता है, उसको पृथिवी बोलते हैं। और आँखसे देखे जानेवाले रूपकी आश्रयभूत वही सत्ता, दूसरी नहीं, वही सत्ता तेजके नाम से कही जाती है। और त्वचासे छूए जानेवाले स्पर्शकी आधारभूत वही सत्ता, दूसरी नहीं, वायुके नामसे कही जाती है। और कानसे सुनायी पड़नेवाले कानकी आधारभूता वही सत्ता आकाशके नामसे कही जाती है। इसी प्रकार जिह्वासे अनुभव होनेवाली रसभूता वही सत्ता जलके नामसे कही जाती है। तो हमारे पास पाँच इन्द्रियाँ हैं, इनसे पाँच विषयोंका अनुभव होता है। उन पाँच विषयोंके आधारके रूपमें विद्यमान एक ही सत्ताको हम पाँच नामसे बोलते हैं। उसके नाम पाँच हैं, है एक सत्ता वह, परमात्मा। उसीको बोलते हैं पृथिवी, उसीको बोलते हैं जल, उसीको बोलते हैं अग्नि, उसीको बोलते हैं वायु, उसीको बोलते हैं आकाश—

भूरसि भूमिरसि दितिरसि विश्वस्य धाया।
सलिलमासीत् प्रचेतिदं। अग्निमीले पुरोहितं।
अग्ने नय सुपथा।

आप रोज पाठ करते ही हैं—

वायु त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
कं ब्रह्म खं ब्रह्म।

अर्थात् एक अखण्ड सत्ता ब्रह्म है और उसीमें इन्द्रियोंके द्वारा जो हम विलक्षण विलक्षण पदार्थ ग्रहण करते हैं, तो जिस विलक्षण पदार्थका, विषयका ग्रहण होता है उसके आधाररूपसे हम ब्रह्मका ही एक नाम रख देते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु। तात्त्विक दृष्टिसे तो पृथिवी जल अग्नि, वायु भी नहीं है और व्यावहारिक दृष्टिसे इन्द्रियोंके द्वारा जिन-जिन शब्दादि विषयोंका ग्रहण होता है उन-उन विषयोंके आधाररूपमें वही ब्रह्म पाँच प्रकारसे दिखायी पड़ रहा है।

तो अब देखो, जलमें परमात्माको पहचानो स्वादके रूपमें। आप कभी भगवान्‌का नाम लें! नाम तो लेते ही होंगे! नाम जो नहीं लेता होगा, वह काहेको यहाँ आकर बैठता होगा। इसलिए यह कल्पना करना कि यहाँ बैठनेवालोंमें-से कोई ऐसे भी होंगे जो भगवान्‌का नाम नहीं लेते होंगे—ऐसा मैं तो नहीं मानता हूँ और होवे तो उनकी श्रद्धा, उनकी भक्ति, उनका जीवन, उनपर कोई आक्षेप भी नहीं है।

तो देखो, भगवान्‌का नाम लेते हैं जीभपर। आप सच समझना भगवान्‌का नाम लेनेमें बड़ा स्वाद आता है, स्वादकी संवित् होती है। आपने यदि कभी प्रेमसे भगवान्‌का नाम लिया होगा—कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण! वह कहते हैं न—

कृष्ण नाम मिश्री गोपाल नाम घी।

भगवान्‌का नाम मिश्री है। स्वाद तो लेते हैं। यदि कृष्णका नाम लेनेपर आपको स्वाद नहीं आता है तो तुम्हारे जीभमें कोई रोग हो गया है। अरे बाबा, प्रेम जिस चीजसे होता है, उसका नाम लेनेमें वह मजा आता है, यह किसी प्रेमीसे पूछो तो पता चले। हमको बचपनमें 'काशी-काशी' कहने में वह मजा आता था, कागज और कलम मिल जाये तो मैं बढ़िया से बढ़िया कागज़को 'काशी-काशी' लिखके बिगाड़ देता था। सफेद कागजका सारा मुँह काला कर देता था काशी-काशी लिखकर। हमको वे काशीके काले-काले अक्षर अच्छे लगते थे और वह सफेद कागज़ अच्छा नहीं लगता था। प्रेम ही तो है कि सफेद कागज़को काला बना देते हैं।

शिवः काशी शिवः काशी काशी काशी शिवः शिवः।
ये जपन्ति नरा भक्त्या तेषां मुक्तिर्न संशयः॥

काशी-काशी, कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण। भगवान्‌का नाम लो, क्या आनन्द आता है। शास्त्रमें वर्णन है कि इतना स्वाद है भगवान्‌के नाममें कि यदि मुँहमें भगवान्‌का नाम आवे—

तुण्डे तांडवनि रतिं वितनुते तुण्डावलि लब्धये।

तुण्डे तांडविनि—यह दो अक्षरका नाम यदि आकरके हमारे मुखमें नृत्य करने लगे तो **रतिं वितनुते तुण्डावलि लब्धये।** हमारे मनमें यह लालसा होती है कि एक मुँह नहीं, हजार मुँह हो जायें। दस मुख हो जायें और लोग कहें कि यह रावण है तो कोई परवाह नहीं, लेकिन हम तो दसो मुँहसे भगवान्‌का नाम लेंगे। हम सहस्रमुख हो जायें और लोग कहें कि यह साँप है, कोई परवाह नहीं, हम सहस्रमुख होकर भी भगवान्‌का नाम लेना चाहते हैं, इतना स्वाद, इतना रस भगवान्‌के नाममें है। तो आपको जीभमें स्वाद आता है कि नहीं—प्रश्न यह है। जब भगवान्‌का प्रसाद लेते हैं, प्रसादमें बड़ा विलक्षण स्वाद होता है। अबकी बार तो हम नहीं कह सकते कि हम बम्बईमें बता सकेंगे कि नहीं, वृन्दावनमें अगर कोई प्रसाद ले आवे, तो यह प्रसाद करके लाया है कि नहीं, यह हम बता सकते हैं; प्रसादका स्वाद होता है विलक्षण। तुलसीकी गंध जिसमें-से नहीं आयी, वह प्रसाद कैसा?

तो यह जो रस आता है हमारी जीभपर, यह कहाँसे आता है? तो देखो, बिना जीभमें पानी आये, स्वाद कहाँसे आवेगा। तो स्वाद जब भी आता है तो पानीमें आता है। **रसोऽहमप्सु कौन्तेय।** तो यह जो मधुर रस है, मीठा-मीठा, जिसको खाकर अपनी इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं, मनमें सन्तोष हो जाता है, एकबार तो सारी कामनाएँ ही मिट जाती हैं; वह तो बादमें जब वह रस मिटता है, तब दूसरी चीज आती है। किसीके मनमें खीर खानेकी कामना हुई भला! पहले हुई कामना, फिर मिली खीर, खीर आयी जिह्वापर, जिह्वामें पानी पैदा हुआ, उसके छिद्र खुल गये और खीरका जो रस है वह उसमें समाविष्ट हो गया, बड़ा आनन्द आया। अब? बोले—कि अब नमक खानेकी इच्छा हो गई। नमकके बाद? कि खीर खानेकी इच्छा हुई। यह क्यों? बोले—यह रस बनकर हमारी जिह्वापर कौन आता है? वेदान्तियोंकी बात सुनो इसमें। वह नमक जो है वह

उपाधि है और उसमें जो रस है, सलोना; लोन माने नमक। सलोना माने नमकीन। जिसको खाकर, पीकर स्वाद आ जाये, रस आ जाये, मजा आ जाये। तो **'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'**का अर्थ है, इतनी प्रकारकी मिठास जिह्वापर अनुभव होती है। एक तो औपाधिक मिठास होती है, नमककी अलग, शक्करकी अलग, इमलीकी अलग, नींबूकी अलग, अनारकी अलग, आँवलेकी अलग यह क्या है? कि आँवला उपाधि है, अनार उपाधि है और उसमें जो रस है वह परमात्मा है। अब एक बार ऐसा ख्याल करो कि न आँवला है, न इमली है, न शक्कर है, न नमक है, लेकिन रस है। सब रसोंको रस बनानेवाला जो परम रस है, रसका भेद ऐसे करो भाई कि जीभपर खीर अलग आती है, रसगुल्ला अलग आता है, अँचार अलग आता है, चटनी अलग आती है, सबसे पहले जीभपर एक पानी बनता है और तरह-तरहका पानी बनता है। तो तरह-तरह का पानी है वह तो उपाधि है और उसमें तरह-तरहका जो रस है, वह औपाधिक है और सब रसोंमें जो एक रस है, वह परमात्मा है, उसको पहचानो।

जैसे रूपमें यह हरा रूप आया, यह लाल रूप आया, यह पीला रूप आया, तीन प्रकारका रूप आया, कि हरा रूप पत्तेका है, लाल रूप फूलका है, पीला रूप कपड़ेका है परन्तु रूपत्व—सामान्य तीनोंमें है। पीला भी रूप है, लाल भी रूप है, काला भी रूप है, सफेद भी रूप है, हरा भी रूप है। तो हरा रूप अलग, लाल रूप अलग, काला रूप अलग, लेकिन उसमें जो रूप तन्मात्र है, भेद उसमें उपाधिके कारण है और जो उसमें एक रूप है वह परमात्माका रूप है उसका अभिप्राय यह है। **रसोऽहमप्सु कौन्तेय।**

इसीमें-से यह बात निकलती है कि जैसे व्यवहारमें रसके अनेक रूप होनेपर भी उसमें मूलतः एक ही रस है। जैसे संसारमें अनेक आकार होनेपर भी मूलतः उसमें एक ही आकार है, एक ही सत्ता है। गायमें एक ही गोत्व है, मनुष्यमें एक ही मनुष्यत्व है और फिर गोत्व और मनुष्यत्व दोनोंमें एक ही सत्ता है, एक ही वस्तु अखण्ड है। तो परमात्माको पहचाननेके लिए एक बार भेदका पर्दा हटाकर, उसके अभेदको देखना पड़ता है। वही काम भगवान् श्रीकृष्ण कर रहे हैं, वे कहते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय—जलमें जो बूँद-बूँदका भेद है, यह खट्टी बूँद, यह नमकीन बूँद, यह मीठी बूँद, बूँद-बूँदका भेद हटाकर उसमें जो एक रस है उसे देखो! वह एक रस कौन है? कि **रसोऽहमप्सु कौन्तेय** सब रसोंमें एक सच्चा रस मैं हूँ।

श्रुति कहती है—**रसो वै सः।** भगवान् रसरूप है। **रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।** उस रसरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाये तो यह जीव आनन्दी हो जाये।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। तैत्ति २.३

जिसने ब्रह्मानन्दको जान लिया, उसके लिए फिर कहीं भय नहीं रहता।

अब यह जो रसरूप परमात्मा है, बड़ा मीठा है, इसके नामका स्वाद आ जाये तो मीठा, रूपका स्वाद आ जाये तो मीठा। और मरनेके बादवाली बात नहीं है। स्वर्ग मरने के बाद मिलता है परन्तु यह परमात्मा मरनेके बाद की चीज़ नहीं, इसी जीवनमें जिन्दा रहते जैसे स्त्री मिलती है, जैसे अपना बच्चा मिलता है, जैसे धन मिलता है, इसी तरहसे मिलनेवाली चीज है। इसी जीवनमें; और यह नहीं समझना कि कलियुगमें नहीं मिलता, मीराको इसी युगमें मिला, सूरदासको इसी युगमें मिला, चैतन्य महाप्रभुको, तुलसीदासको इसी युगमें मिला। इसी युगमें मिलता है, यह मत समझो कि इस युगमें नहीं मिलता। इसी युगमें मिलता है और इसी धरतीपर मिलता है और इसी मनुष्य-शरीरमें मिलता है और निश्चित रूपसे वह रसरूप परमात्मा मिलता है।

❖

: ८.२ :

प्रभास्मि शशिसूर्ययोः

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८

भगवान् श्रीकृष्ण अपने तत्त्वस्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उस विज्ञानका निरूपण कर रहे हैं—**सविज्ञानं ज्ञान।** जिस विज्ञानके द्वारा उनको ठीक-ठीक पहचाना जा सके। जैसे वेदान्तियोंमें पञ्च-कोषका विवेक करनेसे अपने साक्षी-स्वरूपका ज्ञान होता है या अवस्था-त्रयका विवेक करनेसे अपने तुरीय स्वरूपका ज्ञान होता है, उसी प्रकार यहाँ ये जो पन्द्रह दृष्टान्त दिये गये हैं यह भगवत्तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए एक प्रक्रिया है, एक कौशल है, शिल्पकला है, कारीगरी है। यह कारि-कर्म है। संस्कृतमें इसको बोलते हैं—कारिकर्म; कारि माने कारीगर। और कारिकर्म द्वारा किया हुआ जो कर्म है शिल्पकला है, कौशल है, उसको कारिकर्म बोलते हैं। उसीको हिन्दीमें कारीगरी बोलते हैं।

तो विज्ञान क्या है? कि विज्ञान माने कारीगरी—कारिकर्म। किसी-न-किसी भावको प्रकट करनेके लिए जो कौशल दिखाया जाता है, उसको विज्ञान बोलते हैं। जैसे गणेशजीकी मूर्तिमें लम्बा सूँड है, वह यह दिखानेके लिए है कि वे दूरसे ही किसी चीजको सूँघ लेते हैं, इनकी नाक बड़ी लम्बी है। इसका मतलब यह हुआ कि वे सर्वज्ञ हैं भला। लम्बे सूँडका अर्थ है गणेशजीकी सर्वज्ञता। घ्राणशक्ति उनकी बड़ी तीव्र है, दूरसे ही वस्तुको सूँघकर पहचान जाते हैं कि क्या चीज़ है, उनकी नाक बड़ी लम्बी है। तो यह क्या है कि यह सर्वज्ञताको समझानेके लिए एक कला है, प्रतीकात्मक कला है। यह जो लोग मूर्तिपूजाका निषेध करते हैं, वह जबतक प्रतीककी भावनाको नहीं समझेंगे कि क्या बात समझानेके लिए कौन-सा प्रतीक होता है, वे जानते ही नहीं कि मूर्ति क्या होती है तो उसका निषेध क्या करेंगे? यह बाँसुरी है, तो वह आकर्षण करनेके लिए है, रस-मगन करके आकर्षणका प्रतीक है। यह ईश्वर दूरसे लोगोंको खींच लेता है। धनुषबाण जो है वह काम-क्रोधादि शत्रुओंके नाशका प्रतीक है। चक्र जो है, वह हमारा भक्त कालचक्रसे ऊपर उठ जाता है, भक्तके लिए आश्वासनकी मुद्रा है। घूम रहा

है आकाशमें, कालचक्र उनके अधीन है। इसीको विज्ञान बोलते हैं, एक तत्त्व वस्तुको समझानेके लिए कौन-सी कला काममें ली जाये तो वह वस्तु ठीक-ठीक समझमें आ जाये।

अब सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान सर्वानुस्यूत, सर्वातीत, सर्वसाक्षी ब्रह्मको समझनेके लिए कौन-सी कला काममें ली जाये, उसका विज्ञान क्या है? किस शैलीसे, किस ढंगसे, किस प्रक्रियासे हम ब्रह्मको समझें। तो बताते हैं—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय।** यह ब्रह्मको समझनेकी एक कला है। जल होते हैं तरह-तरहके, जल एक तरहका नहीं होता, जल तरह-तरहका होता है। नींबूका जल अलग है और आमका जल अलग है, इमलीका जल अलग है, नमकका जल अलग है, परन्तु इन सब जलोंमें एक रस है कि नहीं? अब पहचानो उसको। आमकी शक्ल अलग है, उसका नाम भी अलग है। रूप अलग, नाम अलग। अच्छा, उसका गुण अलग, उसकी ऋतु अलग, उसकी गुठली अलग, उसका गूदा अलग, उसकी त्वचा अलग, लेकिन उसमें एक रस है। और इमलीकी शक्ल अलग, नाम अलग, गुण अलग, उसकी गुठली अलग, उसका गूदा अलग, उसमें भी एक रस है। तो आमके रसमें मिठास ज्यादा है और इमलीके रसमें खटास ज्यादा है। तो यह जो इमलीके रसमें खटास ज्यादा है, वह तो बीजके संस्कारसे आया है और आमके रसमें जो मिठास ज्यादा है, वह बीजके संस्कारसे आया, लेकिन उसमें रस नामका जो सामान्य पदार्थ है, वह इमलीके बीजकी उपाधि से वहाँ ज्यादा खट्टा होने पर भी और आमके बीजकी उपाधिसे यहाँ ज्यादा मीठा होनेपर भी असलमें जो रस नामकी वस्तु है, वह दोनों जगह एक ही है।

अब ईश्वरको समझनेकी कला क्या हुई? ईश्वरको समझनेकी कला यह हुई कि अलग-अलग वस्तुओंके नामका ख्याल छोड़ दो, उचंत खातेमें लिखो, उनका जो रूप है, उसको भी बट्टे खातेमें डालो। उसमें जो गुण है, उसमें जो धर्म है, उसमें जो गुठली है, उसमें जो गूदा है, उसमें जो रेशे हैं, उनका ख्याल छोड़ दो, उधरसे बुद्धि हटाओ, उसमें जो रस तन्मात्र है, केवल रस है, उसको देखो। और आमवाली मिठास और इमलीवाली खटास दोनोंको जुदा करके देखो, उसमें जो एक द्रव-पदार्थ है, उस द्रव-पदार्थमें जो रस है, वह रस एक है। इसी प्रकार संसारमें जितने भी अलग-अलग

नामवाले पदार्थ हैं, यह स्त्री है और यह पुरुष है, यह लता है और यह कल्पतरु है; तो भाई एक लाल है, एक काला है, एक पीला है, अलग-अलग रंगरूप हैं, अलग-अलग आकृति है, अलग-अलग गुण हैं, अलग-अलग धर्म हैं, लेकिन सबमें एक अखण्ड सत्ता, एक अखण्ड ज्ञान जो भरपूर है वह कौन है? बोले—वह परमात्मा है। तो परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनके लिए यह रसविज्ञान जो है यह उपयोगी है। यदि इस रसको ठीक-ठीक समझोगे तो परमात्माको भी समझ जाओगे—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय।**

देखो रस बनाते हैं, वैद्यकमें; यह अमुक औषधिका रस है, यह अमुक औषधिका रस है। बीस औषधियोंका, पचास औषधियोंका द्रव, क्वाथ इकट्ठा किया। अब उसमें पचास औषधियाँ हैं, उनको परिपक्व किया, उनमें भावना दी, उनका जैसा आयुर्वेद शास्त्रमें प्रयोग किया है एक रस उसमें-से निकल आया। इसी प्रकार संसारमें जो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, उनमें एक रसको पहचाननेकी कोशिश करो। गुडूची अलग है, हर्र अलग है, बहेड़ा अलग है, पीपल अलग है और इन सब औषधियोंमें-से जो एक वस्तु निकलती है, वह रस है।

अच्छा, देखो **रसोऽहमप्सु कौन्तेय**को दूसरे ढंगसे देखो। आप कभी चित्रशालामें जाते होंगे। मैसूरकी चित्रशाला बहुत बढ़िया है। हम लोग जब गये तो वहाँ पूछा कि मैसूरमें देखनेकी वस्तु क्या है? तो बाग-बगीचे तो हैं-ही-हैं, चित्रशाला वहाँकी बहुत बढ़िया है। अब गये चित्रशालामें, तो एक जगह देखा युद्धका चित्र बना हुआ है। देखकर मनमें उत्साह और वीररसकी स्फूर्ति होती है। दूसरी जगह गये तो कोई बहुत गरीब है और उसके ऊपर कोई दया कर रहा है, करुणरसकी स्फूर्ति हुई। तीसरी जगह गये तो देखा वहाँ दो स्त्री-पुरुष थे, रानी और राजाका चित्र बना हुआ है, उसको देखकर मनमें शृंगाररसका उदय होता है। तो कहीं वीर है, कहीं शान्त है, कहीं हास्य है, कहीं शृंगार है, कहीं रौद्र है, कहीं भयानक है, कहीं बीभत्स है, कहीं करुण है। तरह-तरहके चित्र लगे हुए हैं, सबका नाम अलग-अलग है, सबका रूप अलग-अलग है, सबकी आकृति अलग-अलग है, सबकी चेष्टा अलग-अलग है। अब उनको देखकर होता क्या है? चित्तमें 'अप' की उत्पत्ति होती है। अरे, यह 'अप' क्या बला है? यह द्रवावस्था है। उनको

देखकर हमारा दिल पिघल जाता है। बिना दिल पिघले रसका आस्वादन नहीं होता। जैसे आप एक पत्थरका टुकड़ा मुँहमें डाललें, तो रसका कोई आस्वादन नहीं होगा, उसमें जो धूल-मिट्टी पड़ी हुई हो, उसका स्वाद भले आजाये, पत्थरका रस नहीं आवेगा। लेकिन अगर आप अपने मुँहमें मिश्रीकी डली डालदो, तो वह पिघलती जायेगी और उसका रस आता जायेगा। तो बिना अप-अवस्थाको प्राप्त हुए, माने बिना द्रवावस्थाको प्राप्त हुए रसकी अनुभूति नहीं होती। रसके अनुभवके लिए चित्तका द्रवित होना जरूरी है। विभाव, अनुभाव, संचारीके सहयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। तो रस निष्पत्तिके लिए चित्तकी द्रवता इष्ट है, दिलका पिघलना जरूरी है। अगर दिल पिघला नहीं तो रस नहीं आवेगा। तो दिल किसीका करुण निमित्तसे पिघलता है, किसीका वीर निमित्तसे पिघलता है, किसीका शृंगार निमित्तसे पिघलता है। ऐसे समझो कि किसीका बच्चा देखकर स्नेहसे दिल पिघलता है और किसीको गरीब देखकर दयासे दिल पिघलता है और किसीको स्त्री-पुरुष देख करके प्राप्तिकी लालसासे दिल पिघलता है। जबतक चित्तमें द्रवावस्था नहीं होगी, तबतक रसकी उत्पत्ति नहीं होगी। इसीलिए जहाँ-जहाँ अप है, वहीं-वहाँ रस है। माने जहाँ-जहाँ द्रवता है, पिघलाहट है, जहाँ-जहाँ अप है, वहाँ-वहाँ रस है। तो शृंगारके निमित्त अलग और करुणाके निमित्त अलग और वात्सल्यके निमित्त अलग, परन्तु चित्तकी द्रवावस्था होकर जो रसकी निष्पत्ति होती है वह एक। इसीसे भवभूतिने कहा कि रस एक ही है—'**एको रसः करुण एव निमित्त भेदात् भिन्नः पृथग्पृथगुपाश्रयते विवर्तनः।**'

रस तो एक ही है, क्योंकि चित्तकी असली द्रवावस्था तो करुणामें ही होती है। कभी अपने अभावको देखकर करुणाकी उत्पत्ति हो जाती है और कभी दूसरेके अभावको देखकर करुणाकी उत्पत्ति हो जाती है। रसकी निष्पत्ति तब होती है जब हृदय पिघलता है। आप याद करना आँख बंद करके अपने पूर्वजीवनकी घटना, आपको कभी रसका अनुभव हुआ है कि नहीं। रसाभासकी बात छोड़ दो। आभासमात्र रस दूसरा है। जिस समय आपको रसका अनुभव हुआ होगा, कभी आँखमें थोड़ा पानी आया होगा, कभी शरीरमें रोमांच हुआ होगा, कभी कंठ गद्‌गद हुआ होगा! कभी

फुरफुरी आपके शरीरमें होती है कि नहीं? कभी आँखमें गीलापन आता है कि नहीं? कभी हृदय द्रवित होता है कि नहीं? तो यह सब निमित्त बनकर अलग-अलग; शृंगाररसके निमित्त अलग, शान्तरसके निमित्त अलग, करुणरसके निमित्त अलग, हास्यरसके निमित्त अलग; लेकिन जो मजा आता है, वह मजा देखो, मज़ा तो हमको ही आता है और एक ही आता है।

हमने देखा, बहुत पहले एक 'राम-राज्य' नामका चित्र आया था। उसमें सीताके वियोगमें रामचन्द्र भगवान् रोते थे। तो चित्रमें उनका पेट भी काँपता था दुःखसे और साँस बढ़ती थी और आँखमें आँसू भी आते थे। उसको देखकर चित्त द्रवित हो जाता और आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगती। अगर आपका चित्त कभी द्रवित नहीं हुआ है संसारमें किसीके लिए तो आपको सच्चे सुखका, सच्चे रसका पता ही नहीं है। तो **रसोऽहमप्सु कौन्तेय**का अर्थ है कि जब-जब तुम्हारे जीवनमें कभी द्रवावस्थाकी उत्पत्ति होती है और द्रवावस्थाकी उत्पत्ति होकर रसका अनुभव होता है, तो जब निकलते हैं चित्रशालामें-से, तो यह नहीं होता कि हमने बड़ा भयानक, बीभत्स देखा, कि हमने बड़ा रौद्र देखा, हमने बहुत करुण देखा, निकलनेके बाद यही अनुभव होता है कि बड़ा मज़ा आया, बड़ा रस मिला, बड़ा आनन्द मिला सारी चित्रशाला देखकर। नाटक देखते हैं, उसमें कभी हँसते हैं कभी रोते हैं, लेकिन निकलते हैं तब? कहते हैं भाई बड़ा मजा आया नाटकमें। अगर नाटकमें बैठकर हँसी नहीं आयी और नाटक में बैठकर रोना नहीं हुआ और नाटकमें बैठकर चित्त द्रवित नहीं हुआ, तो नाटक बेकार गया। क्योंकि कोई मजा ही नहीं आया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृश्योंमें, भिन्न-भिन्न रूपमें, भिन्न-भिन्न क्रियामें, भिन्न-भिन्न चित्रमें, भिन्न-भिन्न चेष्टामें जो हमारे अन्दर 'अप'की उत्पत्ति होकर द्रवावस्था आकरके जो रसानुभूति होती है वह रस एक है और वह रस परमात्मा है।

इस बातको आप आकृतियोंके भेदमें भी एक सत्ता और बुद्धियोंके भेदमें भी एक सत्ता और भोगोंके भेदमें भी एक सत्ता देखकर समझ सकते हैं। भोग तरह-तरहसे मिलते हैं। कभी सुननेको मिलता है, कभी देखनेको मिलता है, कभी छूनेको मिलता है, कभी सूँघनेको मिलता है, कभी खानेको मिलता है, भोग तरह-तरह से मिलते हैं और उनकी उपाधिसे

स्वादमें भेद भी मालूम पड़ता है, लेकिन सबमें जो एक मजा आता है वह कौन है? उस मजाको, उस रसको पहचानना जो सबमें एक रहता है। शक्ल-सूरत सबकी अलग-अलग होती है, लेकिन उसमें अखण्ड सत्ता कौन-सी है? वृत्तियाँ जुदा-जुदा होती हैं, लेकिन उनमें अखण्ड ज्ञान क्या है? बोले—देखो आँखसे रूपका ज्ञान हुआ और नाकसे गन्धका ज्ञान हुआ और जीभसे रसका ज्ञान हुआ। ज्ञान तो हुआ पर क्या वह अलग-अलग ज्ञान हुए? कि नहीं, चीजें अलग-अलग हुईं, इन्द्रियाँ अलग-अलग हुईं, ज्ञान तो एक ही हुआ, और वह अपने साथ ही है। तो उस ज्ञानका नाम परमात्मा है जो विषयों और इन्द्रियोंका भेद होनेपर भी एक रहता है। उस अखण्ड सत्ताका नाम परमात्मा है जो आकृतियोंका भेद होनेपर भी सबमें एक रहता है। उस अखण्ड-आनन्दका नाम परमात्मा है जो भोगों और विषयोंका भेद होनेपर भी, स्वादके निमित्तोंमें भेद होनेपर भी सदा एक रस रहता है, उसका नाम परमात्मा है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।

अब भगवान् बताते हैं—कौन्तेय! तेरी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। हमारी बुआ का बेटा! कुन्ती हमारी बुआ, कृष्णकी बुआ, उसका जो बेटा उसका नाम कौन्तेय। भला मैं अपने बापका बेटा, तेरी माँके भाईका बेटा जब इतना बुद्धिमान मैं हूँ, तो मेरी बुआका बेटा तू इतना बुद्धिमान क्यों नहीं होगा? सम्बन्ध जोड़करके उसकी बुद्धिको उत्साहित करते हैं। अथवा 'कुन्त' कहते हैं बन्दूकके नोंकपर जो संगीन लगाते हैं, दुश्मनके पास होनेपर मारनेके लिए, उसका नाम संस्कृतमें कुन्त है, वह बड़ी तीक्ष्ण वस्तु है। उसीकी उपमासे बालोंके लिए कुन्तल शब्दका प्रयोग होता है। ये घुँघराले जो बाल हैं, बड़े नुकीले, उनको कुन्तल बोलते हैं। तो जिसकी बुद्धि संगीनके समान नुकीली और बालोंके नोंकके समान तीखी-तीक्ष्ण होवे उसको बोलते हैं कुन्ती, उसका तू बेटा स्वयं बड़ी तीक्ष्ण बुद्धिका है, इसलिए हे कौन्तेय, हे अर्जुन!

हे कौन्तेय! देखो, मुझे पहचानो संसारमें, मैं बिलकुल प्रकट होकर बैठा हूँ। आपने कभी ईश्वरका दर्शन किया है? देखो सद्व्यवहारका सार यही है कि अपने व्यवहारसे दूसरेको सुख मिले। अगर आप दूसरेको सुख

देनेके लिए अपना व्यवहार नहीं करते, तो अभी व्यवहारमें आपको बहुत कुछ सीखनेके लिए बाकी है। आपके बाल भले सफेद हों, आपकी उम्र बहुत बड़ी हो, आपकी दाढ़ी अनुभवसे ही पकी हो, सूर्यकी धूपमें न पकायी गयी हो, यब बात सबकुछ होनेपर भी अपने व्यवहारका सार यही होना चाहिए कि अपने लिए थोड़ा संकोच सहके भी, थोड़ा तकलीफ सहकर भी दूसरेको सुख पहुँचाया जाये—कभी स्वयं भूखे रहकर भी दूसरेको खिला दिया जाये, स्वयं नंगे रहकर भी दूसरेको कपड़ा दिया जाये, अपने हाथ-पाँव सिकोड़कर बैठें और दूसरा हाथ-पाँव फैलाकर बैठे, यही सद्व्यवहारका सार है। व्यवहारका कुल-का-कुल गुर ही यह है कि तुम जो कुछ करते हो, वह अपने सुख-स्वार्थकी दृष्टिसे करते हो कि दूसरेको सुख-स्वार्थ पहुँचानेके लिए करते हो। तो—

प्रभास्मि शशि सूर्ययोः देखो ईश्वरका दर्शन, बिलकुल प्रत्यक्ष। 'प्रभास्मि शशि सूर्ययोः' आज तो महाराज, पुत्र अपने पिताके सुखका ध्यान नहीं रखता, चेला अपने गुरुके सुखका ध्यान नहीं रखता, पत्नी अपने पतिके सुखका ध्यान नहीं रखती, सृष्टिका यह क्रम चल गया है। तो उसको तो अभी व्यवहार आया ही नहीं। देखो, ईश्वरका दर्शन क्या विलक्षण है। कहीं छिपा हुआ नहीं हैं ईश्वर। ईश्वर बिलकुल प्रकट है। हमको अपने बचपनकी याद है एक महात्माके पास हमलोग जाते थे गंगाकिनारे। काशीसे कोई आठ-दसमील दूर पड़ता था। तो इतने सिद्ध माने जाते थे वे कि वैसे उनके सामने किसीकी बात करनेकी तो हिम्मत ही नहीं पड़ती थी। उनसे प्रश्न भी लोग नहीं करते थे, वे स्वयं कभी कुछ बतावें तो बतावें। आनेपर गाली भी देते थे। हम चौदह मील चलकर उनके पास जाते थे, कई बार ऐसा प्रसंग आया कि देखते ही गाली देना शुरू किया और जब हम लौट पड़े तब खुश हुए। माने चौदह मील हम गये और चौदह मील आये और गाली छोड़कर और कुछ सुननेको नहीं मिला और कभी वे खुद ही आ गये, ऐसा भी हुआ और आकर वह बढ़िया-बढ़िया बात सुनायी कि तृप्ति हो गयी। कभी गाली दी, तो कभी चौकीपर बैठाकर चन्दन भी लगा दिया, माला भी पहना दी, बोले—साक्षात् परमेश्वर हो ऐसे। तो एक व्यक्ति उनके पास आया, हमलोग वहीं थे। कि काहेके लिए आये हो? क्या काम है? कि हम भगवान्‌का दर्शन

करना चाहते हैं—ईश्वरका दर्शन। अब गाली देना शुरू कर दिया। आजकल लोगोंमें सहिष्णुताका भाव तो नहीं होता है गाली देना शुरू किया। वह बैठ गया, बोला—मैं तो बिना ईश्वरका दर्शन किये जाऊँगा ही नहीं। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, बैठा रहा बिना खाये, बिना पीये। वह गंगाजीका किनारा, वह मैदान। फिर तो बाबाने उठाया डंगा, बोले—भाग जा यहाँ से। जितना ईश्वर तुझको दिखता है, उसकी क्या पूजा तूने की है, क्या सत्कार किया है, उनकी कौन-सी आराधना की है कि जो नहीं दीखता है वह अब तेरे सामने दीखनेको आवे? बोले—देख यह सूर्य है कि नहीं? कि है। अच्छा, **प्रभास्मि शशिसूर्ययोः** भगवान्ने कहा कि सूर्य में प्रभा मैं हूँ। अब यह सूर्यकी प्रभा, सूर्यकी चमक तू दिनभर देखता रहता है, कभी तेरे मनमें यह आता है कि यह सूर्यमें जो चमकनेवाली चीज है, सूर्यमें जो प्रभा है, चमक है वह ईश्वर है, आओ इसको हाथ जोड़ें, इसको सिर झुकावें। यह आता है कि सूर्यकी रोशनीमें कोई बुरा काम न करें। ईश्वर देख रहा है, सूर्यकी रोशनीमें किसीको बुरी बात न कहें, किसीके प्रति बुरा भाव न करें, किसीकी बुराई न करें। कभी सूर्यकी रोशनीका सत्कार किया है? अब समझो कोई चेला हो और अपने गुरुके सामने आनेवालों को गाली दे और डंडा लेकर मारे,····। अपने मालिकके सामने धमाधम करके चला नहीं जाता है। अपने मालिकके सामने दूसरेके प्रति प्रियता स्थापित नहीं की जाती है। माँ-बापके सामने पति-पत्नी आपसमें कभी बात नहीं करते थे। यह पुराने जमानेका शिष्टाचार है। आजके ज़मानेका नहीं।

तो यह देखो, बड़ेका कैसे आदर करना चाहिए; ईश्वरके सामने हमारे सारे व्यवहार हो रहे हैं—**प्रभास्मि शशिसूर्ययोः**—जिस प्रभाके होनेसे सूर्य सूर्य बना हुआ है और जिस प्रभाके होनेसे चन्द्र चन्द्र बना हुआ है, उनके सामने ईश्वरके सम्मुख मनुष्यको इतना संयमसे रहना चाहिए, जितना सद्व्यवहार करना चाहिए, हृदयमें कितनी सहृदयता रहनी चाहिए। बाबाने उठाया डंडा, बोले—मूर्ख! तू ईश्वरको देख रहा है और ईश्वर दीख रहा है। देख, वह सूर्यमें-से झाँक रहा है ईश्वर, उसकी प्रभा फैल रही है, तू उसमें स्नान कर रहा है, इस दीखनेवाले सूर्यका तुमने क्या आदर किया, क्या सत्कार किया कि अनदेखा जो ईश्वर है वह तुम्हारे सामने जाहिर हो और

तुम्हें अपने आपको दिखावे, उस तुमको जिसने ईश्वरके विराट् रूपका आदर नहीं किया? यह विराट् रूप है—यह पृथिवी विराट् भगवान्के पाँवमें है, यह शिवलोक जो है यह विराट्की मूर्धामें है। तो कब तुम इस विराट् पुरुषका आदर करते हो कि हिरण्यगर्भ पुरुष तुम्हारे सामने प्रकट हो और तुम हिरण्यगर्भ पुरुषका क्या आदर करते हो कि ईश्वर तुम्हारे पास प्रकट हो? और ईश्वरका कौन-सा आदर करते हो कि ब्रह्म तुम्हारे सामने प्रकट हो?

यह निषेध-निषेध-निषेध करनेसे काम नहीं चलता है, मना करनेसे काम नहीं चलता है, छोटी-छोटी चीज़ें संसारकी जो बुरी हैं, जिनको अपनी अन्तरात्मा भी कहती है कि यह चीज़ बुरी है, उसको तो छोड़ नहीं सकते और विराट्की पूजा छोड़ दी। तो विराट्की पूजा तो करते नहीं, हिरण्यगर्भकी पूजा तो करते नहीं, ईश्वरकी पूजा तो करते नहीं और तुरीय ब्रह्मसे कहते हैं कि हे तुरीय ब्रह्म, तुम **तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।**

हटा दो अपना पर्दा, अविद्याका भी। अरे जितना पर्दा हटाया—पाँवका पर्दा हटाया, वह तो तुमसे सहन नहीं हुआ; हाथका पर्दा हटाया वह तो तुमसे सहन नहीं हुआ; अब हम दिलका पर्दा हटाकर तुमको दिखावे? तो जितना ईश्वर दीखता है, उसका आदर करना चाहिए, यह पहली बात है। स्त्रीके रूपमें ईश्वर है, पुरुषके रूपमें ईश्वर है, कुमारके रूपमें ईश्वर है, कुमारीके रूपमें ईश्वर है। वही गाय बनके दूध देता है, वही मोर बनकर नाचता है, वही कोयल बनकर कुहू-कुहू करता है, वही रंग-बिरंगी तितली बनकर क्या खेल खेलता है। वही बन्दर बनकर हँसाता है वही शेर बनकर डराता है। वही रौद्र भी है और वही श्रृंगार भी है। इसमें तो तुमने ईश्वरको पहचाना नहीं, अब ईश्वर तुमको और कौनसा रूप दिखावे?

वह डंडा मारा कि उनका तो तीसरा नेत्र ही खुल गया था। श्यामनेत्र। जैसे विराट्के रूपमें ईश्वरका दर्शन होने लगा। सचमुच हमारी इन्द्रियोंमें मन बनकर ईश्वर बैठा हुआ है। और स्थिर पदार्थोंमें यह धरती बन करके बैठा हुआ है। बहते हुए पदार्थोंमें वह जल है और जलते हुए पदार्थोंमें वह अग्नि है, चलते हुए पदार्थोंमें वह वायु है और सबको धारण करनेवाले पदार्थोंमें वह आकाश है। वह संकल्प करनेवाला मन है। वह निश्चय करनेवाली बुद्धि है—**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि**। अरे मृत्युके रूपमें भी वही आता है—**अमृतं चैव**

मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन—वही अच्छा, वही बुरा, वही मृत्यु, वही अमृत बनकर आता है, इतना विशाल, इतना विराट्, इतना सर्वात्मक स्वरूप ईश्वरका प्रकट हो रहा है, जरा पहचानो तो ईश्वरको।

तो **प्रभास्मि शशिसूर्ययोः** चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा बनकरके ईश्वर बैठा हुआ है। अब इसको जरा फैला दो। एक तो जो हम आँखसे देखते हैं सूर्य और चन्द्रमामें प्रभा, वह अधिभूत प्रभा है; और जब आँखमें बैठकर सूर्य और मनमें बैठ करके चन्द्रमा हमको ज्योतिर्दान करता है तब वह ईश्वरकी अधिदैव प्रभा होती है; और जब हम कुछ निर्णय करते हैं ईश्वर के बारेमें, धर्मके बारेमें, जगत्के बारेमें, तो वह निर्णयात्मक शक्ति बनकर ईश्वर ही आता है। तो समझो एक तो प्रभा है और एक प्रतिभा है। भीतर प्रतिभा बनकर ईश्वर रहता है। सूर्य, चन्द्रमामें प्रभा बनकर ईश्वर रहता है और साक्षीमें प्रतिमान है और साक्षी स्वयं 'भानरूपं परं ब्रह्म'। उसमें 'प्र' और 'प्रति' नहीं है, शुद्ध जो भानात्मक तत्त्व है, जिसमें द्वैतकी गन्ध भी नहीं है, उसका नाम ब्रह्म है। भानात्मक देश-काल-वस्तुके भेदसे रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे शून्य, जो भानात्मक (भान ही है स्वरूप जिसका) वस्तु है वह ब्रह्म है। और जो प्रति भानात्मक है—द्वैत प्रतिबिम्बित होकर जहाँ भान होता है, वह प्रतिभान है, प्रतीति है। और जहाँ हम जगत्का निश्चय करते हैं वहाँ प्रतिभा है। जहाँ संसारको प्रकाशित करनेवाली रोशनी पड़ती है, चन्द्रमाके रूपमें, सूर्यके रूपमें जो प्रभा आती है हमारे बाह्य देशमें, सूर्य और चन्द्रमामें प्रभाके रूपमें ईश्वर है।

हमारे साईं थे वृन्दावनमें, तो उनसे किसीने एक दिन पूछा था। ये सिंधी लोग चावलमें नमक डालते हैं। गुजराती लोगोंमें तो नहीं डालते हैं, उत्तर प्रदेशमें भी नहीं डालते हैं, लेकिन सिंधी लोगोंको तो बिना नमकका चावल भाता ही नहीं है। नमक उसको कहते हैं जो नम बना दे। संस्कृतका शब्द है नमक-नमयति, जो किसी कठोर चीजको नम बना दे—गला दे, उसको नमक कहते हैं। आप किसी चीज़में नमक डालकर रख दीजिये थोड़े दिनमें देखिए क्या दशा होती है। तो वह चीज़को नम कर देता है, नम्र कर देता है, उसकी शक्तिको मिटा देता है, उसको नमक कहते हैं। तो सिंधी लोग चावलमें नमक डालते हैं, तो एकने पूछा—साईं जब हम चावलमें

नमक डालनेके लिए उठाते हैं तो भीतरसे एक आवाज आती है कि इतना नमक डालो तो ठीक रहेगा। यह भीतरसे किसकी आवाज आती है? तो साईंने कहा कि यह ईश्वरकी आवाज़ आती है? तो साईंने कहा कि यह ईश्वरकी आवाज़ है वही भीतर बैठा है। अरे—**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।** भीतर-ही-भीतरसे आवाज़ देता है कि इतना नमक डालो।

ईश्वरकी आवाज़ कब सुनायी पड़ती है? ईश्वरके साथ अपना टेलीफोन कब मिलता है? जब हमारा अन्तःकरण मौन हो जाता है। निरहंकार होकर, वासनारहित होकर, मौन होकर बैठ जानेका है—यही ईश्वरसे टेलीफोन मिलानेका, उनसे बातचीत करनेका अवसर है। हमारी मूकतामें ही ईश्वर मुखर होता है। जब हम मौन होते हैं तब ईश्वर बोलता है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें बताया है कि **निरस्तवासना मौनात् ऋते नात्युत्तमं पदं।**

वासना रहित मौनसे बढ़करके और उत्तम कोई पद नहीं है। वासना हो और मौन हो तब तो वह वासना-पूर्तिके मार्गपर आगे बढ़ेगा और वासना न हो और मौन हो तो उसको अन्तरमें ईश्वरकी वाणी सुनायी पड़ेगी।

तो भाई, ईश्वरकी प्रभा देखना हो तो यह मत देखो कि क्या दीख रहा है? पीपलका पत्ता भी दिख रहा है, और नीमका पत्ता भी दिख रहा है, अशोकका पत्ता भी दिख रहा है, स्त्री भी दिख रही है, पुरुष भी दिख रहा है। यह मत देखो कि दीख क्या रहा है, यह देखो कि वह कौन-सी रोशनी है जिसमें सब दीख रहा है। आँखसे देख रहे हैं, कि त्वचासे छू रहे हैं, कि नाकसे सूँघ रहे हैं—यह ख्याल मत करो। वह कौन-सी रोशनी है जो आँखमें आकर रूप दिखाती है, त्वचामें आकर स्पर्श बताती है, नाकमें आकर गन्ध बताती है? जिस रोशनीमें गन्ध मालूम पड़ता है, रस मालूम पड़ता है, स्पर्श मालूम पड़ता है, रूप मालूम पड़ता है, शब्द मालूम पड़ता है, वह एक अन्तःप्रभा वह भीतरकी एक प्रभा कौन-सी है? उस प्रभाको ईश्वर बोलते हैं। ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए यह विज्ञान है कि तुम पहले अपने शरीरमें जो ज्ञानका विस्तार हो रहा है उसको देखो!

प्रभास्मि शशिसूर्ययोः—भगवान्‌ने पहले चन्द्रमाका ही नाम लिया। वैसे श्रुतिमें **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।** दूसरी जगह भी **सूर्याचन्द्रमसौ** कहकरके वर्णन आता है। पहले सूर्यका नाम, पीछे चन्द्रमाका नाम। तो क्रम

यह है कि बुद्धि पहले और मन बादमें। क्योंकि मनमें होता है संकल्प। हमको यह चीज़ मिलनी चाहिए और हमको यह चीज़ नहीं मिलनी चाहिए। यह हमसे मिले और यह नहीं मिले। यह जो मनमें संकल्प होता है, यह कहाँ होता है? कि मनमें होता है। तो संकल्प जितने होते हैं ज्ञात पदार्थके सम्बन्धमें होते हैं, जाने हुए पदार्थके सम्बन्धमें। पहले जानेंगे कि अच्छा है, तो पाना चाहेंगे और पहले जानेंगे कि यह बुरा है तो छोड़ना चाहेंगे—इसीका नाम गुणमयी माया है। संसारमें कोई चीज इतनी अच्छी लगने लग जाये कि मनमें आवे कि अब इसके बिना हम रह नहीं सकते तो समझना कि गुणमयी मायामें फँस गये और कोई चीज़ इतनी दोषमयी मालूम पड़े कि इसके त्यागे बिना हम रह नहीं सकते, तो समझना कि दोषमयी मायामें फँस गये। यह दोषमयी माया द्वेषकी जननी है और गुणमयी माया रागकी जननी है और राग द्वेषमयी मायामें ही यह सारी सृष्टि फँस रही है। इसलिए—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

जो भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं वही इस मायासे पार जाते हैं। तो अब देखो, वह रोशनी देखो, एक संकल्प अच्छा आया मनमें और एक बुरा आया और एक ऐसी रोशनी है जो अच्छाई के समय भी थी और बुराईके समय भी थी। वह रोशनी कौन है? इसका पता लगाओ। एक नाटक हो रहा है, एक बार उस नाटकके मंचपर रावण आया और वह गरज करके चला गया और एक बार रामचन्द्र आये और धनुषकी टंकार करके चले गये। लेकिन उस मंचपर जो रोशनी प्रज्वलित हो रही है, जिस रोशनीमें रावण भी दीख गया और राम भी दीख गये, वह रोशनी क्या चीज़ है?

प्रभास्मि शशिसूर्ययोः आप ध्यान देकर देखो तो मालूम पड़ेगा कि मनमें रोशनी देनेवालेका नाम तो चन्द्रमा है और बुद्धिमें रोशनी देनेवालेका नाम सूर्य है। तो ऊपरसे देखो तो रोशनी पहले बुद्धिमें आयी और फिर मनमें आयी और नीचेसे देखो तो पहले मन और फिर बुद्धि। वासना रहती है मनमें और भ्रान्तियाँ रहती हैं बुद्धिमें। तो यदि विवेकके द्वारा भ्रान्तियोंको दूर किया जाये तो वासनाएँ भी शुद्ध हो जाती हैं। और यदि ईश्वर प्राप्तिकी लालसा मनमें पाल-करके वासनाएँ कम की जायें तो भ्रान्तियोंको दूर करनेकी क्षमता आती है। जिसके मनमें जितनी ही कम वासना होगी उसकी बुद्धि शुद्ध होकर उतना ही

ईश्वरकी ओर चलेगी। और जिसकी बुद्धि जितनी शुद्ध होगी, वह अपने मनसे वासनाओंको निकाल फेंकनेमें उतना ही समर्थ होगी।

तो यह चन्द्रमा और सूर्य—इन दोनोंकी जो प्रभा है, वह प्रभा हमारे मनसे वासना और भ्रान्ति इन दोनोंको दूर करनेके लिए है और सच्चा आनन्द और सच्चा ज्ञान प्रकट करनेके लिए है। यह प्रभा ही बादमें प्रतिभा होती है और प्रतिभा ही प्रतिभानके नामसे परिचित होती है और प्रतिभान ही भानमात्र परब्रह्मके रूपमें साक्षात् कृत होता है। इसलिए विज्ञान यह है इसका कि पहले आप भिन्न-भिन्न पदार्थोंपर पड़नेवाली जो सूर्य और चन्द्रमाकी रोशनी है उसको देखें। आप देखते हैं, ये रंग जो मालूम पड़ते हैं, कोई लाल है, कोई नीला है; कोई पीला है, कोई सफेद है, यह क्या है? कि यह सूर्यकी रोशनी है। कभी सीधे आती है, कभी चन्द्रमामें होकर आती है पर है यह सूर्यकी रोशनी। तो यह एक ही रोशनी इतना रंग कैसे धारण करती है? कि उपाधिके भेद से। इसीको उपाधि बोलते हैं। जैसे आकाशमें बादलोंका पानी बिखरा हुआ होता है और उसपर सूर्यकी रोशनी पड़ती है तो पीला रंग, लाल रंग, नीला रंग दिखायी पड़ता है कि नहीं? अब उसमें रोशनी एक है कि तीन तरहकी है? कि नहीं रोशनी एक है। इसी प्रकार यह संसारमें जितने रंग दिखायी पड़ रहे हैं, इनमें रोशनी एक है। पहले इस बातको समझो; तब फिर देखो कि संसारमें जितने भेद-विभेद दिखायी पड़ रहे हैं, उनमें परमेश्वर एक है, उनमें परमात्मा बिलकुल एक है। बर्तनके भेदसे जैसे पानीका भेद नहीं हो जाता, तरंगके भेदसे जैसे जलमें भेद नहीं है और बर्तनके भेदसे मिट्टीका भेद नहीं है और जेवरके भेदसे सोनाका भेद नहीं है, इसी प्रकार यह संसारमें जितने भेद-विभेद दिखायी पड़ते हैं, इनके जुदा-जुदा होनेपर भी इनमें परमेश्वर बिलकुल एक है। इसका अर्थ हुआ कि राग मत करो, द्वेष मत करो, अपने दिलको मैला मत करो।

सारे संसारकी कीमत इतनी नहीं है जितनी दिलकी कीमत है। यदि एक आदमीका दिल बिलकुल ठीक बना रहे, श्रद्धासे परिपूर्ण रहे, भावसे परिपूर्ण रहे, भक्तिसे भरा रहे, रससे भरा रहे, एक मनुष्यके दिलकी इतनी कीमत है कि वह अपने अन्दर ईश्वरको प्रकट कर सकता है और नयी सृष्टि बना सकता है। लेकिन महाराज, दिल ही न रहे और सारा संसार वृद्धिको

प्राप्त हो जाये तो उसकी उतनी कीमत नहीं है। इसीलिए बड़े-बड़े महापुरुषोंके मुँहसे यह बात सुनी गयी है कि—हमको संसार नहीं चाहिए, हमको हृदयकी पवित्रता चाहिए।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।

तो चन्द्रमा और सूर्यका सार क्या है? कि प्रभा। और, जलका सार क्या है? कि रस। अर्थात् संसारकी वस्तुओंमें जब सार-सार वस्तुपर नजर डालोगे तो यह दीखेगा कि इसमें सार रूपसे अकेला ईश्वर ही है, एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु सार नहीं है।

प्रणवः सर्ववेदेषु—जितने वेद हैं—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, अथवा जितने मन्त्र हैं, उन सबमें मैं प्रणव हूँ। भगवान् बोलते हैं कि उनमें मैं प्रणव हूँ। प्रणव माने ॐ। प्रकृष्टे नवः प्रणवः जिसकी नवीनता कभी खत्म न हो उनका नाम प्रणव है। माने जो कभी शून्य भावको प्राप्त न हो, खात्मा न हो जिसका। खात्मा माने शून्य। *खं आत्मा यस्य खातमा* माने आकाशात्मा शून्यात्मा। जिसका कभी खातमा न हो। खातमा=खर्चना। तिजोरीमें क्या कर रहे हैं? कि रचना कर रहे हैं। काहे की? बोले—'**ख**' की। ख माने शून्य—तिजोरीको शून्य बना रहे हैं। खर्च रहे हैं माने तिजोरीको शून्य कर रहे हैं। यह खातमा है, खर्चना है। प्रणवका खातमा कभी नहीं होता।

बोले—जब यह स्थूल सृष्टि नहीं रहेगी तो तुम्हारा प्रणव कहाँ रहेगा? बोले—तब यह विश्वका, विराट्का वाचक नहीं रहेगा, तब यह तैजसका, हिरण्यगर्भका वाचक रहेगा। बोले—अच्छा, तैजस् हिरण्यगर्भ भी नहीं रहेंगे महाप्रलयमें, तब क्या होगा? बोले तब यह ईश्वरका वाचक रहेगा, प्राज्ञ ईश्वरका वाचक रहेगा, प्रणव रहेगा वहाँ भी। बोले—आत्यन्तिक प्रलय हो गया, ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति हो गयी, तब? कि तुरीयके रूपमें प्रणव रहेगा। वहाँ भी अर्धमात्राके रूपमें तुरीयके रूपमें प्रणव रहेगा। तो प्रणव शब्दका अर्थ इतना विशाल है कि वह तृणसे लेकर ब्रह्म पर्यन्त सर्वात्मा है। प्रणव जो है वह तृणसे लेकर ब्रह्म पर्यन्त तकका बोधक सर्वात्मा है। इसलिए—

ओम्-इति आत्मानं युंजीत।

आत्मसाक्षात्कार करना हो तो ओम्का उच्चारण करके अनात्म वस्तुका परित्याग करो और अपने आपमें स्थित हो जाओ। ब्रह्मज्ञान प्राप्त

करना हो तो अकार, उकार, मकार इसके अनेक भेद हैं, इसमें कला है, नाद है बिन्दु है, अनेक भेद इस प्रणवके होते हैं और इसके द्वारा परमात्माका विचार किया जाता है।

धर्मात्मा लोग वेदका जैसे उच्चारण करते हैं, तो यदिॐ का उच्चारण करते हुए वेदका उच्चारण न करें तो धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। हरिः ॐ बोलना पड़ता है। ॐ का उच्चारण करके वैदिक लोग जब वेद क्रियाका उच्चारण करते हैं, वेद मन्त्रका पाठ करते हैं तो उससे धर्मकी उत्पत्ति होती है। और महाराज,, जब ॐकारका उच्चारण करके यति लोग विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वरका अनुसन्धान करते हैं, तब उनको तुरीय तत्त्वकी प्रतिपत्ति होती है।

तो सम्पूर्ण वेदोंका सार क्या है? सम्पूर्ण वेदोंका सार है—ॐ। यह रक्षक है। *अवतीति ॐ*। जो रक्षा करे उसका नाम ॐ है। यही अविद्यासे, मायासे, दोषोंसे, दुर्गुणोंसे बचानेवाला है। किसीका मन बहुत चंचल हो तो देखो, प्रत्यक्षकी बात है यह। बहुत चंचल हो मन, इधर गया, उधर गया, कहीं ठौर नहीं, ठिकाना नहीं, टिकाव नहीं, कहीं मन नहीं टिकता है, उस समय आप शान्तिसे बैठ जाओ और **दीर्घप्रणवमुच्चार्य**—जैसे घंटेमें ध्वनि होती है न टन, टन···· दस बार बोला, तो वह दस बारका टन, टन नहीं, उनमें एक लम्बी ध्वनि मिली हुई चलती है, उस लम्बी ध्वनिके समान ॐ····ॐ, ऐसा लम्बा उच्चारण करो—एक बार, दो बार, तीन बार; जब टूट जाये, फिरसे चालू रखें। आपके मनकी चंचलताका का पता नहीं चलेगा, एक मिनट, दो मिनटके भीतर मनकी सारी चंचलता भाग जायेगी।

दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विलीयते।

नाक दबाकर प्राणायाम करनेकी जरूरत नहीं। आप दस-दस मर्तबे लम्बा, एक मिनट-वाला, एक मिनटमें एक प्रणवका उच्चारण करें—ओ····म् रा····म। और देखिये आपका मन तुरन्त गिर जायेगा, माने उसकी यह बन्दरकी जैसी चंचलता तुरन्त शान्त हो जायेगी और गम्भीरता शान्तिका उदय हो जायेगा। तो यह सम्पूर्ण वेदोंमें सार-सार चीज़ क्या है? बोले—प्रणव है।

❖

: ८.३ :

प्रणवः सर्ववेदेषु

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८

प्रणवः सर्ववेदेषु—भगवान् अपनी पहचान बताते हैं क्योंकि वे इतने रूप धारण करते हैं और उनके इतने नाम होते हैं कि पहचाननेमें लोग गड़बड़ा जाते हैं। तो मूलतत्त्व तो यह है कि संसारमें जितने नाम हैं और जितने रूप हैं सब भगवान्‌के ही हैं और सब भगवान् ही हैं। जो सीधा बड़ा सुन्दर रूप है वह भी भगवान् है, और जो टेढ़ा-मेढ़ा बहुत कुरूप है, वह भी भगवान् ही है। और जो वैदिक बड़े सुन्दर-सुन्दर नाम हैं, प्राणों-के-प्राण, नेत्रों-के-नेत्र, मन-के-मन, क्या सुन्दर नाम हैं।

प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्च चक्षुः। मनसो मनः।

मनके भी भीतर रहनेवाले मन, चक्षुके भीतर रहनेवाले चक्षु, प्राणोंके भी भीतर रहनेवाले प्राण, मेरे प्यारे प्राणों-के-प्राण, प्राणनाथ भी तो बोलते हैं। यह जो व्यवहारमें प्राणनाथ, प्राणेश्वर चलता है, वही जो '**प्राणस्य प्राणः**' है, जो प्राणों-का-प्राण है उसीके लिए प्राणनाथ शब्द है, उसीके लिए प्राणेश्वर शब्द है। और, जिनका जीवन प्राणोंके अधीन है, प्राण है तो रहे, प्राण निकल गये तो मर गये, ऐसे मुर्देका नाम प्राणनाथ नहीं है। यह जो आगे होनेवाला मुर्दा है, माने अन्तिम गति जिसकी मुर्दा है, उसका नाम प्राणनाथ नहीं है। जो प्राणोंके भीतर रहकर प्राणोंका संचालन करता है, जो मनके भीतर रहकर मनका संचालन करता है, जो आँखोंके भीतर रहकर आँखोंका संचालन करता है, वह हमारे नेत्रोंकी पुतली है, वह हमारे मनका प्यारा है वह हमारे प्राणोंका प्राण है, वह हमारा सच्चा हृदयेश्वर है। तो ये जो वैदिक सुन्दर-सुन्दर नाम हैं, वे परमात्माके नाम हैं। और यह महाराज, जो करेला बैंगन, परवल, ये सब भी परमात्मा के ही नाम हैं।

सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।
यानि चाप्यर्थघोराणि तै रक्षास्मांस्तथा भुवम्॥ (दुर्गासप्तशती

हे प्रभु! जो तुम्हारे बड़े सौम्य सुन्दर रूप त्रिलोकीमें विचरण करते हैं और जो अत्यन्त घोर रूप संसारमें विचरण करते हैं, जिनकी याद करके आदमी डर जाये—ये दोनों रूप भगवान्‌के हैं। प्रभु! दोनों रूपोंके द्वारा तुम हमारी रक्षा करना।

गाँवमें नाम होता है—मेहुर, चेखुर, घसीटा, तो उन्हीं पंचभूतोंसे उनका भी शरीर बना है, जिनसे दूसरोंका गोरा-गोरा सुन्दर बहुत बढ़िया शरीर बना है, काला भी उसीमें, गोरा भी उसीमें, सुन्दर नाम भी उसीमें और असुन्दर नाम भी उसीमें। कभी भी ध्यान करके देखो तो सम्पूर्ण नामों और सम्पूर्ण रूपोंकी आधारभूत धातु एक ही है। वही कंगन, वही कड़ा, वही हार; पाँवमें वही बिछुआ बनता है, कमरमें वही करधनी बनता है, हाथमें वही कंगन बनता है, हृदय-पर वही हार बनता है, कानमें वही कुंडल बनता है, सिरपर वही सौभाग्यका चिह्न बनता है, सब सोना ही है। नाम अलग-अलग बनता है। बोले—ऐसी बात, तब तो किस नाममें निष्ठा करें और फिर किस रूपमें निष्ठा करें! इसका बड़ा अद्‌भुत खेल है! जो कभी साधनके क्षेत्रमें आगे नहीं बढ़े हैं, जिन्होंने साधनानुष्ठान नहीं किया है, उनको यह बात समझमें नहीं आती। पहले विवेक करना पड़ता है, फिर एकताका ज्ञान होता है।

व्यवहारमें एक-एक बातको ठीक करना पड़ेगा। शब्दका अर्थ शब्द नहीं होता, शब्दका अर्थ वस्तु होती है और उसकी पहचान करवानी पड़ती है और उसका ज्ञान हृदयमें होता है। शब्द मुँहमें होता है, वस्तु धरतीपर होती है, ज्ञान हृदयमें होता है। इन तीनोंका अलगाव जिसको मालूम नहीं है, वह किसी भी पदका अर्थ नहीं समझता है। घट शब्द मुखमें बोला जाता है, वह शब्द है जो मुखमें है और धरतीमें पानी भरा जिसमें रखा है, वह मिट्टीका घड़ा अर्थ है और इस शब्दका यह अर्थ है, यह जो ज्ञान है यह हृदयमें है। देखो, इन तीनों बातोंको अलग-अलग जब समझोगे तब बादमें कहेंगे कि अर्थ छोड़ दो और शब्द भी छोड़ दो, केवल ज्ञानमात्र को रहने दो। तो विवेक हो गया, ज्ञानमात्र तुम हो और यह शब्द और यह अर्थ, ये अनात्मा हैं। वह धरतीपर रखा हुआ जो घड़ा है वह तुम नहीं हो और मुँहसे बोला जानेवाला जो शब्द है, वह तुम नहीं हो। तुम कौन हो? कि दोनोंका

ज्ञान जो तुम्हारे हृदयमें हो रहा है, यह ज्ञान जो है यह चेतन है, यह द्रष्टा है। यदि शब्द, अर्थ और ज्ञानका अलग-अलग विवेक नहीं किया जायेगा, इनके अलगावको नहीं समझोगे तो कभी अपने स्वरूपका, आत्माका ज्ञान हो ही नहीं सकेगा।

बोले—अरे ये तीनों तो एक ही हैं, अद्वैत है। कि अद्वैत है, यह सब सही होनेपर भी पहले विवेक करके तीनोंको अलग-अलग करना पड़ता है। ये तीनों एक कहाँ हैं? समाधिमें तीनों एक हैं। वहाँ घट पदका अर्थ और घट पद दोनों घट ज्ञानसे व्यतिरिक्त नहीं हैं। समाधिमें ऐक्य है और अत्यन्त मूर्ख जो मूढ़ हैं उनके लिए भी ऐक्य है, लेकिन साधनकी दशामें इनका अलगाव करना पड़ता है। इसी तरहसे ईश्वरके नामका भी और रूपका भी अलगाव करना पड़ता है। परमार्थमें सब ईश्वरका नाम है और सब ईश्वरका रूप है। और मूर्खके लिए तो ईश्वर नामकी कोई चीज़ ही नहीं है। और जो मूर्ख समझदार हैं वे कहते हैं कि बस जिनसे हम प्रेम करते हैं और जिसमें हम फँसे हुए हैं, वे ईश्वर हैं। पढ़े-लिखे नासमझ कहते हैं भैया जिसको हम प्रेम करते हैं बस वही ईश्वर है। उनके लिए हृदयेश्वर और प्राणेश्वर और जगदीश्वर उनका कोई विवेक नहीं है, राग ही उनका रास्ता बतानेवाला है।

सीधी बात है कि तुम गुरुके बताये रास्तेपर चल रहे हो कि रागके बताये रास्तेपर चल रहे हो? यदि रागके बताये रास्तेपर चल रहे हो तो तुम अपने मार्गसे भ्रष्ट हो गये, राग कभी सच्चा रास्ता नहीं बताता है। जो रागसे छुड़ानेवाला होता है वह सच्चा रास्ता बताता है। तो रागसे छुड़ानेके लिए क्या करना होता है कि संसारके रूपको छोड़ो और ईश्वरके रूपको पकड़ो और संसारके नामको छोड़ो और ईश्वरके नामको पकड़ो। ईश्वरके बहुत सारे नामोंमें-से एक नाम अपनी निष्ठाके लिए धारण करो और ईश्वरके बहुतसे रूपोंमें-से एक रूप अपनी निष्ठाके लिए धारण करो। इससे यह होगा कि जो सौ-सौ नामोंमें तुम्हारा मन जाता है, उसकी जगह एक नाममें मन आ जायेगा और जो सौ-सौ रूपोंमें तुम्हारा मन जाता है वहाँसे हटकर एक रूपमें तुम्हारा मन आ जायेगा। एक नाम और एक रूपमें जो निष्ठा है, यह निन्यानबे नाम और निन्यानबे रूपके लिए जो मनमें चंचलता है, उसको

मिटानेवाली है। इसलिए सब ईश्वरका नाम है—कह करके नामका जप छोड़ो मत और सब ईश्वरका रूप है ऐसा कहकर हड्डी, मांस चाममें कहीं आसक्ति मत करो। इससे ऊपर उठो। जो सबके भीतर इन सब रूपोंसे विलक्षण रूपवाला परमेश्वर है, उसके रूपको ग्रहण करो और उसके नामको ग्रहण करो।

यह साधनकी परिपाटी है। अगर आपके मनमें ईश्वर प्राप्तिकी इच्छा नहीं है, संसारसे वैराग्य नहीं है, आप भगवद्भक्ति या ज्ञानके मार्गपर नहीं चलना चाहते तो आप चाहे जहाँ आसक्ति कर लीजिये और चाहे जिस नामको रोज़ लेते रहिये और कहते रहिये कि हम तो बड़े ईश्वरके भक्त हैं। जो नाम हम लेते हैं ईश्वरही का तो नाम है, जिस रूपको हम देखते हैं वह ईश्वरका ही तो रूप है; परन्तु इस तरह कहनेसे न तो आपका मन संसारसे ऊपर उठेगा और न तो आपकी निष्ठा ईश्वरमें होगी, इधर-उधर आपका मन हमेशा भटकता ही रहेगा, क्योंकि ये संसारके रूप तो महाराज, बदलनेवाले होते हैं। हमने वृन्दावनमें देखा है—ये रासके स्वरूप जो बनते हैं, यह तो चार बरसतकका खेल ही होता है। एक स्वरूपको ग्यारह-बारह बरसकी उम्रमें राधा या कृष्ण बनाना शुरू करते हैं और पन्द्रह-सोलह बरसकी उम्रमें उसको उतार देते हैं। फिर वह भी बेचारा काँस कूटता है या हारमोनियम बजाता है। यह दशा उसकी हो जाती है। ऐसे-ऐसे स्वरूप होते हैं जिनको क-ख पढ़ना नहीं आता है। यह संवाद जो बोलते हैं, बड़े-बड़े ज्ञानका उपदेश करते हैं, वेदान्तका खूब खंडन करेंगे और योगका खूब खंडन करेंगे, उनको क-ख पढ़ना नहीं आता है। उनको सुना-सुनाकर संवाद बोलना रटा देते हैं और वे बोलते हैं। तो जो लोग उनके फंदेमें फँसते हैं, खूब तो पैसा दे आते हैं, खूब समय दे आते हैं और खूब परिश्रम दे आते हैं, खूब सेवा कर आते हैं। अब दो चार बरसके बाद जब बदल जाते हैं वो, और दाढ़ी मूँछ आयी महाराज, तो जो उनको ईश्वर मानकर पूजते थे, उन्हींके घर वे आते हैं कि रसोई बनानेके लिए हमको नौकर रख लो, चाहे हमको बाजारसे सौदा लानेके लिए घरमें नौकर रख लो, तो वे उनको रखते नहीं हैं भला! तो यह संसारके पदार्थोंसे जो प्रीति है, यह प्रीति टिकाऊ नहीं है, इधरसे मन हटाकर ईश्वरके रूपमें, ईश्वरके नाममें, जो शास्त्रीय है, जो

संत-परम्परासे प्राप्त है, जो धर्मसे प्राप्त है, उसमें अपना मन लगाना चाहिए। जो धर्मसे प्राप्त नहीं है, गुरु-परम्परासे प्राप्त नहीं है, जो शास्त्रसे प्राप्त नहीं है, उसमें अगर निष्ठा करनेकी कोशिश करोगे, तो अन्तमें तुम्हारे मनका भी, जीवनका भी, साधनका भी सत्यानास होना निश्चित है। इसलिए इस सम्बन्धमें बहुत सावधानी रखनेकी जरूरत है कि हम ईश्वरके नामका ही उच्चारण करें और ईश्वरके रूपमें ही अपनी आसक्ति करें। बोले—भाई, कुछ भी जपें तो? अब भूरा एक नाम है और कोई भूरा-भूरा जपे और बोले कि हम ईश्वरका नाम ले रहे हैं, तो यह ईश्वरका नाम नहीं हुआ। कोई घसीटा-घसीटा जपे और बोले कि हम ईश्वरका नाम ले रहे हैं, तो यह ईश्वरका नाम नहीं हुआ। तत्त्व-दृष्टिसे वह ईश्वरका नाम होनेपर भी उसमें किसी सिद्ध सन्तका संकल्प जुड़ा हुआ नहीं है। देखो जो साबर मन्त्र होते हैं, वे साबर-मन्त्र मन्त्र हो जाते हैं, क्यों? यों हो जाते हैं कि उसमें किसी सिद्ध पुरुषका संकल्प जुड़ जाता है। वैदिक जो मन्त्र हैं वे मन्त्र हो जाते हैं, क्यों? यों कि वे अनादि परम्परासे प्राप्त हैं। इसी प्रकार शास्त्रमें जिसको ईश्वर माननेके लिए बताया हुआ है और सम्प्रदायमें जिसको ईश्वर माननेके लिए बताया हुआ है, अपने गुरुने जिसको ईश्वर माननेके लिए कहा है, उसको ईश्वर मानकरके, उस मूर्तिको, उस चित्रको, उस नामको, उस मालाको ईश्वर माननेसे ही मनुष्य साधनाके क्षेत्रमें आगे बढ़ सकता है। यह बात मैं इसलिए सुना देता हूँ कि अपनी कथामें, अपने प्रवचनमें हमेशा ही यह बात आती रहती है कि सब ईश्वर है—सब ईश्वर है; तो वह एक सिद्ध दृष्टिका अनुवाद है। उसका यह अर्थ नहीं है कि आप अपनी निष्ठावाले नामको और दुनियाके मामूली नामको एक समझ लें। अपने निष्ठावाले ईश्वर-रूपको और दुनियादारीका जो ईश्वर-रूप है, उसको एक समझ लें। अपनी निष्ठाके लिए एक जगह दृढ़ होना और और फिर शास्त्रोक्त-गुरूक्त-सम्प्रदायोक्त जो नाम, रूप है उसमें दृढ़ होना जरूरी है।

तो, प्रणवः सर्ववेदेषु—प्रणवका अर्थ आप जानते हैं; प्रणव माने ॐ। यह भगवान्‌का वेदोक्त नाम है। इसके बिना शास्त्रमें बताया है कि मन्त्र नहीं बनता। यह **मन्त्राणाम् प्रणवः सेतुः**—सेतुका अर्थ क्या है? आप देखो, जैसे उपासनाके जो मन्त्र होते हैं—उसमें क्लीं है, श्रीं है, ह्रीं है, ऐं है। वैसे तो

आप जानते हैं नवार्णव मन्त्र जो है दुर्गापाठका, उसमें प्रणव नहीं है, 'ऐं ह्रीं क्लीं'—इसीसे शुरू होता है। उसमें प्रणव नहीं है, ॐ नहीं है, परन्तु ऐं भी ॐ है, ह्रीं भी ॐ है, क्लीं भी ॐ है।

सेतुका अभिप्राय यह है कि एक मन्त्रको जब हम दो बार उच्चारण करते हैं, तो दोनों मन्त्र अलग-अलग हैं यह बात कैसे मालूम पड़े? सेतु माने दो मन्त्रोंके बीचमें मेंढ़ क्या है? जैसे दो खेत होते हैं, दोनों धरती हैं, बायेंका खेत भी धरती और दाहिनेका खेत भी धरती, पर दोनों खेतोंको अलग-अलग करनेवाली चीज क्या है? उसको मेंढ़ बोलते हैं—मर्यादा, उसका नाम होता है सेतु। जब आप गायत्रीका जप करते हैं तो दो गायत्रियोंके बीचमें कौन-सा अक्षर पड़ेगा? ॐ। वह एक मन्त्रमें-से उतरकर फिर दूसरे मन्त्रमें जानेके लिए वह प्रणव वहाँ मेंढ़का काम करता है। आप द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते हैं, तो हर वासुदेवाय के बाद ॐ आता है और हर नमःसे पहले ॐ होता है। तो एक मन्त्रका जप पूरा करके दूसरे मन्त्रपर जानेके लिए बीचमें यह प्रणव पड़ता है। इसीको बोलते हैं कि यह प्रणव सेतु है।

यह प्रणव इतना व्यापक है कि आप बौद्ध धर्मका विस्तार तो जानते हैं, संसारमें कितना प्रबल है। तिब्बतमें, चीनमें, जापानमें, जावामें, सुमात्रामें, लंकामें, सर्वत्र यह बौद्ध धर्म फैला है; उनके जो मन्त्र हैं उनमें भी ॐ होता है। जो जैनोंके मन्त्र होते हैं, उसमें भी ॐ होता है। यह तो वेदका है भाई, वेदकी व्याप्ति देखो न!

कई लोग कहते हैं कि वेदान्त तो बौद्धोंके बाद बना, पर इनसे पूछो कि यह जो बृहदारण्यक, ईशावास्य, मुण्डक उपनिषद्, ये बुद्धसे पहले थे कि नहीं थे? किसी भी सम्प्रदायकी उत्पत्तिके पूर्व ये उपनिषद् मौजूद थे। इनको प्रच्छन्न बौद्ध कहना सरासर अन्याय है। जबकि बौद्ध ही प्रच्छन्न वेदान्ती हैं। माने उपनिषद्‌के बहुत सारे सिद्धान्त उन्होंने लेकर और अपने मूल ग्रन्थोंको नहीं मानकरके इनको चलाया।

तो जैन मन्त्रोंमें भी ॐ है। **ॐ नमो अरिहन्ताणं** बोलते हैं। और बौद्ध मन्त्रोंमें भी ॐ है—**ॐ मणिपद्मे हुम्**। और हमारे जितने वेद और वेदानुयायी सम्प्रदाय हैं, सबमें ॐ तो है ही है, क्या वैष्णव, क्या सौर, क्या शाक्त, क्या

गाणपत्य, बड़ी भारी व्यापकता इसकी है। बल्कि और भी देखनेमें आया है—यह जो लोग 'आमीन' बोलते हैं, यह बिलकुल ॐ का ही बिगड़ा हुआ रूप है। 'सोऽहं' में भी केवल 'स' और 'ह' ये दोनों 'ॐ' को छिपानेके लिए ही जोड़े गये हैं। वह भी असलमें 'ॐ' है।

अब 'ॐ' में जो तीन अक्षर है अ-उ-म—इनमें-से 'अ' के बिना संसारका कोई अक्षर बोला ही नहीं जा सकता। कोई भी स्वर कोई भी वर्ण। क्यों न हो! जैसे 'ई' बोलेंगे, तो 'ई' में 'अ' है भला। 'ॐ' में भी 'अ' है। 'क' में भी 'अ' लगता है। **ओंकारेण सर्वा वाक् तन्त्रेण**—हमारे वेदोंमें कहते हैं कि यह ॐकार ऐसा अक्षर है जिससे सारी वाणी ढकी हुई है। बिना अकारके तो कुछ बोल ही नहीं सकते हैं। क ख ग—यह कोई भी अक्षर कोई चाहे कि अकारके बिना बोल सके तो नहीं बोल सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी वाणीपर ॐ का आधिपत्य है। वाक्इन्द्रियका और वाक्-तत्त्वका अध्यस्त अगर कोई है तो यह अकार ही है और इसी अकारके द्वारा परब्रह्म परमात्माका संकेत किया जाता है, वह परमात्मा कैसा है? तो बोले—**ओमिति।**

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥
ओमिति एतत्।

श्रुति कहती है सारे वेद जिस पदका निरूपण करते हैं और सारी तपस्याएँ जहाँ पहुचाती हैं और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे लोग ब्रह्मचर्यादि साधनका अनुष्ठान करते हैं, उस पदको हम संक्षेपमें बोलते हैं—**ओमित्येतत्**—वह केवल ॐ है।

इसको ॐ क्यों कहते हैं? कि 'अवति'—यह दुःखोंसे रक्षा करता है। आपको कोई दुःख हो तो 'उफ़-उफ़' मत करो, 'हा-हू' मत करो, 'ओ-हो' मत करो, ॐ ॐ करो। पीड़ा होवे आप कहो—'ओम्-ओम्'; थोड़ी देरमें आपकी पीड़ा शान्त हो जायेगी। यह भगवान्‌का नाम है। आपके सामने मृत्युका विकराल रूप सामने दीख रहा हो तो 'ओम्-ओम्'—ऐसा बोलो, भगवान्‌का नाम है न, सद्गति हो जायेगी, ऊर्ध्वगति हो जायेगी, भगवत्प्राप्ति हो जायेगी। अपनेसे कभी गलती हो जाये

अनजानमें और बोले—ॐ ॐ ॐ ऐसे, तो देखो जैसे 'सॉरी' (Sorry) बोलकरके लोग समाजमें अपनी गल्तीको दूर करते हैं—वैसे 'सॉरी' भी भगवान्‌का नाम है। सूरनंदन भगवान् श्रीकृष्णका ही नाम 'सौरी' है। सूरवंशोत्पन्न, सूर कुलोत्पन्न जो भगवान् हं, उनका नाम है—वह भी भगवन्नाम है, परन्तु ॐ बोलो, तब देखो क्या चित्तमें तुरन्त पवित्रता आ जायेगी, यह चित्तको पवित्र करनेके लिए है।

अब ॐका उच्चारण करके विचार करो। यह अकार जाग्रतावस्थाका वाचक है, यह जितना संसार मालूम पड़ता है यह अकार है। स्वप्नावस्थाका वाचक उकार है। सुषुप्ति अवस्थाका वाचक मकार है। और ॐ में जो अर्धमात्रा है वह माया है और उस अर्धमात्राके ऊपर जो तुरीय तत्त्व है, वह परमात्मा है। तो विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीय और उधर विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तुरीय; इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मज्ञानमें भी ॐकार सहयोगी है और परमात्मज्ञानमें भी सहयोगी है और निषेधमें भी।

एक ग्रन्थ निकला। डॉ० भगवानदास थे काशीमें, यहाँ जो गवर्नर थे, श्रीप्रकाशजी, उनके पिता; बहुत बड़े विद्वान्, एशियाके विद्वानोंमें उनका नाम था। अब ऐसे समझो कि काशीके पंडित जो एक-एक विषयके संस्कृतके विद्वान् होते हैं, उनका ढंग दूसरा होता है और डॉ० साहबका ढंग दूसरा था। उनको एक मिले सूरदास। सूरदासको प्रज्ञाचक्षु बोलते हैं।

सूरदास एक बहुत बड़े भक्त हुए हैं, तो वे अन्धे थे। तो अब भी कोई अन्धा होता है तो उसका आदर करनेके लिए सूरदास बोला जाता है या उसको प्रज्ञाचक्षु बोला जाता है। प्रज्ञाचक्षुका अर्थ बाहरकी आँखोंका न होना है, उतना भीतरकी आँखोंका होना नहीं है प्रज्ञाचक्षुका अर्थ। प्रज्ञाचक्षु कहनेसे यही जाहिर होता है कि उसके बाहरकी आँख नहीं है। यह प्रज्ञाचक्षु शब्द है न—'प्रज्ञैव चक्षुर्यस्य'—बुद्धि ही जिसकी आँख है। माने बुद्धिके सिवाय बाहरकी आँख जिसके नहीं है। तो ये सब आदर करनेके लिए शब्द हैं।

तो एक प्रज्ञाचक्षु थे, डॉ० भगवानदास उनके पास गये और उन्होंने कहा कि महाराज, आजकल हम एक अनुसन्धान कर रहे हैं कि केवल निषेधके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति होवे। यह जो लोग अवैदिक होते हैं

उनको निषेधकी परम्परा जरा बहुत अनुकूल पड़ती है। क्योंकि वदेमें तो निषेधकी पद्धति भी है और विधिकी पद्धति भी है। अन्वय भी है और व्यतिरेक भी है। ऐसे भी कहते हैं कि परमात्मा सबसे न्यारा है और ऐसे भी कहते हैं कि परमात्मा सब है। लेकिन जो अवैदिक लोग होते हैं वे 'परमात्मा सब है' ऐसा नहीं बोलते हैं, वह परमात्मा सबसे न्यारा है इस ढंगसे अनुसन्धान करते हैं। ''हम इससे जुदा हैं, हम इससे जुदा हैं।'' जुदा होना तो केवल भेदबुद्धि है। कि यह मिथ्या है, यह मिथ्या है, तब सत्य क्या है? तो यह एकांगी अनुसन्धान की पद्धति अवैदिकोंको भी प्यारी लगती है। तो वे बोले कि हम इस ढंगसे अनुसन्धान करते हैं कि—**अहं एतत् न**—मैं यह नहीं हूँ।

आप कभी शान्त होकर विचार करके देखें तो मैं यह मकान नहीं हूँ, मैं नोटका बंडल नहीं हूँ, मैं स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु ये जो संसारके सम्बन्धी हैं वह मैं नहीं हूँ। 'अहं' माने मैं, 'एतत्' माने यह, 'न' माने नहीं हूँ। मैं यह नहीं हूँ। जिस-जिसके साथ 'यह' शब्द जोड़ा जा सकता है, उससे मैं जुदा हूँ। **अहं एतत् न।** तब देखो, फिर शरीर भी मैं नहीं हूँ, प्राण भी मैं नहीं हूँ, मन भी मैं नहीं हूँ, विज्ञानमय कोश भी मैं नहीं हूँ। आनन्दमय कोश भी मैं नहीं हूँ। मिट्टी मैं नहीं हूँ, पानी मैं नहीं हूँ, आग मैं नहीं हूँ, हवा मैं नहीं हूँ। आकाश मैं नहीं हूँ। अहंकार मैं नहीं हूँ। इन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ, मन मैं नहीं हूँ, देवता मैं नहीं हूँ। महत्तत्त्व मैं नहीं हूँ। प्रकृति मैं नहीं हूँ। और प्रकृतिसे सम्पर्क रखनेवाला जो चैतन्य है सो भी मैं नहीं हूँ। मैं ऐसा चैतन्य हूँ जिसका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। मैं ऐसा चैतन्य हूँ जिसके लिए 'यह' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता। तो 'अहं एतत् न।'

तो वह डॉ० साहब बोले—महाराज, शास्त्रमें इसका कहीं वर्णन है? हम इस ढंगसे अनुसन्धान करते हैं। बोले—भाई, शास्त्रमें तो सभी जगह इसके अनुसन्धानका वर्णन है, परन्तु इस विषयपर एक ग्रन्थ है। उनका (प्रज्ञाचक्षुका) नाम धनराजजी था, बस्ती जिलेमें रहते थे। बोले—कि एक ग्रन्थ है, इसमें बाईस हजार श्लोक हैं उसका नाम 'प्रणववाद' है। बोले—महाराज, वह कहाँ मिलेगा? बोले—वह तो हमारे अन्त:करणकी कोठरीमें अभी रखा हुआ है, बाहर वह पोथी मिलती नहीं। महाराज, वे कहते थे

एक-एक विषयका एक-एक कण जो है वह ग्रन्थराशि है। सर्व विषयपर ग्रन्थ उनको कंठस्थ। फिर महामहोपाध्याय अम्बा प्रसाद शास्त्री थे काशीमें, उनको लेकर भगवानदासजी गये और सारी पुस्तक उन्होंने उनसे लिखवाई। बड़ी अद्भुत पुस्तक है। प्रणवके सम्बन्धमें निरूपण करनेवाली।

ओमिति आत्मानं युञ्जीत।

ॐ के द्वारा आप अपने आत्मामें स्थित हो जाइये। ॐका उच्चारण कीजिये और बाहरसे सब इन्द्रियोंको भीतर खींच लीजिये, मनको भीतर खींच लीजिये, बुद्धिको भीतर खींच लीजिये शान्त होकर बैठ जाइये, अपने द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थान हो जायेगा। और **ओमिति ब्रह्म**—ॐके अर्थका अनुसन्धान कीजिये। वह विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वरकी तरह आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेवाला है। आप ॐका जप कीजिये मनोराज्यकी शान्ति हो जायेगी। तो ये भगवान् के बहुत सारे जो नाम हैं वैदिक, उनमेंसे प्रधान नाम, श्रेष्ठ नाम यह भगवान्का है और उपनिषदोंमें तो इसका बड़ा सुन्दर वर्णन आया है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।

यह श्रेष्ठ आलम्बन है। सहारा लेनेके लिए यह सबसे श्रेष्ठ सहारा है। यह सबसे श्रेष्ठ साधन है। इसको जो जान लेता है तो जो मनुष्य जो चाहे उसको सो मिल सकता है। इसमें सब कुछ प्राप्त करानेकी शक्ति विद्यमान है।

तो यह असलमें भगवन्नामका उपलक्षण है। माने जैसे तुम कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण जप रहे हो, राम-राम-राम जप रहे हो, वैसे यह प्रणव भी भगवन्नाम है। सब वेदोंका सार क्या है? भगवन्नाम है। अब आगे चलो।

नामका बड़ा विचित्र माहात्म्य है। इसमें एक तो यह ज्ञान होना चाहिए कि यह ईश्वरका नाम है और वेद शास्त्रमें इसका प्रमाण है, तब श्रद्धा होगी और महापुरुषोंने इसका जाप किया है। यह भी होना चाहिए और नाम लेते समय आँख अपनी इधर-उधर नहीं जानी चाहिए, नेत्र स्थिर होने चाहिए। नाम लेते समय हाथ भी अगर हृदयके सामने होवे तो सर्वोत्तम होता है। यह नाम जपकी पद्धति है। हाथको अगर नीचे कर दोगे तो शरीरमें शिथिलता आ

जावेगी। और माला हाथमें होवे तो वह मनको कहीं जानेसे रोकता है। मालाका यह स्वभाव है कि अगर तुम्हारा मन कहीं और चला जाये तो माला रुक जायेगी। नहीं चलेगी या हाथसे छूटकर गिर जायेगी। या उँगली कड़ी नहीं रहेगी या अंगूठा बराबर नहीं चलेगा या जीभ ही बन्द हो जायेगी, तो यह मालामें बड़ा भारी प्रभाव है। लोग तो लौकिक लाभ भी बताते हैं। कई लोग कहते हैं कि तुलसीकी माला पहननेसे यह लाभ है और रुद्राक्षकी माला पहननेसे यह लाभ है, वैज्ञानिक दृष्टिसे बताते हैं, पर हम वैज्ञानिक दृष्टिसे नहीं, केवल भावकी दृष्टिसे इस बातको लेते हैं, क्योंकि भावकी दृष्टि जो होती है वह चित्तको ऊपर ले जानेवाली होती है और वैज्ञानिक दृष्टि जो होती है वह चित्तको ऊपर ले जाने वाली नहीं होती। कोई कहे कि भाई-तुलसी खानेसे मलेरिया अच्छा होता है, तो आप मलेरिया अच्छा करनेके लिए अगर तुलसीका पत्ता खाओगे तो मलेरिया तो अच्छा हो जायेगा लेकिन मन अच्छा नहीं बनेगा। और, मन अच्छा करनेके लिए तुलसीका पत्ता खाओगे कि इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं, इससे अन्त:करण शुद्ध होता है, मन शुद्ध होता है तो वह पत्ता कहाँ जायेगा? पेट हीमें तो जायेगा, उसका रस ही तो बनेगा! तो मलेरिया तो अपने आप अच्छा हो जायेगा, लेकिन भगवान्का प्रसाद समझनेसे तुम्हारा मन भी पवित्र हो जायेगा। इसलिए तुलसीके पत्तेमें आध्यात्मिक और आधिदैविक लाभ तब होगा, जब उसे भगवान्का प्रसाद समझकर सेवन किया जाये, भगवान्का प्रिय समझके सेवन किया जाये। और केवल रोगनिवर्तक समझके उसका सेवन करोगे तो वह जो वस्तु-गुण है वह केवल शरीरके लिए उपयोगी होगा, मनके लिए और ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए नहीं होगा।

इसी तरहसे कोई जप करे, समझो कि भाई, कोई ॐकारका जप करे, बोले—कि हमने सुना है ॐकारका जप करनेसे दमा नहीं होता है, तो इस तरहसे अगर कोई ॐकारका जप करेगा तो दमा तो उसका छूट जाये, ऐसा तो हो सकता है, लेकिन हमारे ऊपर ईश्वर प्रसन्न होगये और हमारा अन्त:करण शुद्ध होगया, यह बात उसमें नहीं आवेगी। इसलिए अपनी प्रत्येक क्रिया अन्त:करणकी शुद्धिकी दृष्टिसे और भगवत्प्रसादकी दृष्टिसे ही करनी चाहिए।

अब नाममें क्या विशेषता है? एक तो नाम और नामी—ये दोनों अभिन्न होते हैं। थोड़ा सगुणवादकी बात इसमें बताता हूँ क्योंकि ॐकार—यह सगुणका भी नाम है और निर्गुणका भी नाम है। तो सगुणवादकी थोड़ी बात आप देखो। एक बार वृन्दावनमें चैतन्य महाप्रभुका मन्दिर है, वहाँ लोगोंने मुझे बुलवाया, क्योंकि सभी सम्प्रदायवाले कभी जब उनके उत्सव होता है, कोई प्रेमकी बात होती है तो बड़े आदरसे, प्रेमसे बुलाते हैं। अब उन्होंने कहा भगवान्का नाम भगवान्की प्राप्तिका साक्षात् साधन है कि नहीं है?

किसी वेदान्तीसे पूछ लो, तुरन्त काट देगा, क्योंकि कर्म प्रमाण नहीं होता। जैसे आँखसे देख लेते हैं कि यह काला है कि गोरा है, वैसे कर्मसे काला-गोरा नहीं देखा जाता। हाथ हिलानेसे न तो स्वादका ज्ञान होगा, न गन्धका ज्ञान होगा, न रूपका ज्ञान होगा, न स्पर्शका ज्ञान होगा। स्पर्शका ज्ञान भी त्वचासे होता है, हाथ हिलानेसे नहीं होता। न शब्दका ही ज्ञान होगा। तो कर्म जो है यह प्रमाण नहीं है। माने किसी भी वस्तुको दिखानेके लिए कर्म प्रमाण नहीं होता। ज्ञानका जो साधन है उसको प्रमाण बोलते हैं। तो ब्रह्मविद्या जो है, उपनिषद् जो है, तत्त्वमस्यादि महावाक्य जो है वह तो प्रमाण है, क्योंकि उसके द्वारा परमात्माका दर्शन होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह वाणीके द्वारा जो हम बोलते हैं कृष्ण-कृष्ण, राम-राम, शिव-शिव—यह प्रमाण कोटिमें है कि नहीं? यह किसी चीज़को दिखा सकता है कि नहीं दिखा सकता? तो देखो, यह नाम भी प्रमाण कोटिमें है, यह सगुणवादका सिद्धान्त समझने योग्य है। कैसे? ऐसे कि नामका लेना तो कर्म ही है, यह जीभमें हमारे दो इन्द्रियाँ हैं, एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय। जिससे स्वाद मालूम पड़ता है वह तो ज्ञानेन्द्रिय है और जो बोलती है वह कर्मेन्द्रिय है। तो यह बोलनेवाली कर्मेन्द्रिय ईश्वरको दिखा दे, सो कैसे? कर्म जो है वह प्रमाण नहीं होता, प्रमाण ज्ञान होता है। आँख, कान, नाक प्रमाण होते हैं। हाथ, पाँव, वाक्, मूत्रेन्द्रिय और गुदा—ये पाँचो प्रमाण कोटिमें नहीं हैं, कर्मेन्द्रिय प्रमाण-कोटिमें नहीं है और नामका उच्चारण तो वाक्से होता है। तो न वाक् प्रमाण है और न यह उच्चारण—संकीर्तन प्रमाण है। संकीर्तन ईश्वर-प्राप्तिमें साक्षात् साधन कैसे?

अब आप विचार करके देखो कि कहीं कोई भीड़ हो और उसमें कोई आदमी खो गया हो। तो उसको जब तुम पुकारोगे तो पुकारनेसे वह तुम्हारे पास आ जायेगा कि नहीं आ जायेगा? अगर वह जानकार है, जानता है कि मेरा नाम है यह, तो नाम लेकर पुकारोगे तो वह तुम्हारे पास आ जायेगा और तुम्हारा कोई बक्स खो गया हो या गठरी खो गयी हो, या हीरा-मोती खो गया हो और वहाँ जाकरके पुकारो कि हे हमारे हीरा और हे हमारे मोती आओ हमारे पास, हे हमारे बक्स हमारे पास आ जाओ, तो वह बक्स क्या तुम्हारे पास आ जायेगा? बक्सको तो जब आँखसे देखोगे तब पहचानोगे कि यह हमारा बक्स है और हाथसे उठाओगे तब तुम्हारे पास आयेगा। आँखसे देखनेपर भी तुम्हारे पास नहीं आवेगा। देखनेके बाद काम करना पड़ेगा। और केवल पुकारनेसे नहीं आवेगा, क्योंकि उसको पता ही नहीं है कि कौन हमारा मालिक बना बैठा है और हमको पुकार रहा है तो जड़ वस्तुकी प्राप्तिमें, जड़ वस्तुको बुलानेसे जड़ वस्तु नहीं आती, लेकिन कोई मनुष्य हो, स्त्री हो, पुरुष हो, जानकार हो, देवता हो तो उसको नाम लेकर पुकारो, तो वह चीज चली आती है। अब देखो, ईश्वरका नाम लेकर पुकारना है। तो नाममें ईश्वरके प्रकाशनका सामर्थ्य नहीं है। नाम लेकर कोई चिल्लाये, तो नाम तो नहीं बतावेगा कि यह ईश्वर है, लेकिन ईश्वरको तो यह मालूम है कि यह हमारा नाम लेकर पुकार रहा है। ईश्वर जानता है और जब देखता है कि यह हमारे लिए व्याकुल हो रहा है, हमारे लिए रो रहा है, हमसे मिलनेके लिए इसके चित्तमें बड़ी उत्कंठा है, तो नाम लेकर पुकारो तो वह आ जायेगा।

असलमें होता है क्या? कि ईश्वर है चैतन्य और ईश्वरका नाम भी चैतन्य है। तो जब हम ईश्वरका नाम लेने लगते हैं, तो (पहले-पहल) ईश्वरका नाम जीभसे लिया जाता है। कब लिया जाता है कि जब हमारी जीभ तैयार होती है, जब हम अपनी जीभको तैयार करते हैं। जरा साफ करना चाहिए जीभको, जीभीसे नहीं; दूसरा नाम जीभसे न लेना यही जीभकी सफाई है—

धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरौं।

जब हम जीभको साफ करके बैठते हैं कि अब हम दूसरा नाम नहीं लेंगे, तब भगवान्‌का जो चेतन नाम है वह स्वयं कृपा करके हमारी जीभपर उतरता है।

अतो हि कृष्णनामादि न भवेत् ग्राह्य-इन्द्रियः।
केवल मुखे तु जिह्वाग्रं स्वयमेव स्फुरत्यदः।

जब हम अपनी जीभको तैयार करते हैं कि हे भगवन्नाम, हमारी जीभपर आओ, तब वह सगुण नाम हमारी जीभपर आता है। नाम स्वयं प्रकाश है। हीरेका नाम स्वयं प्रकाश नहीं है, मोतीका नाम स्वयं प्रकाश नहीं है। क्योंकि हीरा जड़ है, मोती जड़ है, सोना जड़ है और उसका नाम भी जड़ है। लेकिन भगवान् चेतन हैं और उनका नाम भी चेतन है। बड़ा कृपालु है और वह सर्वज्ञ है, जानता है कि यह हमारा नाम ले रहा है, लेनेके लिए तैयार है। नाम बड़ा कृपालु है। नाम बड़ा स्नेही है। जब हम नाम लेनेके लिए तैयार होते हैं तब वह हमारी जिह्वापर स्वयं उतरता है। और आकर वह नाचने लगता है।

भगवान्‌के नाम और रूप दोनों असलमें जुदा-जुदा नहीं हैं। वह तो जीव और ईश्वरने बँटवारा ही कर लिया है। एक बार जब जीव ईश्वरसे अलग होने लगा तो उसने कहा—प्रभु! मैं आपसे अलग जब संसारमें जाऊँगा, तो फिर आपके पास पहुँचनेका हमारे पास साधन क्या रहेगा? तो भगवान्‌ने कहा कि अच्छा रूप तो मैं अपने पास रखता हूँ और नाम तुम हमारा लेकर जाओ। और यह नाम लेकर जब-जब तुम पुकारोगे हमें प्रेमसे, तब-तब मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगा। तो असलमें भगवान्‌का नाम और भगवान्‌का रूप—ये दोनों दो चीज नहीं हैं। जिसकी जीभपर भगवान्‌का नाम आता है, वह नाम आकर नाचता है और उसके नाचनेके साथ-साथ हमारी बुद्धिमें, हमारे हृदयमें वही मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी, वही श्यामसुन्दर जो गोपियोंके बीचमें नाचता है, वही हमारी मनोवृत्तियोंके बीचमें नृत्य करने लगता है। यह एक-एक नाम क्या है? यह जो हम कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण बोलते हैं, यह हमारा नाम क्या है? यह एक-एक पादविन्यास है। भगवान् एक-एक पाँव जो रखते हैं, जब उनके पाँवमें आवाज होती है तो उसमें-से 'कृष्ण' यह ध्वनि निकलती है। हमारे हृदयके चबूतरेपर, हमारे हृदयकी कमल-कर्णिकापर भगवान् श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे हैं और उनके पाद-विन्याससे, पाद-ध्वनिसे कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण यह ध्वनि निकल रही है। वे बाँसुरी बजाते हैं—

ॐकारार्थमुदीरयन् विजयते वंशीनिनादं शिशोः।

वह नन्हा-सा शिशु जब बाँसुरी बजाता है तो उसकी वंशीमें-से यह ॐकारकी ध्वनि निकलती है, यह नामकी ध्वनि निकलती है।

तो यह नाम भी सर्वज्ञ है, यह नाम सर्वशक्तिमान है, यह नाम स्वयं प्रकाश है। यह नाम परम रसीला परमानन्द है। यह नाम अविनाशी है। यह नाम जिसकी जिह्वापर आजाता है और जिसके जीवनमें उतर आता है, उसका परम कल्याण हो जाता है। यह असलमें नाम भी साक्षात् ब्रह्म ही है।

ये जो बड़े-बड़े पण्डित होते हैं, विद्वान् होते हैं, वे सारे वेदोंको पढ़ते हैं। अच्छा, कि भाई सब लोग सारे वेद तो नहीं पढ़ सकते, तो बताओ सब वेदोंमें सार-सार चीज क्या है? कि सार-सार चीज सारे वेदोंमें भगवान्का नाम है। भगवान्का नाम जिसको आगया, उसके जीवनमें सारे वेदोंका सार आगया। इसलिए आप अपनेको हीन न समझें, यह न समझें कि हाय-हाय हमने वेद तो पढ़ा ही नहीं, पता नहीं वेदमें क्या लिखा है। जिन्होंने पढ़ा है उन्होंने बहुत अच्छा किया है, पढ़कर जाना है भला! लेकिन **'यः तन्नावेद कीमृशा करिष्यति।'**

ऋग्वेदमें एक मन्त्र है कि जिसने परमात्माको नहीं जाना, उसने यदि सारे ऋग्वेदको कंठस्थ कर लिया तो उससे क्या होता है! सम्प्रदायकी रक्षा होगी, धर्म होगा, यह सब बात जुदा है, लेकिन **'य तन्नावेद कीमृशा करिष्यति!'** आजकल तो महाराज, 'निकलती है ऋचाएँ उनके मुँहसे ठुमरियाँ होकर'—आजकल तो महाराज, लोग ऋचाको ठुमरी, दादरा बनाकर गाते हैं, तो यह ठुमरी, दादराके रूपमें जो गायी जाती है, उसका नाम ऋचा नहीं है, परन्तु उसका जो सार है वह भगवान्का नाम है। अगर वह सारे जीवनमें आगया तो सारा वेद, सारा वेदान्त, सारे इतिहास, पुराण, स्मृतिकदम्ब, सारे दर्शन, सारे ग्रन्थ हमारे जीवन में आ गये। इसलिए सम्पूर्ण वेदोंमें यह जो प्राण है, भगवान् का नाम—यह सार-सार है।

❖

: ८.४ :

शब्दः खे पौरुषं नृषु

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणव सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८

भगवान् श्रीकृष्ण यह बात बता रहे हैं कि संसारमें अलग-अलग जो बहुत सारी चीजें होती हैं, उन सबके अलग-अलग नाम, अलग-अलग रूप, अलग-अलग गुण, अलग-अलग धर्म, अलग-अलग अवस्था होनेपर भी उनमें जो एक यह महासत्ता—**सत्ता नामनिरुद्धे अवस्थितः** वस्तु है वह मैं हूँ। कुलका सार यह हुआ कि जैसे बहुत सारे बर्तन मिट्टीके बने हुए हों, तो उनसब बर्तनोंमें सत्ता सामान्यके रूपमें मृत्तिका है; जलकी बहुत सारी किस्में हों—शराब भी पानी है और सोडावाटर भी पानी है, शर्बत भी वही है, पर उसमें जो एक सत्ता सामान्य है, ऐसी जो रसीली वस्तु है; ऐसा रस जो अनारका शर्बत और नींबूका शर्बत अलग-अलग होनेपर भी उनमें अलग-अलग नहीं है, वह मैं हूँ। वह वस्तु जो खण्डोंमें अखण्ड है, अनेकोंमें एक है, दृश्योंमें द्रष्टा है, वह वस्तु भगवान् बताते हैं कि मैं हूँ। अलग-अलग जब उसको पहचानेंगे तो एक रूपमें भी पहचान सकेंगे, इसलिए विज्ञान सहित ज्ञानका उपदेश कर रहे हैं।

अब कल अन्तिम बात यह थी कि सारे वेदोंमें भगवान् प्रणव रूप हैं, माने वेदोंमें भगवान्का नाम है। कोई भी मन्त्र लो, तो वह अन्तमें भगवान्का नाम ही निकलेगा। ऋग्वेदका पहला मन्त्र है—

अग्निमीले पुरोहितं।

अग्नि क्या है? कि भगवान्का नाम है—'अग्रे नयति'—जो सबको आगे बढ़ावे सो अग्नि। ईले—ईलेसे ईड्य बनेगा, स्तुति करने योग्य कौन है? कि भगवान्। पुरोहितं—जो पहलेसे ही सबका भला चाहे उसका नाम पुरोहित। पुरो माने पहले और हित माने भलाई। जो ब्राह्मण पहले से ही अपने यजमानकी भलाई सोचता है उसको पुरोहित बोलते हैं। सच्चा पुरोहित कौन है? कि भगवान्।

तो कहने का अभिप्राय यह हुआ कि वेदका सार है कि वेदके प्रत्येक मन्त्रमें प्रत्येक शब्दमें, प्रत्येक अर्थमें भगवन्नाम अनुस्यूत है। उसी नामका उपलक्षण है प्रणव और प्रणव कहते हैं ॐ को। यह ॐ मन्त्र है। यह मन्त्रोंको मन्त्र बनानेवाला है और स्वयं भी मन्त्र है।

ॐ का अर्थ संस्कृतमें बड़ा विलक्षण होता है। बोलचालकी भाषामें, जैसे हिन्दीमें 'हाँ' बोलते हैं, बोले—मोहन ! कि 'जी साईं'। तो यह 'जी साईं,'क्या हुआ? एक लोटा पानी ले आओ। अच्छाजी, जी हाँ! यह 'हाँ' जिस अर्थमें बोलते हैं, इसी अर्थमें संस्कृतमें 'ॐ' बोला जाता है।

दधि आनय। ॐ इति।
दही लाओ—ॐ अच्छा।
गामानय। ॐ इति।
गाय लाओ—ॐ-अच्छा।

ॐ माने स्वीकृति; जो जो होता जाये उसको स्वीकृति देते जाओ। जो हो गया उसकी आलोचनाके लिए उसको अपने दिलमें मत बसाओ। जैसे मानलो कि टेप टूट गया। अब टूट गया बस, अब उसको काट दो, यह नहीं कि उसको अपने दिलमें बसालो कि हाय-हाय क्यों टूट गया? ॐ। जो प्रकृतिकी ओरसे आवे, प्रारब्धकी ओरसे आवे, प्रभुकी ओरसे आवे; जो हो गया उसमें प्रभुका हाथ जरूर है, इसलिए उसको स्वीकृति देते जाना यह 'ॐ' कहनेका अभिप्राय है। इसका अर्थ हुआ कि ठाकुरजीसे तुम्हारा मतभेद नहीं है। और यदि 'ॐ' नहीं करोगे तो जो कुछ ठाकुरजीने किया उससे तुम्हारा मतभेद है और मतभेद तो समझो कोई भक्त और भगवान् में नहीं होता है। ॐ ॐ ॐ। **प्रणवः सर्ववेदेषु।**

अब शब्दकी बात करते हैं—**शब्दः खे पौरुषं नृषु। शब्दः खे**— आकाशमें मैं शब्द हूँ। ऐसा भगवान् बताते हैं। शब्द माने आवाज़ और खं माने आकाशमें। आकाशमें मैं आवाज़ हूँ। तो यह आकाश में शब्द किस ढंगसे रहता है, इसका शास्त्रीय विवेचन बहुत बड़ा है।

नैयायिक लोग शब्दको आकाशका गुण मानते हैं। आकाश एक द्रव्य है और उसका गुण है शब्द। न्याय और वैशेषिक दोनोंमें शब्दको गुण माना जाता है।

सांख्य और योगमें शब्द तन्मात्रासे आकाशकी उत्पत्ति मानी जाती है, इसलिए आकाशका कारण द्रव्य जो है वह शब्द है।

पूर्वमीमांसामें आकाश एक पृथक् द्रव्य है और शब्द एक पृथक् द्रव्य है और शब्द नित्य है। न्यायमें शब्द गुण होनेसे अनित्य है और मीमांसामें शब्द द्रव्य होनेसे नित्य है।

अब वेदान्तियोंमें समझो, तो वेदान्ती लोग संसारके बारेमें जो प्रक्रिया होती है उसमें कुछ ज्यादा आग्रह नहीं करते हैं। जैसा तुम कहो, वैसा ही। अब कोई कहे कि चीनीसे शर्बत बनता है तो इसमें वेदान्तका क्या निषेध है! उस समय क्या वेदान्ती कहेगा कि चीनी भी मिथ्या है और शर्बत भी मिथ्या है? नहीं भाई, चीनीसे शर्बत बनता है। व्यवहारमें जो द्रव्य हैं, उनके निषेधमें वेदान्तका तात्पर्य नहीं है। तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो हैं वे ऐन्द्रियक हैं। माने कानसे शब्दका ग्रहण होता है, आत्मा कानकी उपाधिको स्वीकार करके शब्दको ग्रहण करता है। यह वेदान्तका मत है। शब्द तन्मात्रा रूप भी है, विषयरूप भी है, परन्तु उसका ग्रहण औपाधिक ही होता है। उपलब्धिमें वह द्रष्टाके परतन्त्र है और सत्तामें अधिष्ठानके परतन्त्र है। इसलिए वस्तुतः शब्द नामकी कोई वस्तु नहीं होती। यह तो ऐन्द्रियक व्यवहार है। इसमें शब्दकी उत्पत्ति होती है।

अब देखो, जरा यह जो आकाशका गुण शब्द है; अथवा आकाशमें जो शब्द तन्मात्रारूपसे रहनेवाला है; अथवा शब्दरूप जो द्रव्य है (मीमांसाके मतमें शब्द द्रव्य है) अथवा ऐन्द्रियक जो शब्द है; वह भगवान् है।

ये तरह-तरहके शब्द होते हैं। घण्टा बजाते हैं तो एक दूसरी तरहका शब्द होता है और घड़ियालमें-से दूसरा शब्द निकलता है; नगाड़ेमें-से दूसरा शब्द निकलता है और बाँसुरीमें-से दूसरा शब्द निकलता है; शहनाई बजती है तो क्या बढ़िया शब्द निकलता है और जलतरंग बजाते हैं तो उसमें-से कैसा शब्द निकलता है। शब्द भी तरह-तरहके होते हैं न! एक बिना पीटे शब्द नहीं निकलता है, आघात वाद्य उसको बोलते हैं वह ढोलकपर, मृदंगपर, थापी-पै-थापी पड़ रही है, नगाड़ेपर, धौंसापर वह पड़ रहा है डंडा तब बोलता है। एक महाराज, रगड़ो सारंगी है। फूँको तब शब्द निकलता है बाँसुरी है। माने एक सुषिर्

वाद्य होता है, एक तन्तु वाद्य होता है, एक आघात वाद्य होता है। ये बाजे होते हैं न तरह-तरहके। तो सब बाजोंकी शक्ल भी अलग-अलग है। उनको बजानेका तरीका भी अलग-अलग है और उनमें-से निकलनेवाली आवाज भी अलग-अलग है। लेकिन उसमें शब्द नामकी एक ऐसी चीज है जिसको आप शब्द ही बोलते हो। वह क्या चीज है? बोले—वाह, वाह, वाह, ईश्वरको पहचानो न! अगर उस एकको पहचान लो तो सब पहचानमें आ जायेगा, क्योंकि इससे भेद बनावटी हो जाता है और शब्द की एकता वास्तविक हो जाती है। सब-के-सब भेद वंशी, वीणा, सितार, हारमोनियम, तबला—यह सब अलग-अलग हो गया पर शब्द (ध्वनि) सब में एक है।

अब देखो, शब्दमें घट अलग-अलग, पट शब्द अलग, मठ शब्द अलग, गालीका शब्द अलग और तारीफका शब्द अलग-दोनों शब्द हैं कि नहीं? जो गालीमें रहकर गालीसे जुदा है और जो तारीफमें रहकर तारीफसे जुदा है, वह शब्द क्या चीज़ है? बोले—भगवान् है। जो गालीमें रहकर भी गाली नहीं बना और जो तारीफमें रहकर भी तारीफ नहीं बना और तारीफमें रहकर रागका उत्पादक नहीं बना और निन्दामें रहकर द्वेष का उत्पादक नहीं बना, ज्यों-का-त्यों, वह शब्द कौन? कि परमात्मा! परमात्मा कहीं छिपा हुआ नहीं है, परमात्मा तो बिलकुल जाहिर है।

अब बोले कि इसका अर्थ केवल ऐसे ही मत करो और जरा इसमें ढंग बैठाओ। यह तो भौतिक शब्दकी बात हुई, जो भूत-भौतिक शब्द है, पंचभूत रूप शब्द है, पंचमहाभूतमें जो तन्मात्रा है, शब्द तन्मात्रा सो, अथवा जो गणरूप शब्द सामान्य है सो, अथवा जो ऐन्द्रियक शब्द है सो। बोले—'खे' माने 'हृदयाकाशे'। अपने हृदयाकाशमें हृदयके शिशिरमें, 'खे' माने जो अपने भीतर शून्य है क्योंकि कानमें भी जो शब्द ग्रहण होता है, वह शून्यमें ही ग्रहण होता है, आकाशमें ही। कानमें टेढ़ा-मेढ़ा छेद है, इसमें आवाज़ जाकर टकराती है तो ग्रहण होती है। जैसे जीभपर रखनेसे स्वाद मालूम पड़ता है, यह खट्टा है यह मीठा है, ऐसे ही कानमें घुसनेके बाद यह कोमल है कि कठोर है, शब्द मालूम पड़ता है। इसके बारेमें भी दार्शनिकोंमें बड़ा भारी मतभेद है, कोई प्राप्तकारी मानते हैं, कोई अप्राप्तकारी मानते हैं।

कानकी वृत्ति शब्दमें जाकर शब्द ग्रहण करती है कि शब्द कानमें प्रवेश करता है तब शब्दका ग्रहण होता है! इस बातको लेकरके भी मतभेद है। तो यह सब शास्त्रका सारा बोझ अपने श्रोताके सिरपर डालनेकी कोई जरूरत नहीं है।

हृदयमें शब्द होता है। यह शब्द दो तरहका होता है—एक आहत और एक अनाहत। आहत बोलते हैं कंठ, तालु आदिके आघातसे जो शब्द पैदा होता है—राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, शिव-शिव। हम बोलते कब हैं? वैखरी वाणीसे शब्दका उच्चारण कब होता है? जब हमारे कंठ, तालु आदि आपसमें संघर्ष करते हैं।

''आत्मा बुद्ध्यासमेतार्था मनो भुङ्क्ते विवक्षया
मनः कायामीमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुत सूरति चरण मन्द्रं जनयति स्वरम्।''

तो शब्दकी उत्पत्ति कैसे होती है? जब किसी वस्तुका ठीक-ठीक भान होता है। गलत सही कैसा भी, यह चीज़ है, तब उसको बोलनेका मन होता है। तो जब बोलनेका मन होता है तो शरीरमें हलचल होती है। तो उससे गर्मी पैदा होती है। उससे हवा निकलती है। अगर गर्मी-आग पैदा होगी तो हवा चलेगी, और वही हवा इधर-उधर चलकर शरीरमें स्वरको उत्पन्न करती है। तो ये आहत और अनाहत—दो प्रकारके शब्द होते हैं। यह कभी कान बन्द करनेके बाद भीतर-ही-भीतर जो शब्द सुनायी पड़ते हैं उनको अनाहत बोलते हैं।

अब यह समझो कि जीभसे जो शब्द बोलते हैं वे वैखरी वाणीके हैं और कंठसे जो शब्द बोलते हैं वे मध्यमा वाणीके हैं, हृदयमें जो बोला जाता है वह पश्यन्ती वाणीका है। मूलाधारसे जो बोला जाता है सो परावाणीका शब्द है। परावाणीका जो शब्द है वह तो चिन्मात्र ही होता है, चैतन्यरूप ही होता है।

अब देखो, शब्दको अगर ढूँढने लग जाओ कि शब्द क्या है, तो शब्दको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। ऐसी एक चीज नहीं है संसारमें, जिसकी जड़को ढूँढ़ो और ईश्वर न मिले। क्योंकि प्रत्येक वस्तुकी जड़ ईश्वरमें ही है, उसी सत्तामें उसी ज्ञानमें, उसी आनन्दमें।

अब यह 'शब्दः' शब्द जो है इसके साथ 'पुण्यः' भी जोड़ना। यह पुण्य कहाँ-से आ गया? अगले श्लोकमें जो **पुण्ये गन्धः पृथिव्यां च** है, उस पुण्योसे **रसोऽहमप्सु कौन्तेय**में **पुण्यो रसः** और यहाँ **पुण्यो शब्दः** ऐसे जोड़ना।

अब देखो, भलाई और बुराई। भगवान् जैसे यह बताते हैं कि धर्मके विपरीत जो नहीं है, ऐसा काम मैं हूँ। मैं काम तो हूँ, परन्तु वह जो धर्मके विरुद्ध नहीं है। बोले—बल मैं हूँ तुम्हारे शरीरमें लेकिन **काम-राग-विवर्जितम्।**

बलं बलवतां चाहं काम-राग-विवर्जितम्।

काम और रागसे रहित जो बल है सो भगवान् हैं। अब भगवान् जरा अपने उपास्य रूपकी ओर खींचते हैं भला!

यह मैं शब्द तो हूँ, परन्तु पुण्यशब्द हूँ। माने बोलते राम बैठे हैं हृदयमें। वही बोलते हैं। हमारे वैरागी साधुओंमें तो 'बोलते राम'—ऐसा बोलनेका रिवाज ही है। रमते राम, बोलते राम, अपने राम भी बोलते हैं भला! भले वे अपने रामका मतलब ठीक समझकर बोलते हैं कि बिना समझे बोलते हैं, यह तो वे जानें, लेकिन बोलनेकी रीति है—अपने राम। तो भाई यह बोलते राम, रमते राम, अपने राम जो भीतर बैठे हुए हैं, सो जीभसे बोलते हैं। जो पाँवसे चलते हैं वे रमते राम और जो जीभसे बोलते हैं वे बोलते राम और अपने राम कौन हैं सो तो आपलोग सब जानते ही हो। तो यह जो शब्द है, कोई गाली देता है और कोई भगवान्‌का नाम लेता है। तो इसका विवेक कर लो कि जो गाली दी गयी, वह भगवद्रूप शब्द नहीं है और जो भगवान्‌का नाम लिया गया, जो धर्मकी बात कही गयी वह भगवद्रूप शब्द है।

सब रसोंमें भगवान् हैं, लेकिन जो रस पापकी उत्तेजना फैलाये, वह रस नहीं, सामान्य रस प्रभु है। तो देखो, रोशनी जितनी है वह सब सूर्यकी है, लेकिन उसी रोशनीसे टार्च बनी, बिजलीसे बनी तो वह भी अग्निका—तेजका ही एक रूप है। अब टार्चसे एक आदमी कभी भगवान्‌का दर्शन कर लेता है, चित्रपट देखता है, वह भगवान्‌का चित्रपट है और उसी टार्चसे चोर दूसरेका माल देखकर उसको चुराता है। तो टार्चमें पाप है कि पुण्य है? यह टार्च भी संस्कृतके अटर्चिका ही रूप है—'अर्चि' शब्द है, यह अग्नि

ज्वालाका वाचक है, लपकका। और अट् धातु जो है पर्यटनमें जो अटन है चलता-फिरता; तो अटार्चि माने चलती-फिरती रोशनी। इसी तरह वेदयित्री माने जो दूसरी चीजको जना दे, दिखा दे, उसका नाम वेदयित्री (बैट्री)। जो दूसरी चीज़को जानले उसका नाम वेदान्ती। वह तो पवित्र है, क्योंकि वह तो अग्निरूप है, विद्युतरूप है, सूर्य प्रभारूप है। लेकिन हम उसको अच्छे काममें लगाते हैं तब पवित्र है और बुरे काममें लगाते हैं तब अपवित्र है बोले—यह सूर्य क्या है? प्रभा क्या है? रस क्या है? गन्ध क्या है? शब्द क्या है? बोले—ये सब तो पवित्र ही हैं। सूर्य कभी अपवित्र नहीं होता। अग्नि कभी अपवित्र नहीं होती। गंगाजल कभी अपवित्र नहीं होता।

तीर्थोदकं सदामुच्य नान्यताशुद्धिमर्हता।

तीर्थका जल और अग्नि—ये दूसरेके द्वारा शुद्ध नहीं किये जाते। तो बात क्या है? कि ईश्वर जो सृष्टि बनाता है वह जीवोंके प्रारब्धसे, समष्टि-प्रारब्धसे बनाता है। तो जीवोंके समष्टि प्रारब्धसे बननेके कारण सब चीजें पंचायती हैं। जैसे गाँवमें कोई पंचायती धर्मशाला हो, मकान हो, कुआँ हो, सरोवर हो, ऐसे सब जीवोंके प्रारब्ध सामान्यसे यह सृष्टि बनी हुई है।

धरती सबके हिस्सेकी है, सोना भी सबके हिस्सेका है, हवा सबके हिस्सेकी, आग सबके हिस्सेकी, जल सबके हिस्सेकी चीज है भला! सबको बिना कीमतके रोशनी मिलनी चाहिए। सबको बिना कीमतके पानी पीनेको मिलना चाहिए। सबको बिना कीमतके रहनेकी जगह मिलनी चाहिए। सबको बिना कीमतके साँस लेनेको हवा मिलनी चाहिए। सबको बिना कीमतके घूमने-फिरनेकी जगह मिलनी चाहिए क्यों? कि इसकी कीमत हमलोग पूर्वजन्ममें अपने-अपने कर्मके द्वारा चुका चुके होते हैं भला! हमारे समष्टि प्रारब्धके द्वारा यह सृष्टि बनती है।

अब पंचायती घरको कोई गंदा कर आवे, तो? पंचायती रेडियो रखा हो और उसको दिनभर जोर-जोरसे बजाकर कोई बिगाड़ डाले, तो? तो पुण्यका अर्थ है—धरतीका सेवन तुम करो, गन्धका सेवन करो, लेकिन जो तुम्हारे अन्तःकरणको पवित्र करनेवाला हो वही, उतना ही। है तो वह पवित्र ही, पर तुम कहीं अपने अन्तःकरणकी उपाधिसे अपनेको, उसको बिगाड़ मत लो। यह उसका अभिप्राय हुआ। यह स्त्री है, यह ईश्वरकी बनायी हुई है,

यह पुरुष है, यह भी ईश्वरका बनाया हुआ है, स्त्री-पुरुष सब ईश्वरके बनाये हुए हैं पर—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

भगवान्‌ने कहा—काम भी मैं हूँ, पर धर्मके अविरुद्ध। तो पुण्यकाम भगवान् हैं। इसी प्रकार पुण्य शब्द भगवान् हैं। तुम्हें भगवान्‌ने यह शब्द जो दिया है, बोलनेकी जो शक्ति दी है, वाक् दिया है, इसके द्वारा तुम पुण्य बोलो, अपुण्य मत बोलो।

कल कोई एक व्यक्ति आये थे हमारे पास, तो बोले कि कथामें आनेका तो हमको मौका नहीं मिलता। मैंने कहा कि भाई तुम्हारे घरमें तो दिनभर कथा होती रहती है तो अब कथा में आनेकी जरूरत ही क्या है? बोला—हमारे घरमें क्या कथा होती रहती है? कि तुम्हारे घरमें यह कथा होती रहती है, कि उनकी बेटी ऐसी उनकी बहु ऐसी, उनका भाई ऐसा और उनका बेटा ऐसा, उनका बाप ऐसा—यह कथा तुम्हारे घरमें दिनभर होती रहती है कि नहीं? अच्छा लड़ाई-भिड़ाई, राग-द्वेषकी कथा दिनभर होती रहती है कि नहीं? दिनभर आलोचना ही होती रहती है। राधेश्याम कहो! तो बोलनेकी शक्ति भगवान्‌ने दी, उसको तुमने पुण्यकार्यमें लगाया, तब तो वह भगवान्‌का रूप तुम्हारा उद्धार करनेवाला हो गया और यदि दूसरेकी निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह उत्पन्न करनेमें तुमने अपनी वाणीका अपव्यय किया, तो वही शब्द तुम्हारे लिए हानिकारक होगा। भगवान्‌का रूप सौम्य भी है और कठोर भी है। यमराज भी वही है और धर्मराज भी वही है। एक जीव जब जाता है यमपुरीमें तो पुण्यात्मा होता है तो धर्मराज बहुत बढ़िया सभामें, बिना दाढ़ी-मूँछके बहुत मलूक बनकर सिंहासनपर बैठते हैं और कहते हैं आइये-आइये-आइये! बड़े प्रेमसे मिलते हैं। और महाराज, इन्हींके दरबारमें जब पापी जाता है तब वह दक्षिण द्वारसे प्रवेश करता है। पापियोंको यमराज भी दाहिने ही रखते हैं भला! और वह जब जाकर देखता है तो देखता है यमराजकी बड़ी-बड़ी दाढ़ी-मूंछ और भैंसा और बड़े-बड़े यमदूत। एक ही ईश्वर सर्वरूपमें है। पापीके लिए बड़ा भयंकर और पुण्यात्माके लिए बड़ा सौम्य। ईश्वर शब्दरूप तो है, परन्तु तुम पुण्य शब्दरूप ईश्वरको अपनी वाणीमें धारण करो, शब्द सामान्यकी ओर

अपनी दृष्टि रखो, विशेष शब्दोंका प्रयोग करके संसारमें राग-द्वेष उत्पन्न मत करो। तो रागद्वेषसे बचाने वाला जो शब्द है, वह शब्द ही असलमें ईश्वरका स्वरूप है। मधुसूदन सरस्वतीने 'पुण्यः' शब्दका अनुकर्ष सभी के साथ कर लिया—'पुण्यो रसः'। 'पुण्यो गन्धः', पुण्यम् तेजः। इसलिए पुण्य जो शब्द है वह भगवान्‌का स्वरूप है।

अब **शब्द** : खे यह जो पृथिवी बनती है पहले-पहल, तो बिना हलचलके कोई सृष्टि नहीं बन सकती। हिले बिना कोई आकार नहीं बनता। पानीमें तरंग बनती है तो पानीके हिलनेसे बनती है और माटीमें घड़ा बनता है तो हिला-डुलाकर तब बनाया जाता है। आगमें जो लपट उठती है वह हिलनेसे ही उठती है। बिना स्पन्दके नाम और रूपकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। रूप भी बिना स्पन्दके नहीं बनेगा, नामका उच्चारण भी बिना स्पन्दके नहीं होगा। स्पन्द माने थोड़ा हिलना—'गति, ईषत्' थोड़ा हिलाना। तो यह जो संसारमें कोई भी चीज बनती है, वह स्पन्दनसे बनती है और जहाँ हिलना होता है वहाँ आवाज जरूर होती है। भले हमारे कानसे पकड़में न आवे पर जहाँ हिलना होगा वहाँ आवाज भी होगी। इसलिए सृष्टिके मूलमें जब रूपकी उत्पत्ति होती है, तब वहाँ शब्द भी जरूर रहता है तो—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तद् स्पन्देन सद्व्यापकम्।
स्पन्दश्चापि तथा जगत् विदिता शब्दान्वयी सर्वदा॥

जहाँ कोई कार्य होगा, वहाँ चलना, हिलना जरूर होगा और जहाँ चलना, हिलना होगा, वहाँ शब्द जरूर होगा। इसलिए सृष्टिके मूलमें जो शब्द है—शब्द ब्रह्म, भागवतमें तो शब्दसे सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है इसका एक प्रसंग ही है बड़ा स्वतन्त्र—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

यह सब सृष्टि शब्दसे होती है, ब्रह्म स्वयं शब्दरूप है। शब्दरूप ब्रह्म है, इसीको सगुण ब्रह्म बोलते हैं—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मणि वर्तते।

'शब्द ब्रह्म=परं ब्रह्म न मेधे शाश्वती'—भगवान्‌के शाश्वत शरीर हैं शब्द-ब्रह्म और परं ब्रह्म।

अब यह देखो, एकने अभी पूछा है कि बुराई छोड़नेकी कोशिश करते हैं तो वह और ज्यादा याद आती है और भक्ति अगर छोड़ देते हैं तो वह बिलकुल दूर हो जाती है। यह एकदम सच्ची बात है, बात अनुभवकी है। तो इसका कारण यह है कि अनादि कालसे हमारे जो संस्कार हैं, उसमें बुराई भरी हुई है, जब हम उसको छोड़कर हटने लगते हैं, तब वह हमको पकड़ती है कि जन्म-जन्मकी मैं तुम्हारी साथिन, मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? जैसे कोई पति अपनी पत्नीको तलाक देने लगे, छोड़ने लगे तो वह आकर फेंटा पकड़े कि तुम तो हमको छोड़ना चाहते हो, लेकिन मैं तुमको छोड़कर कहाँ रहूँगी? तो बुराई जो है वह अपने आश्रयको आकर पकड़ती है कि तुमने जन्म-जन्म मेरा साथ किया है, मेरे संस्कार बने हुए हैं, मेरी वासना बनी हुई है, मेरी छाप लगी हुई है, मेरी मुहर लगी है तुम्हारे दिलपर, तुम छोड़ना चाहते हो तो ठीक, लेकिन मैं तुमको नहीं छोड़ना चाहती भला! बुराई आती है स्वभावसे और भक्ति स्वभावसे नहीं आती, उसको करना पड़ता है भला! उसका अभ्यास करना पड़ता है। बल्कि देखो, गीतामें तो ऐसे ढंगसे यह बात समझायी गयी है कि—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति। १८.३६
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ १८.३७

अभ्यासाद्रमते यत्र—सात्त्विक सुखके लिए अभ्यास करना पड़ता है और तामसिक और राजसिक सुखके लिए अभ्यास नहीं करना पड़ता। **यत्तदग्रेऽमृतमिव**—अरे वह तो शुरू-शुरूमें ही मीठा लगता है।

भक्ति तो हमें अभ्यास करके शास्त्र-सम्प्रदायके अनुसार, गुरुसे सीख करके, अपने जीवनमें कसकर बैठानेकी है। इसलिए उसको छोड़ दोगे तो दूर हो जायेगी। वह तो अभ्यास करके अपने जीवनमें बैठानेकी है और बुराई तो महाराज, पहलेसे ही जीवनमें बैठी हुई है, उसको तो निकालना भी चाहोगे तो वह जल्दी निकलना पसन्द नहीं करेगी। देखो, कोई अपने मकानमें किरायेदार बैठा लेता है, तो वह किरायेदार भी नहीं निकलना चाहता है और मकानका हिस्सेदार हो तो वह जल्दी कैसे निकलेगा? ऐसी स्थितिमें बुराई छोड़नेका अभ्यास दृढ़तासे करना पड़ता है।

एक बात इसके सम्बन्धमें ध्यानमें रखना कि हमने बुराई छोड़ दी—ऐसा कह देनेसे बुराई नहीं छूटती या हम बुराई छोड़नेका संकल्प करते हैं तो संकल्प करने भरसे बुराई नहीं छूट जाती। वह तो इस समय मनमें आया कि हम बुराई छोड़ेंगे यह संकल्प किया। असलमें बुराई छोड़नेका उपाय है अच्छाईको पकड़ना। एक आदमी जुआ खेलता है, ताश खेलता है, वह कहता है हमने छोड़ दिया। कि अच्छा छोड़ दिया, बहुत अच्छा किया। कि हमने संकल्प किया कि छोड़ दिया, लेकिन जब दूसरे दिन वह खाली बैठता है और कोई काम नहीं रहता तो वह जुआ खेलनेकी वासना बारम्बार उठकर उसको परेशान करती है और वह फिर जुआ खेलने लगता है। तो जुआ छोड़ देनेसे ही जुआ नहीं छूटेगा। तब क्या करना? वह जो जुआ खेलनेका समय था, उसको दूसरे अच्छे कामसे भरना। उस समय भगवान्‌की पूजा करनी है, उस समय उतनी माला फेरनी है उस समय गरीबोंको इतना दान करना है, उस समय मन्दिरमें जाकर दर्शन करना है, वह दुनियाके लिए तुम्हारे पास जो समय निश्चित था, जब उसे दूसरे अच्छे कामसे भर दोगे, तब जुआ खेलना छूटेगा। अब यदि समयको अच्छे कामसे भरोगे नहीं, अच्छाईका सहारा नहीं लोगे, तो केवल छोड़ देनेसे वह नहीं छूटेगा, उसके लिए बढ़िया कामका सहारा लेना पड़ेगा यह उसके छोड़नेका तत्त्व है भला!

किसीको शराब छोड़ना हो तो शराब छोड़ दिया—ऐसे नहीं छूटेगी। उसके लिए फिर भगवान्‌का चरणामृत अपने पास बोतलमें रखना पड़ेगा और जब-जब कुछ पीनेका मन हो, तो तुलसी सहित भगवान्‌का चरणामृत बारम्बार थोड़ा-थोड़ा मुँहमें डाल लो भला। सहारा चाहिए। बुराई छोड़नेके लिए अच्छाई पकड़नेका एक सहारा चाहिए।

कई लोग ऐसे हैं न जो कहते हैं अपने विवेकके प्रकाशमें अपने जाने हुए असत्‌को छोड़ दो। यह असत् कुछ हुकुम देनेसे नहीं छूटता है। निराधार होकर असत्‌को छोड़ नहीं सकते। अपनेको सत् जानकर असत्‌को छोड़ो तुरन्त छूट जायेगा। लेकिन अपनेको सत् तो जानोगे नहीं और असत्‌को छोड़ोगे, तो वह असत् छूटनेवाला नहीं है।

इसी प्रकार आप देखो कि आपके मुखसे दो तरहके शब्द निकलते हैं। एक ऐसा शब्द निकलता है जिससे भगवान्‌की भक्ति आपके जीवनमें भरे

और धर्म होवे और ज्ञान होवे और लोगोंसे प्रेम होवे। एक शब्द ऐसा मुँहसे निकलता है, जिससे गाली दें, राग-द्वेष बढ़े, मोह बढ़े, संघर्ष बढ़े, युद्ध बढ़े, वैमनस्य बढ़े और हम उसमें फँस जायें। तो फिर क्या करना? कि पहले पुण्य शब्दका आश्रय लेना। जोर-जोरसे बोलो—

हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

श्रीकृष्णः शरणं मम। बिना सहारा लिए अगर चाहोगे कि हम बुरे शब्दोंको छोड़ देंगे, बोलेंगे, कि यह तो आदत है, अब कहो कि एकाएक तुमने बोलना ही छोड़ दिया, तो बोलना नहीं छूटेगा, बड़बड़ाने लगोगे। पागलपन आ जायेगा। जब बुरेकी जगह अच्छा बोलना शुरू करोगे तो वह अच्छाई फिर तुम्हारे घरमें बटेगी और तब बुराई छूटेगी। इसलिए भक्ति जो है वह अभ्यास करके आती है। अच्छे नामोंका—भगवन्नामका उच्चारण भगवान्‌की स्तुतिका उच्चारण, पाठका उच्चारण।

श्रीचैतन्य महाप्रभुका मत नामोच्चारण-प्रधान है और श्रीवल्लभाचार्यजीका मत स्तुति उच्चारण-प्रधान है। और श्रीशङ्कराचार्य आदिका जो पक्ष है वह जप प्रधान है। इसमें मन्त्रका जप ज्यादा करना, गायत्रीका जप करना, द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करना, उपांशु जप करना, धीरे-धीरे जप करना, भीतर आना। पाठ जो है वह सामने भगवान् बैठे हुए हैं उनको सुनाना है भला! और सुनाकर अपनेको शुद्ध करना है, क्योंकि अनुभव करना है जैसे बालकको कहानी सुनाते हैं वैसे सुनाना। और भगवान्‌का नाम लेकर कीर्तन करना जैसे दूर बैठे हुए भगवान्‌को पुकारना, व्याकुल होना। वह व्याकुलताका मार्ग है और यह स्नेहका मार्ग है। और जप करके अन्तर्मुख हो जाना यह हृदयमें बैठे हुए परमात्माके पास पहुँचनेका मार्ग है। अन्तर्मुखताका मार्ग है जप और भगवान्‌को पुकारनेका मार्ग है संकीर्तन और सामने बैठे हुए जो भगवान् हैं उनको खुश करनेका मार्ग है स्तुति—उनकी लीला, उनके भक्तोंकी कथा, उनकी स्तुति बारम्बार उनको सुनाना।

यह सब साधन भी अपने-अपने हिसाबसे अपनी जगहपर बैठाये हुए होते हैं। यह नहीं कि सबके लिए सब साधन। कोई ज्यादा जप करने

लगे और खाना-पीना कम हो तो उसके दिमागमें ज्यादा गर्मी चढ़ जाती है। बैठनेका अभ्यास न हो एकाएक तीन-चार घण्टे बैठने लग जाये तो बवासीर होनेका डर रहता है। सब काम धीरे-धीरे अभ्यासके अनुसार करना चाहिए।

पुण्याः शब्दका अर्थ है भगवान्‌का नाम, भगवान्‌की स्तुति, भगवान्‌का संकीर्तन, जो ब्रह्म-बोधक शब्द राशि है, उसका जो आत्म-बोधक शब्द-राशि है उसका, जो दोषोंका निवारण करनेवाली शब्द-राशि है उसका, जप करना, पाठ करना, संकीर्तन करना, पुण्य शब्दको अपने जीवनमें धारण करना। वैसे भगवान्‌का जो स्वरूप है वह तो अच्छे शब्दोंमें भी और बुरे शब्दोंमें भी, शब्द सामान्य रूपसे, सत्ता सामान्यरूपसे, महासामान्यरूपसे विराजमान है। यह समझो कि बड़े-बड़े ग्रन्थ जो बनते हैं वे वाक्योंसे बनते हैं और वाक्य पदोंसे बनते हैं और पद शब्दोंसे बनते हैं और शब्द अक्षरोंसे बनते हैं और अक्षर गिनतीके होते हैं और उन सब अक्षरोंमें शब्द होता है। क ख ग सबके अलग-अलग होनेपर भी, सबकी शक्ल-सूरत अलग, 'क'की शक्ल अलग, 'ख'की शक्ल अलग, और 'क'का उच्चारण अलग और 'ख'का उच्चारण अलग और 'क'का मतलब अलग और 'ख'का मतलब अलग। कं ब्रह्म, खं ब्रह्म बोलते हैं न! तो यह सबका अभिप्राय भी अलग-अलग, लेकिन सबमें जो एक भरा हुआ है, अनेक शब्दोंमें जो शब्द है, उसके रूपमें परमात्मा स्थित है।

बोले—भाई शब्दका उच्चारण भी तो पुरुषके द्वारा होता है। अब देखो, क्रम गया। क्या क्रम गया? कि सब वेदोंमें तो प्रणव है और प्रणव भी शब्द है और वह शब्द है आकाशमें, परन्तु उसके लिए भी बोलनेकी जरूरत तो पड़ती है। बोले नहीं, तो उसका उच्चारण कैसे होवे? तो परावाणीमें स्वयं उच्चरित होता है, पश्यन्ती वाणीमें भी स्वयं उच्चरित होता है। परन्तु अपने जीवनमें, पुरुषके जीवनमें शब्द बोलनेकी आवश्यकता तो पड़ती है, तो बोले—

पौरुषं नृषु।

यह **'नृ'** शब्द है, स्त्री-पुरष सबके लिए है। **'नृ'** शब्द जीवमात्रके लिए है। जो लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते हैं, वे जब नर शब्द देखते हैं, तब

उनके लिए नारी शब्दकी भी जरूरत मालूम पड़ती है। प्राचीन ग्रन्थोंमें यह 'नृ' शब्द जो है यह जाति-मात्रका वाचक है। तो इससे स्त्री और पुरुष दोनोंका ही ग्रहण हो जाता है। 'नृ' माने जीव। जैसे बोलते हैं नृपत। तो अब सबके जीवनमें एक पौरुष है। बिना पौरुषके कोई भी प्राणी नहीं होता। पुरुषत्व सामान्य जो है वह सम्पूर्ण मनुष्योंमें अनुस्यूत है।

अब इसपर विचार करके देखो कि नरमें नृत्व क्या है? पुरुषमें पौरुष क्या है, पुरुषत्व क्या है? भगवान्‌ने जितनी भी चीजें पैदा की हैं, उनको एक विशेषता दी है। आप देखो, दो चेहरे एक सरीखे नहीं होते हैं, कोई-न-कोई फर्क जरूर होता है। एक पेड़में लाखों पत्ते होते हैं, परन्तु दो पत्ते बिलकुल एक सरीखे नहीं होते हैं, गौरसे देखोगे तो साँचेमें कोई-न-कोई भेद है। यदि इसमें विशेषता न हो तो भगवान् उसको उत्पन्न ही न करे। इतनी मछलियाँ जो देखनेमें एक सरीखी मालूम पड़ती हैं, ये चिड़ियाँ जो देखनेमें एक सरीखी मालूम पड़ती हैं, ये मच्छर और चींटियाँ जो सामान्य रूपसे देखनेमें एक सरीखी मालूम पड़ती हैं, इनमें भी भेद होता है। तो ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसके अन्दर कोई-न-कोई विशेष न डाला हो भगवान् ने, वह तो विशेष तो तब नहीं होता जब उनके खजाने में विशेषताकी कमी होती। तो बोले—भाई करोड़ों बनाया, अरबों बनाया, अब खत्म हो गयी बात। कि नहीं, वहाँ विशेषताका तो ऐसा अक्षय खजाना है कि सबकी नाक जुदा-जुदा, सबकी आँख जुदा-जुदा, सबके कान जुदे-जुदे, सबका मन जुदा-जुदा देखो न! दो प्राणीका मन मिलना संसारमें मुश्किल होता है।

हमारे श्रीहरिबाबाजी महाराज, कहते हैं कि अगर गुरु चेलेका मन मिल जाये तो एक ही दिनमें ईश्वर मिलता है, एक क्षणमें, उसी क्षणमें मिलता है। गुरु और चेलेका मन अगर बिलकुल एक भूमिकामें आ जाये, तो गुरुका जो अनुभव है, वह शिष्यमें संचारित हो जायेगा और स्त्री-पुरुष दोनोंका मन अगर बिलकुल मिल जाये तो सृष्टिपर विजय प्राप्त कर लेंगे। क्योंकि सबका मन अलग-अलग होता है तो एकका मन एकमें मिल गया तो सबसे बलवान हो गया। सब कच्चे धागे अलग-अलग हैं और यहाँ तो दो धागे एकमें मिल गये, सबसे मजबूत होगया।

तो भगवान्‌ने सबके अन्दर एक-एक विशेषता दी है। एक ऐसी विशेषता है जिसके बिना मनुष्यको मनुष्य नहीं कह सकते, जिसके बिना प्राणीको प्राणी नहीं कह सकते, जिसके बिना जीवको जीव नहीं कह सकते। गोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है—

प्राण प्राणके, जीवन जी के, जिव सुखके सुखराम।

सबकी साँस अलग-अलग चलती हुई है, लेकिन हवा तो सबमें एक है। इसी तरह सबके शरीरमें अलग-अलग जीव रह रहे हैं, लेकिन जीवन सबमें एक है। सब पुरुष-स्त्री अलग-अलग हैं, लेकिन इनमें पुरुषत्व सामान्य बिलकुल एक है। वह जो पुरुषत्व सामान्य है, वह कौन है? तो भगवान् श्रीकृष्ण बता रहे हैं कि वह मैं हूँ। अनेकमें विद्यमान जो एक है उसको जानो। आध्यात्मिक प्रगति जो है वह अनेकमें एकता ढूँढ़ना है और अनेकमें-से एक कैसे निकला? इसका पता लगाना यह वैज्ञानिक प्रगति है। वैज्ञानिक प्रगति है कि एकमें-से अनेक कैसे निकला! और क्या है? बोले—

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्। १८.२०

विभक्त पदार्थोंमें जो अविभक्त छिपा हुआ है वह सात्त्विक ज्ञान है। अच्छा भाई·····।

❖

९. पृथिवी, अग्नि, सर्वभूतों और तपस्वियोंमें तत्त्व-दृष्टि

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

अर्थ :—पृथिवीमें पुण्य गंध और अग्निमें तेज मैं हूँ। और सब प्राणियोंमें जीवन तथा तपस्वियोंमें तप मैं हूँ॥ ९॥

: ९.१ :

पृथिवीमें और अग्निमें मैं हूँ

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्र अर्जुनसे अपनी पहचान बता रहे हैं कि मैं कौन-कौनसा रूप धारण करके लोगोंके बीचमें रहता हूँ और लोग मुझे पहचान नहीं पाते। क्योंकि यह जो भगवद्गीता है यह दो मित्रोंकी परस्पर बातचीत है। यह ऐसा नहीं है, जैसे कोई बहुत बड़ा दार्शनिक, बहुत बड़ा गुरु अपने शिष्यको कोई उपदेश कर रहा हो। यह तो ऐसा है जैसे एक मित्र अपने मित्रसे बातचीत कर रहा हो। हमारे वृन्दावनके एक संत कहा करते थे कि समझाते समय भगवान् श्रीकृष्णने एक हाथ अर्जुनके कन्धेपर रख दिया और बोले—मित्र! तुम मुझे पहचान नहीं पाते, मैं तो हर समय, हर जगह, हर चीजमें तुम्हारा पीछा करता डोलता हूँ।

एक बार प्रयागराजमें गीता ज्ञान-यज्ञ हुआ था। विष्णु दिगम्बरजी महाराज, उसमें थे। मैंने आपको सुनाया होगा कभी बहुत बड़ी सभा जुड़ी हुई थी, विद्वानोंके व्याख्यान हो रहे थे। एक अवधूत आगया उसमें—वह मुस्टंडा, हाथमें डंडा, केवल कमरमें कौपीन! बोला—मैं व्याख्यान दूँगा और जब खड़ा हुआ बोलनेके लिए तो बोले—यह तो एक मित्रने अपने मित्रसे बातचीत की है। इसलिए जबतक तुम कृष्णसे मित्रता नहीं जोड़ोगे, तबतक तुम्हारी समझमें बात आवेगी नहीं। मित्रके इशारे मित्र ही समझ सकता है। अर्जुनकी समझमें गीता इसलिए आयी कि वह कृष्णका मित्र था। अगर कोई

कृष्णसे मैत्री न जोड़े, उससे प्यार न करे और चाहे कि गीता हमारी समझमें आ जाये, तो गीता नहीं समझमें आती।

कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनंजयः।

कृष्णकी आत्मा अर्जुन है, अर्जुनकी आत्मा कृष्ण हैं; दोनों हिलमिलके एक हो गये हैं और परस्पर बातचीत कर रहे हैं।

उपनिषद्का यह दोहन है। समझो कि उपनिषद् एक गाय है और कुरुक्षेत्रकी भूमिमें श्यामसुन्दर अहीरका बालक बनकर वह गाय दुह रहे हैं और उससे जो दूध निकलता है उसको बछड़ा बनकर अर्जुन पी रहे हैं। तो यह जो गोदोहनकी लीला व्रजकी थी उसको कुरुक्षेत्रकी रंगभूमिमें—

दुग्धं गीताऽमृतं महत्—इस महान् गीताऽमृत दोहनके रूपमें वही भगवान् कर रहे हैं।

अब देखो, **पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च**। एक उपनिषद् है—**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीं यमयति यस्य पृथ्वीशरीरं यं पृथिवी न वेद**। जो इस पृथिवीमें रहता है और पृथिवीका नियमन करता है, इसे काबूमें रखता है जिससे यह धरती फट नहीं जाती। एक ऐसी चीज़ इस धरतीमें रह रही है जो धरतीमें ही रहती है, धरतीको काबूमें रखती है, जिससे यह धरती दृढ़ बनी हुई आकाशमें घूम रही है और फटती नहीं है। वह कौन-सी स्नेह-पट्टी है पृथिवीमें, वह कौनसा प्रेम छिपा हुआ है पृथिवीमें जो पृथिवीके कण-कणको एक साथ जोड़कर रखता है? पृथिवीके अन्दर वह कौन-सी स्नेह-पट्टी है, वह कौनसा आकर्षण है?

तो भगवान् बताते हैं—**पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ**। इस पृथिवीमें एक गन्ध है और वह गन्ध पवित्र है, पुण्य है। पुण्य शब्दका अर्थ पावन होता है। पवित्रमें और पावनमें थोड़ा फर्क होता है। पवित्र शब्दका प्रयोग उसके लिए होता है जो खुद पवित्र हो और पावन शब्दका अर्थ होता है जो दूसरेको भी पवित्र कर दे। जैसे 'पतितपावन'—जो पतितोंको भी पवित्र कर दे वह पतितपावन है। पावन माने पवित्र करनेवाला और पवित्र माने स्वयं पवित्र। यह पुण्य क्या है? कि 'पुनाति', जो हृदयको शुद्ध करता है।

अब यह हृदयका शुद्ध होना क्या है? बोले—कोई ऐसी गन्ध बताओ जिसको सूँघकर हृदय शुद्ध हो जाता है। एक तो मलिन गन्ध होती हैं, जो

गन्ध नासिकाके द्वारा प्रविष्ट होकर हृदयमें वासनाको उभाड़ती हैं और एक गन्ध वह होती है जो हृदयमें वासनाको नहीं उभाड़ती है, बल्कि वासनाको शान्त करती है।

अच्छा, तुलसीकी गन्धका आपको अनुभव है? तुलसीकी गन्ध बहुत विलक्षण है, अपना सानी नहीं रखता। कोई दुनियामें उसकी बराबरीकी कोई नहीं, गन्धमें। परन्तु उसके सूँघनेसे भोगकी वासना उदय नहीं होती, भोगकी वासना शान्त होती है। अद्‌भुत गन्ध है। गंगाजीकी मिट्टी, आपके ध्यानमें होगा, कभी मौका पड़ा हो, वह अलग-अलग परत-पर-परत बैठी हुई होती है। इतना बड़ा ढेला उसका चौड़ा-चौड़ा उठा लो और सूँघो। उसकी गन्धमें वासनाको शान्त करनेकी शक्ति है, वैराग्य देनेकी शक्ति है। यों कहो पृथिवीमें एक ऐसी गन्ध है जो गुलाबमें भी है, कमलमें भी है, चमेलीमें भी है, बेलामें भी है। गन्ध तो सर्वत्र है। अब उस गन्धको पाप बनाना या पुण्य बनाना यह मनुष्यके हाथमें है।

अब एक दूसरी रीतिसे यह बात आपको बता रहा हूँ। जैसे आज एकादशी है। तो एकादशी तो कालका एक अवयव है, कालका एक हिस्सा है। समझो कि महाप्रलयतक एक काल होता है, कल्पपर्यन्त एक काल होता है, युगपर्यन्त एक काल होता है, मन्वन्तरपर्यन्त एक काल होता है, युग-पर्यन्त एक काल होता है, संवत्सरपर्यन्त एक काल होता है, ऋतुपर्यन्त एक काल होता है, मासपर्यन्त एक काल होता है, पक्षपर्यन्त होता है, कार्तिक शुक्ल एकादशी है आज। पन्द्रह तिथियोंमे-से एक तिथि है, सात दिनोंमें-से एक दिन है, तारीखोंमें-से एक तारीख है। तो यह कालका अवयव होनेसे एक सामान्य तिथि है, परन्तु पुण्यवान मनुष्य आजके दिन जब व्रत रहते हैं, तुलसीका विवाह करते हैं, भगवान्‌का स्मरण करते हैं, तो वही कालका सामान्य अवयव पवित्र हो जाता है। रोज-रोज दिन रहता है, रोज-रोज तिथि रहती है, लेकिन आजकी तिथिको पवित्र बनानेकी जिम्मेवारी किसपर? तो मनुष्य पर। आज व्रत करो तो आजका दिन बड़ा भारी पवित्र, बड़ा भारी पुण्य, बड़ा भारी पावन! और व्रत न करो, आज चोरी करो, अनाचार करो, बुरी-बुरी चीजें खाओ, तो आजके दिनको गन्दा करनेवाला कौन? कि मनुष्य।

तो कालके सारे अवयव मनुष्य जाति ही नहीं नहीं, प्राणियोंके प्रारब्धसे, जीवोंके प्रारब्धसे बने हुए हैं, लेकिन बुद्धिमान मनुष्य चाहे तो कालमें-से एक दिनको बिलकुल मीठा, पवित्र बना सकता है। बात क्या है कि आज नारायण और तुलसीका विवाह हुआ है। तो जैसे अपने घरमें लड़कीके विवाहके दिन उत्सव होता है, कि आज हमारी लड़कीका व्याह है, आज बारात आवेगी, आज खिलावेंगे, आज मेहमान आवेंगे, आज गाना-बजाना होगा, आज नृत्य होगा, लड़की के व्याहके दिन चित्तमें उत्साह होता है कि नहीं? तो चाहे तो आजके दिनको मीठा बना सकते हो। बिलकुल मधुर-मधुर, शहनाई बजवा लो अपने दरवाजेपर और चाहो तो आजका दिन रोनेमें काट दो। यह मनुष्यकी बुद्धिपर बात हुई। ईश्वरके द्वारा सब बराबर और शास्त्रके द्वारा, धर्मके द्वारा आज विशेष। और मनुष्य चाहे तो धर्मानुष्ठान करके आजकी विशेषताका आनन्द ले ले और मनुष्य चाहे तो पापानुष्ठान करके आजकी विशेषताका आनन्द खो दे।

इसी प्रकार यह जो धरती बनायी है भगवान्‌ने, इसमें जो गन्ध तन्मात्रा है वह परम पवित्र है। गन्ध हमारे तनको मनको पवित्र करनेके लिए है। लेकिन हम अपने मनमें पापवासना जोड़कर उसको अपवित्र बना सकते हैं, गन्दा बना सकते हैं। यह पुरुषका शरीर है, भगवान्‌का बनाया हुआ, स्त्रीका शरीर है भगवान्‌का बनया हुआ। अब इनके सम्बन्धको पाप बनाना या पुण्य बनाना, यह मनुष्यकी बुद्धिपर निर्भर है। मनुष्य चाहे तो इस सम्बन्धको पाप बना दे और मनुष्य चाहे तो इस सम्बन्धको पुण्य बना दे।

तो यह जो धरतीमें गन्ध है—वैसे वर्णन करते हैं महात्मा लोग कि जब जेठमें धरती तप जाती है और आषाढ़में भी धरती खूब तप लेती है, उसके बाद जब पहली बरसा होती है तो समतल मैदानमें जो धरती है, उसमें-से वह अद्‌भुत गन्ध निकलती है महाराज, कि हाथी उसको सूँघ-सूँघ करके, उसकी हवासे मतवाले हो जाते हैं। इतनी अद्‌भुत गन्ध धरतीमें-से निकलती है, पशु-पक्षियोंको भी मस्त बनानेवाली। तो वह पवित्र गन्ध कौन है? बोले, चमेलीमें जो गन्ध है सो ईश्वरकी गन्ध? कि बेलामें जो गन्ध है सो ईश्वरकी गन्ध? कि कमलमें जो गन्ध है सो ईश्वरकी गन्ध? गुलाबमें जो गन्ध है सो ईश्वरकी गन्ध? कि खसमें जो गन्ध है सो

ईश्वरकी गन्ध? बोले—देखो भाई इन सब गन्धोंमें जो एक गन्ध है, बेलाके बीज और आकार और उसके गुणको छोड़ो, उसमें जो गन्धमात्र है उसको ग्रहण करो। कमलमें जो शक्ल-सूरत है, नाम है, गुण है उसका धर्म है, उसकी अवस्थाको हटाकर उसमें जो गन्धमात्र है उसको ग्रहण करो। ईश्वरको पहचाननेका तरीका ही यह है कि नामरूपके भीतर जो अस्तिरूप गन्ध है, जो भातिरूप गन्ध है, जो आनन्दरूप गन्ध है, उसके रूपमें ईश्वर बैठा हुआ है। यही ईश्वरको ढूँढ़नेका तरीका है। गेंदा, चमेली, गुलाब, कमल इनकी शक्ल जैसी बनी है, किसीकी छोटी और किसीकी बड़ी, कोई लाल, कोई नीला, कोई पीला रंग सबके जुदा-जुदा, नाम सबके जुदा-जुदा, शक्ल-सूरत सबकी जुदा-जुदा और दवाओंमें काम आनेके लिए गुण सबमें जुदा-जुदा और ऋतु सबकी जुदा-जुदा, कोई जाड़ेमें फूले और कोई गर्मीमें फूले, ऋतु सबकी जुदा-जुदा, अवस्था सबकी जुदा-जुदा, कोई एक दिनमें कुम्हला जाये, कोई छह महीने रहे; लेकिन ये सब अलगाव होनेपर भी गुण-अवस्था-नाम-रूप-शक्ल-सूरत सब अलग-अलग होनेपर भी जो सबमें गन्ध की एकता है, एक गन्ध है, वह गन्ध ऐसी परम पवित्र गन्ध है, जो राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली नहीं है, उसके रूपमें ईश्वर ही है भला!

जब कभी बद्रीनाथकी यात्रा करते हैं, गंगोत्रीकी यात्रा करते हैं, महाराज, रास्तेमें कभी ऐसी गन्धका झोंका आता है, तबीयत हो जाती है कि बस यहीं बैठ जाओ, आगे जानेकी कोई जरूरत नहीं है। अरे, यह तो गन्ध नहीं है, यह तो ईश्वर मिल गया। तो वह पवित्र गन्ध जो संसारकी वासनाको निर्मूल कर देती है, कि अरे, अब घर लौटनेकी जरूरत नहीं, अब बद्रीनाथ जानेकी जरूरत नहीं, ऐसा होता है, अब आगे जाकर क्या करेंगे! अब पीछे लौटकर क्या करेंगे! बस मस्त बैठ जाओ इसी गन्धमें। इतना प्यारसे भरा, इतना मिठाससे भरा, इतना आनन्दसे भरा यह गन्ध ईश्वरके सिवाय और कौन हो सकता है! तो पृथिवीमें इस पुण्य गन्धके रूपमें ईश्वर है जो अनेकमें एक है।

तेजश्चास्मि विभावसौ—विभावसु माने अग्नि देवता। विभावसुमें है तेज। एक बात और है 'तेजश्चास्मि विभावसौ'में। पहले बतायी बात कि

सूर्यमें जो प्रभा है सो भगवान्, चन्द्रमामें जो प्रभा है सो भगवान्। अब बताते हैं कि अग्निमें जो तेज है सो भगवान्। तो अब बहुत मोटी नजरसे अगर देखें तो यह मनुष्यका शरीर जो बना है, इसमें पृथिवीकी तो गन्ध है और गन्ध भगवान्की विभूति है, भगवद्रूप है। और मनुष्यके शरीरमें रस है, वह भी भगवद्रूप ही है। यह जो बड़ी रसीली आँखोंसे किसीको देखते हैं और बड़ी रसीली वाणीसे किसीसे बोलते हैं और बड़ा रस भरा व्यवहार करते हैं, तो यह नहीं समझना वह हमारा है। वह हमारे भीतर रसरूप जो परमात्मा भरा हुआ है, यही हमारे जीवनमें प्रकट होता है। तो शरीरमें हमारे जो पवित्र गन्ध है सो भगवद्रूप है, जो रस है सो भगवद्रूप, जो चमक है सो भी भगवद्रूप। चमक भी सबमें होती है। काले रंगमें भी चमक होती है, गोरे रंगमें भी चमक होती है। वह चन्द्रमा और सूर्यकी चमक ही हमारे जीवनमें चमकती है।

अब बोले भाई कि तेज भी होता है सबके जीवनमें। चींटीके जीवनमें भी तेज होता है। कभी-कभी ये ऐसी तेजस्विनी बनती हैं कि कितना भी उनको रोको, वे तो तुम्हारे ऊपर धावा बोल देंगी, हटाते रहो उनका तेज। तो यह तेज हमारे सबके जीवनमें है। एक-एक वस्तुमें है। एक नागकाव्यमें एक श्लोक है—यह धरतीमें जो धूल होती है, उसमें भी तेज होता है। क्या तेज होता है? कि,

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानं अभिरोहति।

जब हम जूतेसे धूलको रौंदते हैं तो वह उठकर रौंदनेवालेके सिरपर जाकर बैठ जाती है। उस रजमें इतना तेज है कि कहती है कि हम तुम्हारे पाँवसे रौंदनेके लिए नहीं हैं। तुम पाँवसे रौंदोगे तो हम तुम्हारे सिरपर बैठेंगी। तो सबके भीतर थोड़ा बहुत तेज होता है। यह तेजस्विता कहाँसे आती है? कि यह अग्निका धर्म है। वह तो समझो 'शब्द'के बारेमें जैसा बताया था, वैसा ही इसका शास्त्र है। कोई कहते हैं कि रूप जो है यह गुण है और अग्नि तत्त्व है और कोई कहते हैं कि रूप तन्मात्रा कारण है और अग्नि कार्य है। कोई कहते हैं कि रूप ऐन्द्रियक है और उसके आधार रूपसे जो सत्ता है वह अग्नितत्त्व है, असलमें ब्रह्म ही अग्नि है। हमारी इन्द्रियोंसे यह रूप मालूम पड़ता है, उसका आधार बनकर वही बैठा हुआ है।

इस प्रसंगको अगर छोड़ भी दें तो तेज तो सबके भीतर है। यह बताया शास्त्रमें कि देवहूतिके जो पति थे कर्दमजी, वे बड़े तेजवाले थे। भागवतमें आया है—**तेजीयांसम्**—बड़े तेजस्वी थे। उनके सामने हिम्मत न पड़े देवहूतिकी बोलनेकी, थर-थर काँपे, लेकिन अपने प्रेमसे, अपने संयमसे, अपने नियमसे उसने उनको सन्तुष्ट कर लिया था।

इसका अर्थ है कि सभीके जीवनमें कुछ-न-कुछ तेज होता है—पत्नीके जीवनमें भी तेज होता है, पुत्रीके जीवनमें भी तेज होता है, बहनके जीवनमें भी तेज होता है और भाईके जीवनमें भी तेज होता है, बालकके जीवनमें भी तेज होता है। कभी बच्चे हैं नन्हें-नन्हें, उनमें भी तेज देखनेमें आता है। यह सबके भीतर जो तेजस् तत्त्व है, यह कहाँसे आया? बोले—अग्निसे।

तेजको कई तरहसे देखो! सोनामें तेज है। हमारे पेटमें जठराग्नि है, उसमें तेज है। हमारे चाममें जो चमक है, उसमें तेज है। हमारी वाणीमें भी तेज है, नेत्रमें भी तेज है। हमारे चाल-चलन, व्यवहारमें भी तेज है। सब तेजस्वी पदार्थोंकी उपाधियोंको हटा दो। बिजलीमें भी तेज है। खानेमें भी तेज है। पेटमें भी तेज है। लकड़ीमें भी तेज है। तो नाम-रूप हटाओ। नामको हटाकर अस्ति, भाति, प्रिय मात्र, अस्ति, भाति और आनन्दरूप जो तेज सबमें व्याप्त है, उसको देखो।

अब उस तेजके रूपमें कौन है? उस तेजके रूपमें सबको उत्तेजन देनेवाला परमात्मा है। कभी-कभी जैसे हमारे शरीरमें-से सुगन्ध प्रकट होती है, रसीलापन प्रकट होता है, वैसे कभी आवश्यकता होनेपर तेजस्विता प्रकट होती है।

''**तेजश्चास्मि**'' में जो 'च' है वह वायुका वाचक है, यह भूल नहीं जाना : **तेजश्चास्मि विभावसौ**। *विभावसौ पुण्यं तेजः* और *चकारः वायौ पुण्य स्पर्शः अहमस्मि*—भगवान् बोलते हैं कि अग्निमें पुण्य तेज मैं हूँ। एक तेजस्वी ऐसा होता है जो धर्मको दबाकर, प्रेमको दबाकर, न्यायको दबाकर, दूसरेके प्रति अन्याय करनेके काममें आता है। तो भगवान् यह बात बताते हैं कि जो तेज अन्याय, अधर्म, दुराचरण करनेके काममें आता है, उस तेजमें तो वासनाकी उपाधि लग गयी क्योंकि बिना वासनाके कोई अन्याय

नहीं कर सकता। बिना वासनाके कोई अधर्म नहीं कर सकता। बिना वासनाके कोई बुरा कर्म नहीं कर सकता। तो वासनाकी उपाधिसे तेजका कार्यान्वित होना, शुद्ध तेजका कार्यान्वित होना नहीं है, वासना विशिष्ट तेजका कार्यान्वित होना है। और नारायण कहो, जहाँ धर्मके लिए तेज कार्यान्वित होता है, अधर्मको दबाकर धर्म आगे बढ़े, अन्यायको दबाकर न्याय आगे बढ़े और दुराचरणको दबाकरके सदाचरण आगे बढ़े, वहाँ वह पुण्य तेज भगवान् है। जहाँ असत्को सत् दबावे, जहाँ तमको प्रकाश दबावे, जहाँ अज्ञानको ज्ञान दबावे वहाँ समझना कि पवित्र तेज प्रकट हुआ है। तो इसका मतलब हुआ एक मलिन तेज होता है और एक शुद्ध तेज होता है। तो मलिन तेजमें भी तो भगवदंश ही है भला; यहाँ तो भगवत्सत्ताके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। शीशा लाल है, कि काला है, कि नीला है, कि पीला है, रोशनी तो एक ही है। लेकिन वह चोरके हाथमें है कि साहुकारके हाथमें है, उससे दूसरेको रास्ता बताया जायेगा कि उससे दूसरेको गुमराह किया जायेगा, इसका फर्क पड़ता है।

तेजश्चास्मि विभावसौ का अर्थ है कि वैसे तो तेजरूपसे सर्वत्र भगवान् ही विद्यमान हैं। जितना अग्नितत्त्व तेज है वह सब, सूर्यमें जो प्रभा है, चन्द्रमामें जो प्रभा, जलमें रस है, पृथिवीमें गन्ध है, वह सब भगवान् ही हैं। लेकिन उसमें पुण्यका विशेषण लगाकर तब साधन और असाधनका भेद बनेगा। साधन-असाधनका भेद जो नहीं बनावेगा व्यवहारमें, उसको फिर पराधीन होना पड़ता है। क्यों? कि जब अपने मनकी करनी हुई, तब सब भगवान् ही हैं—ऐसा बढ़िया बता दिया। चोरी करके आये बोले यह भी भगवत्प्रेम है, बदमाशी करके आये बोले—इसमें भगवान् है। लेकिन जब दूसरा कोई तुम्हारी चोरी करेगा और जब दूसरा बदमाशी करेगा, तब! तब उसको कैसे रोकोगे? उस समय भी कहो इसमें भी भगवान् ही है। इससे तो व्यवहारका लोप हो जायेगा। जो लोग शास्त्रकी रीतिसे वेदान्तको नहीं समझते हैं, केवल सुन-सुना लेते हैं, उनकी समझमें यह बात नहीं आती है। उसमें तो व्यवहारका ही लोप हो जायेगा और व्यवहारका लोप करना वेदान्त को इष्ट नहीं है। वेदान्तकी दृष्टिसे व्यवहारमें धर्म और अधर्म, दुराचार और सदाचार, न्याय और अन्याय यह सब माना हुआ है। जब शत्रु आक्रमण

करेगा तब कहोगे कि यह अन्याय कर रहा है और तुम आक्रमण करोगे तो कहोगे हम न्याय कर रहे हैं।

यदि दो पक्ष नहीं हों तो ताजगी नहीं बनी रहती। ईश्वर कभी-कभी बड़ी कृपा करता है। लोग उसको उस समय नहीं समझते हैं, बादमें समझते हैं कि ईश्वरकी बड़ी कृपा। स्वामी दयानन्दजी महाराजका जन्म हुआ और महाराज, उन्होंने मूर्तिपूजाका खण्डन शुरू किया, अवतारका खण्डन शुरू किया, वर्णाश्रमका खण्डन, श्रद्धाका खण्डन, जन्मसे वर्ण होता है, इस बातका खण्डन जब शुरू किया तो लोगोंने पूछा कि खण्डन क्यों करते हो? तो उन्होंने एक ही जवाब दिया, बोले—वेदोंमें यह सब नहीं है।

अब महाराज! काशीमें, नवद्वीपमें जितने पंडित थे—वैशेषिकके और व्याकरणके, न्यायके, वैशेषिकके और मीमांसाके। उस समय उनमें-से बहुत थोड़े लोग ऐसे थे जो जानते थे कि वेदमें क्या है और क्या नहीं है। जब स्वामी दयानन्दने कहा कि वह सब वेदमें नहीं है तो वह लहर आयी महाराज, सनातन धर्मी पंडितोंमें कि वैयाकरणों, नैयायिकों, वैशेषिकों सब वेद पढ़ने लगे। वेदका अध्ययन-अध्यापन जो सुस्त पड़ गया था, उसमें ताज़गी आगयी। अब जहाँ देखो, तहाँ सनातनधर्म प्रेस! मुरादाबाद अलग वेद छाप रहा है और भारत धर्ममण्डल अलग वेदोंकी व्याख्या कर रहा है, पुराणोंकी व्याख्या कर रहा है, अवतार भी वेदोंमें, मूर्तिपूजा भी वेदोंमें है, श्राद्ध भी वेदोंमें है। अब वेदकी पढ़ाई जारी हुई, सब लोग जाग गये। स्वामी दयानन्दजी न आते तो लोग व्याकरण, काव्य और नाटक पढ़नेमें ही लगे रह जाते।

अपने देशमें भी महाराज, बुरा मत मानना, ये सांस्कृतिक कार्यक्रम ऐसे आये! हमारी भारतीय संस्कृति क्या थी? क्या बस नाचना, गाना, बजाना? बस इतना ही? विदेशमें सांस्कृतिक कार्यक्रम करनेके लिए लोग जाते तो क्या करने जाते? नाचने जाते, गाने जाते, बजाने जाते! बस जैसे छोकरियोंका यह देश हो, भारतवर्षका काम बस नाचना-गाना ही रहा हो। ईश्वरने बड़ी कृपा की। ऐसा प्रसंग आगया, लोग तो डरते हैं। ईश्वरकी क्रियामें कहीं डर नहीं होता क्योंकि आखिरी जीत ईश्वरकी है, धर्मकी है, न्यायकी है और सत्यकी है। तो डरनेका कहीं कोई प्रसंग नहीं है। हम जानते हैं कि मरनेके बाद भी

हम अमर ही रहते हैं। लोक-दृष्टिसे जो मरना होता है, उस मरनेसे हमारी मृत्यु नहीं होती, यह बात हम जानते हैं। सुषुप्ति दशामें बिलकुल जड़ हो जानेपर भी हम चेतन ही रहते हैं, यह हमको मालूम है। सुषुप्तिकी जड़ता हमारे चेतनपनेका लोप करनेमें समर्थ नहीं है। और मृत्युके द्वारा जो शरीरका नाश है, वह हमको मारनेमें समर्थ नहीं है। इसी प्रकार हम जानते हैं कि विपत्तियोंके पहाड़ और दुःखोंके समुद्र हमको दुःखी बनानेमें समर्थ नहीं हैं। यह बिलकुल पक्की बात है। विपत्तियोंके पहाड़, दुःखोंके समुद्र हमको दुःखी बनानेमें समर्थ नहीं और सुषुप्तिकी जड़ता, बेहोशी हमको अचेतन बनानेमें समर्थ नहीं और मृत्यु भी हमारी अमरताका नाश करनेमें समर्थ नहीं। लेकिन महाराज, लोगोंकी जो दृष्टि है, ऐसी सुस्त पड़ गयी, ऐसे जनखे पैदा हो गये, हमारी वीरता, बहादुरीकी ओरसे लोगोंकी दृष्टि इतनी हट गयी कि उस देशके लोग जिनका कहना था—**तस्माद्युध्यस्व भारत (२.१८)**; जो कहते थे **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। (२.३७)** उस देशके लोग बिलकुल गीदड़ सरीखे हो गये, उनकी बहादुरीका लोप हो गया।

भगवान्‌ने कहा नहीं भाई, बहादुरीके रूपमें, शौर्यके रूपमें मैं ही हूँ, तेजके रूपमें मैं ही हूँ। पौरुषके रूपमें मैं ही हूँ। मेरे इस रूपका तिरस्कार मत करो, मेरे इस रूपको दबाओ मत। अब मैं तुम्हारे अन्दर अपने इस रूपको दबाना चाहता हूँ। ऐसे-ऐसे मनुष्य बनाकर।

तो तेजके रूपमें कौन है? वह जो सुषुप्त तेज है, सोता हुआ जो तेज है, उसको जागना चाहिए। राख के भीतर जो छिपी हुई आग है उसको धधकना चाहिए—**तेजश्चास्मि विभावसौ।** उसके भीतर छिपा हुआ जो तेज है वह तेज प्रकट हो जाना चाहिए। तो तेज कोई दूसरेका स्वरूप नहीं, ईश्वरका स्वरूप है। लेकिन वह तेज जब चोरी करनेके लिए होता है अन्याय करनेके लिए होता है, अधर्म करनेके लिए होता है, दुराचार करनेके लिए होता है तो वह वासनासे युक्त हो जानेके कारण शैतान बन जाता है और जब वह धर्मके लिए होता है, न्यायके लिए होता है अपने हकके लिए होता है, उस समय वह वासनासे युक्त न होनेके कारण ईश्वरके सच्चे स्वरूपमें प्रकट होता है। तो हमें इसका अनुसन्धान करना चाहिए कि हमारे अन्दर वह अग्निका तेज कहाँ छिपा हुआ है।

अब देखो, 'च' में भरा हुआ है वायु। वायु क्या है? बोले—शरीरको जो वायु लगती है –हवा, उसकी जो पहचान बतायी है वह है अनुष्णा; ठीक है भला, न गर्म न सर्द। वायुका जो स्पर्श होता है वह न गरम होता है न ठंडा। लेकिन हम लोगोंको जो लगता है गरम या ठंडा, यह गर्म-ठंड़ा क्या है? एक सज्जनने तीन गिलास पानी अपने सामने रखा। एक में खूब गर्म, एकमें बर्फसे ठंडा किया हुआ और एकमें मामूली पानी। अब जब गर्म पानीवाले गिलासमें दायाँ हाथ डाला और ठंडे पानीवाले गिलासमें दूसरा बायाँ हाथ डाला और एक मिनट रहने दिया दोनोंको और फिर दोनोंको निकालकर मामूली पानीमें एक साथ डाल दिया। तब आप बताओ उनके अनुभवमें क्या फर्क पड़ा? गर्मपानी वाले हाथको वह गिलासका पानी बड़ा ठंडा लगता था और बर्फ वाले हाथको वही पानी गर्म लगता था। एक ही आदमीको एक ही पानी एक हाथको मालूम पड़े कि ठंडा है और दूसरेको मालूम पड़े गर्म।

आपके ध्यानमें न बैठती हो बात तो ऐसा करके देख लेना भला! एक ही गिलासका पानी, एक ही समय, एक ही आदमीको एक हाथसे गर्म लगता है और एक हाथको ठंडा लगता है। ऐसा क्यों हुआ कि तुम्हारे हाथका जो सन्तुलन था, वह बिगड़ा हुआ है; एक हाथ गर्म हो गया और एक हाथ ठंडा हो गया है। इसलिए एक ही चीज़ दो तरहकी मालूम पड़ रही है। असलमें बुद्धिका सन्तुलन बिगड़ जानेसे ही यह ईश्वर भी दो तरहका मालूम पड़ता है। यह ईश्वर जो दो तरहका मालूम पड़ता है उसमें भी हमारी बुद्धिका सन्तुलन नष्ट हो गया है, बिलकुल ईश्वर एक ही तरहका है।

यह जो वायुका स्पर्श होता है वह कैसा? बोले गर्मवालेके लिए ठंडा और ठंडावालेके लिए गर्म। जैसे हमलोग यहाँसे बद्रीनाथ जब जाते हैं, ऋषिकेशमें खूब गर्मीका अनुभव करके जाते हैं तो जोशीमठ खूब ठंडा लगता है और जब वहाँसे आगे बद्रीनाथ चले जाते हैं और वहाँ खूब ठंडे हो लेते हैं और जब लौटते हैं तो जोशीमठ गर्म लगता है। तो जोशीमठ गर्म है कि ठंडा? बोले—जोशीमठ तो जैसा है वैसा ही है, तुम जब गर्म रहते हो तो वह ठंडा रहता है और तुम जब ठंडे रहते हो तो वह गर्म रहता है। तो ईश्वरमें जो स्पर्श है, यह वायुका जो स्पर्श है वह कैसा है? गर्म है कि ठंडा?

बोले—ऐसा वायुका स्पर्श है जो न गर्म है न ठंडा—अनुष्णशीत, कहीं-कहीं ठंडी हवा चलती है कहीं गर्म हवा चलती है, कहीं-कहीं समशीतोष्ण हवा चलती है। हमारे शरीरकी ऐसी स्थिति होती है।

तो बोले-भाई, ईश्वर कौन है? अब पहचानो—सब उपाधियोंको हटा दो। गर्म-गर्म जो उपाधियाँ हैं, उनको हटा दो और ठंडी-ठंडी जो उपाधियाँ हैं उनको हटा दो और शरीरमें दो एक दर्जेकी कोई गरमी है उस गरमीपर-से भी अपना चित्त हटा लो; और फिर उसके बाद देखो, सब स्पर्शोंको जीवनदान देनेवाला, सब स्पर्श जिससे स्पर्शान्वित हुए हैं वह असली स्पर्श कौन है? वह ईश्वर है।

सच पूछो तो ईश्वर हमको दिनभरमें लाखों बार छूता है। हमारे भीतर रहकर ईश्वर साँस लेता है और उसकी साँस हमारे हृदयमें हमको लगती है। वह अपने कोमल कर कमलोंसे हमको स्पर्श करता है, कभी हमको अपनी गोदमें लेता है तो उसकी साँस भी हमको लगती है। ईश्वर हमसे दूर नहीं है, ईश्वर हमारे अनुभवमें है और ईश्वरके अनुभवमें हम हैं। हम उसको देखते हैं और वह हमको देखता है। वह हमारा प्यारा, वह हमारा ईश्वर यहीं मौजूद है, इसी समय इसी जगह और इन्हीं रूपोंमें; परन्तु उसको प्रकट करनेके लिए जो बुद्धि चाहिए, जो पहचान चाहिए उस पहचानकी जरूरत है। ईश्वर कहीं दूर नहीं है, ईश्वर तो बिलकुल अपने पास है।

: ९.२ :

सब भूतों में जीवन मैं

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।

अब भगवान्! श्रीकृष्ण एक ऐसी पहचान बताते हैं जो सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर है। सबके भीतर भगवान् हैं, साफ-ही-साफ हैं। स्पष्टम्-स्पष्टम्। बिलकुल साफ-साफ, कोई दुराव, कोई छुपाव भगवान्ने रखा नहीं और ऐसे लोगोंने नहीं पहचाना तो अपने श्रीमुखसे बता भी दिया।

नारायण कहो! एक होता है अस्ति; और एक होता है भवन—होता हुआ; और एक है है भविष्यत्। जो है सो तो भगवान् है—यह बात बिलकुल पक्की, लेकिन जो होता हुआ है सो भी भगवान् है। यह ऐसे समझो कि कोई चीज है, फिर बनी और बनायी गयी। तो अस्ति है, यह तो उसका स्वरूप हुआ और वह किसी रूपमें बन गयी—यह परिणाम हुआ। स्वयं बन गयी और किसी कर्ताने संकल्पपूर्वक उसको वैसा बनाया? यह बनायी गयी। जब लोग प्रश्न करते हैं, कि यह सृष्टि किसने बनायी? वे दो बात तो मान लेते हैं और तीसरी बातके बारेमें प्रश्न करते हैं। यह विचार नहीं किया कि सृष्टि है कि नहीं। अच्छा, है तो फिर हुई कि नहीं हुई है? हुई और हुई तो अपने आप हुई कि किसीने की? तो इस सृष्टिका कर्ता कौन है यह तीसरा प्रश्न है? यह सृष्टि स्वयं सिद्ध है कि हुई है? और है कि नहीं है?

समझो कि है तो ब्रह्म है। अस्ति जो है सत् है, वह तो ब्रह्म है और जो हुई वह सृष्टि है। कोई मानते हैं अपने आप हुई, जिसका बीज विद्यमान था। कोई कहते हैं कि बिना बीज ही के हुई। कोई कहते हैं कि जीवसे हुई और बनानेवाला भी था। यही दर्शनशास्त्रके मतभेद हैं। अब उनके शब्दोंमें जब हम बोलते हैं तो बड़े आनन्दसे कहते हैं कि आहा हा! बड़ा पांडित्यपूर्ण, बड़ा गम्भीर, यह विवर्त है, कि यह परिणाम है, कि आरम्भ है।

है, न हुआ, न बनाया गया। यह तो ब्रह्मवाद हो गया। तो हुआ कि नहीं? अनहुए हुआ—सा दिखता है, हुआ नहीं। हुआ-सा, इसका नाम विवर्त हो गया। कि नहीं, हुआ-सा नहीं, सचमुच हुआ—इसका नाम

परिणाम हो गया। बोले—अपने आप नहीं हुआ, किसीने बनाया—इसका नाम आरम्भ हो गया। यह वेदान्तसे, अद्वैत वेदान्तसे विशिष्टाद्वैत वेदान्तसे, द्वैतवेदान्तसे ऐसे सब सिद्धान्त हैं।

यहाँ तो आप इतना ही समझो कि हम सब लोग जो हैं, मनुष्य-पशु-पक्षी-स्त्री पुरुष-बालक-वृद्ध-नरमादा, जो कुछ है सब, सृष्टिमें जो कभी हुआ, जो अभी है, जो आगे होगा, उन सबकी एक आयु होती है। उनके प्राण धारणका एक काल होता है, माने एक समयतक सब पैदा होनेवाली चीजें रहती हैं। तो वह जो समयमें चीजोंका रहना है—कोई दस बरस रहता है, कोई बीस बरस रहता है, कोई सौ बरस रहता है—यह जो जीवनकी अवधि है, वह कौन-सी ऐसी चीज है जो इस मिट्टीमें, पानीमें, आगमें, हवामें, यह पाँच भूतोंके बने हुए पुतलेमें प्रवेश करती है और उतने दिनों तक वह चीज बनी रहती है?

समझो गेहूँका पौधा कार्तिकमें उगता है और चैत्र बैसाख आते-आते यदि उसको काट न लिया जाये तो खेतमें स्वयं सूख करके गिर जाता है भला, वह पौधा नष्ट हो जाता है। अब फिर वे जो उसके बीज गिरते हैं, वे समय आनेपर फिर पौधेके रूपमें उगते हैं और फिर चैत्र-बैसाखतक वह रहता है और फिर तना उसका नष्ट हो जाता है। यह जो तनेका जीवन है कार्तिकसे लेकर चैत्रतक, उसमें जो एक जीवनीशक्ति रहती है वह कौन है जो प्रवेश करके उस पौधेमें रहता है?

आप समझो एक आमका फल वसन्त ऋतुमें वृक्षपर लगा और ग्रीष्मऋतुमें परिपक्व होकर उसपरसे उतारा गया, घरमें लाये, चार-छह दिन वह हरा रहा और बादमें वह सड़ गया। जो आमके फलकी आयु थी जन्मके दिनसे और उसके सड़ जानेतक, उसमें कौन-सी चीज आकर उस आमके फलमें घुसी थी कि उसका जीवन इतने दिनों तक बना रहा? नींबूमें रस कहाँसे आया, पत्तेमें हरियाली कहाँसे आयी? फूलमें रंगीनी बनकर कौन घुसा? तो फूलमें जो रंगीनी बनकर घुसा हुआ फूलका जीवन है, ताजगी उसकी, अभी मुर्झाया नहीं, सूखा नहीं, वह कौन है? फलमें जो रस है वह कौन है? तनेमें जो तनेका जीवन है, आयु है वह कौन है? माँके पेटमें आनेके दिनसे लेकर मर जानेतक, गर्भाधान संस्कारसे लेकर अन्त्येष्टि

संस्कार-पर्यन्त जो मनुष्यका जीवन है, मृत्यु पर्यन्त, उसमें कौन ऐसा शरीरमें घुसा हुआ है जिसके रहनेसे यह शरीर हरा-भरा रहता है, ताजा रहता है, चलता है, फिरता है, सोता है, सोचता है, विचारता है? वह कौन-सा रस इसमें घुसा हुआ है?

बोले—भाई, पहचानो इसको, उसका नाम है जीवन। जो व्यक्ति-व्यक्तिमें अलग-अलग मालूम पड़ता है वह तो है जीवन और जो सब जीवनोंमें एक जीवन है, वह है जीवन सर्वस्व, हृदय-सर्वस्व हमारा प्रीतम, हमारा प्राण-प्यारा वही है, सबके भीतर वही चमक रहा है; पर हम उसको पहचानते नहीं है। उसके न मिलनेका कारण यही है कि हम उसको पहचानते नहीं हैं। न पहचाननेसे कई बार हम उसके दर्शनके आनन्दसे वंचित रह जाते हैं। है वह सामने। हमारे सामने ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हैं।

एकबार दिल्लीसे रवाना हुए, एक शहरमें जाना था, एक बड़े आदमीके घर जाना था। जब मैं डिब्बेमें घुसा तो एक सज्जन उसमें बैठे हुए थे, बोले—आओ, आओ, आओ। न वे हमको पहचानते थे न हम उनको पहचानते थे भला! आइये आइये, झट अपने पास जगह कर दी, हम बैठ गये। उन्होंने पूछा कहाँ जायेंगे? कि अमुक शहरमें जायेंगे। बोले—हम भी वहीं जा रहे हैं। अच्छा, आप किसके पास जायेंगे वहाँ? मैंने नाम बता दिया। बोले—बहुत बढ़िया चलिये। अब महाराज, रास्ते भर, डेढ़ दिनका रास्ता था, उन्होंने हमारे सोनेका बन्दोबस्त किया, खानेका बन्दोबस्त किया, जल पिलानेका बन्दोबस्त किया, सारी सुख-सुविधा दी। जब वे शहरके स्टेशनपर पहुँचे तो लोग स्टेशनपर लेनेके लिए आये हुए थे। हल्ला हुआ—ये हैं, ये हैं। मैंने उन लोगोंसे पूछा, प्लेटफार्मपर ये कौन हैं? तो जिनसे मैं मिलनेके लिए जा रहा था, उन्हींका नाम बताया। दिल्लीमें मिल गये, लेकिन उनसे मिलना हुआ डेढ़ दिन बाद। ऐसा क्यों हुआ? वे तो हमारे साथ ही थे, ऐसा क्यों हुआ भाई? कि पहचाना नहीं। यही ना। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर हमारे साथ है भला! लाखों रूपोंमें ईश्वर हमारे साथ है। हजारों रूपोंमें हमारे साथ है। परिचित हैं। सैकड़ों रूपोंमें हमारा मित्र है, हमारा सम्बन्धी है, सगा है, लेकिन हम उसको ईश्वरके रूपमें नहीं पहचानते हैं, बस इतनी

ही बात है जो हमको ईश्वरसे दूर किये हुए है। इसीको अद्वैत वेदान्ती अज्ञान बोलते हैं। अज्ञान माने नहीं पहचानना।

एक बारकी बात है आपको शायद सुनाया होगा कई बार मैंने। यह उन दिनोंकी बात है जब कलकत्तेसे 'हिन्दूपञ्च' नामका एक साप्ताहिक पत्र निकलता था। बहुत चलता था उन दिनोंमें। उसके सम्पादक थे ईश्वरी प्रसाद शर्मा और लेखक थे गयाके मोहनलाल महतो; दयावान्, विपंची, एक तारा-ऐसी उनकी पुस्तकें छपी हुई हैं, बड़े अच्छे कवि हैं। अभी मैं समझता हूँ कि जीवित हैं। दोनों ये लेख लिखते थे और वे सम्पादन करते थे, 'हिन्दूपञ्च'में छापते थे, लेकिन दोनोंमें देखा-देखी नहीं थी कभी। पत्र-व्यवहार था। पत्र-मित्र थे। एक बार कवि-सम्मेलन हुआ कलकत्तेमें, तो इनको भी गयासे आमन्त्रित किया गया। ये गये वहाँ। जाकर एक स्थानपर ठहर गये और सम्पादकजीको पत्र लिख दिया कि मैं ठहरूँगा वहाँ मिलना। सम्पादकजी बड़े मित्र थे, मिलनेके लिए गये। कमरेमें मिले नहीं, न वे पहचानते थे, न वे पहचानते थे। उन्होंने पूछा किनसे मिलनेके लिए आये हैं? कि वियोगीजीसे। उन्होंने पूछा आप कौन हैं? वे बोले ईश्वरी। बोले—बैठिये। कहाँ हैं वियोगीजी? वियोगीजी अभी बाहर चले गये हैं, थोड़ी देरमें लौटकर आते हैं, आप बैठिये। अब चाय पिलाया, चर्चा शुरू हुई खूब आलोचना हुई, घण्टे भरतक बैठे रहे। बोले—नहीं आते हैं, तो अब हम जाते हैं। फिर दूसरे दिन आये। वही मिले, पूछा वियोगीजी कहाँ हैं? बोले—अभी-अभी बाहर चले गये हैं, आप थोड़ी देर बैठिये। घण्टे भर फिर बैठाया, बातें की और वापिस कर दिया। दूसरे दिन सभा थी, जब सभा जुड़ी अम्बिका प्रसाद बाजपेयी सभापति थे, उन्होंने कहा—अब वियोगीजी अपनी कविता सुनावें और वियोगीजी उठकर जब खड़े हुए सभामें, तो वही ईश्वरी प्रसादजी उनके गले लगकर लिपट गये बोले—छलिया है, छलिया है।

अब देखो, तीसरे दिन क्यों मिले? वियोगीजी ईश्वरी प्रसादको तीसरे दिन क्यों मिले? क्या आँखसे देखते नहीं थे? कि देखते थे। क्या मुँहसे बात नहीं करते थे? करते थे। हाथसे छूते नहीं थे? छूते थे, खाते-पीते नहीं थे? कि खाते-पीते भी थे। पर मिलना क्यों नहीं हुआ? मिलना इसलिए नहीं हुआ कि पहचानते नहीं थे। अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त यही है कि ईश्वर इस

जगहसे कहीं दूर नहीं है और इस समयसे किसी दूसरे समयमें नहीं है। माने उसके लिए चलकर तानेकी जरूरत नहीं, कर्म समुच्चित ज्ञान नहीं।

कर्म समुच्चित ज्ञान कहाँ होता है? आपको देखो वेदान्तका गुर बताता हूँ। वेदान्तका सार है भला, हीर है वेदान्तका यह। कर्म समुच्चित ज्ञान कहाँ होता है? बोले—देखो, इस मकानके उस पार सड़कपर कोई चीज है। हमारी आँखसे नहीं दिख रही है, तो वह कैसे दिखेगी? अप्राप्त वस्तु है, तब कर्म समुच्चित ज्ञानसे दिखेगी। कर्म समुच्चित ज्ञान क्या होगा? पाँव जो है यह कर्मेन्द्रिय है, जब इससे चलकर सड़कपर हम जायेंगे, तब हमारी आँख उसको देख सकेगी। बिना कर्मकी सहायतासे हमारी आँख उसको नहीं देख सकेगी। इसको बोलते हैं कर्म समुच्चित ज्ञान। कर्म मिश्रित ज्ञान। वह चीज बिना कर्मके नहीं दिखायी पड़ सकती जो दूर होवे और ईश्वर तो यहीं है।

अच्छा, यदि इस समय ईश्वर न होता, तो? कर्म समुच्चित ज्ञानसे उसका अनुभव होता। बैठना पड़ता। थोड़ी देर बैठो इन्तजार करो, जब आवेगा तब उससे मिल लेना। तो बैठना क्या होगा? यही ज्ञानके साथ कर्मका समुच्चय होता। बैठना रूपकर्म, उसके दर्शनमें मददगार होता या सड़कपर चलकर जाना उसके दर्शनमें मददगार होता। अगर दूसरी जगह होता तो चलना रूप कर्म और इस समय न होता तो बैठना रूप कर्म। समझो कि हटाना पड़ता कुछ। कैसे? कि तोड़-फोड़ करो, मलो। क्योंकि वह छिपा हुआ है, न! इन्हीं शक्लोंमें, सूरतोंमें छिपा हुआ है। पहले शक्लोंको, सूरतोंको हाथोंसे रौंदो। नहीं, नहीं, वह तो यही है। जो चीज जैसी दिख रही है, उसमें अस्ति, भाति, प्रियके रूपमें वही है। इसका अर्थ है कि उसकी प्राप्तिके लिए, हमें अपने औजार साफ करनेके लिए तो कर्मकी जरूरत है, परन्तु उसका अनुभव करनेके लिए केवल ज्ञानकी जरूरत है। ईश्वर केवल पहचानने भरसे मिल जाता है। पहचान लो अगर ईश्वरको तो मिल जायेगा!

अब कहो भाई, फिर तो संसारमें जो लोग राग करते हैं, जो प्रेम करते हैं, जो फँस गये हैं वे ईश्वरसे ही फँसे हैं, ईश्वरसे ही उनका राग है। बोले—इसमें ईश्वरकी एक चालाकी जो है वह पकड़ लेना चाहिए। अगर वह नहीं पकड़ोगे तो ईश्वर बहुत दुःख देगा। क्या चालाकी है? मैंने एक बार डी-रोडमें यह बात सुनायी थी।

एक राजकुमारीका विवाह हुआ तलवारके साथ। पहले ऐसा था कि अगर वर किसी कारणसे नहीं जा सकता हो, तो क्षत्रियोंमें राजपूत होते थे, तलवार भेज दी जाती थी और तलवारके साथ विवाह करके कुमारी आजाती थी। वह राजकुमारी तलवारके साथ ब्याही गयी और घरमें आगयी। बड़ा भारी राज्य था। अब वह लड़केको लड़कीने कभी देखा नहीं था। अब राजकुमारने राजकुमारीके सतीत्वकी परीक्षा लेनेके लिए, उसकी निष्ठाकी परीक्षा लेनेके लिए एक षडयन्त्र रच दिया। बोले—एक दूसरे राजकुमार हैं, मेहमान हैं, आये हुए हैं, बड़े सुन्दर हैं, बड़े गुणी हैं, बड़े प्रेमी हैं, उन्होंने तुमको देखा है, वे तुम्हारे लिए मर रहे हैं, अगर तुम उनसे नहीं मिलोगी तो मर जायेंगे। अब वे सन्देश राजकुमारीके पास आने लगे। एक दिन, दो दिन, चार दिन, बेचारीका चित्त विचलित हो गया। यह जानते हुए भी कि यह कोई पर-पुरुष है, उसने उसको दर्शन देना, उससे मिलना स्वीकार कर लिया। अब महाराज, जब मिलनेका समय आया, तो आया कौन? परपुरुषके रूपमें उसका पति आया। आप सोचो कि पति ही आया, दूसरा तो कोई नहीं आया, आया तो पति ही, परन्तु पर-पुरुषके रूपमें आया। लेकिन आकर जब उसने बताया कि मैं पर-पुरुष नहीं हूँ, मैं तुम्हारा पति हूँ उसी समय वह कन्या मर गयी। शर्मके मारे मर गयी। इसमें अपराध क्या था? दुःख क्यों हुआ उसे? वह दूसरेसे नहीं मिली, अपने पतिसे मिली, दूसरेको नहीं बुलाया, अपने पतिको बुलाया, पर उसका अपराध क्या था? अपराध यह था कि जिसको वह जानती थी कि हमारा पति नहीं है, परपुरुष है, अपने पतिसे अतिरिक्त पुरुष जानते हुए भी उसने मिलना स्वीकार कर लिया, यही उसके दुःखका कारण हुआ।

महात्मा लोग कहते हैं, सब परमात्मा है। हम मिलते हैं परमात्मासे, हँसते हैं परमात्मामें, चलते हैं परमात्मामें, देखते हैं परमात्माको, यह परमात्माकी कारीगरी है भला, लेकिन क्या हम यह पहचानते हुए परमात्मासे मिलते हैं कि यह परमात्मा है कि परमात्मासे अतिरिक्त जानते हुए भी उससे मिलते हैं कि यह हमारा प्यारा है। इसमें अपराध हुआ। क्या अपराध हुआ? मिलते हैं परमात्मासे, पर सृष्टिमें यह जानते हुए कि यह परमात्मा नहीं है। अगर पहचान लें, तब तो *'जहँ जहँ चलौं सोइ परिकरमा'* और *'जो जो करौं*

सो पूजा'। परन्तु पहचानते नहीं हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मिलना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना महत्त्वपूर्ण उसको पहचानना है। मिलना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह तो रग-रगमें मिला हुआ है, वह तो कण-कणमें मिला हुआ है, वह तो क्षण-क्षममें मिला हुआ है। ऐसा कोई देश नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, ऐसी कोई वस्तु नहीं, जहाँ परमात्मा मिला हुआ नहीं है, लेकिन हम कर्मके रूपमें उसको कहाँ पहचानते हैं। हम तो एकके प्रति मोह करते हैं, एकके प्रति राग करते हैं, एकके प्रति द्वेष करते हैं, सबमें उसको कहाँ पहचानते हैं? इसीलिए यह मोह, यह राग, यह हमारी भ्रान्ति, यह हमारा अज्ञान हमारे दुःखका हेतु है, हमको दुःख देनेवाला है।

तो ईश्वर कहाँ छिपा है? बोले—**जीवनं सर्वभूतेषु।**

सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उन-उनकी आयु बनकर जो उनके शरीरमें घुसा हुआ है, जो प्राणोंको पकड़े हुए है, छूटने नहीं देता। प्राणोंका पकड़ना तो आप समझ गये न! साँस बाहर निकलती है, निकलती है तो निकल जाये, फिर लौटकर आती क्यों है? फिर जाती है, फिर आती है, फिर जाती है फिर आती है। इसका अर्थ है कि हमारी साँसोंको अपनी मुट्ठीमें पकड़कर कोई बैठा हुआ है। कौन है वह, जो हमारे भीतर रहता है? और हमारी साँसोंको बिलकुल बाहर नहीं जाने देता? जानेपर भी फिर खींच लेता है। वह आकर्षक चीज, वह चुम्बनधर्मा चुम्बक, वह भीतर बैठकर हमारी साँसोंको बार-बार अपनी ओर खींच लेनेवाला भीतर बैठकर वह चुम्बक, वह कृष्णायस्क (कृष्णायस्क माने काला पत्थर) कौन है भीतर बैठा हुआ? जो हमारे साँसोंका चुम्बक है, हमारे प्राणोंका चुम्बक है, जो हमारे प्राणोंका चुम्बक बनकर हमारे हृदयसे बैठा हुआ है और हमारे प्राणोंको संसारमें विकीर्ण नहीं होने देता कि बाहर जाये साँस और हवामें मिल जाये फिर लौटकर न आवे। वह चुम्बक बना बैठा हुआ, आकर्षण, उसका नाम कृष्ण है भला! आकर्षणको ही कृष्ण कहते हैं। हमारे हृदयमें जो प्रेम है, हमारे हृदयमें जो चुम्बक है, हमारे हृदयमें जो आकर्षण है, जो हमारे प्राणोंको अपनी ओर आकृष्ट करके रखता है निकलने नहीं देता, वह हमारे हृदयमें बैठा हुआ हमारा जीवन, हमारा प्राण-धारक, हमारी आयु, हमारा सर्वस्व कौन है? साफ-साफ बताते हैं—'**जीवनं सर्वभूतेषु**'—सम्पूर्ण प्राणियोंके

हृदयमें बैठा हुआ जीवन सर्वस्व मैं हूँ। सबका हृदयेश्वर मैं हूँ। इसीको हृदयेश्वर बोलते हैं, सबका प्राणेश्वर, यही प्राणेश्वर है, प्राणनाथ है जो प्राणोंको अपने काबूमें रखता है, भागने नहीं देता। यह प्राणेश्वर है, 'प्राणस्य प्राणा:'। हृदयमें रहकर प्राणोंका नियन्ता है, उसीको बोलते हैं जीवन। यह सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर यह जीवननाथ, यह जीवनेश्वर, यह जीवन-सर्वस्व, सबके हृदयमें वही बैठा हुआ है सबके जीवनमें वही घुसा हुआ है।

अब जीवन शब्दको दूसरी दृष्टिसे लो। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं ईश्वरके पास प्रत्येक जीवका एक सम्बन्ध है, वह क्या है? कि उपजीव्य-उपजीवक भाव। चार प्रकारके सम्बन्धोंमें-से एक सम्बन्ध यह है। जैसे मोटर चलती है, तो उसके लिए पेट्रोल चाहिए। पेट्रोल पीकर मोटर चलती है। अब उपजीवक है मोटर और उपजीव्य है पेट्रोल। ऐसा समझो जैसे हम अन्न खाते हैं, तो अन्न खानेसे ही हमारे शरीरमें गर्मी बढ़ती है, शीत पैदा होती है और यह हमारे शरीरका जो यन्त्र है, यह चलता है। उसके लिए कोयला, पानी, अन्न, पानी चाहिए। तो उपजीव्य है अन्न, पानी और उपजीवक है हमारा शरीर।

अब जीवनका अर्थ देखो। उपजीव्य हैं भगवान् नारायण और उपजीवक है हमारा जीवन। माने हम तो उपजीवक हैं और परमात्मा उपजीव्य है। उपजीव्यका अर्थ है कि जैसे शरीरके जीनेके लिए मिट्टी-पानीकी जरूरत है, पंचभूत की—पाँच चीजें होती है न परातमें मिट्टीकी जगहपर समझो जौ, गेहूँ, चावल दाल—यह सब है। पानीकी जगहपर दूध है, शर्बत है, जल है। गर्मीकी जगहपर सूर्यसे गर्मी लेते हैं, बिजलीसे गर्मी लेते हैं, बिजलीसे गर्मी लेते हैं, वातावरणकी गर्मी होती है, शरीरकी गर्मी होती है, थर्मामीटरसे नापते हैं जिसको, वह शरीरमें गर्मी नापनेका यन्त्र। अच्छा, वायु उपजीव्य है और हमारा श्वास जो है वह उपजीवक है। आकाश उपजीव्य है और हमारे शरीरमें जो पोल है वह उपजीवक है। इसी प्रकार इस शरीरमें जीव बैठा हुआ है, तो देखो, सब चीजें अपनी समष्टिसे खुराक लेती हैं। जो शरीरमें मिट्टी है वह बड़ी मिट्टीसे, जो पानी है वह बड़े पानीसे, जो गर्मी है वह बड़ी गर्मीसे, जो हवा है वह बड़ी हवासे, जो अवकाश है वह बड़े आकाशसे यह खुराक अपनी-अपनी लेते हैं। इसी प्रकार हमारा मन मनकी समष्टिसे, बुद्धि-बुद्धिकी समष्टिसे खुराक लेती

है। अब यह जो हमारा जीव है, यह जीव किससे शक्तिसंचय करके, किससे चैतन्य संचय करके, किससे जीवन संचय करके, किस आनन्दके खजानेमें-से आनन्द लेकर आनन्दित रहता है? वह हमारे आनन्दका उपजीव्य, व्यक्तिगत आनन्दका उपजीव्य—आनन्द-सामान्य, वह हमारे व्यक्तिगत ज्ञानका उपजीव्य—ज्ञान सामान्य, वह हमारे व्यक्तिगत सत्ताका उपजीव्य-सत्ता सामान्य माने वह जो परब्रह्म परमात्मा है, अखण्ड चैतन्य है वही सबके जीवनमें, सबके शरीरमें, व्यक्तित्वमें उपजीव्य होकर, जीवन हो करके समाया हुआ है। उससे शक्ति और ज्ञान एवं प्रकाश लेकर ही हम जीवित रहते हैं। उसका नाम जीवन है, वह सबके भीतर भरा हुआ है, उसके बिना कोई जी नहीं सकता।

अच्छा, आप देखो, आँखसे देखते हैं फूल। तो फूल देखा गया और आँखसे देखा गया और सूर्यकी रोशनीमें देखा गया। तीन चीज होना जरूरी है—फूलका होना जरूरी, रोशनीका होना जरूरी और आँखका होना जरूरी। अच्छा, अब आँख बन्द करके बुद्धिमें आप यह निर्णय करें कि यह अच्छा है और यह बुरा। तो अच्छा और बुरा तो निर्णय किया गया, देखा गया और देखा किसने? कि बुद्धिने। बुद्धि तो हुई आँखकी जगहपर और अच्छा-बुरा हुआ फूलकी जगहपर। अब सूर्यकी जगह वहाँपर कौन है? आँख बन्द करके देखो, वहाँ कौन-सी ज्ञानकी ऐसी रोशनी है, कौन-सा ज्ञानका ऐसा अनन्त प्रकाश है, जिसके प्रकाशमें हमारी बुद्धि अच्छा और बुरा देखती है। जैसे आँख और फूलके बीचमें सूर्यकी रोशनी है। वैसे ही हमारी बुद्धि और अच्छे और बुरेके बीचमें रोशनी, जो ज्ञान हमारी बुद्धिको प्रकाशित करता है, उस प्रकाशको, उस सत्ताको, उस आनन्दको, उस जीवनको हम ईश्वर कहते हैं। वह हमारे रोम-रोममें भरा हुआ है, उसके बिना कोई जीवन नहीं, वह तो महाराज, उसकी रोशनी दिखती है, उसका प्रकाश दिखता है।

आप यों सोचो कि हम आमका फल खाते हैं, रसगुल्ला खाते हैं तो रसगुल्लेका स्वाद जाना जाता है और जाननेवाली जीभ है और दोनोंके बीचमें। यदि जीभपर पानी न हो तो जीभ रसगुल्लेको नहीं जान सकती, आमको नहीं जान सकती, इमलीको नहीं जान सकती। जीभपर पानी होना आवश्यक है। तो जलका देवता जो वरुण है, वह अधिदैव है और जिह्वा अध्यात्म है और जो स्वाद है वह अधिभूत है। अब आप सोचो कि जब

मनसे तुम किसीको देखते हो, तो मन अध्यात्म है और देखी जानेवाली चीज अधिभूत है और दोनोंके बीचमें वह किसकी रोशनी आकर पड़ रही है जिसमें हम उसको देख रहे हैं? बोले देखो न, मनको दिखानेवाला कोई कृष्णचन्द्र, कोई रामचन्द्र, चन्द्रमा चाहिए। बिना चन्द्रमाका रस प्राप्त किये हमारा मन किसीको देख नहीं सकता। बिना वासुदेवकी रोशनी प्राप्त किये हमारी बुद्धि किसीको देख नहीं सकती। तो सबके भीतर वह वासुदेव बैठा हुआ है। अधिदैव ब्रह्मा होता है, रुद्र होता है और चन्द्रमा होता है, जीव सब अधिदैव। जहाँ अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म तीनों एक हो जाते हैं वहाँ ईश्वर होता है और उसकी जो चिन्मात्रता है उसको ब्रह्म बोलते हैं भला! जहाँ तीनोंकी एकता है उसका नाम ईश्वर और जहाँ तीनोंकी चिन्मात्रता है वहाँ उसका नाम ब्रह्म होता है माने चिन्मात्र प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है—यह उसका सार निकलता है।

अब देखो **तपश्चास्मि तपस्विषु**। भगवान् बोलते हैं कि तपस्वियोंमें मैं तप भी हूँ। 'च' का अर्थ भी तो नहीं है पर समुच्चायक है। कहीं च अवधारणके अर्थमें होता है, कहीं समुच्चयके अर्थमें होता है; चार चकारके अर्थ होते हैं 'च' के—ऐसा महाभाष्यकारने कहा है।

अब यहाँ 'तपः च' का अर्थ है बाहरी तप भी और भीतरी तप भी। दोनों तपको संगृहीत करनेके लिए यहाँ 'च' शब्दका प्रयोग किया गया है। अब समझो कि तप क्या है? इन्द्रियोंको प्रसन्न करते रहना, बस केवल इन्द्रियोंको हर प्रसन्न करते रहना, इन्द्रिय-तृप्ति इसका नाम वास्तविक जीवन नहीं है। कभी-कभी इनको भूखे रखना भी आवश्यक होता है। जैसे पन्द्रह दिनमें एक बार ब्रत करलो। एकादशी व्रत करलो तो शरीर निर्मल होता है, स्वच्छ होता है। वैसे चौबीसों घण्टे इन्द्रियोंको भोगमें ही लगाये रखना यह कोई जीवनकी रीति नहीं है। वह तो

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता।
तपो न तप्तं वयमेव तप्ता।
कालो न यातः वयमेव याता।

लोगोंको अभिमान होता है कि हम रोटी-दाल चबा लेते हैं। अपने मुँहकी चक्कीमें पीस-पीसके रोटी और दालको बिलकुल पानी बना देते हैं,

रस बना देते हैं, लेकिन यह पता नहीं चलता है कि हमारे दाँत भी घिसते जा रहे हैं। अरे भाई दस बरस नहीं मालूम पड़ा, बीस बरस नहीं मालूम पड़ा, चालीस बरस नहीं मालूम पड़ा, लेकिन बादमें मालूम पड़ेगा कि रोज-रोज रोटी तोड़ी अब दाँत घिसौवल बन्द भी होनी चाहिए। तपस्याका अर्थ यही है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। ५.२२

इन्द्रिय और विषयोंके स्पर्शसे जो भोग उत्पन्न होते हैं, वे दुःखके कारण हैं

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। २.१४

पहले नहीं मालूम पड़ता, लेकिन जब बहुत करके विषयोंका भोग किया जाता है तो उससे होनेवाला जीवनमें जो अनर्थ है, वह भी साफ ही साफ अनुभवमें आता है। इसलिए तपस्वी लोगोंने जीवनका दूसरा पहलू निकाला। हमारे साथीमें एक नेता भी थे और सेठ भी थे, बहुत बड़े आदमी थे। काशी विश्वविद्यालयके पास गंगा-किनारे उनकी बहुत बड़ी कोठी थी, बाबू शिवप्रसाद गुप्त उनको बोलते थे। सारी पृथिवीका भ्रमण किया था उन दिनोंमें उन्होंने। बहुत बड़े आदमी थे काशीके। तो जब उनका शरीर बहुत फूल गया, तो डाक्टरने उनको बताया कि अब तुम चक्की पीसा करो। तो बेचारे पेट निकला हुआ और हाथ मोटे-मोटे, छोटे-छोटे होगये थे, पेट बहुत निकल गया था। चक्कीके सामने बैठकर अब वे आटा पीसते थे। कि बिना इसके तुम्हारा स्वास्थ्य अब ठीक नहीं होगा, डॉक्टरोंकी ऐसी सलाह है। तो अब यदि बचपनसे ही समझो वे परिश्रमका काम करते और उनका शरीर वैसा न होता तो उनको बुढ़ापेमें चक्की पीसनेकी जरूरत नहीं पड़ती।

तो तप जो है वह भोग और उपवास दोनोंको सन्तुलित करनेवाली वस्तु है। असलमें एक आदमी जब अपने हाथसे रोटी बनाकर खाता, समय तो उसको ज्यादा लगता, परिश्रम भी ज्यादा लगता, लेकिन बनानेमें इतना परिश्रम होता और फिर बर्तन माँजनेमें इतना परिश्रम होता कि उस अन्नका ठीक-ठीक पाचन हो जाता। अब खाना तो ज्यादा पड़ गया, जितना घी पहले नहीं खाते थे, उतना खाने लगे। जितने मिर्च-मसाले पहले नहीं खाते थे, उतने खाने लगे। लेकिन उसके लिए जो परिश्रम अपेक्षित था, वह हमारे

जीवनसे निकल गया। हमारे जीवनमें थोड़ा त्याग, थोड़ा संयम, थोड़ा परिश्रम, थोड़ा नियम, जिससे हम केवल मनके कहे अनुसार न चलें।

यह हमारे जीवनमें सबसे बड़ी त्रुटि है कि हम धर्मके कहे अनुसार चलते हैं कि मनके कहे अनुसार चलते हैं? तौल लो इसको! यह कोई क्लर्क और मालिकका सम्बन्ध नहीं है। शिष्य-गुरुका सम्बन्ध जो है वह क्लर्क और सेठका, अफसरका सम्बन्ध नहीं है, यह एक दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है जो मनका निर्माण करनेके लिए होती है। तो तपस्या अपने जीवनमें आनी चाहिए। यह नहीं कि मनने जो कहा वही आप करने लगे। आप समझलो, मनके कहे अनुसार आप बोलकर दिखाओ तो सही। जिन्होंने अपने मनपर काबू पा लिया है, जिनको मनकी समाधि लग गयी है, उनकी बात छोड़ दें, नहीं तो किसी भलेमानुसको सभामें बैठा दो और कहो कि तुम्हारे मनमें जो आवे सो बोलते जाओ। आधा घण्टेमें क्या होगा? आप खुद मान लोगे कि तुम्हारा मन पागल है। अच्छा, तो पागलपन इतने दिनोंसे क्यों नहीं जाहिर हुआ? इसलिए कि जुबान तुम्हारे काबूमें थी। मुँहमें जुबान दबाकर रखी थी, बोलते नहीं थे मनके अनुसार। जो मनमें आवे, सो बोलते जाओ तो पता लग जायेगा कि मन पागल है। कभी रूस, कभी अमेरिका—कोई संगति है इसकी? कभी दोस्त कभी दुश्मन, कभी यहाँ कभी वहाँ। कभी अच्छा कभी बुरा, कभी शंका कभी श्रद्धा, ऊटपटांग, नष्टभ्रष्ट, पागल मन। तो जब मनके अनुसार बोलनेसे ही अपने पागलपनका निश्चय हो जाता है तो क्या मनके अनुसार खानेसे अपने पागलपनका निश्चय नहीं होता है? क्या मनके अनुसार किसीको जाकर मिलनेसे मनके पागलपनका निश्चय नहीं होता है? जो मनमें आवे सो बोलनेसे हम पागल हो जाते हैं, तो जो मनमें आवे वही करनेसे हम पागल नहीं हो जाते हैं?

इसका अर्थ है कि जैसा काबू हम बोलनेके सम्बन्धमें रखते हैं, माने जो-जो मनमें आया, सो-सो नहीं बोलते हैं, लोगोंके बीचमें भलेमानुस बने रहते हैं। सभ्य, शिष्ट सत्पुरुष, बड़े ही शिक्षित, क्यों? इसीलिए कि जो मनमें आता है सो बोल नहीं देते हैं। अगर बोल दें तो सारी सभ्यता हवा हो जाये। रास्तेमें चलते-चलते मनमें आता है कि आगे चलनेवालेको धकेल दें बोल दें इधर जायें। अब बोल दो उस समय, बोल दोगे तो वह भी मारेगा

धक्का। तो इसका मतलब हुआ कि जो-जो मनमें आवे सोई-सोई बोलना नहीं, जो-जो मनमें आवे सोई-सोई भोगना नहीं, जो-जो मनमें आवे सो-सो करना नही, उसके ऊपर विवेक होना जरूरी है। विवेकयुक्त बोलना, विवेकयुक्त करना, विवेकयुक्त भोगना, विवेकयुक्त मिलना-जुलना। विवेकको चौपट करके अगर तुम मनीरामके कहे अनुसार चलोगे, तो तुम्हारी क्या दुर्गति होगी? तो उसी मनको काबूमें करनेके लिए, अपने भोगको काबूमें करनेके लिए, कर्मको काबूमें करनेके लिए, वाणीको काबूमें करनेके लिए जैसे हम जीभसे भले मानुस हैं, उस तरहसे सम्पूर्ण जीवनमें भलेमानुस रहनेके लिए हमको तपस्—तपस्याकी जरूरत है। जिसके जीवनमें कष्ट सहनकी ताकत नहीं, जिन्हें जल्दी प्रतिक्रिया होती है। साँप छोड़ देनेसे क्या तड़फड़ायेगा, जितना हम देखते हैं एक मनुष्य—भलामनुष्य जिसको माना जाता है—उसकी वाणीमें और उसकी रहनीमें और उसके भोगमें और उसकी क्रियामें जैसी तड़फड़ाहट होती है। तो जरा तप अपने जीवनमें आना चाहिए।

तप क्या? कि भोजनपर नियन्त्रण, संग्रहपर नियन्त्रण और कर्मपर नियन्त्रण। देखो, एक तो यह नहीं कि रास्तेमें चलते हैं तो एक नये ढंगकी साड़ी दिख गयी, बोले—यह भी हमारे घरमें आनी चाहिए। यह क्या हुआ? अब यह मनके मुताबिक हो गया। नहीं, यह देखो कि तुम्हारे घरमें पहलेसे कितनी साड़ियाँ हैं।

एक दिन किसीके घर गये थे तो बातचीत चली। तो घरकी मालकिनने बताया कि क्या कहें हमारे पास तो तीन सौ साड़ी हैं। हमारे साथीने कहा कि अरे तीन सौ तो बहुत हैं क्या जरूरत है? तो उसने कहा—वाह हमारी ननदके पास पाँच सो साड़ी हैं तो मेरे पास तीन सौ ही क्यों?

हमारा मतलब व्यक्तिसे नहीं है, घरसे नहीं है बिलकुल, हमारा मतलब मनोवृत्तिसे है। यह जो मनोवृत्तिमें है कि उनके पास पाँच सौ है तो हमारे पास तीन सौ ही क्यों? हमारे पास भी पाँच सौ साड़ी होनी चाहिए। कोई जरूरत भी है तो विवेकपूर्वक संग्रह होवे। यह देखो, कि वह तुम्हारे लिए उचित है कि नहीं? आवश्यक है कि नहीं? वह तुम्हारे धर्मके अनुसार है कि नहीं? पैसाका संग्रह करनेमें, आभूषणका संग्रह करनेमें, साड़ीका

ंग्रह करनेमें, संसारकी वस्तुओंका संग्रह करनेमें! ऐसा नहीं कि दूसरेकी ाबका पैसा कैसे भी निकालकर अपनी जेबमें रख लिया। जब मनमें लालच ावे कि रख लो तब मनको दबाकर थोड़ी तकलीफ देना और दूसरेका पैसा लेना, यह क्या हुआ? कि यह तप हुआ। कैसे तप हो गया? कि तुमने ापने मनको जो दबा लिया, अपने मनको जो मोड़ लिया, यह तप हुआ।

अच्छा, इसी तरहसे—हम यहाँका बाजार तो जानते नहीं हैं, बनारसमें चौड़ी गलीमेंसे निकले। घरसे तो खूब खाकर आये हैं और निकले चौड़ी गलीमें और वहाँ देखा कि तरह-तरहकी भोजनकी सामग्री रखी हुई , तो मनमें आया कि इसको भी खालें, इसको भी खालें और खाने बैठ गये। टको तो कोई जरूरत नहीं थी। अब वहाँ मनको दबा लेना क्योंकि वह ीनेके लिए आवश्यक नहीं है। मैंने सुना है कि घरके लोग खाने-पीनेके ाद चौपाटीपर चाट खानेके लिए जाया करते हैं। हे भगवान्! मैं समझता हूँ, ोटे लोग जाते होंगे, बड़े तो नहीं जाते होंगे, क्योंकि वह तो इतना गन्दा ागता है और वहाँ इतना जूठा होता है और वहाँ इतनी अपवित्रता होती है, ौर वहाँ स्वास्थ्यके लिए इतनी हानिकारक वस्तुएँ होती हैं कि मेरा विश्वास कोई भला आदमी नहीं जाता होगा! लेकिन अगर कोई जाता ही हो तो ापने मनको रोक लेना, अपने मनको ऐसे अवसरोंपर जहाँ भोगकी सामग्री ापस्थित है रोक लेना, इसका नाम तप होता है।

अब इसी तरहसे वाणीका तप, कर्मका तप। यह काम करलें, यह काम रलें; इसमें बड़ा फायदा, इसमें बड़ा फायदा! नहीं भाई, कर्म करनेके लिए ी योग्यताके अनुसार, अधिकारके अनुसार, धर्मके अनुसार होना चाहिये। तप ब होता है जब हम अपने कष्टसहनको अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन बना ते हैं। श्रम दूसरी चीज है और धर्म दूसरी चीज है। श्रम होता है भौतिक सम्पत्ति ी प्राप्तिके लिए, पर वही श्रम जब अपने दिलको साफ करनेके लिए होने ागता है तब उस श्रमका नाम धर्म हो जाता है। जो दिलको साफ करे सो धर्म ौर जो दिल को तो साफ न करे, बाहरकी वस्तुओंको इकट्ठा कर दे, उसका ाम श्रम। तो हमारे जीवनमें धर्म आवे, धर्मानुकूल आचरण आवे इसका नाम ाप होता है।

❖

: ९.३ :
तपस्वियोंमें तपस्या मैं

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।

श्रीकृष्णचन्द्र विज्ञान सहित अपने स्वरूपके ज्ञानका निरूपण कर रहे हैं। तो विज्ञान क्या है कि जितनी अलग-अलग वस्तुएँ हैं, उन सबमें अनेकमें एक है। जड़में भी चेतन है। दुःखमें भी आनन्द है। मृत्युमें भी जीवन है। ऐसी एक कोई चीज है जो अलग-अलग वस्तुओंका दर्शन होते हुए भी, उनमें कोई एक वस्तु भरपूर है। तो भगवान् यह बताते हैं कि पहले इस एकताके दर्शनका अभ्यास डालो।

तो **सर्वभूतेषु जीवनं**—मनुष्यकी आयु जुदा होती है और पशुकी जुदा, पशुओंमें भी गायकी जुदा, घोड़ेकी जुदा, हाथीकी जुदा, गधेकी जुदा। पक्षियोंमें हंसकी जुदा, मोरनीकी जुदा, कौवेकी जुदा। परन्तु सबमें जो आयु नामका पदार्थ है, जो उनको प्राणोंसे रोक रखता है, प्राणोंको धारण करनेवाली शक्ति जो सबके भीतर है, वह स्वयं भगवान् ही हैं। हमेशा साँसा भीतर जाती है और निकलती है, जाती है और निकलती है, इसको पकड़ रखनेवाली कोई शक्ति है। जब यह शक्ति बिछुड़ जाती है, शरीरको छोड़ देती है, तब फिर साँसोंको, प्राणोंको पकड़ रखनेवाली कोई चीज भीतर नहीं रहती है, तो निकली हुई साँस भीतर नहीं जाती है। वह कौन-सी चीज है जो मच्छरका शरीर अलग होनेपर भी और आयु अलग होनेपर भी और हाथीका शरीर और उम्र अलग होनेपर भी, ब्रह्माका शरीर और उसकी आयु जुदा होनेपर भी और खटमलकी आयु और उसका शरीर अलग होनेपर भी, सबके अन्दर प्राण धारक जीवनके रूपमें, आयुके रूपमें निवास करती है ओर श्वासोंको आने-जानेमें सहायता देती रहती है और जब वह सहायता देना बन्द कर देती है तब निकली हुई साँस फिर भीतर लौट करके नहीं आती है। वह जीवनशक्ति क्या है? कि शरीर अलग होनेपर भी, नाम अलग होनेपर भी, जाति अलग होनेपर भी, गुण-धर्म अलग होनेपर भी, अवस्था अलग होनेपर भी सबमें यह जीवनका सर्वस्व है वह सबमें एक बनकर बैठी हुई है।

इसके बाद बताया **तपश्चास्मि तपस्विषु**—तपस्वी भी जुदा-जुदा होते हैं। कोई व्रत की तपस्या करते हैं—एकादशी कर रहे हैं, पूर्णिमा कर रहे हैं। रामनवमी करते हैं, जन्माष्टमी करते हैं। तपस्वियोंके लिए तो समझो कि शायद ही कोई दिन बचे जब वे तपस्या करनेका मौका न निकाल लें। जिनका स्वभाव तपस्या करनेका होता है, वे स्नान करते समय भी ऐसे ढंगसे स्नान करेंगे कि तपस्या हो जाये। भोजन करते समय ऐसे भोजन करेंगे कि तपस्या हो जाये। काम करते समय ऐसा काम करेंगे कि तपस्या हो जाये। घरके सब सोते ही रहेंगे और वे उठकर तपस्या कर लेंगे। सबके हिस्सेका काम अपने आप ही कर लिया, इसमें तपस्या होती है। मनुष्य अगर सावधान रहे तो घरमें लड़ाई इस बातकी होवे कि तुमने हमारे हिस्सेका काम क्यों कर लिया! यह तो हम करते, तुमने क्यों कर लिया? बर्तन माँज लिया, झाड़ू लगा लिया, सफाई कर ली, सारी चीजें सजा दीं। स्त्री-पुरुषसे कहे कि यह तो हम करते तुमने क्यों किया? पुरुष कहे कि यह तो हम करते, तुमने क्यों किया? काम करनेमें, श्रम करनेमें एक तरहकी होड़ होनी चाहिए। हमारे महाराज कहा करते थे कि संसारमें रोग कबसे बढ़े? रोग तबसे बढ़े, जबसे लोग अपने घरका काम अपने हाथसे नहीं करते हैं। हम उम्मीद रखते हैं कि बस, हमारे सिवाय घरमें जितने लोग हैं वे सब काम कर लें, हमको कुछ करना न पड़े। यह बात जबसे मनमें आयी, तबसे लोग आलसी होने लगे और आलसी होनेसे उनके शरीरमें रोग आने लगा। दवाकी, वैद्यकी, डॉक्टरकी जरूरत पड़ने लगी।

जीवनमें तपस्याका होना, ऐसा श्रम, ऐसा कष्ट-सहन होना जिससे अपना अन्तःकरण शुद्ध होवे। तो बोलनेमें भी तपस्या। क्या? अब देखो, हमारे एक परिचित व्यक्ति हैं, तो जब वे कथामें बैठते हैं, तो कोई बात पसन्द आती है, कोई नहीं आती है। अब ऐसा तो नहीं है कि कथावाचक जो कुछ बोलेगा सो उनको पसन्द ही हो, सो ही बोले। माने फिर वही, कथावाचन करें, फिर वह दूसरा क्यों बोले? कभी वह चीज उनको पसन्द होती है, कभी नहीं होती है, कभी मालूम होती है तो झटसे समझ जाते हैं कि वह बात है और नहीं मालूम होती है, तो उनके दिमाग पर बोझ आ

जाता है। ऐसा है कि सर्वज्ञ तो हैं नहीं, तो जब मालूम होती है तब भी कह देते हैं कि हाँ वही पुरानी बात कह रहा है और नहीं मालूम होती है तो सिर लटकाकर बैठ जाते हैं कि यह तो हमारे लिए है ही नहीं, क्योंकि हमारी समझी हुई बात नहीं है। वे प्रतिक्रिया अपनी प्रकट करनेमें एक मिनट भी सोच-विचार नहीं करते।

कोई गाता हो और कोई स्वर ऊँचा हो जाये तो तुरन्त तबलेपर हाथ रख देंगे या मुँहपर। ऐसे लोग जो होते हैं वे जीवनमें कभी सफल नहीं होते हैं। कभी चित्तमें उलटी प्रतिक्रिया भी हो जाती है। अगर द्वेष न हो और उलटी प्रक्रिया हो जाये तो कोई दोष नहीं है। चित्तपर प्रतिक्रिया तो होती है, लेकिन वह तुरन्त जाहिर भी कर दी जाये, यह आवश्यक नहीं रहता है। जैसे कि गाते समय ही गवैयेसे कह दें कि तुम्हारा स्वर खराब है, खाते समय ही परसनेवालेको कह दें कि तुम्हारे भोजन खराब हैं और वक्ता भाषण दे रहा हो तभी उसकी गलती बता दें कि तुम्हारे उच्चारणमें यह दोष है। तो चित्तमें जो प्रतिक्रियाका भाव उदय होता है, उसको जाहिर न करना, सह लेना यह तप है भला! किसीने गाली दी, और गालीके बदले हमारे मनमें भी गाली देनेकी आयी कि हम भी गाली देकर ही छोड़ेंगे, लेकिन रोक लिया, तो वह उद्वेग हुआ अपने चित्तमें। अच्छा भाई, अपने चित्तमें तो उद्वेग हो गया, लेकिन अब दूसरेको भी हो जाये यह क्या जरूरी है? तो उस वचनको भीतर ही पी जाना और पी नहीं जाना, पचा जाना। कई लोग तो ऐसे होते हैं जो उस समय तो पी लेते हैं भला लेकिन बादमें फिर कै कर देते हैं। तो उद्वेग-कारण वचन जो अपने हृदयमें आया वह अपने हृदयको छेद रहा है, अब उसको वाणीसे कह दोगे तो दूसरेके हृदयको छेदेगा, तो उस तकलीफको अपने तक सीमित कर लेना, दूसरेतक नहीं ले जाना, यह तप हो गया। इसको भगवान्‌ने **अनुद्वेगकरं वाक्यं** (१७.१५) के नामसे गीतामें कहा है।

बोलो तो तब जब बोलिबो की रीति जानो।

बोले तब जब बोलनेकी रीति तुम्हें मालूम हो और बोलनेकी रीति यह है कि जो बात हमारे दिलमें आकर हमको जला रही है, वह अगर दूसरेके कानमें डालकर उसके दिलमें भी पहुँचा देंगे तो हम आग ही तो बोयेंगे न!

हमारे घरमें आग लगी तो हमने क्या किया? बोले—आग उछालने लगे कि पड़ोसीके घरमें भी लग जाये। तो यह तो कोई धर्मकी बात नहीं है। इसलिए तपस्या वह है कि अगर तुम्हारे दिलकी कमजोरीसे तुम्हारे दिलमें आग ही लग गयी तो उसे वहीं बुझा दो, उसको दूसरेके दिलमें और मत लगाओ बोल करके। यह तपस्याका स्वरूप है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियंहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १७.१५

इसी तरहसे शरीरका तप होता है, मनका तप होता है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १७.१६

हमेशा मंगल बोलो जिससे आपनेको सुख हो, दूसरेको सुख हो, अपना भी भला हो, दूसरेका भी भला हो। और मनको हमेशा प्रसन्न रखो, निर्मल, कुटिलता रखकर मत बालो। बड़ोंके साथ रहकर यही बात सीखी जाती है कि हमारे वचनमें कुटिलता नहीं आने पावे। अगर कोई बड़ोंसे ही कुटिलतापूर्ण भाषण करने लग जाये तब उसके जीवनमें सुधरनेकी, उसके जीवनमें सच्चाई आनेकी, तपस्या आनेकी आशा ही कहाँसे रही? जब अपनी माँको ही ताना मारकर बोलेंगे, अपने बापसे ही ताना मारकर बोलेंगे, अपने गुरुको ही ठेस पहुँचाते हुए बात करनेकी कोशिश करेंगे तो अब उनके जीवनमें क्या उम्मीद रखी जा सकती है कि कभी उनके जीवनमें निर्मल प्रसन्नता, प्रसाद आवेगा ये कभी भगवत्प्रसादका आस्वादन भी कर सकेंगे अपने हृदयमें इसकी क्या आशा है?

तो हर समय मनमें प्रसन्नता रहे, निर्मल सरोवरकी तरह, न गंदलापन रहे और न चंचलता रहे। सबके प्रति सौम्यत्व। सौम्यत्व माने सोमका भाव, चन्द्रमाका भाव। जैसे चन्द्रमा सबके ऊपर अपनी रोशनी, अपनी शीतलता अपनी आह्लादिनी ज्योत्स्नाका विस्तार करता है, उसी प्रकार मनुष्य सबके ऊपर अपनी आह्लादिनी चाँदनीको छिटकने दे।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनं—ज्यादा इधर-उधरकी बात न सोचे, मनको मौन रखे। चुप रहनेका मतलब यह नहीं कि भीतर जलते हैं, जल रहे हैं। यह मनका मौन नहीं है। **आत्मविनिग्रहः** अपनी इन्द्रियोंको रोक सकना और सबके प्रति अपने भावको शुद्ध रखना। **एतत्तपो मानसमुच्यते**—यह मानसिक तपस्या है।

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं—देवताकी पूजा करना, ब्राह्मणकी पूजा करना, गुरुकी पूजा करना और प्राज्ञ—विद्वान्‌की पूजा करना। देखो, इसमें देवताकी पूजा करना, चाहे अपने सम्प्रदायका मान्य हो चाहे न हो, सभी देवताओंको हाथ जोड़ लेना। द्विजकी पूजा करना, वह चाहे गुरु हो, चाहे न हो, विद्वान् हो चाहे न हो ब्राह्मणकी पूजा करना। अगर विद्वान् ब्राह्मणकी ही पूजा इष्ट होती, तो उसमें प्राज्ञ शब्द जुदा नहीं आता भला! ब्राह्मणका सत्कार करो, गुरुका सत्कार करो। फिर प्राज्ञका, कोई भी विद्वान् हो, कोई भी बुद्धिमान हो, उसका सत्कार करो। अपने मनको, इन्द्रियोंको पवित्र रखो, अपने जीवनमें सरलता ले आओ। घण्टे आध-घण्टे बैठकर सोचो कि हम जिस रास्तेपर चल रहे हैं, दस मिनट भी इसके लिए समय निकालो, प्रात:काल चार बजे उठकर बैठ गये और सोचो कि हम जिस मार्गपर चल रहे हैं वह मोहका रास्ता है कि प्रकाशका रास्ता है। हम जिस रास्तेपर चल रहे हैं वह सत्यका मार्ग है कि असत्यका मार्ग है। थोड़ी अन्तर्मुखता अपने जीवनमें आनी चाहिए।

इस तरहसे तप जुदा-जुदा हैं। बोलनेका तप जुदा, करनेका तप जुदा, मनमें रखनेका तप जुदा। तरह-तरहके तपस्वी होते हैं, कोई पंचाग्नि तापते हैं, कोई चान्द्रायण करते हैं, कोई प्राजापत्य करते हैं। बड़े-बड़े व्रती होते हैं, यति होते हैं, तपस्वी होते हैं। यह सबमें तपके रूपमें कौन बैठा हुआ है? बोले—वही है, दूसरा कोई नहीं है।

अच्छा, देखो अब एक अर्थ इसका दूसरे ढंगका सुनाता हूँ आपको। थोड़ा तन्मना जाओ। तन्मना जाओ का अर्थ है नींद नहीं आवे किसीको। हम पहले जप करने बैठते थे, तो रातमें जप करते-करते कभी नींद आने लगती थी, तो अपना कान आप ऐंठकर और वह तमाचा लगाता था, लाल हो जाता था मुँह, बिना रियायतके, बिना लिहाजके तमाचा मारता था अपनेको।

असलमें सावधानी ही साधना है। अगर तुम अपने कर्ममें सावधान नहीं हो, बोलने में सावधान नहीं हो, सोचनेमें सावधान नहीं हो, रहनीमें सावधान नहीं हो, यह जो जीवनमें असावधानी हो रही है, यह अन्तमें नरककी ओर ले जायेगी। नरक माने दु:खकी आगमें ले जाकर धकेल देगी। इसलिए निरन्तर कान खड़े रहने चाहिए। पता नहीं कौन-सी बात जाकर

दिलको छू दे, गुदगुदा दे और दिलकी काई हट जाये और उसमें बैठा हुआ परमात्मा चमक उठे। हमेशा सावधान रहना चाहिए।

तो भगवान्‌ने बताया—

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

भगवान्‌के शरीरमें एक दिव्य गन्ध निकलती है। इतनी विलक्षण होती है वह गन्ध—

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय पदाब्जराग श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।

वर्णन है वेणुगीतमें, जब गाँवकी भीलनें निकलकरके वनमें जातीं लकड़ी तोड़नेके लिए, पत्ता बटोरनेके लिए, फूल लेनेके लिए, जंगलमें-से औषधियोंका संग्रह करनेके लिए, वनमें घूमनेके लिए, तो देखतीं कि कहीं-कहीं किसी तृणपर, कहीं घासपर, कहीं सूखे तृणोंपर कुंकुम लगा हुआ है, केशरका चंदन लगा हुआ है। वह केशरका चंदन कहाँसे आया? तो बोले—भगवान् श्रीकृष्ण जब उधरसे निकलते हैं, तो उनके तलवोंमें लगा हुआ जो केशरका चन्दन है, वह घासोंपर लग जाता है। तो वे उसको उठाकर अपने मुँहपर और अपने हृदयपर लगा लेती हैं। बोले—उसमें केशरकी गन्ध होगी, बस! बोले—नहीं, केशरकी गन्ध नहीं है, भगवान्‌के अंगका सम्बन्ध होनेसे उस केशरमें एक अद्‌भुत गन्ध आ गयी है। **पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च**। उससे क्या होता है? कि उससे इनके हृदयमें लालसा उदय होती है कि जिसके शरीरके सम्बन्धसे उस केशरमें इतना आकर्षण, इतना प्यार, इतनी उत्तेजना, इतनी लालसा भर गयी है, क्या वह श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी कभी अपने अंगसे हमारा स्पर्श करेगा? उन भीलनोंके मनमें जो श्यामसुन्दरके अंगके सम्बन्धसे अपने अंगको सुगन्धित करनेकी लालसाका उदय होता, वह अद्‌भुत गन्ध।

काशीमें एक गन्धीबाबा थे। गन्धीका अर्थ कि उनके पास कोई ऐसी सिद्धि थी कि वे किसी भी वस्तुमें गन्ध उत्पन्न कर देते थे। कोई भी निर्गन्ध फूल, निर्गन्ध पत्ता उनके सामने ले जाओ, वे देखते थे, आँखसे देखते थे और एक शीशेकी रोशनी उसके ऊपर डालते थे, तो उसमें सुगन्ध आ जाया करती थी। बड़े चमत्कारी थे। लोग उनका चमत्कार

देखनेके लिए जाते थे। एक विदेशी आया था, उसका नाम पालब्रंटन था, उसने 'गुप्त भारत की खोज' पुस्तक लिखी है। उसने लिखा है कि जब मैं बनारसमें गया, तो उन्होंने तरह-तरहके गन्ध हमको सुँघाके बताये। एक हमारे भक्त गये उनके पास, वे बोले कि महाराज, हमको तो श्रीकृष्णके शरीरमें-से जैसी सुगन्ध निकती है, वैसी सुगन्ध बताओ, उन्होंने एक गन्ध प्रकट की। तो अब यह तो हम नहीं कह सकते कि वह श्रीकृष्णके अंगकी गन्ध थी कि नहीं थी, लेकिन उसको सूँघनेसे ऐसा लगता था जैसे कमल, कस्तूरी और तुलसी—ये सब एकमें मिला दी गयी हों, ऐसा कोई दिव्य गन्ध। तो उसको सूँघ लेनेके बाद फिर संसारकी कोई गन्ध अच्छी नहीं लगती है।

पृथिव्यां—इस धरतीमें ही महाराज, भगवान् श्रीकृष्ण विचरण करते हैं। **पृथिव्यां व्रजभूमौ,** व्रजभूमिमें विचरण करते हैं और अपने अंगकी गन्धसे पशुको, पक्षीको, मनुष्यको, देवताको सबको मतवाला बना देते हैं, उनके अंगकी सौरभसे सब मस्त हो जाते हैं। तो वह जो **पुण्यो गन्धः**, पुण्य गन्ध कौन? भगवान् बताते हैं पुण्य गन्ध मैं। तो कौन-सी पुण्यगन्ध? कि जिसके सूँघने मात्रसे ही हृदयमें भगवद्-भक्तिका संचार हो जाये। भगवद्भक्ति संचारक जो गन्ध है, उस गन्धके रूपमें स्वयं भगवान् प्रकट हो रहे हैं। पहचानो उनको कि किसकी गन्धसे हृदयमें भक्ति आती है।

अब बोले—भाई गन्ध तो नाकमें आ जाये भगवान्के अंगकी, लेकिन ऐसे मूर्च्छित बँधे पड़े हैं संसारमें कि कोई हिलना-डुलना चाहता थोड़े ही है! ऐसे बन्धन हैं महाराज, यह मकानका बंधन, यह धन का बंधन! यह बंधन शब्द जो है, यह धनके आगे बम् जोड़कर यह छिपा दिया गया है। असलमें धनका ही नाम बंधन है। यह धन शब्दका जो अर्थ है वह छिपानेके लिए, जैसे आदमी डरता रहता है कोई छीन न ले, ऐसा बँधा हुआ मूर्च्छित, हिल नहीं सकता, बोल नहीं सकता, कहीं जा नहीं सकता, आ नहीं सकता। देखो न धनका बंधन, घरका बंधन, जमीनका बंधन, स्त्रीका बंधन, पतिका बंधन, पुत्रका बन्धन, सगे-सम्बन्धियोंका बंधन। इस बंधनमें रहकर मनुष्य मूर्च्छित हो गया है। यह ईश्वरके लिए चिल्ला भी नहीं सकता—**हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण।** ऐसा

बन्धन, बोले—शर्मका बन्धन, भला जोरसे कैसे बोलें, भले मानुस होकर। गाली जोरसे दे सकते हैं पर भगवान्का नाम जोरसे नहीं ले सकते। इसका नाम बंधन है। अपनी पत्नीपर नाराज़ हों, देखो कितनी जोरसे बोलते हैं, नौकरको पुकारना हो देखो कितनी जोरसे बोलते हैं। लेकिन भगवान्का नाम नहीं ले सकते।

यह क्या है? तो इसका अर्थ है संसारका बन्धन। बिना एक प्रकारका तेज आये इस बन्धनको कोई काट नहीं सकता। तो भगवान्की प्राप्तिके लिए वह तेजस्विता जो अपने जीवनमें आती है और वह कभी-कभी आती है। एक छलांग ऐसी मारी कि हमारे और हमारे प्रियतमके बीचकी जो दूरी है वह पार हो गयी। यह तेजस्विता कि सारे बन्धन टूटकर गिर जायें, कोई पाँव पकड़कर नहीं रोक सके, कोई हाथ पकड़कर नहीं रोक सके, यह तेजस्विता हमारे जीवनमें कब आती है? भगवान् बताते हैं—**तेजश्चास्मि विभावसौ,** विभावसौ माने अग्नि, अग्नि माने विरहाग्नि। जब मनुष्यके हृदयमें विरहकी आग प्रज्वलित होती है, तब ऐसी तेजस्विता उसके अन्दर आती है कि वह धनका बंधन, वह शोधनका बन्धन, वह बोधनका बन्धन जितने बन्धन हैं सब कट जाते हैं। सम्बन्ध ही बन्धन है। असलमें संसारके साथ जो सम्बन्ध है उस सम्बन्धका नाम ही बन्धन है। तो सारे सम्बन्धको भस्म करनेवाली शक्तिका नाम तेज है। सारे बन्धनोंको और सारे सम्बन्धोंको भस्म करनेवाली शक्ति हमारे जीवनमें आती है। कब आती है? कि जब आग पैदा होती है। आग क्या पैदा होती है? विरहाग्नि।

त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोक कलगीतज हृच्छयामि।
नोपेद् वयं विरहाग्नि युत देहा ध्यानेन या पदयो पदवीं सखेते॥

जब विरहकी आग हृदयमें जलती है—जन्म-जन्म बीत गये, युग-युग बीत गये, स्त्रीका सुख मिला, पुत्रका सुख मिला, धनका सुख मिला, लेकिन जो हमारा हृदयेश्वर है, प्राणेश्वर है, परमेश्वर है, प्रभु है, उसकी प्राप्तिका सुख नहीं मिला। जब उसके लिए हमारे हृदयमें व्याकुलता की आग प्रज्वलित होती है, तो 'विभावसौ'—उस आगमें, उस अग्निमें एक तेज है। कौन-सा तेज है? वह सम्पूर्ण बन्धनोंको, सम्बन्धोंको भस्म कर डालनेका तेज है। वह तेज कौन है? कि वह तेज स्वयं भगवान् है। **तेजश्चास्मि विभावसौ।**

आपको स्मरण करना होगा रासपंचाध्यायी के प्रसंगमें—

अन्तर्गृहगताः कश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसह प्रेष्ठ विरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या-क्षीणमङ्गलाः ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

जब गोपियोंके हृदयमें भगवान्‌का विरह स्फुरित हुआ, तब रोक दिया घरवालोंने, नहीं जाने देंगे। अब प्रश्न यह हुआ कि जब विरहकी आग जलती है और इससे तेजस्विता आती है तो संसारके सारे बन्धन, सारे सम्बन्ध तो भस्म हो जाते हैं, लेकिन इस विरहकी आगमें भी यह शरीर बचा कैसे रहता है? देखो, आगमें डालनेपर भी सोना जलता नहीं है और चमकता है। बोले—बिना तापके, जो पिटेगा नहीं और जो तपेगा नहीं, वह कुन्दनकी तरह चमकेगा कब? क्योंकि यह तो सारे संसारके विरुद्ध ईश्वरकी ओर चलनेका मार्ग है। विरहकी आग जली हृदयमें, व्याकुल हो रहे हैं और उस तेजमें सारे बन्धन भस्म हो रहे हैं, बोले—यह शरीर भी जल जायेगा, शरीर भी भस्म हो जायेगा, यह शरीर भी छूट जायेगा। भगवान् कहते हैं—नहीं, हम तुम्हें जिलाये रखेंगे भला! तुम्हारे भीतर जीवन बनकर मैं बैठा रहूँगा—**जीवनं सर्वभूतेषु**। वह जीवन जो विरहकी आगसे भी भस्म न होकर बिलकुल कुन्दनकी तरह शेष रहता है। वह महाराज, सम्पूर्ण प्राणियोंमें उस जीवनके रूपमें परमात्मा है। सम्बन्धी छूटनेसे जीवन नहीं छूटता, धन छूटनेसे जीवन नहीं छूटता, देह छूटनेसे भी जीवन नहीं छूटता। जीवन तो तब छूटा जब हमारे जीवन-सर्वस्व, हमारे प्रभु, हमारे परमात्मा छूट गये। जब यह भ्रम हो गया कि भगवान् हमसे छूट गये, तब जीवन छूट गया। तो सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर, सम्पूर्ण पदार्थोंके भीतर वह जीवनशक्ति भगवान् है, वह कभी नहीं छूटेंगे भला, वे रहेंगे।

विरहकी आगमें जो मल होगा वह भस्म हो जायेगा, जो उपाधि होगी सो भस्म हो जायेगी, जो विघ्न होगा सो भस्म हो जायेगा और हमारे जीवन सर्वस्व भगवान् बने रहेंगे।।

अब इसके बाद कहते हैं कि बारम्बार प्रभुसे मिलने के लिए जो हृदयमें ताप होता है, उससे क्यों नहीं जीवनका नाश होता? कि जीवनका नाश यों नहीं होता कि प्रभुसे मिलने के लिए जो ताप होता है, जीवनमें (वह ताप प्रभु ही हैं) **तपश्चास्मि तपस्विषु**। तपस्वी माने काष्ठ तपस्वी नहीं। वह बोलते हैं, कठमलिया, कठमौनी, कि बिलकुल काठकी तरह होगये, ऐसे काष्ठ तपस्वी नहीं। तपस्वीका अर्थ है एक जिन्दा दिलमें जो ताप होता है। जीवनके रूपमें जो भगवान् हैं और वहाँ भगवद्रूप जीवन ही भगवत्प्राप्तिके लिए आतुर होता है।

ताप कई तरहका होता है। यह दुःखकी भी किस्म होती हैं। एक आदमीको ताप होता है कि हमने चोरी की तो पकड़े क्यों गये? उनको मालूम कैसे पड़ गया, किसने बताया, इसका पता लगाओ, उसको दंड देकर रहेंगे। अपनी चोरीका दुःख नहीं है, अपनी चोरी खुल जानेका दुःख है। अब यह तो अन्तिम अवस्था हो गयी, इस बातका पश्चात्ताप नहीं हुआ कि हमने चोरी की, इस बातका दुःख हुआ कि हमारी चोरीका पता लग गया। यह सत्यानाशी चित्त है। यह चित्त सत्यानाशके रास्तेपर ले जा रहा है।

अच्छा,, अब दूसरेके चित्तमें दुःख हुआ कि हाय-हाय हमारे मनमें यह दुर्बुद्धि कहाँसे आयी और हमने चोरी कहाँसे की! तो चोरी खुल जानेका ताप दूसरा है और चोरी करनेका ताप दूसरा है। जिसको चोरी करनेका ताप होता है वह शुद्ध होता है, पवित्र होता है और जिसको चोरी खुल जानेका ताप होता है वह और ऐसी चोरी करता है कि अबकी न खुलने पावे। इसका विज्ञान ही यह है कि जिसे चोरी खुलनेसे दुःख हुआ वह अब आगे ऐसी चोरी करेगा कि खुलने न पावे और जिसे चोरी करनेका दुःख हुआ वह आगे चोरी नहीं करेगा। तो यह ताप हुआ न! देखो, तापकी किस्म है।

अच्छा, किसीको दुःख होता है दान करनेमें, कि अरे उसको पचास रुपया देना चाहिए था, हमने पाँच ही रुपया देकर क्यों विदा कर दिया। किसीको यह ताप हो रहा है कि ऐसे ही दिन-पर-दिन बीतते जा रहे हैं, प्रभुके दर्शन नहीं हुए। किसीको यह ताप हो रहा है कि देखो

प्रभुके दर्शनकी सुविधा तो है, लेकिन मैं वहाँ पहुँच नहीं सकता। किसीको यह ताप हो रहा है कि दर्शन तो हुआ, लेकिन बात नहीं हो सकी। किसीको यह ताप हो रहा है कि बात तो हुई, लेकिन सेवा नहीं मिली। किसीको यह ताप हो रहा है कि सेवा मिली तो सही लेकिन थोड़ी देरमें वह टूट गयी, हमेशाके लिए क्यों नहीं मिली? तो प्रेममें इति नहीं है, मिति नहीं है। प्रेम में निमित्त उसका कोई नहीं है, असीम है वह। तो जितना-जितना मिलता जाता है आगे बढ़ने के लिए, उस भगवान्‌के मार्गमें बढ़नेवाले तपस्वीके जीवनमें, और आगे बढ़नेके लिए, और आगे बढ़नेके लिए, और आगे बढ़नेके लिए। एक तप चित्तमें उत्पन्न होता है। यह जो तपका भाव तपस्वियोंके हृदयमें रहनेवाला है उसको बोलते हैं—**तपश्चास्मि तपस्विषु।**

भगवान्‌के और निकट पहुँचनेके लिए और भगवत्सुखका आस्वादन करनेके लिए, उस अनन्तसे एक हो जानेके लिए, उस अनन्तमें अपनेको स्वाहा कर देनेके लिए जो अपने हृदयमें ताप होता है वह वास्तविक तप है। तो **तपश्चास्मि तपस्विषु**का यह अर्थ है कि जब कोई तपस्वी भगवान्‌के मार्गमें चलता है (तो तपके रूपमें भगवान् ही उसके जीवनमें आते हैं)। एक धर्म तपस्या होती है, एक योग तपस्या होती है, एक भक्ति तपस्या होती है और एक ज्ञान तपस्या होती है, ऐसे समझो!

आप यह जो चान्द्रायणादि व्रत करते हैं, एकादशी आदि व्रत रहते हैं, थोड़ा खाते हैं, थोड़ा रखते हैं, थोड़ा पहनते हैं, यह सब क्या है? कि यह सब धर्मकी तपस्या है, धर्मानुकूल तपस्या है।

योगकी तपंस्या है कि विषयोंके सम्मुख रहनेपर भी आप अपनी इन्द्रियोंको जो रोक लेते हैं, मनोराज्य नहीं होने देते, यह योग-तपस्या है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान द्वारा मनको अपने भीतर रख लिया, बाहर नहीं जाने दिया, बाहर चाहे कितने भी भोग हों, उधर नहीं जाने दिया—यह योगकी तपस्या है।

ज्ञानके लिए जो तपस्या होती है उसका अनुभव सबको नहीं है भला! जब कोई शास्त्रकी पंक्ति सामने आती है या जब कोई बुद्धिमें ऐसी ग्रन्थि आती है—समझो कि कोई ब्रह्म-जिज्ञासु है और उसके मनमें यह

प्रश्न उठने लग गया कि मुझ शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्ममें यह माया कहाँसे आयी और यह अविद्या कहाँसे आयी और आयी कि नहीं आयी, कि है कि नहीं है और इसका समाधान ठीक-ठीक नहीं होता है, बुद्धि ठीक-ठीक नहीं समझ पाती है, उस समय चित्तमें जो व्याकुलता होती है, एक अधखुली गाँठको खोलनेके लिए, एक अनबुझी पहेलीको बूझनेके लिए, एक भ्रान्तिसे आवृत पदार्थके स्वरूपको जाननेके लिए, जिज्ञासुके चित्तमें जो व्याकुलता होती है—वह ज्ञान-तप है। शामको चित्तमें प्रश्न उठा और उसपर विचार करने लगे और सारी रात बीत गयी उस गाँठके खोलनेके लिए और पता नहीं चला कि रात कब बीत गयी और प्रातःकाल होते ही वातावरण निर्मल हुआ, बुद्धि प्रसन्न हुई और वह ग्रन्थि खुल गई। एक अनसमझी बातको समझ लेनेपर कितना सुख मिलता है और ऐसे समझनेके लिए कितना ताप होता है, इसको जिज्ञासु जानता है।

अपने प्यारेसे मिलनेके लिए कितनी व्याकुलता होती है, इस बातको कोई प्रेमी जानता है।

योगिनी होय बैठी हों वियोगिनीकी अँखियाँ।

यह जो हमारे जीवनमें ज्ञान-तप, (प्रेम-तप, योग-तप और धर्म-तप) आता है, यह तप कौन है? बोले—यह सब साधकोंके जीवनमें, तपस्वियोंके जीवनमें यह जो पवित्र तप संसारको छुड़ाकर अपने प्रियतम प्रभुकी प्राप्ति करानेके लिए आते हैं, इन सब तपस्याओंके रूपमें स्वयं भगवान् ही आते हैं। यह दूसरा कोई नहीं है, वही है जो हमारे जीवनको स्वच्छ करनेके लिए, निर्मल बनानेके लिए, हमारे शरीरपर उबटन लगानेके लिए आते हैं। भगवान्‌के मनमें आयी कि भाई, इसके हृदयमें बड़ा प्रेम है, हमसे मिलने लायक है, हमारी छातीसे लगाने लायक है। बोले—है तो लगाने लायक, लेकिन उसका कपड़ा तो बहुत गंदा है, इसके बाल तो बहुत बिखरे हुए हैं और उसमें जुँए पड़े हुए हैं, कि इसके शरीरमें तो मैल लगी हुई है, तो वह भगवान् स्वयं आता है और हमारे शरीरमें अपने हाथसे तपका उबटन लगाता है, जिससे सब मैल छूट जाये; हमारे बाल सँवारता है, हमको स्वच्छ वस्त्र धारण कराता है और हमको अपने योग्य बनाकर, अपने हृदयसे लगाता है। नहीं तो तपके रूपमें

आनेकी क्या जरूरत थी? केवल रसके रूपमें ही आता; तपके रूपमें क्यों आया? तपके रूपमें इसीलिए आया कि वह हमारी अयोग्यताको दूर करे, हमारे मैलको धोवे, हमारे जीवनमें जो दोष है उनका अपनयन करे, हमारे जीवनमें गुणाधान करे, हमारे हीन अंगकी पूर्ति करे।

ये संस्कार तीन कारणसे होते हैं—(१) अगर कोई मैल लगी हो शरीरमें तो उसको छुड़ा देना; उबटन लगाकर मैल छुड़ाना दोषापनयन है। और (२) मक्खन लगाकर चिकना कर देना, यह गुणाधान है भला! चमका दे, यह गुणाधान है और (३) यदि हमारे अंगमें किसी प्रकारकी न्यूनता है तो उसको विकसित करके अपने भोगके योग्य बना लेना, हीनांगपूर्ति इसको बोलते हैं। इन्हीं तीनों बातके लिए हमारे दोषोंको मिटानेके लिए, हमारे अन्दर अपनी पसन्दके गुणोंको भरनेके लिए, हमारी जो कमी है, उसको पूर्ण करनेके लिए भगवान् हमारे जीवनमें तप बनकर आते हैं। **तपश्चास्मि तपस्विषु।**

अब आगे है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०

बीजं मां सर्वभूतानां। बोले—बीज तो अलग-अलग सबके होते हैं। संसारके सारे पदार्थ अपने-अपने बीजमें प्रोत होते हैं। चनेका पौधा कहाँ रहता है? बोले—चनेके बीजमें। और आमका पौधा कहाँ रहता है? कि आमके बीज में। सब चीज़ोंके अलग-अलग बीज। बोले—क्या कोई ऐसा भी बीज है, जो सब बीजोंका भी बीज होवे? सब बीजोंका बीज तो अव्याकृत प्रकृति है। अव्याकृत माने जिसमें विशेष आकृति अभी पैदा नहीं हुई है, व्याकरण जहाँ नहीं है। व्याकरण जब लग जाता है, तब रूप व्याकृत हो जाता है, विशेष आकृति हो जाती है—

रामः रामौ रामाः।

अव्याकृत कहाँ है? कि जहाँ केवल रम् है भला; जहाँ रामः रामौ रामाः नहीं बना। यह तो रूप-व्याकृति हो गयी। रामः एक आकृति रामौ द्वितीयाकृति, रामाः तृतीय आकृति। रामम्, रामान्, रामेण, रामाभ्याम्, रामाय, रामेभ्यः —यह जो आकृति-भेद है, ये क्या हैं? ये विशेष आकृति भेद हैं।

ये कब होते हैं? जब व्याकरणके सूत्र लगा लेते हैं, व्याकरण सूत्रात्मा। जब सूत्रात्माके साथ सम्बन्ध हो जाता है, तब विशेष आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। सूत्रात्माके साथ सम्बन्ध हुए बिना विशेष आकृतियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। कोई सूत्र नहीं लगा, मूल धातु क्या है? बोले रम्। रं बीज है । बोले—इस तरह तो कितनी ही धातुएँ हैं। हजारों धातुएँ हैं। बोले—इन हजारों धातुओंका जो बीज है, जिसमें विशेष आकृति अभी उत्पन्न हुई नहीं, वह व्याकृति नहीं, प्रकृति है।

प्रकृति = अव्याकृत, अव्यक्त, अशेष बीजोंका निधान। बोले—साभास कि निराभास? इसमें आभास है कि नहीं है, चेतन है कि नहीं है? तो साभास जो प्रकृति है—क्योंकि प्रकृति भी मालूम पड़नी चाहिए, बिना चेतनके उसका प्रकाश भी कैसे होगा—तो साभास जो प्रकृति है वह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका बीज है। बोले—वह प्रकृति कौन है? भगवान् कहते हैं उसके रूपमें मैं ही प्रकट होता हूँ।

बोले—नहीं जब अंकुर होता है तब बीजका नाश हो जाता है, बीज निमित्तता नहीं रहती। एक चनेका पेड़ पैदा हुआ और चनेका बीज नष्ट हुआ। तो ऐसे अगर एक-एक बीजसे सब चीजें पैदा होती हैं तो उसका भी नाश होना चाहिए। भगवान् बोले—नहीं-नहीं **सनातनम्।** मैं ऐसा वैसा बीज नहीं हूँ, सनातन बीज हूँ जो अंकुर उत्पन्न होनेपर भी बीज नष्ट न हो जाये। ऐसा बीज कौन-सा होता है?

अच्छा, अब कल वह बीज बताऊँगा जिसमें अंकुर तो पैदा होवे परन्तु बीजका नाश न होवे।

१०. बीजोंके बीजमें, बुद्धिकी बुद्धिमें और तेजस्वियोंके तेजमें

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०

अर्थ :—हे पार्थ! मुझको तू सब भूतोंका सनातन बीज जान। बुद्धिमानोंमें मैं बुद्धि हूँ और तेजस्वियों में मैं तेज हूँ॥ १०॥

: १०.१ :

सनातन बीज मैं, बुद्धि मैं, तेज मैं

सनातन बीज, यह भी परमात्माको यह जाननेकी एक प्रक्रिया है, एक प्रकार है भला! देखो वेदान्ती लोग प्रकार कहना ज्यादा पसन्द नहीं करते हैं, प्रक्रिया कहना पसन्द करते हैं। लेकिन जो अर्थ प्रकार शब्दका है वही प्रक्रियाका है। प्रकार शब्दका स्त्रीलिंग शब्द है प्रक्रिया। प्रकारी नहीं होता है, प्रकारा भी नहीं, प्रक्रिया। प्रकार शब्दका स्त्रीलिंग शब्द प्रक्रिया। प्रकार माने शैली, प्रणाली, ढंग, जैसे अद्वैत तत्त्वको समझनेके लिए जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका विवेक करके तुरीयको पहचानते हैं। वहाँ भी तुरीयका सबीज और निर्बीज भेदसे शंकराचार्य भगवान्ने वर्णन किया है। सुषुप्तिमें सबीज तुरीय रहता है और यहाँ (मांडूक्यके तुरीय पाद में) जिस तुरीय तत्त्वका निरूपण हुआ है वह निर्बीज है। बोले—अगर (सुषुप्तिके प्राज्ञमें) बीजको नहीं मानोगे तो ज्ञान बाध्य बीजाभाव प्रसंग हो जायेगा। और तब ज्ञानकी जरूरत ही नहीं रहेगी। माने यदि पुनर्जन्म न होता हो, यदि जीवको परलोक में न जाना पड़ता हो, यदि जीवको चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति न होती हो, यदि जीवको जन्म-मरणका चक्कर न हो और यदि यह कभी अपने आप हीं छूट जानेवाला होवे तो तत्त्वज्ञान सम्पन्न करनेकी कोई जरूरत ही नहीं है, सारा वेदान्त व्यर्थ। कि नहीं, एक ऐसा कर्मोंका संस्कार-रूप बीज है जिससे बीजांकुर-न्यायसे सृष्टि चलती रहती है और कर्मोंके संस्कार-रूप वह सोनेसे भी नहीं मिटती, वह समाधिसे भी नहीं मिटती, वह प्रलयसे भी नहीं मिटती, वह धर्मके फलस्वरूप

भी नहीं मिटती, उपासनाके फलस्वरूप भी नहीं मिटती, योगके फलस्वरूप भी नहीं मिटती, वह केवल तत्त्वज्ञानसे ही मिटती है।

मैं तो यही समझाता हूँ कि जीवका जन्म-मरण नहीं होता। वेदान्त तो यह समझाता है कि जीवका जन्म-मरण कैसे होता है और उसके छूटनेका उपाय क्या है? छूटनेके बाद ब्रह्मका स्वरूप क्या है? नास्तिक वेदान्ती जो हैं वे वस्तुत: वेदान्ती नहीं हैं। न वे वेद मानें, न शास्त्र मानें, न परलोक मानें, न पुनर्जन्म मानें, न संस्कार मानें, न बीज मानें, न अविद्या मानें; फिर किसकी निवृत्तिके लिए वे श्रवण-मननादि करते हैं?

सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजकी परम्परा अलग-अलग है। एक चनेके बीजमें-से आगे कितने चने निकलेंगे? और वह चना किस आदि बीजमें-से आया है। सृष्टिके आदि बीजको पकड़ो। ईश्वर सृष्टिका पहला चना है। ईश्वर सृष्टिका पहला आम है। ईश्वर सृष्टिका पहला जुँआ है। ईश्वर सृष्टिकी पहली मकड़ी है। ईश्वर सृष्टिका पहला चकवा है। यह पहला क्या? बोले—पहला तो कोई होता ही नहीं है। कि तब यह क्या है? बोले—इन सबको मिलाकर एकमें कर दो। तो संस्कार मात्र जो रह जाता है, वह जो अविद्याके कारण चेतनका संसर्गी बना हुआ है, चेतनका शुद्ध स्वरूप न समझनेके कारण जो उसके साथ जुड़ गया है (वही पहला-आदि बीज है)। ब्रह्म ज्ञानके बाध्य जो अविद्या है, उस अविद्याकी निवृत्तिसे जिसकी निवृत्ति होती है, ऐसा जो बीज है सो उस बीजमें दो अंश है, एक सच्चिदानन्द घन ब्रह्मांश जो कि सनातन है और एक उपाधि जो कि ब्रह्म ज्ञानाबाध्य है। तो भगवान् कहते हैं, इस बीजमें जो सनातन वस्तु है वह मैं हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥

बोले—भाई यह क्या सबके भीतर बीज है, उसका पता लगाना तो बड़ा मुश्किल, ईश्वरका कोई ऐसा स्वरूप बताओ जो हमारे शरीरके भीतर ही बारम्बार दिखायी पड़ता हो। यह देखो बुद्धि है तुम्हारे लिए 'बुद्धिर्बुद्धिमतास्मि'।

हे प्रभु! यह बुद्धि क्या है? तो इसकी रूपरेखा यह है कि जो अपनेको भी निर्बुद्धि मानते हैं और दूसरेको भी निर्बुद्धि मानते हैं उनके लिए तो

संसारमें कोई जगह नहीं। अरे भाई, अपनेमें बुद्धि न हो तो दूसरेकी बुद्धिके अनुसार चलो, तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। बोले—दूसरे तो सब निर्बुद्धि हैं उनकी बात कैसे मान लें! अच्छा, अपनी बुद्धिसे चलो, कि हमारे भी नहीं है। दूसरेमें भी बुद्धि न मानें और अपनेमें भी बुद्धि नहीं है, तो उसकी तो समझो कि संसारमें कोई प्रगति नहीं; उसके ऊपर तो जब कभी ईश्वर करुणा करके, उसको श्रद्धा देगा, या बुद्धि देगा, दोनोंमें-से एक जरूर होना चाहिए। या तो श्रद्धा होवे बुद्धिमानके प्रति या तो अपने हृदयमें बुद्धि होवे। श्रद्धासे चलोगे तो चेले हो और श्रद्धासे नहीं, अपनी बुद्धिसे चलोगे तो गुरु हो। आजकल सबको गुरु बनना पसन्द है, चेला बनना पसन्द नहीं है। अच्छा, अब कहो कि हमारे अन्दर बुद्धि कम है, तुम्हारे अन्दर बुद्धि ज्यादा है तो बात मानो! यदि यह कहो कि हमारे अन्दर बुद्धि है, तुम्हारे अन्दर नहीं है, तो थोड़ा अभिमान है। जो ऐसा समझते हैं कि हमारे अन्दर बहुत बुद्धि है, दूसरोंमें कम है, वे बुद्धि नहीं, बुद्धिके अभिमानी हैं। बोले—हम भी बुद्धिमान, तुम भी बुद्धिमान, तो कहीं स्वार्थका संघर्ष जबतक नहीं होता है तभीतक। नहीं तो एक बुद्धिमान दूसरेको खा जायेगा अगर स्वार्थका संघर्ष होगा। असलमें बात तो यह है कि बुद्धि तो थोड़ी सबके होती है।

तत्त्व जितना शुद्ध होता है। उतनी ही उसमें चमक अधिक होती है। माने प्रत्येक चीजमें चमक होती है, यह समझो। स्थूल दृष्टिसे समझो जितनी चीजें होती हैं, लोहेमें भी चमक होती है, पीतलमें भी चमक होती है, चाँदीमें भी चमक होती है, सोनेमें भी चमक होती है, हीरेमें भी चमक होती है। लेकिन हीरा ज्यादा निर्मल है, तो उसकी चमक बढ़िया है। इसी तरहसे जैसे सब धातुओंमें भौतिक चमक होती है, ऐसे सबके शरीरके भीतर जो बहुत सूक्ष्म, महीन अंश है, उसे सत्ता बोलते हैं—सत्त्व बोलते हैं, सद्भाव। वहाँ चमक सबके होती है। सबको भीतर ही भीतर कुछ चमक जाता है, यह चीज ऐसी है, यह अच्छी है, यह बुरी है, यह भली है, यह अनभली है। भीतर सबके चमकता है—

ज्योत्स्नावत् क्वचिद्भुवा।

सबके दिलमें चाँदनी छिटकती है, लेकिन मैले पर जो चाँदनी छिटकती है वह दूसरी, और निर्मल स्वच्छ सरोवरके ऊपर जो चाँदनी

छिटकती है वह दूसरी। तो ईश्वरकी जो चाँदनी है, वह तो सबपर पड़ती है परन्तु निर्मल वस्तुपर चमक ज्यादा होती है।

अब यह निर्मलता क्या है? तो निर्मलता यह है कि बुद्धिमें जो मैल होती है, वह कोई जैसे लोहेमें जंग लगता है, वैसा जंग नहीं लगता है। बुद्धिमें वासनाकी मैल होती है, वासना ही बुद्धिका मैल है। हमको यह मिलना ही चाहिए, चाहे अन्याय करना पड़े और हमको यह नहीं मिलना चाहिए भले अन्याय करना पड़े। जब हम राग-द्वेषके वशीभूत होते हैं तो ईश्वरका जो प्रकाश हमारे अन्तःकरणमें चमकता है, उसके अनुसार हम काम नहीं करते हैं, राग-द्वेषके अधीन होकरके काम करते हैं। तब उस समय वह जो प्रकाशकी चमक मिलती है हमको, झलक मिलती है वह व्यर्थ हो जाती है। कैसे व्यर्थ हो जाती है? कि हम तो वासनाके अनुसार काम करते हैं प्रकाशके अनुसार काम करते नहीं। ईश्वरका सन्देश, ईश्वरकी आज्ञा मानते नहीं, ईश्वरकी बुद्धि मानते नहीं। नहीं तो ईश्वरकी रहनीका अता-पता तो आपको है-ही-है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। १८.६१

सबके हृदय-देशमें। दिव्य वैकुण्ठ कहाँ है? सबके हृद्देशमें दिव्य वैकुण्ठ है और उसमें ईश्वरका निवास है और वह सबमें चमकता है, रास्ता भी बताता है लेकिन हम सुनते नहीं, वासनाके कारण सुनते नहीं। निर्मल अन्तःकरणमें ईश्वरकी आवाज सुनायी पड़ती है। जब हमारा मन मौन होता है तब ईश्वर बोलता है। जब हमारी बुद्धि वासनारहित होती है, तब उसमें ईश्वरकी आवाज सुनायी पड़ती है। यह वासना ही ऐसी है जो ईश्वरकी आवाज हमें सुनायी नहीं पड़ने देती।

अब देखो—**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि**—यह वासना और बुद्धि—इन दोनोंका विवेक किये बिना कोई साधनाके मार्गमें चल नहीं सकता। जहाँ आगे-आगे वासना चलती है और पीछे-पीछे बुद्धि चलती है, वहाँ संसार होता है; और जहाँ आगे-आगे बुद्धि चलती है और पीछे-पीछे वासना चलती है वहाँ साधन होता है। जब बुद्धि और वासनाका भेद मिट जाता है, केवल परमात्मा ही रहता है तब परमार्थ होता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ २.६७

आगे चलीं इन्द्रियाँ और पीछे चला मन और प्रज्ञाको खींच ले गये, बोले—बस, अब संसारमें गये और,

यस्त्वेन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्म योगं असक्तः स विशिष्यते॥ ३.७

पहले बुद्धिसे निश्चय किया, फिर मनसे साधना की, इन्द्रियोंको वशमें किया—यह साधन है। बुद्धिसे मनको, मनसे इन्द्रियोंको वशमें करो इसका नाम साधन है और आगे आगे इन्द्रियाँ चलें, पीछे-पीछे मन चले, मनके पीछे बुद्धि चले, इसका नाम संसार है।

शास्त्रमें यह कहा है—**आपदां सहितः पंथाः इन्द्रियाणां असंयमः।** इन्द्रियोंका असंयम ही आपत्ति-विपत्तिका मार्ग है।

तद् संयमसंपदां मार्गं येन गम्यतां तेन गम्यताम्।

मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना यह सम्पत्तिका मार्ग है।

आप चाहे विपत्तिके रास्तेसे चलो चाहे सम्पत्तिके रास्तेसे चलो, रास्ता हमने दोनों बता दिया—यह खड्डमें ले जाकर गिराता है और यह राजमहलमें ले जाकर पहुँचाता है, तुम्हें जहाँ जाना हो वहाँ जाओ।

अब, नारायण कहो, **बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।** तो यह सद्, असद्रूप बुद्धि सबके शरीरमें रहती है। पशुके भी बुद्धि होती है। यह नहीं समझना कि पशुको बुद्धि नहीं होती है। कैसे? कि जब देखता है कि कोई आदमी हरी-हरी घास लिए हाथमें आ रहा है तो पशु उसकी ओर बढ़ता है कि यहाँ खानेको बढ़िया मिलेगा और जब देखता है कि कोई लाठी लिए आ रहा है हाथमें तो भागता है। कुत्ते लाठी हाथमें देखकर, दूरसे ही देखकर काँय-काँय करने लगते हैं। इसका मतलब हुआ—***हित अनहित पसु पंछिहि जाना।*** पशु और पक्षी भी हित और अनहित पहचाननेकी बुद्धि रखते हैं, लेकिन जब बुद्धि राग-द्वेषके वशीभूत हो जाती है तब उसको हित और अनहितकी पहचान नहीं होती है।

आप लोगोंको कई बार यह बात सुनायी, फिर भी ध्यानमें रखलो। जब समर्थ रामदास रामकथा लिख रहे थे तो उन्होंने लिखा कि लंकामें अशोक वनमें श्वेत कमल खिले हुए थे। रामकथा लिखनेके बाद हनुमानजीको सुनायी, तो हनुमानजी ने कहा कि वहाँ सफेद नहीं, लाल कमल खिले हुए थे। बोले

नहीं, सफेद थे। दोनोंमें विवाद हो गया। तो यह हुआ कि चलो जानकीजी-से पूछें। अब दोनों जानकीजीके पास गये और दोनोंने प्रश्न किया कि जानकी माता! अशोक वनमें किस रंगके कमल खिले हुए थे? तो जानकीमाताने कहा कि श्वेत थे। हनुमानजीने कहा—माता, मैंने तो अपनी आँखसे देखा लाल थे। माता बोलीं—तुम भी ठीक कहते हो? कि यह कैसे? बोलीं—थे तो सफेद, लेकिन तुम्हारे मनमें क्रोध बहुत था, द्वेष बहुत था, इसलिए तुम्हारी आँखें लाल हो गयीं थीं तो वे सफेद कमल भी लाल-लाल दिखते थे।

जिसके मनमें राग-रंग आजाता है, जिसके मनमें द्वेष रंग आजाता है, द्वेषका वेग और रागका रंग जिसके हृदयमें आता है, उसकी बुद्धि ठीक-ठीक उपदेश नहीं करती, ठीक-ठीक रास्ता नहीं बताती, तो सबके हृदयमें बुद्धिके रूपमें बैठे हुए भगवान् हैं।

अब समझो कि आपकी आधी बद्धि—प्रत्येक व्यक्तिकी आधी बुद्धि—आधी बुद्धि माने कालमें नहीं, इसी देशमें ईश्वरके पास पहुँची हुई बुद्धि, यह आधी बुद्धि है। अब बोले कि सब आधी बुद्धियोंका मूल जो एक बुद्धि है, उस बुद्धिमें भी जो प्राकृत अंश है उसका परित्याग करके, पृथ्व्यांशका परित्याग करके जो ज्ञानांश मात्र है वह कौन है? बोले परमात्मा है—

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।

यह भी देखो एक प्रकिया है, इसको समझने की कि या तो वासनाके बीजका अनुसंधान करते-करते सृष्टिके मूल बीजपर पहुँचो और उसमें जो अपरिवर्तनशील सनातन है, उसको पहचान लो तो परमात्मा पहचानमें आ जायेगा; और या तो सम्पूर्ण बुद्धियोंके मूलमें जो आदि बुद्धि है उस आदि बुद्धिके मूलमें बैठा हुआ जो परमात्मा है उसको पहचानो। वह सम्पूर्ण बुद्धिमानोंके हृदयमें बुद्धि बनकरके बैठा हुआ है।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।

बुद्धि क्या है? तो श्रीमद्भागतमें बताया कि वैसे बुद्धि तो बहुत होती हैं लेकिन,—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥ भा० ११.२९.२२

बुद्धिमानोंमें सच्ची बुद्धि क्या है? और मनीषियोंके अन्दर रहनेवाली सच्ची मनीषा कौन है? देखो, संस्कृतमें एक ही वस्तुके लिए जो भिन्न-भिन्न शब्द होते हैं, उनके अर्थमें थोड़ा-थोड़ा फर्क होता है। बुद्धि, मनीषा, धिष्णा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी, मतिः—ये सब बुद्धि वाचक शब्द हैं। मनीषा भी बुद्धि और बुद्धि भी बुद्धि, तो दोनोंमें फर्क क्या है? एक बुद्धि ऐसी होती है जो मनको अपने वशमें रखकर चलाती है 'मनसा ईषिता'—मनीषा; और एक 'बुद्ध्यते अनया' वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझा देनेवाली जो ज्ञानशक्ति है उसको बुद्धि बोलते हैं कि ठीक-ठीक क्या चीज कैसी है, अच्छी है, बुरी है। और मनीषा उसको कहते हैं जो मनको काबूमें रखे। तो चतुरोंकी चतुराई क्या? और समझदारोंकी समझदारी क्या? बोले—समझदारोंकी सबसे बड़ी समझदारी यह है और चतुरोंकी सबसे बड़ी चतुराई यह है कि—यह जो तुमको एक थोड़े दिन रहनेवाला सिक्का मिला है, यह ऐसा नोट है जो आज तो चलता है बादमें नहीं चलेगा। यह जीवन, यह शरीर जो तुमको मिला है यह क्या है? यह एक ऐसा सिक्का है जो फट जानेवाला है, टूट जानेवाला है, मिट जानेवाला है, ज्यादा चलनेवाला नहीं है, नकली सिक्का मिला है—**यत् सत्यमनृतेनेह**—इसको इसी जीवनमें भुना लो तो भुना लो, बादमें भुननेवाला नहीं है। रहेगा ही नहीं, भुनेगा कहाँसे! बोले—भाई इस सिक्केको भुनाकर इस जीवनमें प्राप्त क्या किया जाये? बोले—सच्चेको प्राप्त करो, ऐसे सिक्केको प्राप्त करो जो हमेशा रह सके, गले नहीं, फटे नहीं, फूटे नहीं।

मर्त्येनाप्नोमि मामृतम्—इस मरनेवाली वस्तुसे अमरको प्राप्त करो। मरनेवालीसे अमरको प्राप्त करना—ऐसी बुद्धि सच्ची बुद्धि है।

देखो यह संसारमें जो तुमको प्रेम करनेकी शक्ति मिली है, तो प्रेम अगर भगवान्‌से करोगे तो तुम्हें सच्चे सुखकी प्राप्ति होगी और प्रेम अगर गुण्डेसे करोगे तो तुम्हें दुःखकी प्राप्ति होगी, यह बात बिलकुल ठिकानेकी है।

अच्छा, तुमको समझनेकी शक्ति मिली है तो समझनेकी शक्ति जब तुमको मिली है तो इससे यह समझोगे कि इससे साबुन कैसे बनाते हैं, तेल कैसे बनाते हैं और बाल कैसे सँवारते हैं और साड़ी कैसे पहनते हैं, तो यह चीज टिकाऊ नहीं है; लेकिन ईश्वर क्या होता है अगर यह बात समझ लोगे

तो वह टिकाऊ होगी। पैसा कैसे कमाते हैं यह समझ टिकाऊ नहीं है; ईश्वर क्या है यह समझ टिकाऊ है; संसारमें जो प्रेम करते हैं वह टिकाऊ नहीं है, ईश्वरसे जो प्रेम करते हैं वह टिकाऊ है, इसलिए सच्ची बुद्धि यह है कि इसको संसारमें भटकने मत दो, अटकने मत दो; यह मेरा, यह मेरा, यह तेरा, यह तेरा, यह करके लड़ाई-झगड़ा मोल मत लो; अपनी बुद्धिको परमात्माके साथ जोड़ो यही सच्ची बुद्धि है। तब समझो **बुद्धिमताम्** हुए नहीं, तो बुद्धिमान तो बहुत हैं—बड़े-बड़े जज हैं, कलक्टर हैं, बैरिस्टर हैं, बड़े-बडे मास्टर हैं और मिनिस्टर हैं। यह 'टर-टर' करते हैं, क्या मास्टर, क्या कलक्टर, क्या मिनिस्टर, सबके साथ टर जुड़ा हुआ है। संस्कृतमें 'तर' प्रत्यय भी श्रेष्ठताकाका वाचक होता है। इसीका 'टर' होगया समझो।

अब, यह जो प्रीति अपनी है वह कहाँ जुड़ती है यह विचार करना। बुद्धि सच्ची वह है जो अपने हृदयमें सच्चा प्रेम देवे और सच्चेके साथ, ईश्वरके साथ जोड़े क्योंकि ईश्वर ही सच्चा है। तो पहले वृत्ति ईश्वराकार होवे। जगदाकार वृत्तिको हटाओ। यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह मकान है, यह पशु है, यह पक्षी है, यह मनुष्य है, यहाँसे वृत्तिको हटाओ। फिर यह देवता है, यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है, यहाँसे हटाओ, यह स्वर्गलोक है, यह ब्रह्मलोक है, यहाँसे हटाओ। बुद्धिको पहले ईश्वराकार करो और उसमें भी ईश्वरको पकड़ो। वह ईश्वर क्या है? तो देखो इस बुद्धिके रूपमें, उस वेदके रूपमें ईश्वर बैठा हुआ है।

तेजस्तेजस्विनामहम्—और संसारमें महाराज तेजस्वी लोग हैं, बड़े-बड़े तेजस्वी, उनमें तेज मैं ही हूँ। एक तेज तो होता है बाहरका। उसको बताया—**तेजश्चास्मि विभावसौ**—अग्निमें मैं तेज हूँ। अब दूसरा तेज बता रहे हैं जो तेजस्वी पुरुषके जीवनमें होता है, जिससे दूसरा कोई उसको दबा न सके, दुर्धर्ष। जो दूसरेको दबा सके, उसका नाम होता है तेज। बड़े तेजस्वी हैं माने पहले तो सोचकर जाते हैं कि उनको यह सुनावेंगे, यह सुनावेंगे, पर उनके सामने जानेके बाद बोलती ही बन्द हो जाती है। और वे जब सुनाने लगे तो बिलकुल दब गये।

तेजस्वी पुरुष जो होता है, उसमें और सबके भीतर एक तेज होता है, वह तेज कौन है? भगवान् बताते हैं वह तेज मैं हूँ। वह तेज है जिससे कोई

झूठी गवाही न दिला सके। किसीकी हिम्मत न पड़े कि आकर कहदे कि चलो तुम हमारी ओरसे झूठी गवाही कर दो। झूठी गवाही कराना, दबा देना है। कहा कि बही-खातेमें झूठा लिख दो और किसीके कहनेसे लिख दिया, तो दब गये न! दब गये, चोर हो गये। जिसे कोई चोर न बना सके, दबा न सके, जिसको बुद्धिमें प्रौढ़ता होवे वहाँ ईश्वर प्रकट रूपसे विराजमान है भला!

देखो, भगवान् श्रीकृष्ण कौरवोंकी सभामें गये। वहाँ भीष्म, द्रोण, कर्ण अश्वत्थामा, शकुनि, दु:शासन, बड़े-बड़े लोग कौरवोंकी सभामें थे और अकेले वहाँ पहुँच गये। किसीकी हिम्मत न पड़े भला, एक दम दुर्धर्ष, वह व्याख्यान है, उद्योग पर्वमें कभी पढ़ो; आजकल भी वह व्याख्यान ज्यों-का-त्यों बोलने लायक है, उसमें-से एक वाक्य भी काटने योग्य नहीं है। पाँच हजार बरस व्याख्यान दिये हो गया, लेकिन उस व्याख्यान से कोई चाहे कि एक बातको निकाल दे, तो नहीं निकाल सकता। क्या दुर्धर्ष होकर व्याख्यान दिया। पीछे-पीछे लोगोंने गुपचुप बात की-बाँध लो, सामने किसीकी आनेकी हिम्मत न पड़े। पीछे कहें यह रस्सी मँगाओ, यह जंजीर मँगाओ, और यह जाल रचो, ऐसे बाँधो। धृतराष्ट्रने सलाह तो दे दी बाँधनेकी। बोले—भाई, 'जो तुम्हारी राय सो हमारी राय' लेकिन बोले कि कृष्णका शरीर बड़ा कोमल है उसके लिए रेशमी रस्सी मँगाओ बाँधनेकी। इतना कोमल था श्रीकृष्णका शरीर। कोमलमें कोमल है, वीरमें वीर। अन्ततोगत्वा क्या हुआ? जब सात्यकिको यह बात मालूम पड़ी, यह सात्यकि यदुवंशियोमें भगवान्की विशेष विभूति है। भागवतमें सत्यवालोंमें सात्यकिकी गणना है। उसके भीतर सत्त्व है, तेजस्विता है। अकेले उठके खड़ा हो गया, भरी सभामें कौरवोंको बोले कि कृष्णको तो बैठे रहने दो और सब कौरव एक ओरसे प्रहार करो; मैं अकेला ही तुम लोगोंका सामना करूँगा, आजाओ हमारे सामने। पर उसकी तेजस्विता देखकर सब भीगी बिल्ली बन गये, बिलकुल मिमियाने लगे जैसे बकरी मिमियाये, किसीका कोई वश नहीं चला। तो सात्यकिमें यह तेज कहाँसे आया? भगवत्सम्बन्धसे आया। कृष्णमें यह तेज कहाँसे है? कि स्वयं भगवान् हैं। विभूति बताते समय या भगवान्को पहचाननेकी वेलामें ऐसा लक्षण बताया जो कृष्णमें है। जहाँ-जहाँ तेज दिखायी पड़े, वहाँ-वहाँ समझना कि इस तेजमें भगवान्का

अंश है, इसमें भगवान् छिपे हुए हैं। वह बुद्धि, वह तेज, **बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।**—बुद्धिमानोंमें मैं बुद्धि हूँ, वह बुद्धि जो ईश्वरकी ओर ले जाती है। वह बुद्धि नहीं जो संसारमें फँसाती है।

देखो, कहाँ फँस रहे हो? बुद्धि न छोटी होती है न बड़ी; बुद्धिकी यह बात है। छोटीमें फँस जाये तो छोटी, बड़ीमें फैस जाये तो बड़ी। जिस चीजमें फँसती है बुद्धि, वही बुद्धिकी शक्ल होती है। आप बुद्धिकी लम्बाई चौड़ाई जानते हैं? कितनी लम्बी होती है बुद्धि और कितनी चौड़ी! जितनी लम्बी चीजमें बुद्धि फँसी हो, उतनी लम्बी हो जाती है बुद्धि। जब घड़ेमें फँसती है तो बुद्धि घड़ेके बराबर होती है और जब सूर्य-चन्द्रमामें फँसती है तो बुद्धि सूर्य-चन्द्रमाके बराबर होती है। और, जब ईश्वरमें बुद्धि फँसती है तो बुद्धि ईश्वरके बराबर हो जाती है। बुद्धि बढ़ानेका उपाय यह है कि इसको छोटी चीजमें मत फँसाओ। ईश्वरमें फँसाओ बुद्धिको, यही बुद्धि बढ़ानेका उपाय है।

और तेज कब है? मनमें आया काम, मनमें आया क्रोध, मनमें आया लोभ और महाराज, ऐसा दबाया कि जिधर लिये जा रहा है, उधर चले जा रहे हैं। क्या तेज है? जब कामके वशमें हो गये, जब क्रोधके वशमें हो गये, जब लोभके वशमें हो गये तो तुम्हारे जीवनमें क्या ऐश्वर्य है, क्या तेजस्विता है? बोले—भाई, तेजस्वी कौन? वासनाके नीचे दबे नहीं। ऐसा प्रगल्भ होवे कि वासना अगर आकर दबाना चाहे तो वासनाको ही फाड़कर फेंक दे, ऐसा तेजस्वी वासनाको दबानेवाला होना चाहिए। तो,

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

कल सुनाया था कि भगवान्के अंगकी गन्ध, भगवान्के चलनेके लिए तीव्रतम तेज बड़ा अद्भुत है, और विरहाग्निको सह सकनेवाला जीवन और परमात्माकी प्राप्तिके लिए तप करनेवाला तप, यह जो हमारे जीवनमें आता है, वह परमात्मा है।

अब दूसरा भाव इसका देखो। बोले—वे तो कोई होते होंगे ऐसे समर्थ लोग, जिनके जीवनमें ये सारी बातें होती होंगी। हमको ऐसी बुद्धि कहाँ मिले? हमको ऐसा ज्ञान कहाँ मिले? बोले—**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।** सबके भीतर भक्तिका बीज, प्रेमका बीज, ज्ञानका बीज, हमारी

प्राप्तिके लिए जो बीज चाहिए, माने सबके अन्दर भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका अंकुर है। अच्छा, तुम कुछ ऐसा चाहते हो, जो हमेशा रहे। यह हमेशा रहनेवाला कुछ कौन? ईश्वर है। यह नहीं समझना कि ईश्वरके सिवाय ऐसा कुछ स्त्रीसुख, पतिसुख, पुत्रसुख, धनसुख तुमको मिलेगा, जो हमेशा रहेगा। हमेशा रहनेवाला सुख केवल ईश्वर होता है भला! अच्छा, हमेशा रहनेवाला सुख इस समय होना चाहिए कि नहीं? अगर वह इस समय नहीं होगा, तो हमेशा रहनेवाला कैसे होगा? हमको ऐसा सुख चाहिए जो हर जगह रहे। ईश्वरके सिवाय ऐसा कोई सुख हो सकता है? तो, **बीजं मां सर्वभूतानां** का अर्थ हुआ कि सबके मनमें ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छाका जो बीज है, अनजानमें ही रह रहा है, पहचानते नहीं हैं, पर है। तुम सचमुच ईश्वरको पाना चाहते हो, हमेशा रहनेवाला आनन्द, हर जगह रहनेवाला आनन्द, हरमें रहनेवाला आनन्द, तुम सचमुच ईश्वरको पाना चाहते हो, ईश्वरके प्रेमी हो। बिना मेहनतके आनन्द, बिना कीमतके आनन्द, हर समय मालूम पड़नेवाला आनन्द, स्वतन्त्र आनन्द, ईश्वरके सिवाय और कोई हो सकता है? इसका अभिप्राय हुआ कि भगवत्प्राप्तिका बीज तुम्हारे हृदयमें विद्यमान है—अपनी प्राप्तिकी इच्छाका जो बीज है, अपनी प्राप्तिके लिए व्याकुलताका जो बीज है, अपनी प्राप्तिके लिए लालसाका जो बीज है, सबके मनमें सबसे बड़ा ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छाका जो बीज है, वह विद्यमान है। हम किसी अंशमें बेवकूफ न रहें, किसी अंशमें दुःखी न रहें, किसी अंशमें न मरें, यह जो इच्छा हमारे अन्दर है, सबके भीतर बीज उसका मौजूद है। तुम उसके रास्तेपर चलनेवाले हो, उसके प्रेमी हो, मानो मत मानो, पर उसके प्रेमी हो।

बोले—भाई अच्छा, बीज तो इच्छाका मान लेते हैं कि हमारे हृदयमें कहीं-न-कहीं, सर्वोत्तम सुख, सर्वोत्तम ज्ञान, सर्वोत्तम सत्ता सर्व देशमें, सर्वकालमें, सर्वसे प्राप्त करनेकी इच्छा है, स्वतः सिद्धकी, लेकिन उसको पानेकी साधना तो हमारे पास नहीं है। बुद्धि तो नहीं है। बोले—केवल वह लालसाका बीज ही मैं नहीं हूँ—**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि**—तुम्हारे अन्दर इस समझके रूपमें भी मैं हूँ कि ईश्वरका रास्ता कौन-सा है! तुम समझते हो कि संसारमें भटकना—यह ईश्वरकी प्राप्तिका मार्ग नहीं है। जो जानकार हैं उनका सत्संग करना चाहिए; जप करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, ज्ञान प्राप्त

करना चाहिए, यह भी तुमको मालूम है। सम्पूर्ण बुद्धिमानोंके भीतर बुद्धि बनकर मैं बैठा हुआ है।

बोले—अच्छा महाराज, यह भी माना कि बुद्धि बनकर भी आप बैठे हैं। इच्छा भी है और बुद्धि भी है, लेकिन एक बड़ी कठिनाई हमारे सामने है। वह क्या? कि ये जब संसारकी वस्तुएँ संसारके विषय हमारे सामने आते हैं, विघ्न आते हैं तो हम उनसे दब जाते हैं। हाँ, दब तो जाते हो। लेकिन तुम्हारे भीतर एक ऐसा तेज है कि तुम चाहो तो सबको पार कर सकते हो। कौन-सी ऐसी चीज है जो छोड़ नहीं सकते हो? बताओ तो। एक दीनता ही है कि हम अपना कुर्ता नहीं निकाल सकते, लेकिन जब कहीं एकाध चिनगारी पड़ जाये तो देखो, तुम्हारे अन्दर वह तेज छिपा हुआ है, तुरन्त फाड़कर फेंक दोगे। वह तेज जो कुर्ताको फाड़नेमें कोई देर करने देगा, कौन रोक सकता है वह कुर्ता फाड़कर फेंकनेमें, जब जरूरत पड़ेगी! जो लोग लेटे रहते हैं उठते नहीं है उनके सामने एक नकली साँप फेंक दो, उनको पता न हो, देखो, उनके अन्दर कितना तेज छिपा हुआ है। अरे वे बिलकुल उठकर भाग जायेंगे वहाँसे। तो यह छिपी हुई शक्ति है कि नहीं? तो यह जो विघ्नोंसे हमलोग दबते रहते हैं, वह तो कमजोरी है। परन्तु, हमारे अन्दर शक्ति नहीं, ऐसा नहीं।

हमारे अन्दर तेज है कि हम सबका त्याग कर सकें। हमारे अन्दर वह बुद्धि है जिससे ईश्वर मिल जाता है। हमारे अन्दर वह लालसा भी है जो ईश्वरको पानेके लिए है। इसलिए निराशा बिलकुल नहीं होनी चाहिए कि हाय-हाय! हमारे मनमें तो ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं है। हमको तो ईश्वर प्राप्तिकी बुद्धि ही नहीं है, हम तो इन विघ्नोंके पार जा ही नहीं सकते। अरे, ईश्वर तुम्हारे भीतर लालसाका बीज बनकर, बुद्धि बनकर, तेज बनकर बैठा हुआ है। अरे, जरा उन्मुक्त हो जाओ, उसकी ओर आँख उठाकर देखो। वह तो बिलकुल खुद तुमसे गरुड़ बनकर अपने पीठपर बिठावेगा और अपने धाममें ले जायेगा। **बलं बलवतां चाहम्।**

❖

११. बल और काममें तत्त्व-दृष्टि

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

अर्थ :–बलवानों का काम और रागसे रहित बल मैं हूँ। और हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! भूत प्राणियोंमें धर्म से अविरुद्ध जो काम है वह मैं हूँ॥ ११॥

: ११.१ :

बलं बलवतां चाहम्

बीजं सनातनम्—भगवान्ने यह कहा कि सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर मैं ऐसा सनातन बीज हूँ, जिसका कभी नाश नहीं होता। माने भक्तिका बीज कभी नष्ट नहीं होता। और **बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि**का अर्थ है कि जिस बुद्धिके द्वारा भगवान् जाने जाते हैं उस बुद्धिके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही हैं, माने ज्ञान जो है वह भगवान् ही है। जिस बुद्धिसे भगवत्प्राप्ति होती है, उस बुद्धिके रूपमें स्वयं भगवान् हमारे जीवनमें आते हैं। और **तेजस्तेजस्विनामहं**का अर्थ यह हुआ कि हमारे जीवनमें काम, क्रोधादि रूप जो विघ्न आते हैं उनके निवारणके लिए जो तेज होता है अपने जीवनमें, जिससे हम कामको, क्रोधको, लोभको दबा देते हैं, उस तेजके रूपमें भी भगवान् ही हमारे जीवनमें बैठे हैं। वही साधन हैं, वही साध्य हैं, वही सिद्ध हैं और वही साधक हैं।

अब आगे निरूपण करते हैं—**बलं बलवतां चाहं**—संसारमें बलवान् बहुत देखे जाते हैं, जिनके पास बल है। वह शब्दका एक तो अर्थ है वस्तुओंके धारणका सामर्थ्य। आप जानते हैं यह चींटी जो चलती है, उसको आप तौल लो, कितना वज़न होता है और उसके सामने, उस चींटीसे बीच-पच्चीस गुणी बड़ी शक्करकी एक डली डाल दो। इतना बल होता है उस चींटीमें कि उस डलीको एक जगहसे दूसरी जगह ले जायेगी। बड़ा भारी सामर्थ्य होता है उसके भीतर। देखनेमें नन्हीं-मुन्नी और ताकतमें हाथी

सरीखी। ऐसा बल सबमें होता है। जरासा मच्छर काट लेता है तो इतना बड़ा आदमी जो उससे हजारों-लाखों गुणा बड़ा है, कुलबुला उठता है। एक-एक वस्तुमें अद्भुत-अद्भुत शक्ति होती है, सामर्थ्य होता है। तो यह बल कहाँसे आता है? यह बल भगवान्से आता है। भगवान् ही इस बलके रूपमें अवतीर्ण होते हैं।

योगशास्त्रमें बली होनेकी जो प्रक्रिया लिखी है वह आपको संक्षेपमें सुनाता हूँ। आप यह ख्याल छोड़ दो कि मैं हड्डी-मांस-चामका बना हुआ यह नन्हा-सा शरीर हूँ और उस भावमें डूब जाओ कि मैं हनुमान हूँ। पहाड़ उठानेका सामर्थ्य मनुष्यमें आजायेगा। केवल इस शरीरको भूलकर आदमी हाथी सरीखा बली हो सकता है, हनुमानजी सरीखा बली हो सकता है, शेष सरीखा बली हो सकता है, जो पृथिवीको अपने सिरपर सरसोंके दानेके समान धारण करते हैं। ऐसा क्यों होता है? यों होता है कि जब देहात्मभावकी विस्मृति हो जाती है और भगवान्के बलको धारण करनेमें हमारी वृत्ति उन्मुख होती है तो इस वृत्तिमें वही आकार धारण करके स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

इसलिए संसारमें भगवान्से अलग बल नामका और कोई पदार्थ नहीं है। बलवान् सब अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं, हाथी अलग है, घोड़ा अलग है, ऊँट अलग है, मनुष्य अलग है, गधा अलग है, लेकिन सबके भीतर जो बल है सो भगवान् ही है।

एक धौली गंगा आती है, बद्रीनाथके रास्तेमें चमोलीसे आगे, पीपलकोटिसे पहले, धौली गंगाकी छोटी-सी धारा बड़ी तेज़ीसे आती है और अलकनंदामें मिल जाती है। एक बार क्या हुआ कि एक पहाड़का बहुत बड़ा शिखर गिर पड़ा और वह धारा बंद हो गयी, उसका बहना ही बंद हो गया। अब पहाड़के ऊपरी हिस्से में जो पानी इकट्ठा होने लगा, तो इकट्ठा होते-होते लाखों टन पानी इकट्ठा हो गया और वह जो पहाड़ रास्तेमें गिरा हुआ था उसको तोड़कर एकाएक बह आया। पहाड़को तोड़ दिया उस पानीने और ऋषिकेशके पास वह जो हरी-हरी झाड़ी है, वह झाड़ी नहीं, पहाड़ था। उसपर कोई डेढ़सौ महात्मा रहते थे। वह एकाएक जो पानीका वेग आया तो वह पहाड़ी भी बह गयी और उसमें डेढ़-दो सौ महात्मा भी डूब गये, मर गये।

अब देखो न, जरासी धारा आती है, उसमें-से थोड़ा-थोड़ा करके इतना जल इकट्ठा हो गया और उसमें इतना बल बन गया। तो जलके कणमें कितना बल होता है! सूतके धागेमें कितना बल होता है! यह बल कहाँसे आता है? इन सब बलवानोंमें जो बल है, उस बलके रूपमें स्वयं भगवान् हैं, माने भगवान् ही बलके रूपमें प्रकट होता है।

अब आपको एक पुरानी व्याख्या सुनाता हूँ। यह जो मैंने सुनाया यह **'बलं बलवतां चाहम्'** की सामान्य व्याख्या है। माने प्राय: अधिकांश टीकाकार उसकी यही व्याख्या करते हैं। दशमी शताब्दीके लगभग कश्मीरमें एक अभिनव गुप्त नामके आचार्य हुए हैं, वे दर्शनशास्त्रके एक अगाध विद्वान् थे और प्रत्यभिज्ञा दर्शन जिसको कहते हैं शैव दर्शन, स्पन्द दर्शन उसके बड़े भारी जानकार हुए हैं, वे सगुणाद्वैतके प्रतिपादक थे। जैसे शंकराचार्य भगवान् निर्गुणाद्वैतके प्रतिपादक हैं, ऐसे वे सगुणाद्वैतके प्रतिपादक थे कि ईश्वर सगुण होता है। उन्होंने इसी श्लोकको व्याख्यामें उनकी व्याख्या तो क्या है, शुद्ध टीका है। वे कहते हैं—बल माने ऊर्जा, **'बलमूर्जोरूपं सर्वभूतेषु सर्वधारण-सामर्थ्यं'**—बल माने ऊर्जा, एनर्जी, शक्ति, विद्युत जो सर्वत्र परिपूर्ण रहती है, जो पदार्थके रूपकी परवाह किये बिना, सब पदार्थोंके सब रूपोंको तोड़ भी सकती है और बना भी सकती है। जिसमें रूपकी रचना और रूपके विध्वंस, आकारकी रचना और आकारके विध्वंस दोनोंका सामर्थ्य विद्यमान है, ऐसी जो ऊर्जा-रूप। संस्कृतमें ऊर्ज बोलते हैं बलको। जो सौर तत्त्व प्रधान शक्ति है, जिसमें एक ब्रह्माण्ड मण्डलके नहीं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-मण्डलको नचाना, पैदा करना, धारण करना, बिगाड़ना, जिस शक्तिका काम है, उस शक्तिका नाम है बल; वह बल क्षात्र शक्ति है। एक ब्राह्मण शक्ति है, एक क्षात्र शक्ति है। बुद्धि ब्राह्मण-शक्ति है। वस्तुओंका ज्ञान होना यह ब्राह्मणी शक्ति है और वस्तुओंको हटाना, बनाना, बिगाड़ना क्षत्रिय शक्ति है। इच्छा-शक्ति जो है न, वह वैश्य-प्रधान है भला! इच्छाशक्ति-प्रधान वैश्य, क्रियाशक्ति-प्रधान क्षत्रिय और प्रज्ञाशक्ति-प्रधान ब्राह्मण। प्रज्ञाके लिए भी क्रियाकी अपेक्षा है, शक्तिके लिए भी क्रियाकी अपेक्षा है और इच्छाके लिए भी क्रियाकी अपेक्षा है। ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रद्युम्न वैश्य कक्षामें हैं, बलराम क्षत्रिय कक्षामें हैं और वासुदेव ब्राह्मण कक्षामें हैं। बुद्धिका प्रेरक वासुदेव, बलका प्रेरक

बलराम-संकर्षण और कामनाका प्रेरक प्रद्युम्न। इन्हीं तीनोंसे कर्मका प्रवाह चलता है। तो कर्म-प्रधान जो हुआ वह सूत-शूद्र, इच्छा-प्रधान वैश्य, शक्ति-प्रधान क्षत्रिय, प्रज्ञा-प्रधान ब्राह्मण—ये चार शक्तियोंके द्वारा चातुर्वर्ण्यका निर्माण होता है। तो **बलं बलवतां चाहम्।** सूर्यमें बल अलग है, चन्द्रमामें बल अलग है, पृथिवीमें बल अलग है, अग्निमें बल अलग है, वायुमें बल अलग है। इनमें जो बल है वह कौन? कि भगवान्!

अब केनोपनिषद् वाली कथाका स्मरण कर लो। एक बार देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। तब उनके मनमें अभिमानका उदय हुआ कि हम लोगोंने दैत्योंको जीत लिया। नारायण, ब्रह्मको यह पसन्द नहीं है कि देवताओंको अभिमान होवे। एक यक्षके रूपमें ब्रह्म उनके सामने प्रकट हुआ। देवताओंने कहा—भाई पता लगाओ यह कौन है! अग्नि देवताको भेजा गया। यक्षने पूछा—तुम कौन हो जो मेरे पास आये। अग्नि देवताने कहा—मैं अग्नि देवता हूँ। यक्षने पूछा—तुम्हारे अन्दर क्या शक्ति है? क्या सामर्थ्य है? वे बोले—कि मैं सारी सृष्टिको जला सकता हूँ। यक्षने अग्नि देवताके सामने एक तृण, एक तिनका, घासका एक टुकड़ा रख दिया और यक्षने कहा कि अग्नि देवता इसको जलाओ। परन्तु अग्नि देवताने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, वह तृण नहीं जला। इसका अर्थ हुआ कि अग्निमें जो जलानेका सामर्थ्य है, वह अग्निका नहीं है परमात्माका है।

बलं बलवतां चाहम्।

उसके बाद उन्होंने वायु देवताको भेजा। यक्षने पूछा वायु देवतासे, तुम्हारे अन्दर क्या सामर्थ्य है? वायुने कहा—संसारमें जो कोई चीज हो, मैं उसको उड़ा सकता हूँ। यक्षने उनके सामने एक तृण रख दिया। परन्तु सारी शक्ति लगानेपर भी वायु देवता उसको उड़ा नहीं सके। इसका अर्थ क्या हुआ? कि वायुमें जो शक्ति है वह ब्रह्मकी है।

बलवतांका अर्थ हुआ 'अग्निवायु-आदिनाम् यद् बलं सामर्थ्यं तत् अहमेव'—वायु अग्नि आदिमें जो उड़ानेकी, जलानेकी शक्ति है, वह शक्ति भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान् कहते हैं कि मैं ही हूँ। **बलं बलवतां चाहम्।**

यह विभूतिका वर्णन नहीं है, यह परमात्माकी प्राप्तिकी प्रक्रियाका वर्णन है। 'बलं बलवतां चाहम्'। बोले—भाई जब बल ही भगवान् हैं तो जिसकी

लाठी उसकी भैंस। बलपूर्वक कोई काम करे और कहे कि यह तो भगवद् बलसे हुआ है। बोले कि नहीं, बलमें भगवान्‌को पहचाननेकी युक्ति लो।

कामरागविवर्जितम्—जहाँ बल कामनाके अधीन है और जहाँ बल रागके अधीन है, वहाँ भगवान् नहीं है। भगवत्ता वहाँ लुप्त हो गयी, भगवत्ता आवृत हो गयी। बल है तो भगवान् परन्तु काम और रागमें जो वहाँ बलमें भगवत्स्वरूप था, उसे ढँक दिया।

यह काम क्या है? अप्राप्तकी प्राप्तिकी इच्छाका नाम काम है। जो चीज अपने पास नहीं है, जैसे पुरुषके पास स्त्री नहीं है, पुरुष शरीरमें स्त्रीत्वकी न्यूनता है और स्त्रीके शरीरमें पुरुषत्वकी न्यूनता है। जब स्त्री पुरुषको चाहती है या पुरुष स्त्रीको चाहता है, तो वहाँ काम आ जाता है। एक दूसरेकी न्यूनताके पूरक हो गये। जब देहभाव छोड़ दोगे, न मैं स्त्री और न मैं पुरुष, तो आत्मामें न स्त्रीत्वकी न्यूनता, न पुंस्त्वकी न्यूनता, इसलिए आत्मामें काम नहीं। चाहना माने अपनी कमीका ढिंढोरा पीटना, किसी भी वस्तुको चाहना माने अपनी कमीका ढिंढोरा पीटना कि यह चीज हमारे अन्दर नहीं है। काम माने अपनी कमजोरीका ज्ञापन, काम माने अपने कंगालपनेको दुनियामें जाहिर करना, इसके बिना मैं दुःखी हूँ, यह मेरे पास नहीं है।

अब राग क्या है? राग यह है कि कामनासे कोई चीज प्राप्त हुई है, और उसमें आया मजा; रंजनात्मक वृत्तिका उदय हुआ, रँग गया दिल-दिमाग! आजकल भाई किसका रंग है? बोले—आजकल तो उनपर उनका रंग चढ़ गया है, वह *'उन्हींके रंगमें रंग भरी डोलै'*। बोले—बस आजकल तो उसके ऊपर उसका रंग चढ़ गया है। इसका नाम हुआ राग। दिलका रँग जाना, दिलमें किसीकी तस्वीर बन जाना, किसीके गोरेपनका, किसीके कालेपनका, किसीके लम्बे बालोंका, किसीके कटका, ऐसे समझो रंग भर गया। अपने दिलके कपड़ेपर, अपने दिलके पर्देपर किसीका रंग चढ़ गया, तस्वीर बन गयी। आँख बन्द किया तो कौन दिखता है? बोले—वही, वही पास तो बस यही बना रहे, छूते रहें। यही रंग चढ़ा रहे, इसका नाम हुआ राग।

अब देखो, जहाँ हम अपनी कामनाकी पूर्तिके लिए और जहाँ अपने रागास्पदको अपने पास पकड़ करके रखनेके लिए, बलका प्रयोग करते हैं,

वहाँ बलकी भगवत्ता आवृत हो जाती है, ढँक जाती है। जहाँ निष्काम और निःराग—जहाँ कोई वस्तु प्राप्त करनेकी कामना नहीं है और प्राप्त वस्तुमें राग नहीं है, वहाँ निष्काम और रागरहित अन्तःकरणमें जो सामर्थ्य है, जो बल है, ऐसे जीवनमें जो बल है उस बलके रूपमें कौन है? साक्षात् भगवान् हैं।

अब देखो, अभाव और रंग। बौद्धोंने अभाव कर दिया बिलकुल। किसीने रंग दिया अन्तःकरणको। तो बलरूप जो भगवान् था वह ढँक गया। अब अगर हृदयमें शक्तिके रूपमें भगवान्‌का साक्षात्कार करना है तो काम और रंग—दोनोंको हटा दो। देखो, बलके रूपमें भगवान् हैं।

अच्छा, अब इसकी एक विशेष व्याख्या लो। एक सामान्य व्याख्या सुनायी, एक पुरानी व्याख्या सुनायी और एक विशेष व्याख्या सुनो। भक्तके जीवनमें एक अद्भुत बलका उदय होता है। आपका ध्यान जल्दी नहीं जायेगा। इतना बड़ा बल होता है भक्तके जीवनमें कि भक्त अपनी भक्तिके बलसे भगवान्‌को वशमें कर लेता है।

वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सत्पुरुषको प्रेम और सेवाके द्वारा अपने वशमें कर लेती है, ऐसे ही भक्त लोग अपनी भक्तिके द्वारा भगवान्‌को अपने अधीन कर लेते हैं। इसका वर्णन शास्त्रमें बहुत अधिक है।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

भगवान् नारायण दुर्वासासे कहते हैं कि हे दुर्वासा! मैं तुमको इस चक्रके शापसे मुक्त तो कर देता, लेकिन करूँ क्या, मैं तो स्वाधीन नहीं हूँ, भक्तके पराधीन हूँ। मेरा सामर्थ्य नहीं है कि अब मैं इस चक्रसे कह दूँ कि तुम अम्बरीषकी रक्षा किये बिना ही दुर्वासाको छोड़ दो। मैंने तो चक्र अम्बरीषके हाथमें दे दिया है। अम्बरीष जब मना करेगा चक्रको, तब यह चक्र मानेगा, चक्र हमारा हुकुम नहीं मानेगा, अम्बरीषका हुकुम मानेगा। यह क्या बात हुई? बोले—अम्बरीषमें इतना सामर्थ्य कहाँसे आया?

वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।

यह भगवान् भक्तके वशमें कैसे हो गये? नियन्ता भगवान् अपने नियम्य भक्तके नियम्य बन गये। सबके बाप भगवान् अपने बालक भक्तके

बालक बन गये। सबके मालिक भगवान् अपने भक्तको मालिक बनाकर उसके इशारेपर नाचते हैं। भक्त लोग कभी-कभी डाँट देते हैं। भक्तमालमें ऐसी बहुत सारी कथाएँ हैं—भगवान्को मित्र माननेवाले भक्त, भगवान्को बालक माननेवाले भक्त, भगवान्को पति माननेवाले भक्त! कभी वह डाँट देते हैं तो भगवान् काँपने लगते हैं। '**वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या।**' भक्तिसे भगवान्को वशमें कर लेते हैं।

अयोध्यामें एक पं० उमापतिजी महाराज थे, बहुत पुरानी बात नहीं है भला! वे कहते थे भगवान् हमारे चेले हैं, शिष्य हैं। मैं वसिष्ठ हूँ और राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न मेरे पास पढ़नेके लिए आते हैं। जब मन्दिरमें जाते दर्शन करने लिए तो निकालकर गलेकी माला प्रसादके रूपमें भगवान् रामके गलेमें डाल देते। अयोध्यावासियोंने कहा—सीताराम, सीताराम, क्या अन्याय करते हो, भगवान्के गलेमें उतरी हुई माला! उन्होंने कहा—भाई, हमारे चेले हैं हम प्रसाद देते हैं। बोले—तुम उनको चेला मानते हो, वे भी तुमको गुरु मानते हैं क्या? कभी प्रणाम उन्होंने किया? बोले—वे अपने धर्मका पालन नहीं करते तो क्या हुआ? हम तो अपने धर्मका पालन करते हैं। एक दिन फिर हुई पंचायत, बोले—यह अन्याय नहीं चलने देंगे। तो सबके सामने अपनी माला उतारकर जो उन्होंने ठाकुरजीको पहनाई, भगवान्के हाथ जुड़ गये और सिर झुक गया, मूर्तिका। 'सद्गुरु सदन विहारी' भगवान्की मूर्ति है अयोध्यामें। झुकी हुई मूर्ति है।

अब यह बताओ, एक पंडित बेचारेमें, ब्राह्मणमें भी बल कहाँसे आया! कि वह भगवान्को झुका दे। भगवान्को नहीं, पत्थरकी मूर्तिको झुका दे, यह बल कहाँसे आया? पत्थरकी मूर्ति तो झुकी हुई है न! कहते हैं एक दिन उनके यहाँ हुआ भण्डारा। विकट वैरागी लोग इकट्ठे हो गये महाराज, बड़े विकट, आप जानते हो जो हनुमान गढ़ीके सम्पर्कमें रहनेवाले लोग हैं। बोले—आज पंडितजीकी कोई सिद्धि देखनी चाहिए, कोई चमत्कार देखना चाहिए। बोले—अच्छा, पता लगाओ भण्डारमें क्या चीज कम है? मालूम हुआ कि कटहलके कोए परोसे जानेवाले हैं और कोए कम हैं। तो बैरागियोंने कटहलका कोआ खाना शुरू किया, थोड़ी देरमें खत्म। बोले—और लाओ। अरे, पंडितजीके पास खबर गयी कि महात्मा लोग खानेके लिए

कटहलका कोआ माँगते हैं और भण्डारमें खत्म! बोले—बाबा हम तो बुड्ढे हो गये, भजन करते रहते हैं, ये हमारे चेले-चपाटे सब क्या करते हैं? क्यों नहीं बन्दोबस्त करते हैं? आया उनको क्रोध और लेकर छड़ी, मन्दिरमें घुस गये। भगवान्की मूर्ति थरथर काँपने लग गयी कि हमारे गुरुजी नाराज हो गये भला! भगवान् तो मर्यादा पालक हैं न, वे कोई अपने गुरुजीके सामने मुँह, सिर उठाकर और वह छाती दिखानेवाले थोड़े ही हैं कि हम तो ऐसे करेंगे। भगवान्की शक्ति, भगवान्की शिष्यता तो दूसरे ढंगकी है न! महाराज, भगवान् डर गया।

अब बताओ ब्राह्मणमें यह बल कहाँसे आया? यह विशेष ढंगकी व्याख्या है। यह सगुण, साकार, ईश्वररूप उपासक लोग जो हैं वे कहते हैं सब बल नहीं, भक्तके हृदयमें जो बल है, वह बल, जो भगवान्को वशमें करनेवाला बल है, वह बल स्वयं भगवान् हैं। बोले—अच्छा, ऐसा बल भगवान् बने क्यों? कि **कामरागविवर्जितम्**, जो भक्त है, उसके मनमें अपने लिए कोई कामना नहीं है और संसारमें किसी भी प्राणीके प्रति रागद्वेष नहीं है। रागसे राग-द्वेष दोनों लेना। संसारके किसी भी प्राणीके प्रति न उसका राग है और न द्वेष है। न पदार्थके प्रति राग-द्वेष है, न प्राणीके प्रति। वह तो सहचरित सग्रहण हो जायेगा। यह राग जो है यह द्वन्द्व है, वह बिना द्वेषके रहता ही नहीं। न तो वह संसारमें किसीसे दोस्ती करता, न दुश्मनी करता और भगवान्से अपने लिए भी कोई कामना नहीं करता, ऐसे भक्तके हृदयमें भक्ति बनकर बैठे हुए जो भगवान् हैं, जिस भक्तिके बलसे स्वयं भगवान् वशमें हो जाते हैं, वह बल कौन है? तो भगवान्ने बताया—

बलं बलवतां चाहं।

हमारा भी नियमन करनेवाले, हमको भी **साँटी लै उगलावति माटी—** लेकर हाथमें साँटी और माटी उगलवानेवाली शक्ति, वह बल यशोदा मैय्याके पाससे प्राप्त हुआ। बोले—उसके राग-द्वेषरहित हृदयमें, कामनारहित हृदयमें मैं स्वयं बल बनकर बैठ गया और मैय्यामें इतनी शक्ति आ गयी कि वह खदेड़कर हमको पकड़ ले और रस्सीसे मुझे बाँध ले, और साँटी लेकर माटी उगलवा ले। यह शक्ति हमारी मैय्यामें कहाँसे आयी? बोले—'बलं बलवतां चाहम्'। वह भक्ति-बल मैं ही हूँ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

अब भगवान् अद्भुत रूप अपना बताते हैं। पहचानना भगवान्‌को बड़ा मुश्किल है। स्वयं भगवान् ही भक्तिके रूपमें आते हैं। बोले—महाराज, आपने बल तो बता दिया कि मैं बल हूँ भक्तोंके हृदयमें परन्तु काम और राग-द्वेषसे रहित बल हूँ, तो यह आपने कामको तो बिलकुल हृदयसे निकाल ही दिया फिर यह कौन है?

अच्छा, तो बादमें यह अर्थ सुनाऊँगा। पहले सामान्य अर्थ जो श्लोकका है, वह सुन लो—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

हमारे हृदयमें कामनाएँ आती हैं। अब कोई लड़े कि हम कामनाओंको आने नहीं देंगे, तो सीताराम कहो, कामनाओंको आने नहीं देना—यह मनुष्यके हाथमें नहीं है। जो लोग कभी कामना मिटानेकी कोशिश नहीं करते हैं, वे झटसे कह देते हैं कि इनको मिटानेमें क्या लगता है! यह लो चुटकी बजायी और मिट गयी। यह कामके अनादि कालसे संस्कार होते हैं। जीव अनादि है, अन्तःकरण अनादि है। कर्म अनादि है और कर्मके संस्कार अनादि हैं। यह नहीं समझना कि जिस दिन माँ-बापके पेटमें-से हम पैदा हुए, उसी दिन हम पैदा हुए, उसके पहले बापके पेटमें भी थे और बाप जिसके पेटमें था, उसके पेटमें भी थे और बापने जो खाया उसके पेटमें भी थे। गेहूँके पेटमें भी थे, जौके पेटमें भी थे। ऐसे एकाएक कोई पैदा नहीं हो जाता।

❖

: ११.२ :

भूतेषु कामोऽस्मि

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ७.११॥

भगवान् कहते हैं कि संसारमें जितने बलवान हैं, उन बलवानोंमें जो बल है वह मैं हूँ, परन्तु काम-राग और द्वेष—इन दोनोंको छोड़कर। जैसे आप समझो कि पाँवमें चलनेका बल है, यह चलनेकी शक्ति तो भगवान्‌की है, लेकिन आप जब दूसरेको मारनेके लिए दौड़ते हैं तो दौड़नेमें शक्ति ही तो काम करती है, परन्तु मारनेकी इच्छा जो उसमें मिल गयी, द्वेष जो उसमें मिल गया, वह द्वेष भगवान् नहीं हैं। दौड़नेकी शक्ति तो भगवान्‌की है, पर वह मारनेकी जो इच्छा है, वह भगवान् नहीं हैं—**काम-रागविवर्जितम्**। हाथसे आप किसीको पकड़ते हैं, पकड़नेकी शक्ति तो भगवान् है, परन्तु उसमें यदि कामवश पकड़ते हैं आप किसीका हाथ, तो वह काम भगवान् नहीं है। शक्ति तो भगवान् है, पर उसमें जो बुराई और भलाई आप अपने संकल्पसे जोड़ देते हैं, वह बुराई और भलाईके जिम्मेवार आप हैं, उस बुराई और भलाईका जिम्मेवार भगवान् नहीं।

आप इस बातको अच्छी तरहसे ध्यानमें बैठा लें—बलमात्र भगवान् है, लेकिन कामना राग और द्वेष—इसके रूपमें भगवान्‌की उपासना नहीं करना। जो भक्त होते हैं उनको सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन होता है। हनुमानजी लंकामें, रावणकी सभामें, उसके सामने बँधे खड़े हैं। रावणने पूछा कि तुम कौन हो? तो हनुमानजी बोले—

जाके बल लवलेसतें जितेहु चराचर झारि। तासु दूत हौं।

मैं उनका दूत हूँ जिसके बलके लवके लेशसे तुमने सम्पूर्ण चराचरपर विजय प्राप्त कल ली है। माने रावणके अन्दर जो बल है, वह भगवान्‌के

बलका ही लवलेश है। ऐसे समझो आप कि एक तो चम्पाका फूल है, उसमें सुगन्ध-ही-सुगन्ध है, फिर वह दोनेमें रख दिया गया और रखकर फिर फूलको हटा लिया। अब दोनेको सूँघा तो थोड़ी उसमें चम्पाके फूलकी गन्ध आयी, तो वह क्या है? बोले, वह चम्पाके फूलमें जो गन्ध है, उसका लवलेश है। वह लवलेश ही लगा हुआ है दोनोंमें, लेकिन सूँघनेमें गन्ध आती है। ऐसे ये जो रावणादि उद्भट बलवान हैं इनके भीतर भी बलके रूपमें स्वयं भगवान् ही बैठे हुए हैं।

रामायणी लोग इसका अर्थ ऐसे करते हैं कि **जाके बल**—'जाके' माने भगवान्के; 'बल' माने मायाबल और 'लव' माने महत्तत्त्व और लेश माने अहंकार; अर्थात् रावण जो है वह भगवान्के मायाबल, (प्रकृतिबल) के लवका माने महत्तत्त्वका जो लेश है अहंकार, उस अहंकारका एक खिलौना है, एक खिलवाड़ है। अहंकार क्या है? कि अहंकारका एक खेल है। इसीसे देखो, अब उसके दश मुँह होगये, ग्यारहवाँ तो बिलकुल गधा है। ग्यारहवाँ मुँह गधेका है। सबके ऊपर वही है। अगर ऊपर गधा नहीं होता तो रावणके अन्दर इतनी दुष्टता नहीं आती। हनुमानजीको रावणमें भी भगवद्बल दिखायी पड़ता है। लेकिन रावणमें जो जानकीके प्रति काम है, जो अपने शरीरके प्रति राग है, जो देवताओंक प्रति द्वेष है उसके कारण वह बल ढँक गया है, असलमें वह बल भी भगवान्का ही बल है।

ऐसे समझो आप कि बल्बमें प्रकाश हो रहा है और पंखेसे हवा भी छोड़ी जा रही है और हीटर हो तो मकान गरम कर रहा है और ठंडा करनेवाला यन्त्र लगा हो तो घर ठंडा हो रहा है। यह ठंडा करनेवाला, गरम करनेवाला, रोशनी देनेवाला और हवा फेंकने वाला और रेडियोमें-से आवाज फेंकनेवाल—कौन है? बोले—बिजली है। तो बिजली बल्ब है कि पंखा है कि रेडियो है कि हीटर है कि रेफ्रीजरेटर है, क्या चीज है बिजली? कि भाई बिजली तो सबमें काम कर रही है। यह मशीनें सब अलग-अलग हैं लेकिन बिजली सबमें एक है। तो ऐसे यह जो हम सब लोग हैं, यह कोई पंखेकी तरह है, कोई बल्बकी तरह है, कोई रेफ्रीजरेटरकी तरह है, कोई हीटरकी तरह है। कोई गरमागरम है, कोई

बिलकुल एयरकंडीशन है—ठंडा है, किसीमें रोशनी है, किसीमें दौड़-धूप है। यह सब क्या है? बोले—यह तो जो पूर्व जन्मके संस्कारानुसार यन्त्र बना हुआ है, यह उस यन्त्रकी विशेषता है और बिजली सबके भीतर एक ही काम कर रही है। इसी तरहसे हम लोगोंके अन्तःकरण और उसमें रहनेवाले संस्कार और उसके बने हुए स्वभाव—ये सब जुदा-जुदा हैं। और यह ईश्वरका जो बल है यह प्रत्येक बल्बके अनुसार वही बल काम कर रहा है। यह बल्ब जो हैं ये बलके वाहन हैं।

हमारे एक मित्रकी मृत्यु हुई तो क्या मनमें आया कि भाई, बल्ब फ्यूज हो गया। जो अन्तःकरणमें स्थित बल्ब भगवत्प्रकाशको ग्रहण कर रहा था, वह बल्ब आज फ्यूज होगया, बस! मृत्यु माने इतना ही कि इस शरीरमें रहनेवाला बल्ब फ्यूज हो गया। इसी तरहसे बल्बको मत देखो, उस बलको देखो जो भगवान्का है। कामना संस्कारके अनुसार है, राग संस्कारके अनुसार है, द्वेष संस्कारके अनुसार है और संस्कारसे परे जो शुद्ध शक्ति है, शुद्ध बल है, वह भगवान्का है।

अब कल इस बातको दूसरे ढंगसे भक्तोंके अनुसार सुनाया था। यह तो समझो कि रावणादिमें जो बल है, वह तो अधर्मकी उपाधिसे सिक्त बल है और मान्धातामें, रघुमें, दिलीपमें, दशरथमें जो बल है वह धर्मकी उपाधिसे सिक्त बल है। है भगवान्का ही दोनों। उनके अन्तःकरणमें धर्मके संस्कार हैं और उनके अन्तःकरणमें अधर्मके संस्कार हैं। अब बिजली बेचारी क्या करे, जिस मशीनसे उसको कनेक्ट किया जायेगा, उसीके अनुसार उस मशीनसे काम होगा। तो बिजली तो सर्व यन्त्रोंमें काम करती है। तो ईश्वरका जो प्रकाश है, ईश्वरकी जो गरमी है, वह सब यन्त्रोंमें काम करती है। ईश्वरका बल सबमें काम करता है।

जैसे अधर्मकी उपाधि और धर्मकी उपाधि, इसी तरह से रागकी उपाधि जिसके अन्तःकरणमें होती है, उसे भगवान् संसारमें लगाते हैं और वैराग्यकी उपाधि जिसके अन्तःकरणमें होती है, उसको विरक्त बना देते हैं। विरक्त बनानेवाले भी भगवान् और अनुरक्त बनानेवाले भी भगवान्। राग और वैराग्यकी उपाधिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति और निवृत्तिमें जो बल है, वह भी भगवान् ही है। योगकी उपाधिसे भी

भगवान्‌का ही बल है जिससे सिद्धि और समाधि मिलती है। ज्ञानकी उपाधिसे भी भगवान्‌का ही बल है, जिससे अविद्याकी निवृत्ति होती है। ज्ञानारूढ़ भगवान् ही, भगवद्बल ही अविद्याको निवृत्त करता है, ज्ञान अविद्याको निवृत्त नहीं करता। ज्ञान-वृत्त्यारूढ़ जो भगवान् है, वह अविद्याको निवृत्त करता है। इसी प्रकार भक्तिमें जो बल है, भक्ति सरीखा तो कोई दूसरा बल ही नहीं है। क्यों? कि वह भगवान्‌को वशमें करती है। ज्ञानमें बल है, परन्तु वह भगवान्‌को वशमें करनेके लिए नहीं है, वह बल अविद्याको निवृत्त करनेके लिए है। दुश्मनको हटा देना दूसरी बात है, दुश्मनको भगाना दूसरी चीज है और महाराज, इस बलके खजानेको अपने वशमें करके उसको हटाना, उसको नचाना, उसको सुलाना, उससे लाड़ लड़ाना, उसको प्यार करना और उससे प्यार लेना—यह भक्तिका बल है।

बलं बलवतां चाहम् कामरागविवर्जितम्।

कामना, राग और द्वेषकी उपाधिको हटाकर देखो, भगवान्‌का वह जो बल है, वह सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है—

वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा। जैसे सती स्त्री अपने सत्पतिको अपनी सेवा और प्रेमसे वशमें कर लेती है, वैसे भक्त भगवान् को अपने वश में कर लेते हैं।

अब अगली अर्द्धाली देखो—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

हे भरतर्षभ! यह अर्जुनके लिए सम्बोधन है। किसीसे बारम्बार यह कहा जाये कि तुम बड़े कमजोर हो, तो उसमें कमजोरपनेकी संवित् हो जाती है। वह यह ख्याल करने लगता है कि सचमुच मैं कमजोर हूँ। और यदि किसी को रोज बेवकूफ कहा जाये तो उसके अन्दर बेवकूफी आने लगती है। महात्मा लोग सबके लिए अच्छे शब्दका प्रयोग करते हैं।

एक महात्मा थे। उनके सामने कई बच्चे खेल रहे थे। एक बालक बहुत ऊधम मचा रहा था। बोले—अरे ओ पागल! अब महाराज, उधर उनके मुँहसे निकला पागल और वह हो गया पागल। तो बोले—भाई देखो, सम्हालके बोलना चाहिए। फिर ठीक होगया। लेकिन मुँहसे जो वाणी निकले, वह हमेशा सम्हालकर ही निकलनी चाहिए, क्योंकि इस

वाणीके द्वारा भी कभी-कभी कोई सिद्धि प्रकट होती है भला! चौबीस घण्टेमें एक बार एक क्षण के लिए सब लोग सिद्ध होते हैं। सबके जीवनमें रोज चौबीस घण्टेमें एकबार सिद्धि आती है। और मुँहसे उस समय जो बात निकल जाती है वह सच्ची हो जाती है। एक बात रोज सच्ची जरूर हो जाती है। तो सम्हालकर बोलना चाहिए, न जाने किस क्षणमें वह सिद्धि आती है और उस समय मुँहसे न जाने क्या निकल जाये। तो कोई किसीका नुकसान न हो जाये, अनिष्ट न हो जाये, हमेशा सबसे सावधान होकर ही बोलना चाहिए। अब,—

कामोऽस्मि भरतर्षभ = मैं काम हूँ।

हमारे एक वेदान्ती मित्र थे, वे बोलते थे—शिवोऽहम्, शुद्धोऽहम्, सोऽहम्, परात्परोऽहम्। मैंने उनसे कहा कि जैसे भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा कि—'कामोऽस्मि भरतर्षभ'—वैसे '**कामोऽहम्**' तुम बोल सकते हो कि नहीं? मैंने कहा—जैसे तुम बोलते हो—'शुद्धोऽहम्, मुक्तोऽहम्', 'बुद्धोऽहम्', वैसे 'अशुद्धोऽहम्, बद्धोऽहम्', 'अबुद्धोऽहम्' और 'शिवोऽहम् की जगह जीवोऽहम्' बोल सकते हो कि नहीं? वे तो जवाब नहीं देते थे, विरक्त थे, अवधूत थे, उनकी साधना ही यह थी। साधना तो यही होती है, क्योंकि अज्ञानसे जीव अपनेको अशुद्धोऽहम्,.... समझ रहे हैं। यदि साधनमें विद्यासे भी ऐसा ही समझा तो क्या समझा! इसलिए वे तो अपनी साधना के लिए, भगवान्‌के लिए एक पक्षको स्वीकार करके बोलते हैं। क्योंकि इस प्रकारकी जो आवृत्ति है—'शुद्धोऽहम्, बुद्धोऽहम्, मुक्तोऽहम्' इससे भावना शुद्ध होती है और भावना शुद्ध होनेसे ज्ञानकी योग्यता आती है, वे तो अपनी साधनामें लगे हुए हैं, वे दोनों बात कैसे कहेंगे? पर यह महाराज जो शुद्ध होते हैं, जिनको अब साधना भावना नहीं करनी हो, जिनको अविद्या निवृत्त नहीं करनी है, तो

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

वे जैसे बोलते हैं—'अमृतोहम्' वैसे ही बोलते हैं 'मृतोहम्'। माने मृत और अमृत दोनों उपाधिसे हमारे अन्दर कल्पित हैं, न वस्तुतः हमारे अन्दर मृतत्व है और न हमारे अन्दर अमृतत्व है। वस्तुतः न हमारे अन्दर धर्म है, न अधर्म है; न बन्धन है न मुक्ति है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थतः॥

भगवान् श्रीकृष्ण तो भाई नित्य मुक्त हैं। किसी ज्ञानीके बारेमें तो ऐसे भी कहा जा सकता है कि जबतक ज्ञान नहीं हुआ था, तबतक यह अपनेको बद्ध मानते थे अविद्या के कारण; जब ज्ञान हुआ तब इन्होंने मुक्त अपनेको जाना है। पर यह श्रीकृष्ण तो ऐसे हैं कि जिनको कभी अज्ञानने छुआ ही नहीं, नित्य ज्ञानस्वरूप, नित्यमुक्त वे अपना स्वरूप समझाते हैं—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

हे भरतर्षभ! भरतवंशियोंमें ऋषभ = श्रेष्ठ। ऋषभ कहते हैं वृषभको, श्रेष्ठको। जैसे 'नर पुंगव' बोलते हैं किसीको, पुंगव माने क्या होता है? पुंगव माने नरवृषभ। नरसिंह, नरव्याघ्र जैसे बोलते हैं, वैसे ही बोलते हैं भरतर्षभ। ये जितने भरतवंशी हैं, उन भरतवंशियोंमें सबसे श्रेष्ठ। तो तुम्हारे अन्दर जो बल है, वह तो **कामरागविवर्जित** बल है। क्यों? कि देखो न,

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण (१.३२)—अर्जुनके मनमें विजयकी आकांक्षा भी नहीं है, माने काम नहीं है। बल तो है, परन्तु काम नहीं है।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ (१.३५)

ये हमको मार डालें तो भी हमारे मनमें इनको मारनेकी इच्छा नहीं है।

पांडवोंसे उन्हें राग नहीं है, कौरवोंसे उन्हें द्वेष नहीं है, विजयकी उनके मनमें कामना नहीं है। तो भगवान्ने कहा—हे भरतर्षभ, तुम भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ हो, सचमुच तुम्हारे अन्दर बल है। और उस बलके रूपमें मैं हूँ। क्योंकि तुम्हारे अन्दर काम, राग और द्वेष बिलकुल नहीं है।

अब यह हुआ कि क्या कामका सर्वथा ही बहिष्कार कर दिया जाये? काम भी तो भगवान्का पुत्र है, काम भी भगवान्का स्वरूप है। भगवान् अगर कामका बहिष्कार करें, तो दो चीज़ नहीं रहेगी। एक तो संसार नहीं बनेगा। यह संसार भगवान्का बच्चा ही है—**कामस्तदग्रे समवर्तत**—भगवान्में पहले काम हुआ और उस कामसे यह सृष्टि हुई। **सोऽ कामयत**—उसने कामना की। **कामस्तदग्रे समवर्तत। कोऽदात? कस्मै अदात? कामायादात। कामोऽदात। कामो दाता। कामः प्रतिगृहीता। कामै तत्ते।**

विवाहमें वेदका मन्त्र पढ़ते हैं। विवाहके इस मन्त्रमें यह प्रश्न उठाया है—'कोऽदात? कस्मै अदात?' किसने दिया? किसको दिया? 'कामोऽदात'। 'कामायादात'। कामने दिया और कामके लिए दिया। 'कामो दाता'। 'कामः प्रतिगृहीता'। काम ही देनेवाला है और काम ही लेनेवाला है। हे भगवद्रूपवर! यह तुम्हारी कामना ही है जो तुमको दी जा रही है। तो ईश्वरमें भी कामना है। ईश्वर भी कामरूप माधुर्यके प्रकाशका स्थान। माधुर्यकी उपाधिसे प्रकाशमान जो सच्चिदानन्दवाला आनन्द है, उसको काम बोलते हैं। ज्ञान की उपाधिसे प्रकट जो सच्चिदानन्द भाव, उसको तत्त्वज्ञान बोलते हैं। सत्ताकी प्रधानतासे, सत्ताके प्राचुर्यसे प्रकट जो सच्चिदानन्द, उसको समाधि बोलते हैं। चित्ताके प्राचुर्यसे प्रकट जो सच्चिदानन्द, उसको तत्त्वज्ञान बोलते हैं। माधुर्यके आनन्दके प्राचुर्यसे प्रकट जो सच्चिदानन्द, उसको काम बोलते हैं।

अब देखो, काम—इसका सामान्य अर्थ पहले सुनाता हूँ। सामान्य अर्थ क्या है कि मनुष्यके जीवनमें तीन बातें आती हैं—एक तो उसको भोग चाहिए और भोगके लिए अर्थ और कर्म चाहिए। जो परिश्रम नहीं करेगा, जिसके पास वस्तुएँ नहीं होंगी, उसको भोगकी सिद्धि नहीं होगी। इच्छा तो सबके मनमें होती है कि हम यह भोगें, यह भोगें; परन्तु यदि सब अपनी इच्छाके अनुसार भोग करने लगें तो संसारमें अनर्थ हो जायेगा। कैसे? इच्छाएँ इतनी-इतनी हैं मनुष्यके जीवनमें विचार करके देखो, तो पता चले। एक-एक मनुष्यकी इच्छा पूरी करनेके लिए संसारकी सारी सामग्री पर्याप्त नहीं है। एक व्यक्ति हैं, वे पहले बीस हजार रुपया चाहते थे। बीस हजार मिल गया तो दो लाख चाहने लग गये। दो लाख मिल गया तो बीस लाख चाहने लग गये और बीस लाख मिल गया तो करोड़ चाहने लग गये। अब समझो उतना मिल जाये तो? बोले—वे सारा देश चाहेंगे, वे फिर स्वर्गका राज्य भी चाहेंगे, दान करके, धर्मकरके, व्रत करके भी, कैसे भी। क्यों? कि यह काम जो है इसका पेट बड़ा है और सारी सृष्टि इसके पेट में समा जाती है। इसलिए बताया शास्त्रमें कि—

यत् पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थं इति मत्वा समं व्रजेत्॥

—संसारमें जितना धन-धान्य है, जितना सोना है, जितने हाथी-घोड़े, मोटरें हैं, जितनी स्त्रियाँ हैं, जितने पुरुष हैं, एक व्यक्तिकी वासना पूरी करनेमें भी ये सब-के-सब समर्थ नहीं हैं। इस बातको समझकर मनुष्यको अपनी वासना निवृत्त करनी चाहिए, वासनाको पूरी करनेकी दिशामें नहीं चलना चाहिए।

यही तो पहचान है कि तुम साधक हो कि संसारी? साधककी क्या पहचान और असाधक (संसारी) की क्या पहचान? जो वासना मिट जाने से आनन्द का अनुभव करे, सो साधक; और जो वासना पूरी होनेसे आनन्दका अनुभव करे सो संसारी। अपने मनका हो गया तो बड़े खुश कि हमने जीत लिया, हरा दिया ईश्वरको। ईश्वर चाहता था कि नहीं हो और हम चाहते थे कि हो, अब हो गया! आज बड़ी खुशी है, क्यों? कि आज हमने ईश्वरको हरा दिया, ईश्वरको हराकर खुश हो रहे हैं। तो जो वासनापूर्तिके मार्गपर चल रहा है, वह संसारी है। वासना-पूर्तिसे रस लेना—यह संसारीका लक्षण है। और वासनाकी निवृत्तिमें रस लेना यह साधकका लक्षण है। एक इच्छा तो आयी थी, वह बड़ा दुःख दे रही थी, परन्तु आज मिट गयी। तो वासना मिट जानेसे जिसको मज़ा आवे सो साधक और वासना पूरी होनेसे जिसको मज़ा आवे वह संसारी, यही तो पहचान है। बोले हमारी ज़िद रह गयी, माने ईश्वरको हमने हरा दिया। अच्छा भाई, कबतक ईश्वरको हराकर खुशी होओगे?

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

आगमें जितनी आहुति डालो, वह बढ़ती है । कामको जितना पूर्ण करनेकी कोशिश करो वह और और बढ़ता है। उसमें यह नहीं है कि कामनापूर्ति करनेसे भोगवासना कम हो जायेगी।

तब फिर कामके रूपमें भगवान कैसे जबकि कामना कभी पूरी होनेवाली है नहीं? देखो कामनापूर्ति कैसे करना चाहते हो? तुम ब्रह्मचारी हो तो ब्रह्मचर्यधर्मके अनुसार कामनाकी पूर्ति चाहते हो कि ब्रह्मचर्यधर्मके विपरीत कामनाकी पूर्ति चाहते हो?

अब देखो, नियन्त्रण आया, कामना पर नियन्त्रण आया। तुम संन्यासी हो, संन्यास-धर्मके अनुसार धन चाहते हो कि संन्यास धर्मके विरुद्ध धन

चाहते हो? जो काम तुम कर रहे हो वह तुम्हारे धर्मके विरुद्ध है कि अविरुद्ध? मानो भोगपर, धनपर और कर्मपर धर्मका नियन्त्रण स्थापित कर दो तो धर्म-नियन्त्रित अर्थ, धर्म नियन्त्रित कर्म और धर्म-नियन्त्रित भोग—यह धर्म ही नियन्ता है।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पयन्ति
धर्मेण पापं अपनुगति।
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्
तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति॥

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

बोले—ठीक है तुम धन कमाओ, लेकिन धर्मके विपरीत न हो। तुम भोग करो, किन्तु धर्मके विपरीत न हो। तुम कर्म करो परन्तु धर्मके विपरीत न हो। तो तुम ऐसा धन कमाओ, जिससे धर्ममें और भोगमें बाधा न पड़े। यह नहीं कि धन कमानेमें ऐसे लग गये कि खाना ही भूल गया और थोड़े दिनोंके बाद मर गये। ऐसा धन कमानेमें मत लगो। ऐसा धन मत कमाओ कि धर्मका ही नाश हो जाये; ऐसा भोग मत करो जिससे धन और धर्मका नाश हो जाये; और ऐसा धर्म भी मत करो जिससे धन और भोगका नाश हो जाये। नीतिशास्त्रका सामान्य अर्थ यह है कि धर्मसे अविरुद्ध धन, कर्म और भोग और भोगसे अविरुद्ध धर्म और अर्थ और अर्थसे अविरुद्ध धर्म और भोग। कंगाली भी घरमें न आने पावे, भूखे भी न मरने पावें, धर्मका भी नाश न हो, तीनोंको मिलाकर अपने जीवनको ले चलना। यह तीनोंका जो अविरुद्ध सेवन है, यह सामान्य अर्थ इस श्लोकका है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

हम भोग भोगें, धन भी इकट्ठा करें और काम-धन्धा भी खूब करें, लेकिन वह धर्मके द्वारा नियन्त्रित हो, धर्मके विरुद्ध न हो। ***धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।***

अब देखो, तुम्हारे हृदयमें अगर कोई कामना आती है और वह तुम्हारे अर्थका नाश करनेवाली नहीं है, धनका नाश करनेवाली नहीं है,

तुम्हें निकम्मा बनानेवाली नहीं है, तुम्हारे धर्मको बिगाड़नेवाली नहीं है, तो वह कामनाके रूपमें तो भगवान् ही आये। बस; अधर्म जहाँ आता है, अनर्थ जहाँ आता है और अकर्मण्यता जहाँ आती है, वहाँ ऐसी कामना जो आलस्य-निद्रा-तन्द्रा-प्रमादको बढ़ानेवाली हो, अकर्मण्यता लाती हो; ऐसी कामना अविरुद्ध नहीं है—तमोगुण आगया न! ऐसी कामना जो हिंसा-राग-द्वेषको उत्तेजना देनावाली हो, ऐसी कामना नहीं; और ऐसी कामना नहीं, जो दूसरेको गरीब बनाकर तुमको धनी बनानेवाली हो! तो कामना ऐसी चाहिए जो अपनेको गरीब न बनावे, दूसरेको गरीब न बनावे; अपने भोगमें भी बाधा न पड़े, दूसरेके भोगमें भी बाधा न पड़े; अपने धर्ममें बाधा न पड़े, दूसरेके धर्ममें बाधा न पड़े। ऐसी जितनी-जितनी कामनाएँ तुम्हारे चित्तमें हैं, उतनी-उतनी कामनाएँ तो भगवत्स्वरूप ही हैं। क्योंकि इस अन्त:करण पिण्डके रहते, संस्कारजन्य ही है, कामना तो आयेंगी ही। यह जो अन्त:करण, जो सूक्ष्म शरीर वर्तमानमें प्राप्त हुआ है, यह संस्कारजन्य है। और संस्कारमें काम-संस्कार भी है। इसलिए अन्त:करणके रहते जहाँ उनका बिलकुल संहार नहीं हो सकता, वहाँ वे केवल धर्मके अनुसार रहें और जो धर्मके विपरीत हैं वे मिट जायें इतना आवश्यक है। अपने हृदयमें उस इच्छाके रूपमें भगवान्को देखो।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

अब एक विशेष अर्थ इसका सुनाता हूँ। सगुण ईश्वर जो सारी सृष्टिमें भरपूर हो रहा है, उसका दो ही रूप है—शक्ति और काम। सगुण ब्रह्मका स्वरूप एक तो है कि उसकी अप्रतिबद्ध शक्ति है, ऐसी शक्ति है जो चींटीको हाथी और हाथीको चींटी, चींटीको ब्रह्मा और ब्रह्माको चींटी बना रही है; वह शक्ति बिना किसी रुकावटके सृष्टिमें आकारोंमें फुरफुरा रही है। और दूसरा भिन्न-भिन्न आकारोंको बनानेवाला काम—एक इच्छा है भगवान्में—विमर्श शक्ति, एक इच्छा है भगवान्की सर्वभवन सामर्थ्य रूपा इच्छाशक्ति। वही अपने संकल्पसे सब हो रहा है और सब होनेकी उसमें शक्ति है।

बोले—भाई, यह जो भगवान्की शक्ति है, उसके परिणामकी प्रक्रिया क्या है, नियम क्या है? बोले—धर्माविरुद्धः। भगवान्की शक्ति ही

आमके बीजमें-से निकलकर आमका रूप धारण करती है। यह उस बीजके धर्मसे अविरुद्ध है। आमका जो बीज है, उसमें जैसा तना निकलना, जैसे पत्ते निकलना, जिस समय बौर निकलना, जिस समय उसमें आम फलना, सब वैसा ही और उसी समय शक्तिके द्वारा निकलता है। इसी प्रकार पशुमें, पक्षीमें, मनुष्यमें, देवतामें, दानवमें, सर्वत्र, जिस-जिस धर्मसे अवच्छिन्न जो-जो वस्तु है, जब-जब धर्मावच्छिन्न जो-जो वस्तु है, उस-उस वस्तुमें तत्-तत् होकर परमेश्वर अपनेको प्रकट करता है, यह परमेश्वरकी इच्छा है, यह परमेश्वरका एक संकल्प है।

अर्थ, धर्म, कामका नियन्त्रण यदि इतना ही धर्माविरुद्धका अर्थ माने तो केवल मनुष्यके काममें ही धर्म होगा, पशु-पक्षीमें कहाँ होगा? बोले—वही तीन रखो न, कि धर्मके अविरुद्ध पैसा कमाएँ, धर्मके अविरुद्ध भोग भोगें, धर्मके अविरुद्ध कर्म करें तो ऐसा जो काम, वह काम ईश्वर है। ऐसा काम ईश्वर होगा तो मनुष्य जातिके भीतर ही तो होगा। नहीं, ऐसा काम भगवान् नहीं है जो मनुष्य जातिके अतिरिक्त किसीमें नहीं। अब क्या अर्थ निकला? बोले—मनुष्यमें, पशुमें, पक्षीमें, देवतामें, वृक्षमें, लतामें, सरीसृपमें, मिट्टीमें, पानीमें, आगमें, तत्तत् जो धर्म है—पृथिवीका धर्म है ठोस रहना, पानीका धर्म है द्रव रहना, अग्निका धर्म है ऊर्जा, ज्वलन-उष्मता, वायुका धर्म है गतिशील होना, इस प्रकार जितनी वस्तुएँ हैं जगत्में, उन सम्पूर्ण वस्तुओंमें जो धर्म है—उस धर्मके अविरुद्ध उस-उस वस्तुके सम्बन्धमें जो काम है; माने आकाश आकाशके रूपमें रहे, वायु वायुके रूपमें चले, अग्नि अग्निके रूपमें रहे, सूर्य सूर्यके रूपमें रहे, चन्द्रमा चन्द्रमाके रूपमें रहे; पशु-पक्षी मनुष्य-देवता सबके अन्दर उन-उन धर्मके अविरुद्ध रहकर जो काम है सो भगवान् है। यह इसका विशेष अर्थ है भला!

अब भक्तोंका, रसिकाचार्योंका अर्थ देखो, वह बहुत मजेदार है। वे कहते हैं कि संसारमें जितने कामवाले लोग हैं, स्त्री हो कि पुरुष हो, भगवान्को छोड़कर अगर और किसीके साथ कामका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, तो वह धर्म-विरुद्ध है। चाहे मनुष्य हो—दाढ़ी-मूँछवाला पुरुष होवे चाहे बिना दाढ़ी-मूँछके स्त्री होवे,—और चाहे पशु हो, पक्षी हो, उसको

सच्चा धर्म तभी प्राप्त होगा, जब वह भगवान्‌को अपने पतिके रूपमें स्वीकार करेगा। अन्य सब काम जितना है, वह यदि ईश्वरको छोड़कर अन्यसे भोग प्राप्त करनेकी इच्छा है तो वह धर्म-विरुद्ध है। इसमें एक रहस्य देखो क्या है? रहस्य यह है कि सच्चिदानन्दघन एक मात्र प्रभु है, ब्रह्म है, भगवान् है। वही सबका स्वामी है। और वही सबका पति है। और सच पूछो तो सबके हृदयमें बैठ करके वही तत्-तत् जीवके रूपमें भी बना हुआ है।

जीवेन आत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।

वही जीवात्माके रूपमें प्रविष्ट होकर सबके शरीरमें तत्-तत् नाम-रूपको ग्रहण कर रहा है।

वृन्दावनकी बात तो आप जानते ही हैं। मीराबाई जीवगोस्वामीसे मिलनेके लिए गयीं तो जीवगोस्वामीने कहला दिया कि हम स्त्रीसे नहीं मिलते हैं। मीराबाईने उत्तर भेजा कि मैं तो समझती थी कि वृन्दावनमें एक ही पुरुष है—पुरुषोत्तम श्यामसुन्दर, यह दूसरा जीव कहाँसे आगया। जब यह बात गयी उनके पास, तुरन्त बाहर निकलकर आये और मीराबाईसे मिले।

पुरुष है एक भगवान्! एक नन्दनन्दन श्यामसुन्दर, एक राधिकारमण! गोपीजन वल्लभके सिवाय दूसरा कोई पुरुष नहीं है। और बिना उसके मिले जीवको सच्चे सुख और शान्तिकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। नहीं तो भटकते रहो संसारमें। सच्चा सुख और सच्ची शान्ति तब मिलेगी जब वह मिले। उसीसे मिलनेके लिए यह सबके हृदयमें भगवान् काम बनकर आये। उसके मिलनेकी इच्छा होवे, उसको चाहनेकी इच्छा होवे। इच्छाके रूपमें तो आये, परन्तु इच्छा तो भटकती है, कहीं उनको चाहती है, कहीं उनको चाहती है। रूप गोस्वामीजीने मथुराकी स्त्रियोंकी हँसी उड़ाई है, 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में यह प्रसंग है। वृन्दावनमें जितनी भी गोपी थीं, उनमें-से कुछ ऐसी थीं जो कृष्णको देखकर खुश होती थीं और कुछ ऐसी थीं जो कृष्णको देवर समझती थीं, बलरामको देखकर खुश होती थीं, बिलकुल मण्डल अलग-अलग बन गया। पर जब मथुरामें श्रीकृष्ण और बलराम दोनों प्रविष्ट हुए तो जब जिस स्त्रीकी दृष्टि बलरामपर पड़े तो वह कहे कि

यही हमारे प्यारे और जब बलराम आँखसे ओझल हो जायें कृष्ण आवें सामने तब वह बोले—ये हमारे प्यारे। बोले—भाई ये व्रजाङ्गना नहीं हैं, ये माथुरांगना हैं। तो यह जो चित्तवृत्तिमें हमारे संसारकी वस्तुओंके प्रति लोभ है, व्यक्तियोंके प्रति काम है; तो बोले—सच्चा काम कौन-सा है? जो भगवान्‌के प्रति होवे, श्यामसुन्दरके प्रति होवे।

श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज जो वल्लभ सम्प्रदायके हैं, उनकी टीका है गीतापर। वे कहते हैं कि भगवान्‌को अपना परमपति मान करके उनके प्रति जो काम है, वह काम तो जीव-धर्माविरुद्ध है, माने वह जीवधर्मके विरुद्ध नहीं है। कहनेका अभिप्राय हुआ जीवधर्म है भगवान्‌के प्रति कामनका होना। संसारमें जो कामनाका होना है, वह जीवधर्मके विरुद्ध है। ब्राह्मणधर्म दूसरा, क्षत्रियधर्म दूसरा, वैश्यधर्म दूसरा, स्त्रीधर्म दूसरा, पुरुषधर्म दूसरा, लेकिन एक जीवधर्म है, वह सबसे विलक्षण है। वह मुसलमान-ईसाईका भेद नहीं करता, वह हिन्दू-मुसलमानका भेद नहीं करता, वह जैन-बौद्धका भेद नहीं करता, क्योंकि सबके भीतर जीव तो है ही है। जीवके मनमें क्या कामना होनी चाहिए? कि यही पूर्ण सच्चिदानन्दनघन, परं ब्रह्म परात्पर पुरुषोत्तम है उसके प्रति कामना यदि होवे, यदि जीव उसको प्राप्त करना चाहे, तब तो वह अपने धर्मके अनुसार चल रहा है और यदि उसके कामना न होकर दूसरेके भोगकी कामना अपने चित्तमें बैठी है तो वह धर्मके विरुद्ध है। माने सच्ची पतिव्रता कौन है? कि जो पुरुषोत्तमको चाहे। तो—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

भगवान् बताते हैं कि जिसके मनमें मुझसे मिलनेकी कामना है, वह मुझसे मिलनेकी कामना कहाँसे आयी? तो भगवान् बोले कि मैं ही जाकर कामना बन करके उसके दिलमें बैठ गया, मैंने ही गुदगुदाया उसके कलेजेको, दिलको, उसके दिलमें मैंने ही फुरफुराहट पैदा की। क्या फुरफुराहट? कि श्रीकृष्णसे मिलें।

चलो सखि उस देशमें जहाँ बसै वृजराज।

चलो उस देशमें चलें, हमारा नन्दनन्दन श्यामसुन्दर जहाँ रहता है। वह बोलते हैं—

चलो सखी वा देसमें जहाँ बसै बृजराज।
गोरस बेचन हरि मिलन एक पंथ दो काज॥

इस तरहसे अपने मनमें जो भगवत्प्राप्तिकी कामना है वह सम्पूर्ण जीवोंके धर्मके अविरुद्ध है क्योंकि सबका संचालक, नचानेवाला वह ही है। वही तो नचा रहा है, सबका मालिक वही है। अरे वह पहलेसे ही सबका भोग कर रहा है। सबको नचा रहा है, सबका नियमन कर रहा है, सबका भोग कर रहा है, सबके दिलमें बैठा है, सबका प्यारा है। तो असलमें जीवमात्रका धर्म यह है कि उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करे। उसकी प्राप्तिकी इच्छा ही मनुष्यके लिए परमधर्म है, अन्य सब धर्म-विरुद्ध है। रसिक लोग कहते हैं कि बस ईश्वर प्राप्तिकी इच्छा जो मनुष्यके मनमें है वह धर्माविरुद्ध काम है।

१२. समस्त गुण-सृष्टि परमेश्वरसे

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ ७.१२

अर्थ :—जो भी सात्त्विक, राजस, तामस भाव हैं उनको तुम मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानो। मैं तो उनमें नहीं हूँ पर वे मुझमें हैं॥ १२॥

: १२.१ :

गुण मेरेसे ही पर मैं गुणोंमें नहीं

भगवान् श्रीकृष्णने **'सूत्रे मणिगणा इव'** सूतमें जैसे सूतकी गाँठ, सोनेकी जंजीरमें जैसे सोनेके बने मनके, यहाँसे लेकर **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ** यहाँ तक अनेक पदार्थोंमें अपनी गिनती करायी कि यह भी मैं हूँ, यह भी मैं हूँ। वह तत्तत् धर्मकी रक्षा करनेवाली तत्तत् पदार्थोंमें विराजमान अनन्त जो इच्छाशक्ति—समष्टि है, वह प्रभुकी है। वह शक्ति जो आमको बीजमें-से अंकुरित करती है, पल्लवित करती है, पुष्पित करती है, फलित करती है, परन्तु आमके धर्मका विरोध नहीं करती, आम ज्यों-का-त्यों—'धर्माविरुद्धः'। वह इच्छाशक्ति भगवान्‌की, जो संसारकी वस्तुओंको ठीक-ठीक चला रही है, परन्तु किसीके धर्मके विरुद्ध नहीं है। और, वह बल जिससे सब काम सृष्टिका हो रहा है, परन्तु कामना-राग-द्वेष जिसमें नहीं। वह तेज जिससे तेजस्वी, तेजस्वी बने हुए हैं, वह बुद्धि जिससे बुद्धिमान, बुद्धिवाले बने हुए हैं। इस प्रकार भगवान्‌ने बताया कि समूची सृष्टिमें मेरा ही सांम्राज्य व्याप्त है।

अब कहते हैं कि 'किमेवं परिगणनेन' इस प्रकार एक-एक बातकी गिनती कर कहाँ तक बताऊँ? समझ लो कि सृष्टिमें जो कुछ है, सब मुझसे है। मेरे सिवाय और किसी वस्तुकी स्थिति नहीं है। यह बात पहले तो कही थी—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय। ७.७

और अब कह रहे हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

गिनती कर बताना तो सम्भव नहीं है। हमको अपने बचपनका स्मरण है। उधरके लोग कलकत्ते जाते हैं कमाई करनेके लिए। तो बहुत पढ़े-लिखे नहीं होते हैं, चिट्ठी लिखते अपने घरको, तो घरवाले चिट्ठी पढ़ाने आते हमारे पास। चिट्ठीमें लिखा होता कि मँगरूको, खेदारूको, चेखुरको सबको हमारा प्रणाम कहना, पालागी कहना, ऐसे बीस-तीस तो नाम होते, देवकलीको, रामकलीको, उसके बाद होता कि अच्छा जिसका नाम भूल गया हो उसको प्रणाम कहना, अच्छा सब गाँववालोंको प्रणाम कह देना। इसका मतलब यह हुआ कि नाम गिनाना तो शुरू किया, लेकिन गिनानेवालेके मनमें आया कि उनका नाम कहाँ तक गिनावें, तो बोले—भाई सबको प्रणाम। तो भगवान्‌ने सोचा कि यदि हम ऐसे गिनाने लग जायेंगे कि जलमें मैं रस हूँ और सूर्य-चन्द्रमामें मैं प्रभा हूँ और पृथिवीमें पुण्य गन्ध हूँ, अग्निमें तेज हूँ, वायुमें पुण्यस्पर्श हूँ, आकाशमें शब्द हूँ, तो **बाढ़इ कथा पार नहिं लेई,** कथा इतनी लम्बी हो जायेगी कि उसका अन्त नहीं मिलेगा। तब? बोले कि अब कुछ ऐसे संक्षिप्त रीतिसे इस बातको बोलें कि सब आ भी जाये उसमें और ज्यादा बोलना भी न पड़े। तो संक्षेपमें कैसे बोले—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न रीतिसे है। एक इसकी सामान्य व्याख्या है भला, माने जैसी आम तौरपर लोग करते हैं, सर्वसाधारण। वह क्या व्याख्या है कि हमारे मनमें कभी-कभी खूब शान्ति होती है। एकान्तमें बैठे हों तब भी शान्ति है और भीड़में बैठे हों तब भी शान्ति है, कोई गाली दे रहा हो तब भी शान्ति है। ये सात्त्विक भाव, यह शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये सात्त्विक भाव हैं और ये हमारे हृदयमें कभी-कभी खूब दिखायी पड़ते हैं, बड़ी शान्ति है, बड़ा आनन्द है। बोले यह कहाँसे आये? इनका कुछ अता-पता है? तो भगवान्‌ने कहा—**मत्त एवेति तान्विद्धि।** बोले—तुम्हारे हृदयमें जो सात्त्विक भाव-शान्ति, दान्ति उपरति,

तितिक्षा, श्रद्धा, बढ़िया-बढ़िया बातें जो तुम्हारे हृदयमें आती हैं, सात्त्विक भाव जो तुम्हारे हृदयमें आती हैं, सात्त्विक भाव जो तुम्हारे हृदयमें आते हैं वे सब 'मत्त एव' मुझसे ही आते हैं भला! मैं ही भेजता हूँ।

बोले—भले भले, बढ़िया-बढ़िया भाव तो आपने भेज दिया और कभी मनमें बड़ा विक्षेप होता है, चित्त एकदम चंचल हो जाता है। गंगा किनारे बैठते हैं और चित्त शान्त नहीं होता है, हिमालयमें बैठते हैं, चित्त शान्त नहीं होता है। गंगा किनारे जाकर बैठे और याद आ गयी कि एक दिन हम भगवान्‌का दर्शन करने गये थे तो वह आनन्द आया था, अब देखो, चित्त शान्त हो जायेगा। और एक याद आ गयी कि हमारे दुश्मनने हमको यों गाली दी थी। अब गंगा किनारे बैठे हैं और गालीकी याद कर चित्त अशान्त हो जायेगा। यह नहीं कि उस समय कोई गाली देता है, कि उस समय कोई सिरपर हाथ रखकर शान्त करता है। वह तो मनमें किस ढंगके संस्कार फुरफराते हैं। बस यह बात है। तो **मत्त एवेति तान्विद्धि**—बोले कि जब चित्तमें चंचलता आती है, विक्षेप आता है, रजोगुणी भाव आते हैं, तो बोले **मत्त एवेति**—वे भी मुझसे ही आते हैं।

बोले—कभी-कभी ऐसा होता है कि न शान्ति होती है और न तो विक्षेप होता है, बस मनमें यही आता है कि सो जाओ, हिलो-डोलो मत। निद्रा, आलस्य, प्रमाद। बोले—यह नहीं कि पलंगपर बैठनेके बाद आता हो, सत्संगमें बैठे हैं और निद्रा-तन्द्रा आगयी, ऊँघने लग गये महाराज! इस लोकमें मानो कुछ हो ही न रहा हो। यह तमोगुणी भाव कहाँसे आया? भगवान्‌ने कहा—**मत्त एव**—मुझसे ही आता है।

मत्त एवेति तान्विद्धि। 'तान् सात्त्विकान् भावान् राजसान् भावान् तामसांश्च भावान्'—चाहे वह सात्त्विक हो, चाहे राजस हो, चाहे तामस होवे, वे सब मुझ अधिष्ठानमें, मुझ स्वयं प्रकाशके द्वारा तुम्हारे हृदयमें भेजे जा रहे हैं। इसका मतलब यह है कि तुम यह मत देखो कि क्या आया, तुम यह देखो कि भेजनेवाला कौन है? अपना कोई प्रेमी एक इलायची भेज दे तो क्या यह कहोगे कि तुमने सेरभर क्यों नहीं भेजा। कभी चटनी भेज दे, कभी मिर्च ही भेज दे, तो कहोगे न कि हमारे प्यारेका भेजा हुआ यह मिर्च है। यह प्यारेकी भेजी हुई खीर है, हल्वा है, पूरी है। यह नहीं तौलोगे कि

उसने कितना भेजा है और क्या भेजा है, यह देखोगे कि भेजनेवाला वही है। उसीकी रोशनीमें ये शमदमादि और यह मनोराज्य, चंचलता, विक्षेप आदि और यह निद्रा, तन्द्रा, आलस्य आदि उसीके प्रकाशमें दिखायी पड़ रहे हैं।

अब देखो, छोटे तौर पर देखो तो तुम्हारे ही प्रकाशमें दिखायी पड़ रहे हैं। तुम्हारे ही अन्दर सात्त्विकता जब बढ़ती है तो समाधि आती है, ज्ञानकी वृत्ति आती है, दानकी वृत्ति आती है। तुममें ही तो आती है, तुम तो वही हो न! तुम्हारे ही अन्दर युद्ध करनेकी वृत्ति आती है, चंचलता आती है, रजोगुणकी वृत्ति आती है। तो छोटे रूपमें तुम्हारे ही अन्दर आती है। निद्रा आलस्य प्रमाद किसमें आता है? तुम्हारे ही अन्दर आता है। जैसे छोटे जो तुम हो, नन्हें-मुन्ने इस अन्त:करणमें बैठे हुए, तुम्हारे ही अन्दर और तुम्हारे ही प्रकाशमें सारी चीजें देखी जाती हैं। ऐसे ही जो सबका प्रकाशक और सबका अधिष्ठान परमात्मा है **मत्त एवेति** वह परमात्मा बोल रहा है मुझसे ही ये सब हो रहे हैं, ऐसा समझो। माने जो सात्त्विक वृत्ति है उसका अधिष्ठान और प्रकाशक परमात्मा है, अर्थात् अधिष्ठान और स्वयं प्रकाश परमात्मामें ये सब-के-सब सात्त्विक भाव स्फुरणा मात्र हैं।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।

मैं उनके अधीन नहीं हूँ, सात्त्विक भाव आनेसे मैं सात्त्विक नहीं हो जाता, राजस भाव आनेसे मैं राजस नहीं हो जाता, तामस भाव आनेसे मैं तामस नहीं हो जाता। जैसे सात्त्विक द्रष्टा प्रत्यक् चैतन्य उन भावोंके आनेसे तत्-तत् गुणोंवाला नहीं हो जाता, वैसे ही जो महासाक्षी परमात्मा है स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान, वह उन गुणोंके आनेसे जानेसे राजस, तामस भावोंके आनेसे उनके अन्दर बनता नहीं है, उनके अधीन नहीं होता। असलमें बनता ही वही है जो इन गुणोंको स्वीकार कर लेता है। दूसरेमें सात्त्विक भाव स्वीकार करोगे तो उसके अनदर फँस जाओगे कि बड़े शान्त हैं, बड़े दान्त हैं, श्रद्धा करनी पड़ेगी, यह भी तो एक सम्बन्ध बनेगा। और कहोगे बड़े रजोगुणी हैं तो थोड़ा समझ-बूझकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ोगे। अरे, बड़े तमोगुणी हैं तो उनके प्रति उपेक्षा हो जायेगी भला! और परमात्मा तो जैसे आत्मतत्त्व है, वह सबको प्रकाशित तो करता

है, सबका अधिष्ठान तो है, लेकिन किसीके अधीन नहीं है। इसी प्रकार परमात्मतत्त्व भी सबको प्रकाशित करता है, सबका अधिष्ठान है, सबका नियन्ता है, सबका प्रेरक है, सबका स्वामी है, लेकिन स्वयं वह किसीके अधीन नहीं है।

देखो, सामान्य अर्थ इसका यही है कि संसारमें सब कुछ हो रहा है और वह सब कुछ करता हुआ-सा है परन्तु सबसे न्यारा है—

न त्वहं तेषु ते मयि।

'अहं तेषु न भवामि', किन्तु 'ते मयि भवन्तु'। मैं उनके अधीन सत्तावाला नही हूँ, मैं उनके अधीन प्रकाशवाला नहीं हूँ, मैं उनके अधीन आनन्दवाला नहीं हूँ, लेकिन वे मेरी सत्ताके अधीन हैं, मेरे ज्ञानके अधीन हैं और मेरे आनन्दके अधीन हैं। मुझ सच्चिदानन्दघनमें वे कल्पित, केवल मनोराज्य-मात्र हैं।

यह देखो, यह सामान्य व्याख्या है। अब इसकी विशेष व्याख्या क्या है? इसकी व्याख्या जो अभी मैंने आपको सुनायी, उससे यह मालूम होता है कि यह रजोगुणी भाव, तमोगुणी भाव, सत्त्वगुणी भाव जो हमारे मनके भीतर आते हैं, उन्हीं की चर्चा है इस श्लोकमें और भगवान् सिर्फ उन्हींके बारेमें बता रहे हैं कि ये मुझसे होते हैं, ये मेरे अधीन हैं और मैं उनके आधीन नहीं हूँ।

यहाँ बात क्या है? बात यहाँ यह है कि यह प्रकृति त्रिगुणमयी है, इसलिए प्रकृतिके जितने पदार्थ हैं सात्त्विक-राजस-तामस (भाव माने पदार्थ) हैं। सब निर्गुणमय हैं। केवल शमदमादि और केवल विक्षेप मनोराज्यादि, केवल निद्रा-तन्द्रा-आलस्यादि—यह जो भीतर होनेवाली वृत्तियाँ हैं, इन्हींके बारेमें भगवान् नहीं बोल रहे हैं, बल्कि यह जितना प्राकृतिक प्रपंच है, प्रकृतिसे बनी हुई जितनी सृष्टि है, उन सबके बारेमें ऐसा बोल रहे हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

देखो, प्रकृति तो त्रिगुणमयी है, लेकिन उसमें वैषम्य न होनेके कारण और सदृशपरिणाम न होनेके कारण वहाँ गुणोंका भेद मालूम नहीं

पड़ता। लेकिन जब विसदृश परिणाम होता है प्रकृतिमें, तब महत्तत्त्वमें सत्त्वकी प्रधानतासे तीनों गुण रहते हैं और जब अहंकारतत्त्व होता है तब उसमें सात्त्विक अहंकार, राजस अहंकार और तामस अहंकार, ये तीन भेद हो जाते हैं। सात्त्विक अहंकारसे, सात्त्विक अहंकार, राजस अहंकार और तामस अहंकार ये तीन भेद हो जाते हैं। तो सात्त्विक अहंकारसे, सात्त्विक भाव हो जाते हैं। कौन से हैं? जो देवता हैं—कानका देवता, दिग्देवता नेत्रका देवता सूर्य देवता, त्वचाका देवता वायु देवता, नाकका देवता अश्विनीकुमार, रसनाका देवता वरुण; तो यह सब क्या हुआ? बोले—ये जितने देवता हैं ये सात्त्विक भाव हैं, और उनमें जो मन है और आँख, नाक, कानादि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं वे भी सात्त्विक भाव हैं। और बोले—यह प्राण हैं, हर समय चलने-फिरने वाले, कर्मेन्द्रियाँ हैं—ये राजस भाव हैं। और इनमें यह जो माटी है, द्रव्य, पंचभूत—ये सब तामस हैं।

तीन प्रकारके भाव हैं। द्रव्य जो है वह तामस भाव है, क्रिया जो होती है, वह राजसभाव है और ज्ञान जो होता है वह सात्त्विक भाव है। माने संसारमें तीन ही वस्तु देखनेमें आती हैं—कुछ जाना जाता है, कुछ किया जाता है और कुछ होता है। मिट्टी, पानी, आगादि जो हैं ये तो होते हैं। साँस चलना, पाँवसे चलना, हाथसे पकड़ना, मुँहसे बोलना यह सब क्रिया होती है और जीभसे रस जाना जाता है, नाकसे गन्ध जाना जाता है, आँखसे रूप जाना जाता है। तो जाननेवाला वर्ग एक है—देवता, मन और ज्ञानेन्द्रियाँ। और करनेवाला वर्ग एक है और जो द्रव्यके रूपमें वर्ग वह तीसरा है।

तो अब तीन हो गया। सात्त्विक भाव जो हैं वे मन, इन्द्रिय देवता हैं और राजस भाव जो है यह तौल देते हैं जिसको तराजूपर बैठाकर, यह पंचभूतका बना हुआ शरीर—वजन—यह तामस द्रव्य है। तो भगवान् बताते हैं कि जितने ज्ञानात्मक सात्त्विक भाव हैं, जितने क्रियात्मक राजस भाव हैं और जितने द्रव्यात्मक तामस भाव हैं—तीनों मेरेसे ही हैं।

अब देखो, वह पहलेकी अपेक्षा लम्बा-चौड़ा हो गया न! पहले जहाँ हम अपने मनमें ही तीनों बात कर रहे थे कि यह शम-दमादि हैं, यह विक्षेप, मनोराज्यादि हैं, वासना है, राग है, द्वेष है और जहाँ कह रहे थे निद्रा है,

आलस्य है, प्रमाद है, जहाँ अपने मनके ही तीनों भावका वर्णन कर रहे थे, उसकी जगहपर यही निद्रा, अलस्य, प्रमादकी उपाधिसे ब्रह्म ही जो पंचभूत बन गया हो; जहाँ ब्रह्ममें निद्राकी उपाधि है वहाँ पंचभूत हैं, जहाँ ब्रह्ममें—प्राणमें क्रियाकी उपाधि है, वहाँ यह सृष्टि, स्थिति, प्रलय है और जहाँ ब्रह्ममें ज्ञानकी उपाधि है, वहाँ वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है, प्रज्ञा और प्राणकी उपाधिसे। और ज़हाँ वह निरुपाधिक है वहाँ वह शुद्ध ब्रह्म है। तो—

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।

भगवान् कहते हैं ये सब भाव—सात्त्विक, राजस, तामस मुझसे ही होते हैं, मुझमें ही रह रहे हैं, मुझमें ही लीन होते हैं, मेरे सिवाय इनकी कोई सत्ता नहीं, कोई स्थिति नहीं, कोई स्फूर्ति नहीं।

अब '**मत एव**' को जरा ध्यानपूर्वक देख लो—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते—

भगवान्ने कहा 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—जितनी प्रवृत्ति हैं, किसीकी भी प्रवृत्ति, बुद्धिकी प्रवृत्ति, मनकी प्रवृत्ति, इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति, शरीरकी प्रवृत्ति, 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते', मेरी वजहसे सबकी प्रवृत्ति हो रही है।

यह महाराज! कोई ऐसी चीज हम सब लोगोंके शरीरके भीतर बैठी हुई है कि उसके होनेसे ही आँख देखती है, उसके होनेसे ही कान सुनता है, उसके होनेसे ही नाक सूँघती है, उसके होनेसे ही जीभ रस लेती है, उसके होनेसे पाँव चलते हैं, उसके होनेसे हाथ पकड़ते हैं, उसके होनेसे ही चीजें बदलती हैं, उसके होनेसे ही ये सब चीजें हैं, रह रही हैं और रहेंगी और उसके होनेसे ही ये चीजें बनती हैं और बिगड़ भी जाती हैं, अगर वह न हो तो कुछ न बने, न बिगड़े। तो **मत्त एवेति।**

अब देखो, **न त्वहं तेषु ते मयि**—यह बात भगवान् एक बड़े बिलक्षण ढंगसे कहते हैं। कट्टर वेदान्ती लोग तो नकारका अन्वय दो बाद कर लेते हैं भला, 'न त्वहं तेषु', और 'न तु ते मयि'—न मैं उनमें हूँ और न वे मुझमें हैं। 'न तु तेषु अहं, न तु ते मयि'—वे 'तु' कारके बलसे 'न' जो है वह दो बार अन्वित हो जाता है।

लो अब शुद्ध ब्रह्मका निरूपण आ गया। क्या? कि 'न त्वहं तेषु, न तु ते मयि'। बोले न मैं उनमें व्यापक हूँ और न वे मुझमें व्यापक हैं।

बोले—क्या जैसे घड़ेमें मिट्टी और मिट्टीमें घड़ा? कि नहीं, जैसे रज्जुमें सर्प। न तो रज्जु अपनेमें दीखनेवाले साँपमें व्यापक है और न तो वह सर्पादि रज्जुमें है। बोले—साँप है, फूलकी माला है, दरार है, डंडा है, कोई भी कल्पना कर लो, तो जो चीज वह रस्सीमें दीख रही है—**मत्त एवेति।** रज्जु होनेसे ही वे सारी भ्रान्तियाँ हो रही हैं—**मत्त एवेति तान्विद्धि।** वहाँ रस्सी है इसलिए किसीको वह माला दिखती है, किसीको डंडा दिखती है, किसीको भूच्छिद्र दिखती है, किसीको साँप दिखती है। परन्तु क्या उनमें आधार-अधेय भाव है? क्या रज्जुमें साँप है? क्या रज्जुमें माला है? क्या रज्जुमें डंडा है? कि नहीं है। **न त्वहं तेषु**—रज्जु सर्पादिकोंमें व्यापक नहीं है और सर्पादिक रज्जुमें अवस्थित नहीं है—**न त्वहं तेषु ते मयि।** कारण रूपसे परब्रह्म परमात्मा किसी कार्यमें व्यापक नहीं है और कार्य वस्तुतः परमात्मामें है नहीं।

बोले—यह तो देखो, जैसे शांकर वेदान्त हो, वैसा वेदान्त इस श्लोकमें-से निकल आया। तो क्या शंकराचार्य भगवान्‌से सलाह कर श्रीकृष्ण बोला करते थे? नहीं, शंकराचार्यसे सलाह कर भगवान् श्रीकृष्ण नहीं बोलते थे। श्रीकृष्णसे सलाह कर भगवान् शंकराचार्य बोला करते थे—ऐसे कहो। बोले—आखिर श्रीकृष्ण भी तो किसीसे सलाह करते होंगे! बोले—हाँ उपनिषदोंसे सलाह कर बोला करते थे। तो क्या सारी गीतामें कहीं और भी ऐसा बोला है? देखो न,

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ९.४

देखो, एक बात, **मत्स्थानि सर्वभूतानि**=सब मुझमें हैं; परन्तु **न तु मत्स्थानि भूतानि,** मुझमें कोई नहीं है। यदि एक ही व्यक्ति एक ही साथ बोले कि सब मुझमें है और मुझमें कोई नहीं है, और उससे कोई पूछे कि यह तुम क्या कह रहे हो? तो वह क्या बोलेगा? किसीने रज्जु से पूछा—ऐ रज्जु! तुम्हारे अन्दर साँप है? बोले—हाँ, ठीक है। बोले—ऐ रज्जु! तुम्हारे अन्दर, डंडा है? कि हाँ ठीक है तुम्हारे माला है? कि हाँ, ठीक है। जो-जो तुम नाम बता रहे हो, वे सब मुझमें हैं। '**ते मयि सन्तु**'—वे सब-के-सब मुझमें हैं। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'। तुम अपनी-अपनी

नजरसे, अपनी-अपनी आँखकी उपाधिसे, अपने अन्तःकरणकी उपाधिसे मेरे अन्दर जैसी-जैसी कल्पना कर रहे हो, तुम्हारे द्वारा कल्पित पदार्थोंका और तुम्हारी कल्पनाका अधिष्ठान भी मैं ही हूँ। बोले—लेकिन सचमुच तुम हो क्या? रज्जुने कहा—'**न च मत्स्थानि भूतानि**' सच पूछो तो मेरी नजरसे मेरे अन्दर कुछ नहीं है, न साँप है, न डंडा है, न धारा है, न भूच्छिद्र है। मेरी दृष्टिसे कुछ नहीं है, मेरी दृष्टिसे यह प्रपंच हुआ ही नहीं।

तो **मत्स्थानि सर्वभूतानि**, और **न च मत्स्थानि भूतानि**—यह क्या है? भगवान्‌ने कहा—**पश्य मे योगमैश्वरम्,** यही मेरा ऐश्वर्य-योग है माने यही अनिर्वचनीयता-सर्वस्व है। **सदसद्भ्यां अनिर्वचनीयत्वम्।** कहो कि यह सारा प्रपंच परमात्मामें है तो परमात्माकी दृष्टिसे यह बात कहते नहीं बनती, क्योंकि परमात्मामें तो यह है नहीं, पूर्णतामें इसके लिए कोई गुंजायश नहीं। और यह कहो कि परमात्मामें प्रपंच नहीं है, तो प्रत्यक्ष दिखायी पड़ रहा है, फिर प्रत्यक्षका बाध कैसे करें? तो नहीं कहते बनता, क्योंकि दिख रहा है और है कहते बनता नहीं, क्योंकि विचारकी दृष्टिसे देखें तो परमात्मामें द्वैतकी गन्ध भी सिद्ध नहीं होती। तो इसका मतलब क्या हुआ? कि यह अनिर्वचनीय रूपसे परमात्मामें प्रतीत हो रहा है। परमात्माके स्वरूपमें यह सम्पूर्ण प्रपंच, सम्पूर्ण सृष्टि अनिर्वचनीय रूपसे प्रतीत हो रही है।

न त्वहं तेषु ते मयि।

अच्छा जी, अब भक्तोंका भाव सुनाते हैं। बहुत मजेदार है भाव। यह देखो, हमारे आचार्य कहते हैं भगवान्‌की वाणी है यह, यह बात कैसे बनती है। जैसे 'नारद भक्ति-सूत्र' है, ऐसे एक 'शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र' है और एक 'आंगिरस भक्ति-सूत्र' है, ये तीनों मिलते हैं। तीनोंपर टीका है, भाष्य है। नारद भक्ति-सूत्रपर कोई प्राचीन संस्कृत टीका आजतक नहीं मिली है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्रपर और आंगिरस भक्तिसूत्रपर प्राचीन टीका भी मिलती है। तो उसमें यह बात लिखी है कि यह भगवान्‌की वाणी है, इस बातका पता कैसे चले? इसका पता ऐसे चलता है कि सब लोग अपनी-अपनी भलाईकी बात उसमें-से निकाल लें, **त्रिगुणभावमयत्वात् भगवद्वाक्यं वेदाः।** तमोगुणी लोगोंको भी मालूम हो कि भगवान् हमको

सहारा दे रहे हैं। जैसे निद्रा, आलस्य, प्रमाद आया, तो जो बहुत निद्रालु होगा और थोड़ा पढ़ा-लिखा भी होगा, उसको निद्रा आयी तो कहेगा भगवान्‌ने भेजी है भाई, अब आने दो, आयी है निद्रा तो अब सो ही जायें। आलस्य आया, काम करनेका मन नहीं है, तो बोले—अब आज ऐसी इच्छा है। है तो वह आलसी, पर बोला—अब आज भगवान्‌की ऐसी इच्छा है कि सो जाओ।

अब भगवान्‌ने कहा कि मुझसे सब होते हैं। तो दार्शनिक लोग कहते हैं कि भगवान् तो तात्त्विक दृष्टिसे जगत् कारण हैं, इसलिए सबके कारण होनेसे यही बता रहे हैं कि हम तामस भावके भी कारण हैं। यहाँ तुम्हें तमोगुणी बननेके लिए यह नहीं बता रहे हैं। कोई विधि-निषेधका प्रसङ्ग यहाँ नहीं है। विधि तो है नहीं यहाँ। तब भी तमोगुणी लोग कहेंगे कि देखो भगवान्‌ने यह तमोगुण भेजा है। जो जैसा है वह वैसा भाव निकाल लेगा। भगवान्‌ने कहा—'राजसाः भावाः मत्त एव तान्विद्धि'—यह रजोगुणी भाव मैं ही तो देता हूँ। देखो अर्जुन, युद्ध नहीं कर रहा था तो भगवान्‌ने ही तो कहकर उससे युद्ध करवाया। तो भगवान्‌को कोई ध्यानसमाधि ज्यादा प्यारा होता, तो अर्जुनसे ध्यानसमाधि करवाते, लड़ाई काहेको करवाते! तो रजोगुणी भावके लिए भी गुंजायश, तमोगुणी भावके लिए भी गुंजायश, सत्त्वगुणीके लिए भी गुंजायश।

तो, **त्रिगुणभावमयत्वात् भगवद्वाक्यम् वेदाः**। वेद भगवान्‌के वचन हैं—यह भक्तिदर्शनका सिद्धान्त है। वेदान्त दर्शनका सिद्धान्त है कि वेद अपौरुषेय हैं, अनादि हैं, अनादि सम्प्रदाय परम्परासे प्राप्त हैं, उनकी आनुपूर्वी नियत है, यह सब बात है। पर भक्तिदर्शन वाले जो हैं, वे भगवान्‌को प्रमुख कर अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं; तो बोलते हैं—वेद भगवान्‌के वचन हैं। तो कैसे मालूम हुआ कि भगवान्‌के वचन हैं? बोले—वेदमें ही लिखा है कि वेद भगवान्‌के वचन हैं।

तो पहले भगवान्‌का वचन होनेसे वेद प्रमाण है कि वेदमें लिखा होनेसे वेद भगवान्‌का वचन है? बोले—देखो, हम बढ़िया बात बताते हैं। एक-एक मन्त्र वेदके ऐसे हैं जिसमें-से जो चाहे अपनी भलाईके लिए, निकाल लो—राजनीति चाहो राजनीति, समाजनीति चाहो समाजनीति,

धर्मनीति चाहो धर्मनीति, भौतिक भाव चाहो भौतिक भाव, आध्यात्मिक भाव चाहो अध्यात्मभाव निकाल लो। क्योंकि भगवान् सबके लिए बोलते हैं, भगवान् कोई एक व्यक्तिके लिए नहीं बोलते हैं। इसलिए बोले भाई—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

भगवान् बोले कि जिस समय भक्तलोग मेरा भजन करनेके लिए बैठते हैं, तब क्या होता है? महाराज चार बार कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण कहा, हृदय थोड़ा गीला हुआ, कण्ठ गद्‌गद हुआ, आँखोंमें आँसू आये, शरीरमें रोमांच हुआ; बोले—क्या हुआ? सात्त्विकभाव आया। इसीका नाम तो सात्त्विक भाव है न! कंठका गद्‌गद हो जाना, हृदयका पिघल जाना, शरीरमें रोमांच होना, आँखोंमें आँसू आना! धन्य है, धन्य है क्या प्रभुकी कृपा है, अपार करुणा प्रभुकी बरस रही है। यह भगवान्‌का नाम लेकर, भगवान्‌का गुणानुवाद श्रवण कर, उनकी कथा सुनकर जो अपने जीवनमें सात्त्विक भाव आता है, यह कहाँसे आता है? बोले—**मत्त एवेति**, भगवान् बोले कि मैं भेजता हूँ। **मत्त एवेति तान्विद्धि**। जिसके पास भगवान् नहीं भेजेंगे, वह पत्थरका टुकड़ा है। भागवतमें बताया—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

बोले—भाई, वह दिल नहीं है वह फौलादका टुकड़ा है, पत्थरका बना हुआ है। किसका? कि जीभसे भगवान्‌का नाम निकलता है और कानसे भगवान्‌का नाम सुनायी पड़ता है, जिह्वासे गृह्यमान और श्रोत्रसे गृह्यमान दोनों तरहसे ग्रहण किये जा रहे हैं भगवान्। परन्तु 'न विक्रियेत' जिसके दिलमें विकार नहीं हुआ, जो पिघला नहीं, कि भाई विकार होता है तो क्या होता है? आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगती है, शरीरमें रोमांच हो जाता है, बारम्बार रोमांच होता है, बारम्बार सिहर जाते हैं, क्या भावका उदय होता है! बोले—भाई यह सात्त्विक भाव सबको क्यों नहीं होता? दो तरहके लोग होते हैं—एक द्रुत चित्त और एक अद्रुत चित्त। एक ऐसे जिनका दिल कोमल होता है, नर्म होता है मोमकी तरह और भगवान्‌का नाम लेनेसे, भगवान्‌के नामकी थोड़ी गर्मी लगी और दिल

पिघल गया और पानी होकर बहने लग गया। और कई लोगोंका चित्त अद्रुत होता है, पिघलता नहीं है। तो पिघले, न पिघले, यह बात दूसरी है। अगर न पिघले, लेकिन शम-दम-उपरति, तितिक्षा समाधान होवे, मुमुक्षा होवे, जिज्ञासा होये तो वह तत्त्वज्ञानके मार्गमें जायेगा, बहुत बढ़िया है। पर भक्तिके मार्गमें चलता है तब तो सात्त्विक भाव भगवान् उसके जीवनमें भेजते हैं। सात्त्विक भाव माने यही रोना, पुलक, अश्रु!

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं बद्धेनाञ्चलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमाद्गमा। कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनोद्गीर्णवाष्पाम्बुना-नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगल ध्यानामृतास्वादुनां अस्माकं सरसीरुहा सततं संपद्यतां जीवितम्।

हाथ जुडे हुए हों, सिर झुका हुआ हो, शरीरमें रोमांच हो, कण्ठमें स्वर गद्गद हों, आँखें आँसू उगल रही हों और हृदयमें भगवान्के चरणारविन्दका जो अमृत है उसका स्वाद मिल रहा हो। हे प्रभु! हमारा इस ढंगका जीवन कब व्यतीत होगा?

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति।

यह सात्त्विक भाव है भला! तो **ये चैव सात्त्विका भावा।**

अब **राजसा**—राजस भाव क्या है? कि भगवान्का नाम लेने लग गये और नाम लेते महाराज, बैठा नहीं जाता, हाथ काँप रहा है, शरीर काँप रहा है, चिल्ला रहे हैं, फटाफट गिर रहे हैं, उठकरके नाच रहे हैं। अब देखो आया तो भगवान्का नाम, परन्तु शरीर तो टिकता नहीं है, काँप रहा है, थर-थर काँप रहा है शरीर और नाच रहे हैं, अंग विक्षेप हो रहा है, कहीं हाथ हिला रहे हैं, कहीं पाँव पटक रहे हैं, कहीं नाच रहे हैं। बोले—यह राजस भव कौन है? कि भगवान्का भेजा हुआ है। यह समझ लेना यह भगवान्का भेजा हुआ है भला! इससे मनुष्य आगे बढ़ता है।

तामसाश्च ये—अब तामस भाव कौनसे हैं? कि तामस भाव यह है कि भगवान्का नाम लेते-लेते बेहोश होगये। अब कोई पानी छिड़क रहा है मुँहपर, मुँह बिलकुल सुस्त हो रहा है।

एक हमारे मित्र हैं। हमलोग एक बार जब मेरी उम्र बीस बरस रही होगी, उनकी सत्रह बरस रही होगी। मेरे मनमें तो उतनी लालसा नहीं थी,

पर उनके मनमें यह लालसा थी कि हमको भगवान्का दर्शन हो। और, महाराज वे जब सब कपड़ालत्ता उतारकर जाने लगे, तो मेरे मनमें भी आया। जो दस-पाँच रुपये अपने पास किराये-विरायेके लिए थे और जो कुर्ता-धोती हमारे पास था सब एक धर्मशालेमें छोड़कर हम लोग गंगापार होगये और वह उधर नील धाराके उसपार गंगाकिनारे। अब यह हुआ कि जबतक भगवान् नहीं मिलेंगे तबतक नहीं लौटेंगे। एक-एक धोती हमलोगोंके पास थी, पर उनके मनमें लालसा ज्यादा थी और हमारे मनमें कुछ थोड़ी कम थी। वह कम होनेका कारण यह था कि अपने इस ठिकाने उनसे पहले लगे हुए थे, तो थोड़ा-थोड़ा ऐसा मालूम पड़ता था कि हम सन्तोषजनक रास्तेपर लगे हुए हैं। अब उसपार जाकर जब भगवान्का नाम लेने लग गये, थोड़ी देर तो शान्त बैठकर भजन किया, फिर थोड़ी देर भगवान्की चार्चा की, फिर थोड़ा भगवान्का नाम लेने लग गये—

मुकुन्द माधव गोविन्द कृष्ण
गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण

ऐसे बोलने लग गये। फिर बोलते-बोलते उनकी आँखसे आँसू निकलने लगे, फिर शरीरमें रोमांच हुआ, फिर मुँहसे पानी निकलने लगा, उसके बाद बिलकुल बेहोश होकर गिर पड़े। एकदम चेहरा काला पड़ गया, जैसे कोयला हो ऐसा चेहरा उसका होगया। हमारी गोदमें उनका सिर था। मैंने अपनी आँखसे जो देखा सो आपको बता रहा हूँ। उनका मुँह बन्द हो गया और बिलकुल होश-हवास नहीं। अब वहाँ पानी कैसे मिले। कोई दो फर्लांग पर गंगाजी होंगी। तो मैं उनको वहीं छोड़कर गंगाजी गया, कोई बर्तन हमलोगोंके पास नहीं था—न कमण्डलु न गिलास। तो जो धोती मैं पहने हुए था, वह धोती जाकर गंगाजीमें भिगोया और उसीमें पानी लेकर फिर आया, आकर उनके मुँहपर डाला, उनके शरीरपर छिड़का, फिर उनका सिर लेकर गोदमें, कीर्तन करने लगा—गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण……। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि जैसे कोई चन्द्रमा हो, जैसे कोई सूर्य हो, इस तरहसे उनका सारा चेहरा मेरे देखते-ही-देखते चमक उठा और फिर धीरे-धीरे वे भी 'गोविन्द मुकुन्द' ऐसे

बोलने लगे। कोई पाँच-सात-दस मिनटके बाद वे भी मेरे साथ मिलकर कीर्तन करने लगे और उनकी प्रकृति ठीक होगयी।

यह जो अवस्था बेहोशीवाली लगती थी न, जब मुँह काला हो गया था और मुँहसे पानी निकलता था और बिलकुल कोई चेतना नहीं थी, यह अवस्था उनको जो आयी, वह देखनेमें तामस भाव था, लेकिन वह निश्चित रूपसे भगवान्‌की भेजी हुई आयी थी, क्योंकि उसके बाद जो एकाएक प्रकाश हुआ, जब चेहरा चमक गया, जब कालेसे गोरा हो गया और जब चेहरा चमक गया, तो बिना भगवान्‌के भेजे यह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती भला! तो यह मैंने अपनी आँखसे देखा। बादमें उन्होंने बताया कि हमको भगवान्‌के दर्शन हुए। हमको नहीं हुए उनके साथ भगवान्‌के दर्शन। लेकिन उन्होंने बताया कि हमको भगवान्‌के दर्शन हुए।

यह जो बेहोशीका, मूर्च्छाका भाव है, इसमें किसीकी मृत्यु भी हो सकती है भला! जब शरीरमें रोमांच होवे, आँखमें आँसू आवें या नाचना होवे या गाना होवे, बेहोशी होवे, तो भगवान् बताते हैं नहीं, **मत्त एवेति तान्विद्धि**—ये सारी अवस्थाएँ मैं भेजता हूँ। परन्तु—**न त्वहं तेषु ते मयि**—मैं उन अवस्थओंमें सीमित नहीं हूँ बिना उनके भी मेरा दर्शन हो सकता है। परन्तु **ते मयि,** वे सब-की-सब अवस्थाएँ मुझमें हैं और मेरी भेजी हुई हैं। तो—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

❖

१३. गुणमयीमायासे मोहित जगत् परमेश्वरको नहीं जानता

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ ७.१३

अर्थ :—तीनों गुणोंसे उत्पन्न भावोंसे यह सम्पूर्ण जगत् मोहित है। अतः इनसे अतीत जो मेरा अव्यय स्वरूप है, उसको यह नहीं जानता॥ १३॥

: १३ :

माया, मोह और अज्ञान

एक महात्मा थे; उनके प्रत्येक व्याख्यानमें यह बात होती थी कि जहाँ मैं बैठता हूँ जोशी मठमें, वहाँसे बर्फकी चोटी दिखती है, हराभरा जंगल दिखता है, गंगाजीकी धारा दिखती है, वो पहाड़ हैं और वह हरियाली है, मैं वहाँ दस महीने रहता हूँ—यह सब बताते थे। हम उनसे पूछते कि कोई ईश्वर-विषयक अपना अनुभव बताओ! वहाँ बैठकर, इतनी बढ़िया जगहपर बैठकर तुमने ईश्वरके विषयमें क्या मनन किया, ईश्वरके विषयमें क्या निदिध्यासन किया, ईश्वरके बारेमें तुम्हारा क्या अनुभव हुआ? बोले—अजी हम तो वहाँके वातावरणको देखकर ही मस्त रहते हैं, उसमें ईश्वरके बारेमें सोचनेकी क्या जरूरत है? ठीक है गंगाजी हैं, वहाँ हिमालय भी है, जंगल भी है, शान्ति भी है, वहाँ रेल-मोटरकी उस समय कोई आवाज भी नहीं थी, अब तो बड़ी आवाज है, अब तो नीति दर्रा वहाँसे पास है, इसलिए बड़ी भड़भड़ाहट जोशी मठमें पहुँच गयी है। 'नीति दर्रा', वहाँसे चालीस मीलके करीब है और बद्रीनाथसे 'माना दर्रा', दो ही मील है। अब तो बात दूसरी हो गयी, उन दिनों बड़ी शान्ति थी। तो ठीक है, वहाँ शान्ति तो है, परन्तु उसमें

लुभा गये। मनमें उपरामता आयी, तितिक्षा आयी। बोले—बस बस, अब क्या पूछना हमारा अन्तःकरण शान्त होगया—यह भी गुणमय भाव है।

अच्छा, अब दूसरी बात देखो। कोई जाग्रत् अवस्थाके भोगोंमें आसक्त हो जाता है। तो यह तमोमय भाव है। यह देह तमोमय है। और जाग्रतावस्था सत्त्वमय है। जाग्रतावस्था सात्त्विक है परन्तु यह जो हड्डी, मांस, चामका बना हुआ शरीर है, यह यह तमोमय भाव है। यह देहमें मैं करके, जाग्रतावस्थाके दृश्योंमें फँस गया। और आँख बन्द कर बैठे और जो मनोरथ होते हैं स्वप्न होते हैं, उनका मजा लेने लग गये तो वह रजोमय भाव है। देहमें फँसना यह तमोमय भावमें फँसना है, स्वप्नमें फँसना यह रजोमयभावमें फँसना है और समाधिमें फँसना यह सत्त्वमय भावमें फँसना है।

इसी तरहसे समझो कि किसीकी आँखमें चार आँसू आ जाते हैं भगवान्का भजन करते समय-शरीरमें थोड़ा रोमांच हो जाता है, हृदय थोड़ा गद्गद हो जाता है, अब वह समझता है कि आहा-ओहा, हमको सर्वोत्तम अवस्था प्राप्त हो गयी! नहीं, ये आँसूकी चार बूँदे सर्वोत्तम अवस्था नहीं है। है यह भी, पर यह सत्त्विक है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

कोई आँसू रोमांचमें मोहित होगया, कोई शान्ति-दान्तिमें मोहित होगया, कोई समाधिमें मोहित होगया, कोई काम-क्रोधमें मोहित होगया कोई दान-उपकारमें मोहित होगया, कोई रागतृष्णामें मोहित होगया, कोई निद्रा, आलस्य, प्रमाद और नशामें—बेहोशीमें मोहित हो गया, ये सब गुणमय भाव हैं। और देखनेमें महाराज बड़ा गुण मालूम पड़ता हैं इनमें; इसीलिए इनको गुण बोलते हैं। भागवतमें प्रार्थना है कि हे प्रभु! इस मायाको मारो—

जय जय जह्यजामजितदोषगृभीतगुणां

इस बकरीको, इस मायारूप बकरीको काट डालो। क्यों काटें? इसमें तो बड़े-बड़े गुण हैं। देखो नींदका आनन्द देती है, सपनाका आनन्द देती है, जाग्रत्का आनन्द देती है, नशेका आनन्द देती है, रागका आनन्द इसमें मिलता है। किसीसे मोहब्बत कर, उसके साथ जिंदगी भर लटकते फिरो या किसीसे दुश्मनी कर उसके मरनेका इन्तजार करते रहो। ऐसा ऐसा होता है महाराज, साधकोंके चित्तमें भी होता है, उसका मजा लेते ही बनता है।

एक बार एक व्यक्तिने उड़िया बाबाजी महाराजसे आकर शिकायत की कि वह फलाना आदमी हमारी बड़ी निन्दा करता है। तो मैं तो साधक हूँ, मुझे तो सब सहना ही चाहिए। निन्दा करता है तो साधकका काम निन्दाका जवाब देना नहीं है, सफाई देना भी नहीं है, क्योंकि सफाई देगा अगर अपनी निन्दाकी, तो उसकी तपस्या नहीं होगी और जवाब देगा तो विक्षेप हो जायेगा, दुःखी हो जायेगा; उससे तो भगवान्का भजन छूट जायेगा। तो साधकका काम क्या है? बोले—सह लेना। कि सो तो महाराज हम सहते हैं, लेकिन अब कितने दिन सहते जायें? तो बाबाने कहा—बेटा, घबड़ाओ मत, वह तो अभी एक बरसके भीतर मरनेवाला है। बोले—मरनेवाला है बाबा! कि हाँ! तब हम सह लेंगे, कोई बात नहीं।

अच्छा देखो न, उसने बड़ी बहादुरीकी बात की कि एक बरस हम सह लेंगे। लेकिन एक बरसमें मर जायेगा सुनकर जो सहनेका उत्साह हुआ और खुशी हुई, इसमें साफ जाहिर है कि उसके प्रति द्वेष है। द्वेष न होता तो उसके मरने की बात सुनकर खुशी कहाँसे होती? तो साधकके चित्तमें कैसे-कैसे दोष जो हैं वे गुण बन कर प्रकट होते हैं।

एक आदमी कहता है कबतक यह सहा जायेगा? बोले—कि अब घबड़ाओ मत, थोड़े दिनोंके बाद तुमको ही तो राज्य होनेवाला है, तो तुम राजा हो जाओगे, हम रानी हो जायेंगी! राजकुमारोंमें ऐसा होता है, पहले होते थे न राज्य, तो राजकुमारकी किसीसे प्रीति हो गयी, राजकुमारने कहा—यह हमारा बाप बड़ा दुःख देता है, तुमसे मिलने नहीं देता है, तुम्हारे पास रहने नहीं देता है, यह बड़ा दुष्ट है। यह हमारा बाप दुष्ट है जो तुम्हारी सरीखी प्रियतमासे मिलने नहीं देता, विवाह नहीं करने देता। स्त्रीने कहा, कि तुम घबड़ाओ मत, उनकी तो बरस-दो-बरसकी उम्र है, मर जायेंगे, तो तुम राजा बनोगे और मैं महारानी बनूँगी, यह सब राज्य हमारे ही हाथमें तो आनेवाला है न! बापके मरनेकी बात सुनकर राजकुमारके मनमें खुशी होगयी और बोले—हम दोनों राजारानी होकर रहेंगे। यह जो रागजन्य और यह जो द्वेषजन्य सुखकी कल्पना है अपने चित्तमें यह कल्पना, यह संसारका बड़ा भारी लुभावना भाव, यह दूषित भाव अपने चित्तमें बैठा हुआ है और कितना लुभावना रूप धारण कर आता है।

गुणमयी—'अजितदोषगृभीतगुणा'—यह मायाने दोषके लिए ही अपना गुणमय रूप प्रकट किया है। ये जो मायामें गुण दिखायी पड़ते हैं, कि इसमें यह गुण है, इस लड़कीमें यह गुण है, इस लड़केमें यह गुण है, इस रुपयेमें यह गुण है, इस महलमें यह गुण है, शमदमादिमें, समाधिमें यह गुण है और राग द्वेषमें यह गुण है और निद्रा, आलस्य और प्रमादमें यह गुण है, यह जो जगह-जगह हमको संसारमें गुणकी दृष्टि होती है, यही हमको फँसा रही है। अब जब जगह-जगह गुण दीखने लगा तो ईश्वरका गुण कहाँसे दिखेगा? जिसको गधैयाका गुण दिख रहा है, उसको स्वर्गकी अप्सराका गुण कहाँसे दिखायी पड़ेगा!

गुणमयैर्भावैः का अर्थ क्या? जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और स्थूल सृष्टि, सूक्ष्म सृष्टि, कारण सृष्टि, शमदमादि सम्पत्ति, रागद्वेषादि जो मनके दोष हैं और निद्रा-आलस्यादि जो तमोमय भाव हैं और यहाँतक कि जो रोमांच अश्रुपातादि सात्त्विक भाव होते हैं वे भी। ये देखनेमें बड़े गुणी हैं, लेकिन अगर इनको पकड़कर बैठ जाओगे भाई, कि इसमें बड़ा गुण है, इसमें बड़ा गुण है, तो आगे नहीं बढ़ सकोगे। जिसको तुम गुणमय मान करके बैठ गये हो, वे तो दोषमय हैं।

अब 'गुणमय' कहनेका दूसरा भाव क्या है? देखो, गुणमय माने एक तो तीन गुणका कार्य और दूसरा देखनेमें इसमें गुण मालूम पड़ता है, परन्तु दोष भरा हुआ है। दो भाव इसका आगया ध्यानमें?

वेश्या किया सिंगार है, बैठी बीच बाजार।

अब उसका जो शृंगार है, वह जो लुभावना शृंगार है, उसकी जो आवाज़में मिठास है, उसकी चितवनमें जो प्रीति है और उसके व्यवहारमें जो मधुरता है वह देखनेमें गुणमयी है, लेकिन वह सब तुमको फँसानेके लिए है, ईश्वरसे जुदा करनेके लिए है, धर्मसे जुदा करनेके लिए है, गुरुसे जुदा करनेके लिए है, वह सारा गुणका जो अध्यारोप है, वह तुम्हारे सत्यानाशके लिए है। तो,

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

गुणमयैर्भावैः—अब गुणमय शब्दका और अर्थ देखो। संस्कृतमें गुण माने होता है रस्सी। एक बच्चू सूर थे, बोला करते थे—

भली बावली बावली, सब कोई भर लेत।
भूप कूपकी एक गति गुन बिनु बूँद न देत।

यह बावली होती है न, जिसमें जाकर पानी भरकर ले आते हैं, यह बावली जो है यह भली है। जो चाहे सो सीढ़ीसे उतर गया और पानी भरके ले आया। पर भूप और कूपकी एक गति है, यह बावला नहीं है और बावली तो बावली है, पगली है। राजा बहुत चतुर है उसके पास जाओ अपना कोई गुण दिखाओ, तब वहाँसे एक बूँद मिले; रस्सी लेकर जाओ कुँए पर तब वहाँ पानी मिले, बिना रस्सीके बानी मिलनेवाला नहीं।

गुण माने रस्सी। रस्सी भी महाराज एक-एक गुणी होती है, एक दुगुनी होती है और एक तिगुणी होती है—त्रिगुणित। यह जो संसारकी रस्सी है, **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः**—इसमें एक-एक गुण नहीं, तीन-तीन गुणसे तिहरी रस्सी बनी हुई है। इकहरी रस्सी हो, तो तोड़ दे भला और दोहरी रस्सी हो तो काटना पड़ता है और तिहरी हो महाराज, तब तो मामूली तरहसे कटती भी नहीं है, काटनेके लिए औज़ार भी पक्का चाहिए—**असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा**—उसके लिए असंगताका दृढ़ शस्त्र चाहिए तब वह रस्सी कटती है। ये जो सत्त्वगुण, रजोगुण तमोगुणके जो भाव हैं ये तिहरी रस्सी हैं। तीन रस्सियोंको मिलाकर जो एक रस्सी बटी हुई होती है, ऐसी रस्सी है, माने बन्धनकी रस्सी है। आदमी बँधा हुआ है। कहीं पत्थरसे बँधा हुआ है। ये हीरा, मोती क्या है? ये पत्थर ही तो हैं न।

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः।

ये पत्थरके टुकड़े न खानेके काम आवें न भूख मिटानेके काम आवें। यह तो एक अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो गयी है कि यह बड़ी कीमती चीज है, कोई वैज्ञानिक प्रक्रियामें इनका उपयोग होता होगा। तो यह तमोमय भाव है। यह पत्थर जो है, हीरा है, यह क्या है? मिट्टीका ही एक भाव है। सोना क्या है? तेजका ही एक भाव है, चाँदी क्या है? मिट्टीका ही एक भाव है। मोती क्या है? यह पानीका ही एक भाव है। लेकिन इनपर, मोतियोंपर ऐसे लट्टू हुए कि यह मोतीके लिए लोगोंने अपनी जिन्दगी-जिन्दगी भरकी कमाई अर्पित कर दी। ऐसे हीरे निकले, ऐसे मोती निकले, ऐसा सोना! कीमती चीज क्या करोगे? खाओगे? खानेकी चीज तो नहीं है न! कि भाई उससे

खाना भी मिल जाता है, कपड़ा भी मिल जाता है, सबके मिलनेका साधन है। अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता है।

एक बार जब सोनेकी लंका थी न, तो वहाँ कोई भारतवर्ष, तिब्बतके महात्मा भी पहुँच गये। अब वे जहाँ देखें वहाँ सोना-ही-सोना। उनको जरूरत पड़ी हाथ धोनेकी। बोले—भाई मिट्टी तो ले आओ। बोले—लंकामें मिट्टीका क्या काम! बोले—राम राम, मिट्टी नहीं मिलेगी तो हम हाथ नहीं धोवेंगे और हाथ नहीं धावेंगे तो हाथ गन्दा रहेगा और गन्दा रहेगा हाथ तो हम खायेंगे कैसे, पीयेंगे कैसे? हम तो मर जायेंगे, हमको तो मिट्टी चाहिए। बोले—कहींसे मिट्टी ले आओ। तो वे कहें महाराज, सोना जितना चाहिए उतना ले लो, यहाँ मिट्टी नहीं मिलेगी। वहाँ सोना सस्ता और मिट्टी महँगी। बोले—अच्छा भाई सेर भर सोना लो, इसके बदलेमें एक छटांक मिट्टी दे दो। बोले—नहीं मिलेगी। बोले—अच्छा, एक तोला मिट्टी दे दो। सोना वहाँ सस्ता और मिट्टी महँगी। ऐसे!

कहनेका अभिप्राय क्या? कहनेका अभिप्राय यह कि इन चीजोंको लोग मनसे ही कीमती बनाकर उनमें फँस जाते हैं। यह बन्धन। कोई मोतीसे बँधा, कोई हीरेसे बँधा, कोई सोनेसे बँधा, कोई स्त्रीसे बँधा, कोई पुरुषसे बँधा। ये ही गुणमय भाव हैं। और इनमें ऐसे बँध गये कि फिर ईश्वरको देखनेके लिए अपनी वृत्ति उठती ही नहीं है। वहाँसे उसको छोड़कर वृत्ति देखे तब न! आँख ऐसी बँध गयी कि दूसरी चीजकी ओर नहीं देखती है। नाक बँध गयी, ईश्वरकी गन्ध नहीं सूँघती है। त्वचा बँध गयी, ईश्वरको नहीं छूती है, मन बँध गया, ईश्वरका ध्यान नहीं करता है, बुद्धि बँध गयी, ईश्वरके बारेमें चिन्तन नहीं करती है। सारा बन्धन, **गुणमयैर्भावैः** ये जो रस्सीके समान बाँधनेवाले, तिहरी रस्सीके समान बाँधनेवाले सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण, तीन गुणोंके कार्य, इनकी अवस्थाएँ और इसमें जन्ममरण देनेवाला, राग-द्वेष देनेवाला और शान्ति-दान्तिका क्षणिक सुख देनेवाला, यह जो भाव है यह थोड़ी-थोड़ी चीजोंमें मनुष्य मेहित होगया। सम्मोहन हो गया। गुणोंने वशीकरण कर लिया, गुणोंने सम्मोहित कर लिया!

बस यह समझो कि ईश्वर तो सब जगह है और ईश्वर है सब, लेकिन ईश्वरकी ओर लोग नहीं देखते हैं, कहते हैं वाह-वाह ऐसा तो कोई दूसरा है

ही नहीं है। जिससे जिसका प्रेम हो जाता है, जिससे जिसकी मोहब्बत हो जाती है, वह यही कहता है कि इससे बढ़िया तो कोई है नहीं, सबसे बढ़िया यही है। हमने 'बहुत देखा लेकिन तुझसा नहीं देखा'। अरे, ऐसे बेवकूफ कितने मर गये, कितने अभी पैदा होनेवाले हैं। बोले—सब देखा पर तुमसा नहीं देखा। यह तुम्हारी आँखका दोष है कि उसमें कोई गुणोंकी अभिव्यक्ति है! जिसको तुम कहते हो 'तुझसा नहीं देखा', वह कोई ईश्वरसे बड़ा आकर तुम्हारे सामने प्रकट हुआ है, कि तुम्हारी आँखें अन्धी हो गयी हैं? दो ही बात हो सकती है—एक तो यह कि 'सब देखा' पर तुमसा नहीं देखा ,तो यह क्या है? कि यही मोहित होना है, सम्मोहन है। इसीका नाम मेस्मराईज हो जाना है भला! किसीने इन गुणोंकी मायामें हमको संसारमें बाँध लिया है।

'मोहितम् जगत्' माने जगत् और जगत्की एक-एक चीजपर अभिमान कर बैठे हुए जीव। यहाँ 'जगत्' शब्दका अर्थ जगत्से तादात्म्यापन्न जीव ही है। आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि—ये सब जगत् हैं और उनको पकड़कर बैठा हुआ जो जीव है सो भी जगत् है। इस फँसावकी अन्तिम गति क्या है? कि—

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

ऐसे मोहित हो गये कि **'मां न अभिजानाति'**। गुणोंको देखनेमें ऐसा लग गया कि मुझे नहीं पहचानते हैं।

भागवत्में एक प्रसंग है कि ग्वालबाल जब भगवान् श्रीकृष्णके साथ निकले वृन्दावनसे, और जंगलमें गये, तो वहाँ अघासुर बैठा हुआ था। बोले—ओहो देखो न, कैसी वृन्दावनकी शोभा है, मोहित होगये। वे बोले कि यह जो जीभ सरीखी मालूम पड़ती है, यह अघासुरकी जीभ नहीं है, माने साँपकी जीभ नहीं है, साँपकी जीभकी तरह मालूम पड़ती है। पर है क्या? बोले—यह तो लाल-लाल सड़क वृन्दावनमें बनी है और हम लोगोंको मालूम नहीं, चलो-चलो देखें! अरे यह तो मुँह नहीं है, यह तो गुफा है। बोले—ऊपर क्या है? ऊपर बादल छाये हुए हैं न! अघासुरके ऊपरके जबड़ेको बादल कहा। बोले—वह लाल क्यों दिखायी पड़ता है? बोले—नीचेकी परछाईं जो पड़ती है।

अब देखो न, कृष्णके साथ आये जंगलमें, बछड़े चरानेके लिए, कृष्णको देखना छूट गया और देखने लगे अघासुरकी शोभा, और फिर उसमें

वह-वह कल्पना हुई महाराज, कि वह तो निगल ही जाता उनको, अगर भगवान् कृपा करके न बचाते! तो,

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।

भगवान् कहते हैं ऐसे मोहित हुए कि **एभ्यः परम् अव्ययं माम् न अभिजानाति।** परमात्मा इन तीनों गुणोंसे परे हैं। शान्ति, दान्ति, समाधिका नाम परमात्मा नहीं है, उसके परे है। यह राग-तृष्णा प्रवृत्ति जो है : **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा**—यह परमात्मा नहीं है, इससे परे है। निद्रा आलस्य, तन्द्रा, प्रमाद—यह परमात्मा नहीं है, इससे विलक्षण है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका नाम परमात्मा नहीं है, उनसे विलक्षण तुरीय है परमात्मा। सत्त्व-रज-तमका नाम परमात्मा नहीं है, इनके विलक्षण है परमात्मा। ब्रह्मा-विष्णु-शिवका नाम परमात्मा नहीं, इनसे विलक्षण है परमात्मा। ये तो गुणोपाधिक नाम है भगवान्‌का। गुणकी उपाधि छोड़कर देखो, सत्त्व-रज-तम, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, सृष्टि-स्थिति-प्रलय, आकार-मकार, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, इन सम्पूर्ण त्रिपुटियोंसे विलक्षण है परमात्मा—**एभ्य परः।** माने सत्त्व-रज-तमका जितना खिलवाड़ है, सबसे परे है परमात्मा। बोले—उसकी पहचान क्या है? कि पहचान है—अव्यय। यह मोहर है, गीताकी मोहर है। यह अव्यय जो है यह गीताकी खास है।

बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। ईश्वर अव्यय है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्। ७.२५

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। २.२१

यह आत्मा अव्यय है, परमात्मा अव्यय है—

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। १५.५

गीतामें 'अव्यय' शब्द जो है, यह परमात्माके साथ है। परमात्मा कौन? बोले—सत्त्व व्यय है, रजव्यय है, तम व्यय है और परमात्मा अव्यय है। जाग्रत् व्यय है, सुषुप्ति व्यय है, स्वप्न व्यय है और परमात्मा अव्यय है। ब्रह्मा व्यय है, विष्णु व्यय है, शिव व्यय है और असली परमात्मा बिलकुल अव्यय है। जो अपने स्वरूपसे कभी क्षीण नहीं होता, व्ययको प्राप्त नहीं होता, खर्च नहीं होता सो अव्यय।

आप जानते ही हो, आय-व्यय तो आजकल खूब ढंगसे चलता है। आय माने आमदनी—आय माने अपनी ओर आना और व्यय माने विपरीत दिशामें जाना। तो परमात्माकी यह विशेषता है कि उसमें संसारकी होती है सृष्टि फिर भी परमात्मामें कुछ भी व्यय नहीं होता। जब किसी चीजसे कोई दूसरी चीज बन जाती है तो वह खर्च हो जाती है न! तो सृष्टि बननेसे परमात्मा खर्च नहीं होता है। जब किसीका पालन-पोषण करना पड़ता है तब अपनी पूँजी खर्च होती है, तो संसारका पालन-पोषण करता हुआ भी परमात्मा खर्च नहीं होता; और बच्चे पैदा करता हुआ भी परमात्मा खर्च नहीं होता। बोले—अच्छा, जब सृष्टि टूट जाये, फूट जाये, मर जाये तो? कि तब भी परमात्माका व्यय नहीं होता, खर्च नहीं होता। तो प्रपंचकी सृष्टि-स्थिति-संहार होते हुए भी परमात्मामें व्यय नहीं है।

सोनेमें बहुत गहने बन गये, लेकिन सोना घटा नहीं। बहुत लोगोंको पूरा करना पड़ा उसका टूटा-फूटा हिस्सा लेकिन सोना घटा नहीं। बहुतसे गहने तोड़े गये लेकिन सोना घटा नहीं। तो जैसे जेवरमें स्वर्ण अव्यय है। वैसे सृष्टिमें ब्रह्म अव्यय है।

बोले—नहीं भाई, जब बहुत काम करोगे, बहुत तोड़ोगे-फोड़ोगे, बहुत गलाओगे, बहुत उड़ाओगे और बहुत गतिशील करोगे, तो कुछ-न-कुछ वजनमें फर्क पड़ेगा। बोले—ठीक है (तब ऐसे समझ लो जैसे) सूर्यकी किरणोंमें जल पैदा होनेसे किरणोंका वजन नहीं घटता और उसमें जल रहनेसे वजन बढ़ता नहीं और जल मिट जानेसे वह घटता नहीं; रस्सीमें जैसे साँप बननेसे रस्सी खर्च नहीं होती और रहनेसे रस्सी बढ़ती नहीं, और साँप मिट जानेसे बिगड़ती नहीं; इसी प्रकार परमात्मामें ये जो त्रिगुणमय भाव हैं, इनके बननेसे, रहनेसे, बिगड़नेसे, इतना ऊधम मचानेसे, इतना उपद्रव करनेसे, वह जो परमात्मा है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

तो सृष्टि-स्थिति-संहारसे परमात्मामें कोई व्यय नहीं होता। सबका धन व्यय होता है, शरीर व्यय होता है, मन व्यय होता है, बुद्धि व्यय होती है, जीवन व्यय होता है, पर परमात्मा अव्यय है—बिना खर्च है। ऐसा जो मैं हूँ—**एभ्य परम् अव्ययं माम् न अभिजानाति।** केवल मैं ही हूँ। ऐसा अव्यय—**भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—अन्य नहीं है, मैं हूँ।** मुझमें ही जगत् बनता है,

मुझमें ही गुण बनते हैं, मुझमें ही जीव बनते हैं, रहते है, सोते हैं, जागते हैं, खाते हैं, खेलते हैं, लेकिन मैं उनसे परे हूँ। और उनके बननेसे मेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं, परन्तु वह तो मेरी ओर देख ही नहीं रहा है। यह तो गुणोंकी मायामें लगा है। यह तो महाराज किसी और की ओर देख रहा है, किसी दूसरेको देख रहा है, उसमें सम्मोहित हो गया है। खान-पान, कपड़ा, इज्जत, कुर्सी, शरीर, भोग-संग्रह किसको देख रहा है? ईश्वरकी ओर नहीं देख रहा है, भगवान् कहते हैं मेरी ओर नहीं देख रहा है। **मां ना अभिजानाति।**

यह 'अभिजानाति' शब्दको 'जानाति'से भी विलक्षण कर गीतामें प्रयोग करते हैं। शाण्डिल्य दर्शनमें 'अभिज्ञानात्' सूत्र ही है। केवल ज्ञान शब्दका प्रयोग नहीं है अभिज्ञान शब्दका प्रयोग है। अभिज्ञान क्या होता है? जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' है संस्कृतमें। तो—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ १८.५४
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। १८.५५

वहाँ भी 'अभिजानाति' है और यहाँ भी **मोहितं नाभिजानाति।** अभिजानातिका अर्थ होता है पहचानना। जानना और पहचानना—हिन्दीमें दो अर्थमें इनका प्रयोग होता है। पहचान गये बोलते हैं, तुम हमको पहचानते हो कि नहीं पहचानते हो? चिह्नते हो कि नहीं चिह्नते हो? इसका मतलब क्या होता है? कि एक बार हम तुम मिले हैं भला, देखो उस ट्रेनमें जब यात्रा कर रहे थे, प्लेनमें जब यात्रा कर रहे थे, तो हम तुम दोनों एक ही साथ गये थे और घण्टों तक हम लोगोंने बड़े प्रेमके साथ बात की थी, तुमने हमको पहचाना कि नहीं पहचाना? तो पहचानेका सवाल तब पैदा होता है जब वस्तु सामने होती है। जानना तो उस वस्तुका भी होता है जो परोक्ष होती है भला! और पहचानना उसी वस्तुका होता है जो परोक्ष नहीं है बिलकुल अपने सामने है।

अब भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं कि अर्जुन देखो, अट्ठारह अक्षौहिणी सेना कौरव और पाण्डव—दोनोंके पक्षमें खड़ी है। एक ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेना है और एक ओर सात अक्षौहिणी सेना है; और इसमें द्रोणचार्य हैं, कृपाचार्य हैं, भीष्म हैं, कर्ण हैं, युधिष्ठिर हैं, बड़े-बड़े लोग इस

सेनामें हैं और मैं सबके सामने बैठा हूँ लेकिन कोई नहीं पहचानता है कि यही अव्यय है। जाग्रत्में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, सत्त्वमें, रजमें, तममें मैं ही अव्यय परमात्मा हूँ। साक्षात् अपरोक्ष होनेपर भी, अपना आपा होनेपर भी, आँखोंके सामने मौजूद होनेपर भी, नारायण कहो दृष्टि कहाँ है? बोले—दृष्टि दूसरोंपर लगी हुई है। जो परमात्मा जहाँ मौजूद है, उसको नहीं पहचानते हैं। बोले—गुणमयी मायामें फँस गये भाई! गुण देखने लगे, जादूके खेल तो देखने लगे, परन्तु जादूगरको नहीं पहचाना।

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन्।

लोग बगीचेमें गये, फूल देख लिया, फल देख लिया, पेड़ देख लिया, हरियाली देख ली, पर बगीचेके मालिकका तो पता ही नहीं है।

आराममस्य पश्यन्ति—लोग उसके बगीचेको देख रहे हैं, बगीचेके मालिकको नहीं देख रहे। बोले—वह कहीं छिपा हुआ होगा! बोले—छिपा नहीं है। है तो वही, बगीचेमें भरपूर है, लेकिन नजर जब अपनी फूलपर लगी, पत्तेपर लगी, फलपर लगी तनेपर लगी, हरियालीपर लगी, तो अब वह जो मालिक है वह दीखे कहाँसे? सबसे विलक्षण और सबसे पास, वही लगा हुआ डोलता है। लेकिन लोग गुणोंको देखने लग गये, परमात्माको, तत्त्वको, द्रव्यको, परमार्थसत्यको देखनेकी दृष्टि नहीं रही।

❖

१४. मायासे तरनेका उपाय—भगवच्छरणागति

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ ७.१४

अर्थ :—क्योंकि यह जो मेरी दैवी गुणमयी माया है वह तरनेमें अत्यन्त कठिन है। परन्तु जो मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं वे इस मायासे तर जाते हैं॥ १४॥

: १४.१ :

दुरत्यया माया और प्रपत्ति

श्रीकृष्णने अपने मित्र अर्जुनको बताया कि लोग गुणोंकी मायामें ऐसे फँस गये हैं कि भगवान् उन गुणोंसे परे हैं और अविनाशी हैं, अव्यय हैं, इस बातको वे जानते ही नहीं, भगवान्‌को पहचानते ही नहीं। गुणोंको पहचानते हैं, भगवान्‌को नहीं पहचानते हैं।

एक सज्जन थे, वे पहले एक महात्माके पास रहते थे। महात्मापर बड़ी श्रद्धा। फिर एक सेठने उनको थोड़े दिनोंके लिए माँग लिया कि इन सज्जनको हमारे पास भेज दो। अब वे सेठके पास जाकर जब रहने लगे। एक तो उसके पास पैसा, दूसरे आनन्द-सामग्री। अब धीरे-धीरे ऐसी गुण-दृष्टि हुई, कि वे विरक्त महात्मा बेचारे, जिनके पास मकान भी अच्छा नहीं, बिस्तर भी अच्छा नहीं, धीरे-धीरे यह कहने लगे कि जितने गुण इस सेठमें हैं, उतने गुण संसारके किसी दूसरे व्यक्तिमें नहीं। उस सेठको ही वे महापुरुष मानने लगे, विरक्त महात्मा छूट गया और सेठ महापुरुष होगया!

तो यह क्या बात है? बोले महात्मा लोग जो होते हैं वे तो संसारकी गुणमयी मायाको छुड़ाना चाहते हैं; और यह माया जो है, यह महाराज गुणोंमें ही फँसाना चाहती है। संसारमें देखो, गुलाबमें कैसा सुन्दर रूप है और कैसी

सुगन्ध है। भगवान्‌की बनायी हुई है। लेकिन तुम गुलाबके फूलसे प्रेम करना चाहते हो कि भगवान्‌से प्रेम करना चाहते हो? हम गुलाबकी निन्दा नहीं करते हैं। प्रश्न तो यह है कि गुलाबमें कोई सौन्दर्यकी कमी तो है नहीं, और सुगन्धकी कमी नहीं है और कोमलताकी कमी नहीं है। वह कोमल भी है, सुगन्ध भी है और सुन्दर भी है। ये तीनों गुण हैं—कोमलता स्पर्श गुण है, सुन्दरता रूप गुण है और उसमें जो सुवास है वह सुगन्ध गुण है। यह गुणमयी माया है। जो परमात्माको भूलकर उस गुलाबकी गुणमयी मायामें फँस गया, वह गुलाबको छोड़कर गुलाब बनानेवालेको नहीं देखेगा, कि वह कौन है! क्या गुलाब बुरा है? कि नहीं, गुलाब बुरा नहीं है, बहुत अच्छा है, पर गुलाबको बनानेवाला उससे भी बहुत अच्छा है। यह है—

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्। ७.१३

ऐसे ही संसारमें जितने देवी-देवता हैं ब्रह्मलोक-पर्यन्त, क्योंकि उपनिषदोंका तो ऐसा ख्याल है कि और जितने लोक हैं उन सबको अपनी-अपनी उपासनाके बलसे शिवलोक, वैकुण्ठ लोकादिके रूपमें ब्रह्मलोक ही दिखता है। उपनिषद्‌का सिद्धान्त ऐसा है। क्योंकि उपनिषद्‌में नित्य कैलाश अथवा नित्य वैकुण्ठका वर्णन मुख्य उपनिषदोंमें नहीं है। नहीं हैं तो मुख्य उपनिषदोंमें ब्रह्मलोकके नामसे जो चीज कही गयी है, उसीमें अपनी-अपनी भावनाको लेकर जब साधक जाते हैं, तब वह ब्रह्मलोक ही उन-उन लोकोंके रूपमें दिखायी पड़ता है—ऐसा औपनिषदोंका सिद्धान्त है। औपनिषदोंका माने अद्वैत वेदान्तियोंका। क्योंकि एकमात्र उपनिषदोंको ही परम प्रमाण सिद्ध करना यह अद्वैत वेदान्तियोंका ही काम है।

यह ऐसी माया है महाराज, कि देवी-देवताओंमें ब्रह्मलोक-पर्यन्त, हिरण्यगर्भतक और यदि सर्वोत्तम स्थितिकी चर्चा करें तो समाधि-पर्यन्त यह गुणमयी माया है। सत्त्वगुणकी माया ही समाधिके रूपमें प्रकट होती है और सत्त्व गुणकी माया ही ब्रह्मलोकके रूपमें प्रकट होती है। स्थितिके रूपमें कहो तो समाधि, लोकके रूपमें कहो, तो ब्रह्मलोक और गतिके रूपमें कहो, तो आलोकाकाश-गमन जहाँ हमेशा चलते ही रहो। शुद्ध चरित्र हो-कर और शुद्ध संकल्प होकर और सम्यक् समाधिसे सम्पन्न होकर सिद्ध शिलापर बैठ जाये और हमेशा ऊपर-ऊपर उठते जाओ; यह सत्त्व गुणमयी

माया है। बोले—नित्य होनेका, हमेशा आनन्द भोगेंगे। यह जो आनन्दके भोगमें नित्यताकी भ्रान्ति है, यह सब क्या है? बोले—गुणमयी माया है। बड़े धर्मात्मा होंगे, धरतीको दिव्य बना देंगे। कि धरतीको स्वर्ग बनावेंगे—यह क्या है? बोले—धरती तमोगुणी है, इसको हम स्वर्ग बनावेंगे माने सत्त्वगुणी बना देंगे। तो यह गुणमयी माया है।

अब यह जो गुणमयी माया है 'मोहितं'—इसी गुणमयी मायासे यह सारी सृष्टि मोहित हो रही है और **नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्**—इन तीनों गुणोंकी मोहक मायासे पृथक् जो मैं हूँ राबसे परे अविनाशी परम ब्रह्म, जो गुलाबके फूलमें तो है, लेकिन जब गुलाब निर्गन्ध हो जाता है, मुरझा जाता हैं, सूख जाता है तब क्या इसमें जो अव्यय परमात्मा है, वह भी मुरझा जाता है? वह भी सूख जाता है? नहीं, नहीं, उसमें रहनेवाला जो अव्यय परमात्मा है, वह न मुरझाता है, उसकी कमोलता नष्ट होकर कठोरता नहीं आती उसमें, वह कोमलतामें था और सूखनेपर गुलाबकी पंखुड़ी जो कठोर रहती है, उसमें भी है। वह सुगन्धमें भी था, निर्गन्धमें भी है, वह सुन्दर रूपमें भी था और वह बिना रूपमें भी है, ऐसा अव्यय है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

वह सब शरीरोंमें रहता है लेकिन स्वयं शरीरसे रहित है; और सब चीजोंकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं पर सब अवस्थाओंमें वह स्वयं टिका रहता है। शरीर बदलते रहते हैं और वह टिका रहता है। वह अल्प नहीं है, महान् है, विभु है और अपना आत्मा ही है। कोई धीर पुरुष उसको जान लेता है, वह संसारकी परिस्थितियोंमें चाहे कैसी भी आवे, शोक और मोहसे परे हो जाता है—

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

जिसको एकत्वका दर्शन हो गया, मरनेमें वही, जीनेमें वही, सुन्दरमें वही, कुरूपमें वही, उसके लिए शोक और मोहका कोई प्रसंग नहीं है।

अब यह प्रश्न हुआ कि ये जो त्रिगुण हैं—**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः**—यह जो गुणोंमें मोहनेकी शक्ति है कि जहाँ जाये वहीं लुभा जाये वह क्या है? आलसियोंमें रहने लगे, आलस्य ही प्यारा लगने लगे। वही मालूम पड़ता है कि

आ-हा-हा! क्या आलस्यमें मजा है। भोगियोंमें रहने लगे भोग ही प्यारा लगने लगे। भजन करनेवालोंमें रहो तो भजन ही प्यारा लगने लगे। समाधि लगानेवालोंमें रह जाओ तो तुरन्त प्राणायाम, आसनमें रुचि हो जायेगी। क्या गुणोंकी माया है कि मनुष्य जिस परिस्थितिमें रहने लगता है उसीमें उसको मजा आने लगता है, वह उसको छोड़ना नहीं चाहता, उसमें मोहित हो जाता है।

अब प्रश्न यह हुआ कि हे प्रभु! यह क्या माया है कि जहाँ लगाव हो जाता है वहीं लगन लग जाती है। देखते हैं यह—जो लोग विदेशमें जाते हैं, वे थोड़े दिन वहाँ रहकर आते हैं तो कहते हैं वहीं अच्छा है। बड़ी सुन्दरता है वहाँ, बड़ी स्वच्छता है वहाँ। व्यवहारमें बड़ी सरलता है, वहाँ—ऐसे बोलते हैं। कुछ-न-कुछ अच्छा देखकर आते हैं। और जो लोग हिमालयमें रहनेवाले मैला-मैला कपड़ा पहननेवाले और कभी न नहानेवाले, जिनके शरीरपर मैल जमी हुई है, ऐसे लोगोंमें रहने लगते हैं, कहते हैं इनमें भी क्या पूछना है, ये तो देवता हैं, क्योंकि छल नहीं, कपट नहीं, कितने सरल हैं कितने सीधे हैं! आदमी जहाँ रहने लग जाता है, वहीं धीरे-धीरे उसकी आदत पड़ जाती है, वहीं गुण दीखने लगता है। यह क्या महिमा है?

कोई संसारको छोड़ना नहीं चाहता। छोड़नेका जब कभी प्रसंग आता है तो ढूँढ़ना पड़ता है कि क्या छोड़ें? अभी देखो, यह सोना देनेकी बात कही थी न, अभी चल ही रही है कि युद्धमें सोना दो। जैसे मान लो एकके घरमें हार भी होवे, कंगन भी होवे, कुंडल भी होवे, तो वह दान करनेके लिए नाकवाली लौंग ले जायेगा जो रखी होगी, आजकल नहीं पहनी जाती है न! हम देनेवालेकी हँसी नहीं उड़ा रहे हैं, हम तो यह बता रहे हैं कि जो चीज अपने पास रहती है उसको छोड़नेका मन बिलकुल नहीं होता।

हमारे यहाँ बड़ा मजा आता है कभी-कभी लोग कपड़े दे जाते हैं, अपने यहाँ। कोई कटि वस्त्र दे गया, कोई चद्दर दे गया। तो वृन्दावनमें यह होता है कि अब इसको बाँटा जाये। तब यह होता है कि यह तो बहुत बढ़िया है, इसका उपयोग कर लेना चाहिए, लोगोंको नहीं मालूम पड़ता है। मेरे मनमें आती है कि जिसको देना है, उसको इतना बढ़िया कटिवस्त्र या चद्दर देंगे तो उसके शरीरपर फबेगा नहीं। तो जो मामूली-मामूली हो वह बाँट दो, जो अच्छे-अच्छे हैं—उनको रखलो। अब ये अच्छे-अच्छे हैं—यह क्या

हुआ? यह गुणमयी माया ही है। उनमें जो अच्छाईका आरोप है, यही गुणमयी माया है।

कभी तो ऐसा होता है कि कोई बढ़िया चीज आती है तो यह होता है कि खराब-खराब आज खा लो, बढ़िया कलके लिए रख दो। ऐसा हो जाता है। इसीका नाम गुणमयी माया है।

अब प्रश्न यह है कि इतना सामर्थ्य इस गुणमयी मायामें आया कहाँसे? तो भगवान् बताते हैं, कई कारण बताते हैं। इस मायामें यह मोहनेका सामर्थ्य, मोहनेकी शक्ति कहाँसे आयी? तो बोलते हैं कि **एषा दैवी, एषा गुणमयी, एषा मम, एषा माया, एषा दुरत्यया।**

यह जो गुणमयी माया है, पहली बात इसमें क्या है, कि 'एषा'। एषा माने आँखोंके सामने है, दीख रही है। अब दीखनेवाली चीजको छोड़कर लोग अनदेखीकी ओर कैसे चलें? 'एषा' माने 'दृश्यमाना'। 'हि' माने 'यत:'। एषा दृश्यमाना। कहाँ राम दिखते हैं? कहाँ कृष्ण दिखते हैं? कहाँ शिव दिखते हैं? कहाँ निराकार दिखता है? कहाँ ब्रह्म दिखता है? अब लोगोंका न्याय तो यह है—**उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितकल्पनायां माना-भावाः।** जो चीज बिलकुल सामने मिल रही उसको छोड़कर एक अनदेखे, एक अनमिलेपर विश्वास कर उसकी ओर दौड़ चले। यह गुणोंकी जो माया है इसमें एक बात तो यह है कि वह तत्काल है। अब मीठा भोजन करेंगे तो उसका स्वाद तो तत्काल ही आता है और गुड़मार बूटी खायेंगे तो उससे रोग न जाने कब दूर होगा! तो सामनेवाली चीज कैसे छोड़ी जाये! यह मायाका जो मोहक रूप है न, वह एक तो यह है कि यह सामने है, इसलिए आदमी इसमें फँस जाता है। लोग ईश्वरसे प्रेम नहीं करते हैं, सामने वालेसे प्रेम करने लग जाते हैं—**एषा।**

दूसरी बात क्या है? कि **गुणमयी**—इसमें गुण हैं। गुण हैं माने इन्द्रियोंके भोग मिलते हैं इसमें। गुण माने विषय। यह सुनते हैं कि यह गुण है, गुण है, तो गुण और विषय—इन दोनों शब्दोंका अर्थ मूलत: एक है। वह क्या? कि गुण माने रस्सी बाँधनेवाली और विषय माने भी रस्सी, सूतका धागा—**विषीयन्ते जनाः एभिः इति विषयाः।** जिससे जीव सीये जाते हैं। सीना तो आप जानते हैं, जैसे एक कपड़ा दूसरे कपड़ेसे सी देते हैं। जैसे चाम फटा

हो तो डॉक्टर लोग चामका एक हिस्सा दूसरे हिस्सेसे सी देते हैं। तो, **विषीयन्ते जनाः एभिः** ये जीव जो हैं वे जिनके पास सी दिये जायें, जो जीवोंको अपने साथ सी ले, उनका नाम है विषय। तो जीवको आँखके रास्ते निकालकर रूपसे सी दिया। नाकके रास्ते निकालकर गन्धमें सी दिया। जीभके रास्ते निकालकर स्वादमें सी दिया। ऐसे फँसते हैं। देखो कहीं रस्सी नहीं, कहीं सुई नहीं, कहीं धागा नहीं, कोई सीनेवाला नहीं, क्या जादूका खेल हुआ—***शून्य भित्तिपर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।*** ऐसी माया बनी महाराज, शब्दमें, स्पर्शमें, रूपमें, रसमें, गन्धमें सी दिये गये। इन्हींका नाम है गुण। गुण माने बाँधनेकी रस्सी। बोले—ये बड़े दयालु हैं, ये बड़े उदार हैं, ये बड़े दाता हैं। अब चलो, कर्मकार बनो—सेवा करो, फँसो। क्योंकि संसारमें जो जिससे फँसता है, वह उसीकी सेवा करता है।

तो **गुणमयी**—संसारमें फँसनेका एक कारण तो यह हुआ कि सामने दृश्यमान है और दूसरे यह है कि यह हमारी इन्द्रियोंको भोग देती है। यह माया कानमें मीठी आवाज बनकर, तारीफकी आवाज बनकरके कानमें घुसती है। बोले—वाह-वाह सुनते रहो भाई! कहाँ रहोगे? कि बस अब तो हम इन्हींके संग रहेंगे। क्यों? कि ये खूब तारीफ करते हैं, चलो-चलो। बोले—यहाँ तो बड़ा मुलायम स्पर्श मिलता है भाई, बस अब इनहींके संग रहेंगे। बड़ा सुन्दर रूप देखनेको मिलता है, बस अब इन्हींके संग रहेंगे। यही गुणमयी माया है। बढ़िया भोजन मिलता है, बढ़िया गन्ध सूँघनेको मिलती है—यह है गुणमयी माया जो इन्द्रियोंको भोग देती है।

तो इसी जीवनमें अभी मिल रही है और सब इन्द्रियोंको भोग देती है। और तीसरी बात क्या है मायामें? कि **दैवी।** दैवी माने क्या? कि देवतामयी। इस लोकसे लेकर परलोकतक सब जगह फैली हुई है, दिव्य है, विलक्षण है, अद्भुत है, चमकदार है, अनिर्वचनीय है भला! दैवी शब्दका अर्थ वेदान्तके नयसे तो है अनिर्वचनीय। दिव्य है। दूसरे यहाँसे लेकर ब्रह्मलोक तक फैली हुई है और तीसरे इसमें चमक ज्यादा है। नकली चीज जो होती है, बनावटी पालिश जिसपर की जाती है, उसमें चमक बहुत ज्यादा होती है। यह करोड़पतियोंके घरकी स्त्रियाँ जो होती हैं, वे नकली हीरेके आभूषण पहनकर निकलती हैं। लोग बिलकुल असली समझते हैं और होती हैं एक दम नकली।

हमारे दिल्लीकी एक बहूजी यहाँ आयी हुई थीं बम्बईमें। उन्होंने देखा एक हार किसीको पहने हुए, बड़ा चमकदार। अब तो उनका मन ललच गया। तो उन्होंने अपने पतिको कहा—हमको ऐसा हार चाहिए। अब उसने पता लगाया तो वह हार तो कोई पाँच सात सौ रुपयेमें बन जाता था। अब घरमें जो दस-बारह हजारका हार था असली, वह उनको पसन्द नहीं आया, वह नकली हार पसन्द आया।

यह जो मायाका खेल है यह नकली है और ईश्वर चीज है असली। जो नकली चीज होती है उसमें पालिश, उसका रंग, उसका रूप, उसमें लुभावनापना ज्यादा दिखता है। ईश्वर तो अपने ठोसपनेमें शान्त है, उसको किसीको लुभानेकी जरूरत नहीं है, किसीको खींचनेकी जरूरत नहीं है। कोई अजनबी आदमी आपके पास आकर बहुत चापलूसी करने लगे और बहुत तारीफ करने लगे, तो आप समझ जाना कि कहीं दालमें काला है। एकाएक कठोर आदमी जो है, वह जब नरम पड़ जाये तो समझना कि कुछ इसकी मनोवृत्तिमें फेरफार होगया है। यह दूसरा रूप है।

नकली चीज चमकती ज्यादा है। यह संसार चीजोंमें जो बड़ी महिमा मालूम पड़ती है, बड़े उपयोगी मालूम पड़ते हैं, यह नकली चमक है, असली नहीं है भला! तो 'दैवी' का अर्थ है अत्यन्त अद्भुत क्रीड़ामायी। है तो खिलाड़ी और विजिगीषा—हमको हराना चाहती है। और यह केवल व्यवहारकी चमक है, परमार्थमें चमक नहीं है। यह केवल दिखावटी बात है। यह केवल सपनेका खेल है। यह नशेमें ऐसा दिखता है संसारमें। इसलिए यह जो माया है—

माया महा ठगिनि हम जानी।

बड़ी भारी ठगिनी है यह—

ब्रह्माके घर ब्रह्माणी होय बैठी शिवके भवन भावनी।

यह ब्रह्माके घर ब्रह्माणी होकर बैठी है, रुद्रके घरमें रुद्रानी होकर बैठी है।

रमैयाकी दुलहिन लूटा बाजार।

इसने तो बाजार ही लूट लिया सारा-का-सारा। दैवी है। यह दैवी नहीं, ऐबी है भला! इसमें 'द' तो ऊपर-ऊपरसे=उसके ऐबको छिपानेके

लिए ही जुड़ा हुआ है। कई दाता होते हैं—बड़े दाता, वे अपने ऐबको छिपानेके लिए दान करते हैं। खूब दान करते हैं किसलिए कि अपने ऐबको छिपाते हैं। तो यह दैवी माया जो है, यह ऊपरसे जो चमकती है शृंगार करती है, बहुत बढ़िया दिखती है, यह काहेके लिए? कि लोगोंको मोहित करनेके लिए। **दैवी ह्येषा गुणमयी।**

फिर बाबा यह आयी कहाँसे? बोले कि है तो मेरी। भगवान् बोले कि **मम**—मेरी है दूसरेकी नहीं। जीवको मोहित करनेके लिए दूसरेकी माया काम नहीं कर सकती क्योंकि जीव भगवान्का है। तो भगवान्के जीवको, भगवान्की मायाको छोड़करके दूसरेकी माया फँसा नहीं सकती। बोले—**मम**, मेरी माया है।

हे भगवान्! तुमने यह माया काहे को फैलायी? तो भगवान् समझो कि देखते हैं कि सारे संसारके ये बहिर्मुख जीव हमारे पास कहीं भीड़ न कर दें। भगवान्का मन एकान्तमें जबतक रहनेका होता है, तबतक ये बाहर-बाहर माया फैला देते हैं। अच्छा बेटा, अब खेलो इनके साथ थोड़े दिनोंतक, तबतक हम जरा अपने किसी प्रेमीसे मिल लें। अपने प्रेमियोंसे एकान्तमें मिलनेके लिए भगवान् बाहर यह जादूका खेल रच देते हैं—तमाशा देखो, तमाशा। यह सृष्टि जो है, माने भगवान्के सिवाय दूसरा तो कहीं है नहीं, भगवान् ही भगवान् हैं। तो लोग उन्हींको देखें, उन्हींकी खायें, उन्हींकी पीयें उन्हींमें सोवें। तो भगवान्के लिए तो एक विक्षेप ही तो होगया न! बोले—भगवान् शान्तिसे कैसे रहें? शान्तिसे तो तब रहें जब एक ऐसा तमाशा फैला दिया कि लोग उस तमाशाको देखनेमें लग गये और भगवान् शान्तिमें। हमारे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज थे, उनके पास बहुत भीड़ आती थी, तो उनको एकान्त कम मिलता था कुछ। एकान्त ऐसे मिलता था कि रास होता था तो लोग उठकर रास देखने चले जाते थे। अब पाँच दस व्यक्ति उनके पास रह गये। उनसे बात कर ली, खाना-पीना भी हो गया, अब उनसे भी तो छूटना चाहिए न! तब जाकर रासमें आँख बन्द कर बैठ जाते थे। रास देखनेवाले तो रास देखनेमें लग गये और उनके बीचमें चुपचाप जाकर आँख बन्दकर बैठ गये तो वे जो तकलीफ देनेवाले लोग चारों ओर घेरे रहते थे, उनसे छुट्टी मिल गयी। तब यह रास लीला क्या हुई? बोले कि दैवी माया है। तो यह

सब लोग काममें लग गये, कथावार्ता होने लग गयी। अब सब लोग गये, अब तुम कथामें नहीं जाते हो चलो, चलो, चलो कथामें चलो। जो लोग इधर-उधर घेरकर बैठे हुए हैं पाँच-सात आदमी, सबको डाँटा, कथा हो रही है और तुम इधर बैठे हुए हो! सबको कथामें भेज दिया। अब थोड़ी शान्ति मिली। तो यह क्या है? कि यह जो संसार है, वह ईश्वरकी माया है। ये जो विमुख लोग हैं, बहिर्मुख लोग हैं, वे इसकी मायामें फँसे रहें और ईश्वर अपने एकान्तका आनन्द लेता रहे। आनन्द लेता रहे एकान्तका, इसलिए यह माया फैला रखी है। माया माने जादूका खेल। दूसरे किसीने नहीं रचा है। **मम**—भगवान्‌की है और माया माने जादूका खेल है। इन्द्रजाल इसको बोलते हैं।

हमलोग पहले इन्द्रजालकी पोथी बचपनमें पढ़ते थे। उसमें कैसे-कैसे तमाशे बनाये जाते हैं, कैसे-कैसे खेल खेले जाते हैं, लिखा रहता था। अब तो इन्द्रजाल नामकी पोथी मैंने बहुत दिनोंसे देखी ही नहीं, बचपनमें देखनेको मिलती थी। 'इन्द्रजाल' शब्द कहाँसे आया? **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**—इन्द्र मायाके द्वारा अनेक रूपोंमें देखा जाता है। लोग उसके अनेक रूपोंको पसन्द करते हैं, पर उसको पसन्द नहीं करते। उसीका तो सारा खेल, उसीकी तो सारी माया, उसीसे सब मिल रहा है। ईश्वर देता है तभी यह स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, जिनको तुम गुणी, सद्‌गुणी समझते हो, वह सब भी तुम्हें उसीसे मिलता है, लेकिन प्रीति उससे नहीं, उसके खिलवाड़से है, उसके खेलसे है, उसकी मायासे, उसकी रचनासे तुम्हारी प्रीति है। तो—

मम माया—माया शब्दका अर्थ मूलमें यह है कि **मीयते जगत् अनया**—भगवान्‌में जिस आरोपित शक्तिके द्वारा यह जगत् प्रमाणित होता है, माने दिखायी पड़ता है यद्यपि वस्तुतः परमात्मामें यह जगत् नहीं है, उसे माया कहते हैं। तब जगत् कहाँसे दिखायी पड़ रहा है? बोले—महाराज, यह हमारी आँख, हमारा कान, हमारी नाक, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा शरीर इसको अपने अन्दर धारण कर इसीसे यह माया देख रहे हैं। 'मीयते जगत् अनया'। अन्तःकरण और अन्तःकरणकी मूलभूता जो अविद्या है, यही माया है। अविद्याके सिवाय माया कुछ दूसरी चीज नहीं है। अगर अविद्यासे जुदा कोई माया है तो वह भी अविद्या-अधिरोपित ही है। माने परमात्माके

स्वरूपको न जाननेके कारण ही यह माया थोपी गयी है। यह परमात्माकी माया है।

स्वामी रामतीर्थ कहते थे कि माया माने 'मा'-'या'; मा माने नहीं और या माने जो; जो है नहीं पर मालूम पड़ती है, उसका नाम माया।

माम् याति (इति माया)—वह चमकपर जाती है वस्तुपर नहीं जाती। जैसे कोई सौदा खरीदने जाये और कपड़ेमें जो रंग है उसको देखकर लुभा जाये और यह न देखे कि धागा कैसा और बुनावट कैसी। तो जिसने धागा नहीं देखा और बुनावट नहीं देखी और डिजाइन देखकर जो मोहित होगया, वह काहेपर मोहित हुआ? बोले—मायापर मोहित हुआ, उसने असली तत्त्वको नहीं देखा। तो यही अनिर्वचनीय मायाका जो खेल है, उसीको उसने देखा।

बोले—अच्छा भाई मायाकी बात तो बहुत की, अब आओ उसको पार हो जायें। कि, **दुरत्यया**—इसको पार पाना कठिन है; दुरत्ययाका अर्थ यही होता है। माने 'किम् इति मोह्यति'।

तो यह बताया कि एक तो यह माया दृश्यमान है माने आसानीसे मिलती है; और दूसरे दैवी—यह बड़ी चमकदार है। तीसरे इसमें बड़ा अपना फायदा दिखता है, यह गुणमयी है इसलिए मोहित हो जाते हैं; और चौथे—यह मेरी है; और पाँचवें कि यह जादूका खेल है। देखो, लोग काम करनेके लिए जाते होते हैं बहुत जरूरी, लेकिन रास्तेमें कहीं जादूका खेल मिल जाये तो देखने लग जाते हैं और अपना जरूरी काम छूट जाता है। तो यह ईश्वरके रास्तेमें भी रुकावट डलिनेवाली है। कहो कि कोई जिद ही कर ले कि हम तो इसको पार कर ही छोड़ेंगे। तो बोले—अपने बल-पौरुषसे इसको पार करनेकी जो युक्ति है, वह बड़ी कठिन है—दुरत्यया। इसका नाश होना बड़ा कठिन है।

दुःखेन अत्यन्ताशक्या—दुष्टाः दुःखदाः अत्योः यत्याः—जिसका नाश बड़े दुःखसे किया जा सकता है। कोई चाहे कि हम इस मायाको मिटा दें, तो महाराज अनादि कालसे अबतक जो सत्कर्म किये हुए हैं, वे कभी जगें तो कुछ सम्भावना बने! ऐसा नहीं समझना कि किसीके सत्कर्म होते हैं, किसीके नहीं होते। जो मनुष्य होता है उसके आधे सत्कर्म और आधे दुष्कर्म

होते हैं। शास्त्रकी यह मर्यादा है कि ज्यादा दुष्कर्म हों तो आदमी असुर होगा या दुष्ट होगया, पशु होगा, पक्षी होगा, नरकमें जायेगा, और ज्यादा सत्कर्म होगा तो आदमी, देवता होगा। जब अनादि कालसे अबतक किये हुए सत्कर्म और दुष्कर्म सम कक्षामें आते हैं, तब मनुष्यका जन्म होता है, बराबरीपर। यह तो बहुत बढ़िया है। बोले—लेकिन अब तो हम देखते हैं कि आदमी जब पैदा हुआ तो सबको एक सरीखा होना चाहिए न! अरे ऐसा है कि जैसा संग मिलता है, जैसा रंग चढ़ता है, एक ओर आदमी झुक जाता है। जब एक ओर आदमी झुक जाता है तो जो पाप करेगा, उसके तो अनादिकालसे अबतकके लिए हुए जो दुष्कर्मके संस्कार हैं वे जाग जाते हैं और वह वासनापूर्तिके मार्गपर चलता है। वासनापूर्तिसे केवल यह नहीं समझना कि स्त्री-पुरुषके मिलनको ही वासनापूर्ति कहते हैं। लोग समझते हैं कि भाई वही वासनापूर्ति है। नहीं, संसारमें जो किसीको छूनेका मन होता है, यह वासना है भला! भोग केवल जननेन्द्रियसे नहीं होता, त्वचासे भी भोग होता है। छूनेका मन है, किसीसे बात करनेका मन है, आवाज सुननेका मन है, किसीको देखनेका मन है; यह सबके भीतर ब्रह्मचर्यको भंग करनेवाली जो वृत्ति है, वही काम करती है भला! देखनेमें क्या दोष है? बोलनेमें क्या दोष है? छूनेमें क्या दोष है? फिर होगा चूमनेमें क्या दोष है? फिर बोले—यह तो संसारका सब नियम ही है, ऐसा ही चलता रहता है। फिर मनुष्य धीरे-धीरे, अपने पापको अपने अपराधको, अपने दोषको समझना ही भूल जाता है। तो जैसा काम करने लगता है उसके वैसे संस्कार जाग जाते हैं। फिर अनादि कालसे अबतक किये हुए जो संस्कार हैं, वे संस्कार भी योग दे देते हैं उसमें। आदमीमें पहले चोरीके संस्कार और साहुकारीके संस्कार दोनों बराबरीपर थे। जब आदमीने पहले दिन चोरी की, किसी बच्चेको चोरी करते देखकर, किसी बड़े आदमीको चोरी करते देखकर जब उसने पहले दिन चोरी की, जब उसने पहले दिन झूठ बोला, तब वे जो झूठवाले और चोरीवाले संस्कार थे, भारी पड़ गये। उनका संग मिल गया। एक तराजूके दो पलड़ेपर समझ लो पाँच-पाँच सेर कोई वस्तु रखी हो और एक पलड़ेपर तोले भरकी या छटांक भरकी कोई चीज रख दी जाये, तो पलड़ा झुक जाता है! इसी प्रकार एक बारकी चोरी, एक बारका झूठ, एक बारकी बदमाशी

दुष्कर्मको बड़ा बना देती है। इसी प्रकार यदि आदमी सत्कर्म करे तो उसके सत्कर्मके संस्कार जागेंगे और जो दुष्कर्म करेगा उसके दुष्कर्मके संस्कार जागेंगे। तो मनुष्य-योनिमें आकर मनुष्यको सत्कर्मका संस्कार जागाना चाहिए, दुष्कर्मका नहीं।

अब सत्कर्मका संस्कार जगा, सत्संग मिला। इससे सत्-शास्त्रका संस्कार जगा, सद्गुरु मिल गये, ईश्वरकी ओर जानेकी इच्छा हुई। यदि सद्गुरुके बताये हुए रास्तेपर चले, भगवान्की कृपा उतरी तो इस मायाको पार करोगे। और नहीं तो कोई चाहे कि हम अपने बलसे इस मायाको पार करेंगे, तो नहीं, अपने बलपर इस मायाको पार नहीं करेंगे। 'माया मिली न राम'। यह अहंकारका जो बल है वह बहुत निर्बल है—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ १८.५९

अहिंसा-अहिंसा करनेसे काम नहीं चलता है, समयपर अहिंसा, समयपर हिंसा। जब यज्ञमें दीक्षित हुए तब अहिंसा ही व्रत है और जब चोर, डाकू, शत्रु आक्रामण करते हैं उस समय हिंसा ही साधन बनती है।

तो **दुरत्यया** का अर्थ क्या हुआ? कि इस मायाको पार करना बड़ा कठिन। जब अनादि कालसे अबतक किये हुए सत्कर्मके संस्कार जगते हैं, सत्पुरुषोंका संग मिलता है, ईश्वरकी कृपा उतरती है, सद्गुरु कृपा कर इससे पार जानेका मार्ग बताते हैं, तब मनुष्य इसके पार जा सकता है, नहीं तो **दुरत्यया!** दोष पहले मनमें तरंगकी तरह आता है, लेकिन जब वैसा संग मिल जाता है, तब वह समुद्रके समान हो जाता है—**तरंगायितातित मे संगात्समुद्रायन्ति।** तरंगको समुद्र बनानेवाली चीज कौनसी है? तरंगको समुद्र बनानेवाली चीज संग है। जैसा संग बनेगा वैसा तरंगका समुद्र बन जायेगा। तो इसके पार कैसे जायें? यह मायाको पार कैसे करें?

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

क्या सुगम उपाय बताया! माया तो फैला रखी है, जाल तो बहुत बड़ा है। यह मायाका जाल बिछा हुआ है संसारमें! स्त्रीके लिए पुरुष जाल रूप है और पुरुषके लिए स्त्री जालरूप है। यह आँख वालोंके लिए सोनाका आभूषण जालरूप है, नाकवालोंके लिए सुगन्ध जालरूप है,

त्वचावालोंके लिए स्पर्श जालरूप है। यह जो संसारमें स्रक्चन्दनवनितादि जन्य सुख है यह सब माया रूप है। **एषा दैवी गुणमयी दुरत्यया मम माया** को पार कौन जाते हैं? **एतां मायां ते तरन्ति ये मामेव प्रपद्यन्ते**—जो मेरी ही शरणमें आते हैं। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते'—भगवान्की प्रपत्ति। साधन प्रारम्भ ही वहाँसे होता है।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

—हे प्रभु, तुमने ही यह पुराना जाल बिछाया है। जाल तो बहुत पुराना है और तुमने ही यह बिछाया है। इसलिये बिछानेवालेकी ही शरण लेना है।

गोस्वामी तुलसीदसजीका एक पद्य है कि ये मछुआ लोग पानीमें जब जाल बिछा देते हैं तो मछली उस जालमें फँसती हैं। पर कौन मछली नहीं फँसती है? बोले कि जाल फैलानेवाले मछुएके पाँवके पास जो रहे वह मछली जालमें नहीं फँसेगी। क्योंकि जाल जो है वह दूर-दूरकी मछलियोंको फँसानेके लिए होता है, पाँवके नीचेवाली मछलीको फँसानेके लिए नहीं होता। तो जो भगवान्के चरणारविन्दकी शरण लेता है वही बचता है।

मामेव सर्वजगत् कारणं सर्वज्ञं सर्वशक्तिमन्तम्।

मैं ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परम दयालु हूँ। जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं। **मामेव श्यामसुन्दरं पीताम्बरं नन्दनन्दनं मुरलीमनोहरं ये प्रपद्यन्ते**—श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी यमुनापुलिन-बिहारी गोपाल श्रीदामादि सखाओंके साथ गोपियोंके हृदय-बल्लभ राधिका-रमण श्रीकृष्णकी शरण ग्रहण करता है—मामेव।

शरणमें दुविधा नहीं होनी चाहिए कि थोड़ी उनकी, थोड़ी उनकी, एव शब्द है न, 'एव' माने ही। जब आदमी दो बैद्यकी दवा करने लगता है, तो दोनों वैद्य उदासीन हो जाते हैं। एक बात उसमें हो जाती है, क्या? बोले—अब यह रोग अच्छा होगा तो इसको अच्छा करनेका श्रेय हमको नहीं मिलेगा। वैद्यके मनमें निराशा कहाँसे आती है? वह तो यह चाहता है, कि हम इनका रोग अच्छा करेंगे तो हमको बड़ी तारीफ मिलेगी, यश मिलेगा कि इन्होंने इनका रोग दूर कर दिया। अब दो-तीन-चार वैद्य जब आपसमें मिल

गये तो यह हुआ कि भाई अब यश हमको तो मिलनेवाला नहीं है, लोग कहेंगे न जाने किनकी दवासे इसका रोग दूर हुआ? शरणमें अनन्यताकी अपेक्षा होती है। तो **मामेव** का अर्थ है—'अनन्यं मां', दूसरेकी शरण नहीं, केवल मेरी शरण। तो **मामेव ये प्रपद्यन्ते**। आगे अनेक शरणकी निन्दा है

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः

बोले—यह काम इनसे बनेगा, यह काम इनसे बनेगा, यह काम इनसे बनेगा। रसोई बनानी हुई तो अग्नि देवताकी शरण ली, पानी पीना हुआ तो वरुण देवताकी शरण ली और काम करना हुआ तो इन्द्र देवताकी शरण ली। अब भगवान्को भी ऐसा ही एक देवता समझकर किसी एक कामके लिए भगवान्की शरण ली? बोले—नहीं, नहीं सब देवताओंमें भगवान् ही हैं न! एक भगवान्की शरण लो, तो उनसे सब काम बन जायेगा और भगवान्की शरण नहीं लोगे तो इस मायाके पार जाना सम्भव नहीं है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

जो मेरी शरण आते हैं, मेरी प्रपत्ति स्वीकार करते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं। 'तरन्ति' कहनेका अभिप्राय कि माया तो अपनी जगह बनी रहती है भाई और दूसरे लोग जो उसमें फँसे हुए हैं, वे फँसे रहते हैं और जो शरणमें आते हैं वे मायासे पार हो जाते हैं। यह नहीं समझना कि माया नष्ट हो जाती है, माया नष्ट नहीं होती। वह तो भगवान्ने जाल फैलाया हुआ ही है कि लोग कुछ धन भी कमाएँ, कुछ भोग भी भोगें, कुछ धर्म-कर्म भी करें, कुछ सम्बन्ध भी बनावें। लोगोंका यह सिनेमा देखकर, लोगोंका यह नाटक देखकर भगवान् भी मजा लें, यह तो माया फैलाई इसीलिए है—

क्रीडार्थमात्मनैवं प्रजगर कृतन्ते।

अपने खेलके लिए तो सारी सृष्टि बनायी ही है। उसमें यह मेरा, यह तेरा कर फँसनेवाले जो लोग हैं, वे कभी रोते हैं, जैसे बच्चा कभी झूठमूठ रोने लगता है। ऐसे बच्चेको रोते देखकर हँसी आती है कि क्या इतनी छोटी चीजके लिए रो रहा है! वैसे भगवान्को भी हँसी आजाती है कि क्या इतनी छोटी चीजके लिए रो रहा है। तो **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।**

: १४.२ :
'माम्' एवं 'प्रपत्ति'

दैवी ह्येषा गुणयी मम माया दुरत्यया।

भगवान्ने यह बताया कि मैं तो त्रिगुणमय भावोंसे परे अद्वय, अविनाशी हूँ और जो संसारी लोग हैं वे इन्हीं त्रिगुणमय भावोंसे मोहित होकर मुझे पहिचान नहीं पाते हैं और संसार-चक्रमें फँसनेका, पड़े रहनेका एक ही कारण है भगवान्को न पहचानना। भगवान्के पास पहुँचना, कहीं जाना नहीं है कि कहीं भगवान् रहते हैं, उनके पास पहुँचेंगे चल-चलकर, ऐसा नहीं है; वे तो यहीं हैं। और इन्तजार भी नहीं करनी है कि थोड़े दिनोंके बाद आवेंगे या अभी किसी काममें लगे हुए हैं, उनको मिलनेकी फुरसत नहीं है, ऐसा भी नहीं है। या जो ये घटियाँ हमको दिख रही हैं, इनका शोधन करते-करते विश्लेषण करते-करते जब सब घाटियोंको अलग कर देंगे, तब बाकी जो घाटी रहेगी सो ही भगवान् हैं और ये सब घाटियाँ भगवान् नहीं हैं—ऐसा भी नहीं है।

मैं पहले कई कारखाने देखने गया था। तो वे पहाड़में-से माटी खोदकर ले आते हैं, जिन घाटियोंमें वह धातु रहती हैं। तो फिर कारखानेमें उनको पीसा जाता है, फिर उनमें-से जो दूसरी मैल होती है, वह अलग की जाती है, तब बादमें वह शुद्ध धातु जैसे आलमोनियम है, जैसे सोना है, यह सब बचा रहता है। लेकिन ईश्वरके बारेमें ऐसी बात नहीं है कि इन घाटियोंके स्वरूपसे ही ईश्वर अलग हो और विश्लेषण कर इनको अलग डालना पड़े और ईश्वरको अलग करना पड़े। ऐसा भी कुछ नहीं है। इन्हीं नामोंमें, इन्हींमें ईश्वर है। केवल न पहचाननेके कारण ही ऐसा मालूम पड़ता है कि वह छिपा हुआ है! दरअसल छिपा हुआ नहीं है। कोई ऐसा व्यक्ति जिसको हम बहुत प्रेम करते हों और यहाँ आकर इन्हीं लोगोंमें बैठा हो और हम उसको

पहचानते न हों, इस समय उसपर हमारी दृष्टि न पड़ती हो, इतना ही कारण उसके न मिलनेका है, यह नहीं कि इन लोगोंमें वह नहीं है। वह तो हजार-हजार रूप धारण कर प्रकट हो रहा है। तो इसको, **नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।** मनुष्य जानता नहीं है, बस इतनी ही ईश्वरकी अप्राप्ति है।

अब प्रश्न हुआ कि फिर तो इतना हाजरा-हजूर ईश्वरके रहते हुए क्यों नहीं मिलता? हाजरा हजूर माने साक्षादपरोक्ष। स्वर्गके समान कोई दूसरे देशमें नहीं, समाधिके समान कोई प्रयत्न-साध्य नहीं, महाप्रलयके समय काल-विशेषमें आनेवाला नहीं, कोई बहुत-सी धातुमें मिले हुएको अलग-विलग करना नहीं। बस तिनकेके पीछे जैसे पहाड़ छिपा हो वैसे केवल हमारे अज्ञानके ओटमें परमेश्वर छिपा हुआ है। और फिर अबतक नहीं पाया तो फिर कब पायेंगे? बोले—पानेका उपाय भी बड़ा सरल है। अब देखो, दूसरा अर्थ सुनाते हैं, कलवाला अर्थ दूसरा था। अब उसका दूसरा भाव सुनाते हैं।

ईश्वरको पाना भी बड़ा आसान है। आसान माने अनायास। यह अनायास शब्द जो है, यह उच्चारणकी चक्कीमें पिसकर आसान हो गया है भला! अनायास माने जब शास्त्रकी पढ़ाई बन्द हो गयी, जब गुरुओंका मिलना बन्द हो गया, जब ब्राह्मणोंके द्वारा किया हुआ संस्कृतके शब्दोंका उच्चारण बहुत दिनों तक सुननेको नहीं मिला, तब धीरे-धीरे बिगड़कर वह आसान बन गया। मनुस्मृतिमें लिखा है ब्राह्मणोंका दर्शन न होनेसे लोग शूद्रप्राय हो गये। तब शुद्ध उच्चारण भी उनको प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए विदेशोंमें जाकर ये सब शब्द बिगड़ गये।

ईश्वरकी प्राप्ति बड़ी आसानीसे होती है। बोले—क्या आसानी है? यह मायाको जीतना तो बड़ा कठोर है। बोले कि चुटकी बजाते इस मायाको पार कर सकते हैं।

दैवी हि एषा—दैवी माने क्रीडामयी। **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**—सबके भीतर छिपा हुआ जो एक देवता है उस देवताकी लीला होनेके कारण, क्रीड़ा होनेके कारण, खेल होनेके कारण, खिलवाड़में ही बन्धन और खिलवाड़में ही मोक्ष। देखो न, भगवद्-दृष्टिसे क्या है? यशोदा मैय्याने जो बन्धन लगाया था रस्सीका उनके कमरमें, वह कोई बड़ा कठोर बन्धन नहीं

था। वह तो अगर श्यामसुन्दर एक बार कह देते, कि मैया मेरी कमर दु:ख रही है, यह तेरी बँधी हुई रस्सी गड़ रही है मेरी कमरमें, तो मैया तुरन्त छोड़ देती। वह तो लीलाका बन्धन है, खेलका बन्धन है—**दैवी हि एषा माया,** यह माया अगर किसी शैतानके द्वारा चलायी हुई होती तब तो इसमें-से छूटना मुश्किल था और यदि यह सचमुच बाँधनेके लिए ही होती तो भी इससे छूटना मुश्किल था। यह तो ईश्वरने अपनी चमक-दमकसे भरपूर अपनी लीला करनेके लिए, अपने खेलके रूपमें फैलायी है, इसलिए इस मायासे छूटना मुश्किल नहीं है, यह तो दैवी है। अपने देवताकी ही माया है। किसी परायेकी नहीं है भला! दुश्मनकी नहीं है दोस्तकी है दुश्मनकी माया हो तब तो आदमी उसमे फँसकर मर जाये और दोस्तकी माया हो तो उसमें फँसने-मरनेका कोई डर नहीं है। ईश्वर हमारा शत्रु नहीं है, हमारा मित्र है, हमारा हितैषी है, उसके इस खेलमें, इस लीलामें, इस नाटकमें कभी मरना भी पड़े, तो उसमें असली मरना नहीं होता। वह जो खून दिखायी पड़ता है नाटकमें, वह नकली होता है। वह जो गला कटता दिखता है नाटकमें, वह नकली होता है। तो वह जो ईश्वरकी माया है यह दैवी है माने क्रीडनात्मिका माया है। भगवान् खेल रहे हैं **क्रीडानात्मकमैवं त्रिजगत् कृतन्ते**—अपनी क्रीड़ाके लिए भगवान्ने यह माया, यह लीला, यह खेल फैलाई है।

अब दूसरी बात बताओ यह फैलायी क्यों? जब यह खिलवाड़ ही है तो इतनी बड़ी माया फैलायी क्यों? बोले—**गुणमयी**—गुणवती है। गुणवती है का क्या अभिप्राय है? इसमें भगवान्ने हमें दिल दिया, दिमाग दिया, आँख दी, कान दिये, हाथ दिये पाँव दिया। क्या गुण है इसमें? गुण यह है कि पाँवसे तीर्थयात्रा करो, हाथसे भगवान्के लिए सत्कर्म करो। कैसी लीला पूरी होती है! भगवान् जब देखते हैं कि यह अपने दोनों हाथसे हमारे लिए चन्दन घिस रहा है, तो भगवान् कहते हैं वाह-वाह! मैंने इसको हाथ देनेकी जो लीला की थी वह पूरी हो गयी। माया ही तो है यह। हाथ माया है, हाथ भगवान्की दी हुई लीला है, परन्तु उसी भगवान्के दिए हुए हाथसे जो हम चन्दन घिसते हैं, जब उसके मन्दिरके आँगनमें झाड़ू लगाते हैं, जब उसके लिये हम माला लेते हैं—'**मा लीयते यस्यां**=माया जिसमें लीन हो जाये उसका नाम माला—जब माला पहनानेके लिए चलते हैं या हाथमें लेकर

माला फेरते हैं, जब हम उसके लिए भोग तैयार करते हैं और आरोगते हैं, जब आरती उतारते हैं तब देखो, यह उसकी दी हुई माया कैसी गुणमयी सिद्ध हुई है। यह दोषमयी नहीं है, गुणमयी है। कैसे? इसमें ऐसे साधनके अवसर दिये हुए हैं। शास्त्र भी मायाके अन्तर्गत है, गुण है। आचार्य भी मायाके अन्तर्गत है, गुण है। भगवान्की सेवा-पूजा भी मायाके अन्तर्गत है, गुण है। यह तो छुड़ानेके लिए भगवान्ने गुणमयी लीला बनायी है। ऐसे-ऐसे गुण इसमें डालें हैं कि इनका ठीक कोई भगवान्के लिए उपयोग करे तो भगवान्से हर समय मिला रहे।

बोले—यह मायाका रूप छिपा दिया होगा? कि छिपाया हुआ नहीं—**एषा** यही सामने। देखो मन्दिरमें भगवान् बैठे, यह पीपलके रूपमें भगवान् सामने खड़े, यह स्त्रीके रूपमें, पुरुषके रूपमें, बच्चोंके रूपमें सबके रूपमें भगवान् प्रकट, इनमें तो पहचानो इनको, तब देखो क्या आनन्द आता है!

बोले—फिर भी तो यह मायाका फन्दा बड़ा कठिन है, यह तो **माययापहृतज्ञाना**—मनुष्यके ज्ञानको हर लेती है। भगवान्ने कहा कि देखो, जब हमको भूल जाओगे तब माया ज्ञानको हरेगी।

मम माया—यह याद रखो कि यह भगवान्की माया है। हर जगह यही कहो—तेरी लीला है प्रभु! दु:ख आवे तो कहो—तेरी लीला है प्रभु! सुख आवे तो कहो—तेरी लीला है प्रभु! मृत्यु आवे तो बोलो—तुम्हारी लीला है प्रभु! जीवन मिले तो कहो तुम्हारी लीला है प्रभु! 'मम माया'—इस मायाके स्वामी तुम जीव नहीं हो, इसका स्वामी मैं ईश्वर हूँ। मालिकको याद रखो, तो यह माया तुमको फँसावेगी नहीं।

बोले—यह तो माया बड़ी कठिन है महाराज! कि नहीं, **मम माया दुरत्यया=मम मायाऽदुरत्यया,** व्याकरणकी रीतिसे मममायादुरत्ययामें-से 'अ' निकल आता है। अदुरत्यया इसको पार करना बहुत मुश्किल नहीं है।

देखो, अजामिल पार हो गया इस मायासे। कैसे पार हुआ? क्या मायाको पार करना उसके लिए मुश्किल हुआ? कि मुश्किल नहीं हुआ। मरनेसे कुछ पहले और पुत्रके बहाने उसने नारायण नामका उच्चारण किया पार हो गया। गणिका तोतेको पढ़ाती थी, पार हो गयी। इसका अर्थ हुआ डरो मत! यह जो समझना है कि ज्ञान मिलना बड़ा मुश्किल है, भक्ति

मिलनी बड़ी मुश्किल है, भगवान्‌का मिलना बड़ा मुश्किल है, यह जो तुम्हारे मनमें असम्भावना बन गयी है कि भगवत्प्राप्ति बहुत कठिन है, इस असम्भावनाको, इस विपरीत भावनाको, अपने चित्तसे निकाल दो। भगवान्‌की प्राप्ति उन लोगोंके लिए कठिन है जो किसी दूसरेको पकड़कर बैठे हैं। जो भगवान्‌को पकड़कर बैठे हैं, उनके लिए संसारको पार करना कठिन नहीं है—'अदुरत्यया'।

अब देखो न, सामने भगवान् खड़े हों और कोई उनको भूत समझकर डर रहा हो और डरके मारे बेहोश हो जाये या भागे तो भगवान्‌को भूत समझना—यह तो गल्ती हुई न! वे तो कल्पवृक्ष हैं। चाहे उनसे कहो कि रोटी चाहिए तो रोटी दें। बोले—शर्बत चाहिए तो शर्बत दें। बोले—तालाब चाहिए कि तालाब लो! पानी चाहिए कि पानी लो! अरे यह कोई भूत तो नहीं दे रहा है? तो लो, यह भूत ही दे रहा है। कहीं यह हमारे ऊपर चढ़ तो नहीं बैठेगा? कि चढ़ बैठेगा। यह तो भावनाकी सृष्टि है, मानो तो भगवान् और मानो तो भूत। मान्यतासे ही यह सृष्टि भूत बन गयी है, नहीं तो यह सृष्टि दर असल भगवान् है। बेवकूफीके कारण, मान्यताके कारण यह सृष्टि भूतके रूपमें, दुःखके रूपमें, जड़के रूपमें, मृत्युके रूपमें मालूम पड़ती है। केवल मान लेनेके कारण। यह सृष्टि वास्तवमें परमानन्द है। तो **अदुरत्यया**, इसको पास करना कोई कठिन नहीं।

कोटिप्रयासो सुरबालकाः हरेरुपासने स्नेहं हृदि छिद्रवत् पटः।

ईश्वर अपने हृदयमें आकाशके समान सत्तारूपसे विराजमान है—हृदयमें, हृदयके छेदमें। तो कहते हैं हृदयमें, (आजकल जो दिल होता है, उसमें) चार छेद होते हैं। यह आपरेशन करते हैं, जब उसमें-से एकाध कोई नली बन्द हो जाती है, तो उसके पास ही आपरेशन कर उँगुली डालकर उस नलीको चालू कर देते हैं। उसमें-से फिर रक्तप्रवाह चालू हो जाता है। चार छेद उसमें होते हैं, एक पाँचवाँ छेद उसमें छिपा रहता है। यह तो मांस पिण्ड है, स्थूल शरीर; इसके भीतर सूक्ष्म शरीर होता है। तो यह स्थूल शरीरमें चार नली इसलिए हैं कि सूक्ष्म शरीरमें भी चार नली हैं। मन, बुद्धि-चित्त, अहंकार चार उसकी संज्ञा होती है। तो वे भी चार क्यों हैं? उसमें भी राम-भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न उसमें भी श्रीकृष्ण, बलराम-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध, उसमें

भी विश्व-तैजस-प्राज्ञ-तुरीय, उसमें भी चतुर्व्यूह बनकर परमात्मा उसमें प्रविष्ट है, इसलिए उसके चार भेद होगये। तो बाबा, भगवान्‌की उपासनामें क्या कठिनाई है, क्योंकि वह तो अपने हृदयमें ही आकाशके समान व्यापक हो कर बैठा हुआ है।

स्वस्यात्मनः कौन है? बोले—अपनी आत्मा है। **सख्यस्तु देहिनाम्**—सम्पूर्ण प्राणियोंका सखा है। सबका पुत्र है। सबका पति है। सबका आत्मा है। सबका स्वामी है। वह अपने हृदयमें ही पंचधा होकर (एक अत्यन्त अज्ञायमान छिद्र और चार ज्ञायमान छिद्र) इसी हृदयमें ही बैठा हुआ है। उसकी उपासनामें, उसकी प्राप्तिमें कोई कठिनता नहीं है।

कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा।
योग जप तप मख उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई।
मोर दास कहाइ नर आसा।
करहहि तो कहऊ काह बिस्वासा॥

भगवान्‌को पछतावा है तो बस इतना ही है—पछता रहे हैं भगवान्, रो रहे हैं भगवान्, भगवान्‌को रुलाई आती है, पछतावा आता है। क्या आता है? *'मोर दास कहाइ नर आसा, करइ तो कहहु काह बिस्वासा'*—मेरा सेवक होकर यह जीव मनुष्यकी आशा करता है, कि यह सेठ हमारा भला करेगा, यह राजा हमारा भला करेगा! फिर ईश्वरपर विश्वास कहाँ है! बस यह विश्वासकी ही तो कमी है।

तो विश्वासीके लिए इस मायारूपी समुद्रको पार करना कठिन नहीं है। विश्वासीके लिए त्रिगुणमयी इस चमक-दमकके पार जाना कठिन नहीं है। जो विश्वासहीन हैं, जिनको गुरुकी शरणागति नहीं है, जिनको नामका सहारा नहीं है, जिनके हृदयमें इष्टदेवके रूपका ध्यान नहीं है, वे जो गुरुहीन हैं, मन्त्रहीन हैं, इष्टहीन हैं, विश्वासहीन हैं,भक्तिहीन हैं, उनके लिए इस मायाको पार करना कठिन है। और जो जन्म-जन्मके पुण्य-परिपाकसे विश्वास-सम्पन्न हैं, मन्त्रवाले हैं, गुरुवाले हैं, इष्टदेव वाले हैं, विश्वासवाले हैं, उनको इस संसार-सागरसे पार जाना कोई कठिन नहीं है।

भगवान् बताते हैं—**हस्तग्राह्यमिव**—लो जैसे हाथसे पकड़लो। मैं तुम्हें पकड़वाता हूँ अपना हाथ! देखो, मैं इसी संसारमें यहीं रह रहा हूँ, एक बार हमारी प्रपत्ति तो हो जाने दो!

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

अब वही—**माम् एभ्यः परम् अव्ययम्।** पहले भगवान्‌ने कहा—**एभ्यः परम् अव्ययम् माम् न अभिजानाति।** तो **एभ्यः परम् अव्ययम् माम् ये प्रपद्यन्ते।** पहले श्लोकमें भगवान्‌को पहचाननेके लिए जो शब्द कहा गया है, उसको यहाँ 'माम्'का विशेषण करलो भला! **एभ्यः त्रिभिः गुणमयैः भावैः। एभ्यः परम्। त्रिभ्यः गुणमयेभ्यः भावेभ्यः परम्।** ये जो तीन हैं गुणमय भाव इनसे परे। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें एकरस रहनेवाला और इनसे विलक्षण, ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें एक रस रहनेवाला और उनसे विलक्षण, विश्व, तैजस, प्राज्ञमें एकरस रहनेवाला और इनसे विलक्षण—ऐसा जो परमात्माका अविनाशी तुरीयरूप है उसको भगवान् कहते हैं 'माम्'।

मामेव ये प्रपद्यन्ते अनुभवन्ति ऋतं वाचं प्रपद्ये।

प्रपद्यन्ते=अनुभव करते हैं। वे भी अनुभव करते हैं कि देखो, परमात्मा आत्मदेवके रूपमें बैठकर जाग्रत्‌में फँसता नहीं; उससे निकलकर स्वप्नमें चला जाता है और स्वप्नमें फँसता नहीं; उससे निकलकर सुषुप्तिमें चला जाता है और सुषुप्तिमें फँसता नहीं; उससे निकलकर फिर जाग्रत्‌में आ जाता है। ये जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तियाँ आती-जाती रहती हैं और वह एकरस है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश पैदा होते, मरते रहते हैं और वह एकरस है। सत्त्व-रज-तम आते-जाते रहते हैं, वह एक रस है। विश्व-तैजस-प्राज्ञ पैदा होते लीन होते रहते हैं, वह एकरस है। सृष्टि-स्थिति-प्रलय होता रहता है और वह एक रस है। ऐसे 'माम्'का जो अनुभव करते रहते हैं। अरे बादमें मायाके पार जायेंगे सो नहीं, वे तो इसी समय मायाके पार हो गये। मायाकी नदी जो बह रही है सत्त्व-रज-तम तीन गुणमय भावोंके रूपमें—**एभ्यः त्रिभ्यः गुणमयेभ्य भावेभ्यः परम् अव्ययं माम् प्रपद्यन्ते**—इनसे परे रहनेवाले मेरी शरणमें जो आते हैं, मेरे प्रपन्न होते हैं।

अब देखो, इसमें शब्दोंका जो घुमाव है, उसको देखो! **ये एव माम् प्रपद्यन्ते ते एताम् मायाम् तरन्ति**—लोग तो बहुत हैं, पर इनमें-से जो मेरी

शरणमें आता है—'ये एव माम् प्रपद्यन्ते'। बहुतसे लोग हैं पर सब शरणमें कहाँ आते हैं? 'एव' को 'ये' के साथ जोड़ो, जो-जो मेरी शरणमें आता है।

यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद्भवत।

यह श्रुति कहती है कि देवताओंमें जिस-जिसने परमेश्वरको जाना वही-वही परमेश्वर होगया, जिस-जिसने ब्रह्मको जाना, वही-वही ब्रह्म होगया। तो **ये एव मां प्रपद्यन्ते ते एतां मायाम् तरन्ति** अतः **ये न प्रपद्यन्ते ते एताम् मायाम् न तरन्ति।** जो हमारी शरणमें नहीं आते, हमारी प्रपत्ति नहीं करते, वे इस मायाके पार नहीं जाते। और ये माने जो भी कोई। शरणमें आनेके लिए अधिकारकी जरूरत नहीं है कि ब्राह्मण हो और शरणमें आवे, बाजपेय यज्ञ किये हुए हो तो शरणमें आवे—ऐसा नहीं। शरणागति केवल ब्राह्मणके लिए नहीं है। इसमें जातिका अधिकार नहीं है। इसमें यह नहीं है कि पुरुष आवे और स्त्री न आवे। जो कोई आवे, चाहे ब्राह्मण हो चाहे शूद्र और चाहे पुरुष, हो चाहे स्त्री, गीध भी होवे, पशु-पक्षी भी होवे, चाण्डाल भी होवे, शूकर-कूकर भी होवे, अगर वह भगवान्‌की शरणमें आ जाये, तो तर जाय। यहाँ केवल शरणागति मात्रकी शर्त है, उसकेऔर अधिकारकी शर्त नहीं है। तो जाति और लिंग; जातिसे मतलब मनुष्य, पशु, पक्ष्यादि और वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि और आश्रम ब्रह्मचारी-गृहस्थादि और लिंग स्त्री-पुरुष आदि और कर्म, बोले यह सत्कर्मी है, यह दुष्कर्मी है—यह भेद भी नहीं है। कोई भी हो सत्कर्मी हो, दुष्कर्मी हो—

कोटि विप्रवध लागहिं जाही।
आये सरन तजऊँ नहिं ताही॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं।
तिहिं न पाप पुंज समुहाहीं॥

तो कोई भी होवे, पापी होवे, पुण्यात्मा होवे, योगी होवे, भोगी होवे, इसकी विशेष शर्त नहीं है, ज्ञानी होवे, अज्ञानी होवे, सुखी होवे, दुःखी होवे, विक्षिप्त चित्त होवे, शान्त चित्त होवे, कोई भी पुरुष 'ये एव माम् प्रपद्यन्ते', चाहे कोई भी आवे भगवान्‌की शरणमें, दरवाजा खुला हुआ, उसके लिए अधिकारका भेद नहीं है। जैसे ज्ञानमें अधिकार-सम्पत्ति चाहिए कि जो साधन-चतुष्टय सम्पन्न है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।

पहले लोकोंकी परीक्षा करे, फिर वैराग्यको प्राप्त होवे, फिर '**शान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षु समाहितः, श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्**' ऐसे अधिकारकी जरूरत नहीं। सबके लिए यह मार्ग खुला है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ९.३०

सबके लिए भक्तिका दरवाजा खुला हुआ है। इसलिए **य एव माम् प्रपद्यन्ते** जो भी हो, जो भी मेरी शरणमें आजावे, चाहे कोई भी हो। दूसरी बात इसमें यह है कि **मामेव प्रपद्यन्ते। नान्यः।** केवल भगवान्की शरणमें जाये, दूसरेकी शरणमें नहीं।

मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

दूसरेकी शरणागति भगवान्के पास नहीं चल सकती। तो **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।** मेरी शरणमें आवे दूसरेकी शरणमें नहीं।

दो बात बतायी, एक तो 'माययापहृतज्ञाना'। और दूसरे 'कामैस्तैस्तैहृत-ज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः'।

भगवान्की शरणमें कौन नहीं आता? मायाने जिनका ज्ञान हर लिया है और कामनाने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है। जो विषयी पुरुष हैं संसारमें—'माययापहृतज्ञानाः'—दुनियाकी चकाचौंधमें जो रम गये हैं, वे भगवान्की शरणमें नहीं जायेंगे और दूसरे, 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः'—ऐसी-ऐसी कामनाएँ जिनके मनमें हैं स्त्रक्-चन्दन-वनितादिकी कि ये-ये भोग मिलेंगे, हमारी यह पसन्दगी, हमारी यह पसन्दगी, वे भगवान्की नहीं दूसरेके शरणमें जायेंगे। यह काम मीठा बनकर आया महाराज और भगवान्के सिवाय दूसरेको उसने पसन्द करवा लिया।

नारायण कहो, बस ये जो कामनाएँ हैं, इनसे ज्ञानका नाश होता है और 'अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते' दूसरे देवताकी शरणमें चले गये। तो '**कामैस्तैस्तैः**' और 'माययापहृतज्ञानाः'। दूसरेकी शरणमें जानेका कारण ही क्या हुआ? यह हुआ कि पता नहीं, ईश्वर हमारी इच्छा पूरी करे कि नहीं करे, आओ हम अपनी कामना अपने आप ही पूरी कर लें। अविश्वासके सिवाय उसका बीज और कोई है ही नहीं या संसारमें कोई ऐसी सुन्दर, ऐसी मधुर चीज दिखी,

जिसके बारेमें यह ख्याल हुआ कि पता नहीं ईश्वर सुन्दर, मधुर होवे कि न होवे! यह संसारकी वस्तु, यह माया बड़ी सुन्दरी बनकरके आ गयी। नारायण कहो माया और काम—आगे और हेतु बतानेवाले हैं—इसके कारण लोग ईश्वरकी शरण नहीं लेते हैं, नहीं तो **माम् एव प्रपद्यन्ते।**

और तीसरी बात इसमें क्या है?

ये माम् प्रपद्यन्ते एव—जो मेरी शरण लेते ही हैं। कोई भी होवे। केवल भगवान्की ही, शरण ही, ग्रहण करे। शरण ही ग्रहण करे, 'एव'का अर्थ यह है। माने 'एव'को तीन जगह कर दिया—'**ये**'के साथ '**माम्**'के साथ और '**प्रपद्यन्ते**'के साथ माने अपने बल पौरुषसे होनेवाले जो साधन हैं, उनका भरोसा नहीं करे। '**प्रपद्यन्ते एव**'का अर्थ है अपने बल-पौरुषसे सिद्ध होनेवाले जो उपाय हैं, उन उपायोंका आश्रय न लेकर केवल भगवान्का ही आश्रय लेवे।

नारायण कहो, कई लोग सोचते हैं हम इतनी माला फेंरेंगे, तो भगवान् हमारे काबूमें हो जायेंगे। अरे छोटे-मोटे लोगोंकी तो बात ही जाने दो। वे तो कहते हैं कितना रुपया खर्च करेंगे तो भगवान् मिल जायेंगे। कितना दान करेंगे और कितनी दक्षिणा देंगे और कितने ब्राह्मणोंका [illegible]ण करेंगे तो ईश्वर मिल जायेगा? माने वे पैसेकी कीमतपर ईश्वरको खरीदना चाहते हैं। कोई-कोई पैसेकी कीमतपर तो नहीं खरीदना चाहते हैं, वे अपने परिश्रमकी मजदूरीमें ईश्वरको प्राप्त करना चाहते हैं। कितने घंटे तक रोज और कितने दिन परिश्रम करें तब हमको ईश्वरका दर्शन हो जायेगा? ऐसे पूछते हैं कि यह अनुष्ठान महाराज, कितने दिनतक करें, कै महीनेतक करें और कितना रोज करें और किस-किस नियमका पालन करें तो उससे ईश्वर आकरके, हमको दर्शन देगा? ऐसे लोगोंको ईश्वरका दर्शन नहीं होता। श्रम जो होता है, परिश्रम जितना भी किया जाता है, उसकी तो एक मजदूरी बनती है, कि इतने घण्टे रोज इन्होंने हमारे पास यह परिश्रम किया है, लो अब इनकी मजदूरी इसको यह दे दें! अरे ईश्वर तो अपने-आपको देनेको राजी, ईश्वर तुम्हें खुद मिलनेको राजी, उससे तुम चाहते हो अपनी मजदूरी! नारायण कहो। तुम हीरेको न लेकर काँचको लेना चाहते हो! तो उपायके द्वारा जो उपेयकी प्रतिपत्ति होती है, वह उपाय-रूप जो श्रम होता है वह सीमित होता

है; इससे जो उससे फल मिलता है, वह भी सीमित होता है। इसलिए उपायका भरोसा न कर, केवल उपेयपर ही आश्रित होना चाहिए। हमारा उपाय भी वही और उपेय भी वही, साधन भी वही और साध्य भी वही। उसीका भरोसा है। वही कृपा कर, वही प्रेम कर हमको मिलेगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। १८.६६

सब धर्मोंको छोड़कर, धर्म माने उपायोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आजाओ। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने एक जगह कहा कि एक तो अपनी गल्तियोंकी ओर ही हरसमय मत देखते रहो, थोड़ा भगवान्‌की कृपालुताकी ओर देखो! कैसा 'आश्रित-वात्सल्य-जलधि'! अपने आश्रितोंके प्रति इतना वात्सल्य है, उस वात्सल्यका वह समुद्र है भला! आश्रित-जन-भोग्यता-पालक अपने आश्रित जनोंके भोगको भोग्य बनानेवाला, अपने सुखका साधन बनानेवाला है। वह साधन-सांध्य नहीं है, वह दुर्लभ नहीं है, वह तो हर समय 'अनालोकित विषयक अशेष-करुणा-जलधि; किसीके विषयका अनुसन्धान न कर अनालोकित विषयिता। ईश्वर कैसा है? बोले—अनालोकित-विषयिता। किसीकी विशेषताकी आलोचना नहीं करता कि इसके अन्दर यह विशेषता होवे तो इसको अपनी शरणमें लेवें। विशेषताकी आलोचना नहीं करता। अकारण करुण, बिना किसी वजहके करुणा करनेवाला, सबके ऊपर कृपाकी वर्षा करनेवाला, सबसे प्रेम करनेवाला, ऐसा जो प्रेमका, भावका, वात्सल्यका, स्नेहका महोदधि है अचिन्त्य, अनन्त कल्याण-गुणगण जिसमें निवास करते हैं, उस प्रभुको छोड़कर, उस प्रभुकी शरणागतिको छोड़कर कहाँ जाओगे—**प्रपद्यन्ते ते एव।**

मालाकी गिनतीकी कीमत मत दिखाओ उसको, अपने चार किशमिशका भोग मत दिखाओ उसको या सावा सौ मन चावलका भोग उसको मत दिखाओ। यह नहीं कि भगवान्‌को हम भोग लगाते हैं! अरे बाबा, भगवान्‌के दरबारमें तो सब भोग लगा हुआ है, सवासौ मन चावल क्या हुआ? उसके लिए वह बड़ी चीज नहीं। यह उसका मतलब नहीं कि उसकी कीमतपर हम ईश्वरको खरीद लेगे, अपना भाव प्रकट करनेके लिए, अपने स्नेहसे, अपनी भक्तिसे सब उसकी पूजा करते हैं, सेवा करते हैं, वह तो करनी चाहिए। लेकिन उसकी कीमत पर हम उसको खरीद लेंगे, यह

कल्पना नहीं। तो ऐसे महाराज **प्रपद्यन्ते ते एव** का अर्थ है, वही उपाय है। अपने मिलनेका उपाय भी वही करेगा वही करावेगा, वही बता देगा कहाँ मिलेगा, कैसे मिलेगा।

एक गोपी बहुत व्याकुल थी, श्यामसुन्दर कहाँ मिलें! वह नन्दबाबाके घर नहीं जा सकती थी कृष्णसे मिलनेके लिए और कृष्णको अपने घर नहीं बुला सकती थी मिलनेके लिए। और बड़ी व्याकुल, उसका हृदय छटपटाये मिलनेके लिए। कृष्ण एक बार निकले, वह पानी भरने जा रही थी, उसके पाससे निकले और इशारा कर दिया,' कदम्ब तरे आ जइयो।'

अब यह उपाय किसने किया? मिलनेका उपाय किसने बताया? बोले—मिलनेका उपाय स्वयं भगवान्‌ने बताया। उसमें जीवका बल, जीवका उपाय, जीवका पौरुष, जीवका ज्ञान बिलकुल नहीं चलता। उनके ऊपर छोड़ दो—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किंचिद् विजानामि तमेव शरणं मम।

अब हमारी बुद्धि कुण्ठित हो गयी और हमारी युक्तियाँ समाप्त हो गयीं।

मन क्रम वचन छांडि चतुराई।
भजतहिं कृपा करहिं रघुराई।

यह युक्ति, उक्ति, प्रयुक्ति, चतुराई भगवान्‌के दरबारमें नहीं चलती है।

कलकत्तेमें एक सी० आर० दास थे। तो जिन्दगी भर तो वे नास्तिक रहे, महाराज ईश्वरको मानते-वानते नहीं थे। लेकिन जब मरने लगे, तब उनके चित्तमें आस्तिकताका उदय हुआ, भक्तिका उदय हुआ। तो भगवान्‌की शरण गये। मरते समय उन्होंने जो बात कही है बंगलामें, उसका एकने हिन्दी अनुवाद किया है; उनका आखिरी वचन है वह, मरते समयका—

चतुराई चेतना सभी चूल्हेमें जावे।
बस मेरा मन एक ईश चरणा श्रय पावे।
आग लगे आचार विचारोंके उपचयमें।
उस विभुका विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदयमें।

चतुराई और यह होश-हवास ये सब चूल्हे में जावें, हमको तो केवल भगवान्‌के चरणोंका आश्रय चाहिए। तो **प्रपद्यन्ते।**

ज्ञानी जो होता है वह ज्ञानका कर्ता होता है। पुजारी जो होता है वह पूजाका कर्ता होता है। जपी जो होता है वह पूजाका कर्ता होता है। और शरणागति जो है उसमें कर्तापन अपनी ओर नहीं है। चलते-चलते गिर पड़े तो भगवान्ने दौड़कर उठाया और अपने हृदयसे लगा लिया। विमानपर चढ़कर ब्रह्मलोकमें जायें और ईश्वरसे मिलें, यह नहीं, अरे यहीं गिर पड़े और ईश्वर स्वयं आवे और वह हमको अपनी गोदमें उठावे। तो **मामेव ये प्रपद्यन्ते ते एतां मायां तरन्ति एव**। एव और जोड़ो। वे ही इस मायाके पार जाते हैं, दूसरा कोई इस मायाके पार नहीं जाता। और **तरन्ति एव**—तर जाते ही हैं।

मायाको पार कर जाना क्या है? जिस समय जादूका खेल प्रबल रूपसे हो रहा हो और उसमें कहीं दो पक्ष आपसमें खूब युद्ध कर रहे हों और यदि उसमें एकको न्याय और एकाको अन्याय समझकर, एकसे राग किया और दूसरेसे द्वेष किया और तुम भी एक पक्षमें शामिल होकर लड़ाई करने लग गये, तो क्या हुआ? यह जादूके खेलमें जो लड़ाई हो रही थी, उसको सच्ची समझकर तुम उसमें फँस गये। अब मायाका संतरण नहीं हुआ, तुम तो मायाकी नदीमें डूबने लग गये। राग-द्वेष हो जाना ही तो मायाकी नदीमें डूबना है। बोले—एकने जादूका ऐसा खेल रचा कि सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ आकर मंचपर जैसे अपना राग प्रकट कर रही हैं, प्रेम प्रकट कर रही हैं कि आओ हम तुमको वरण करते हैं। तो बोले कि इसको तर जाना क्या हुआ? जब यह जान गये कि यह जादूका खेल है, यह माया है, अगर इसमें फँस जायेंगे तो राग-द्वेषके अन्दर फँसेंगे, दुःखी होंगे, हाथ तो कुछ नहीं लगेगा, दुःख मिलेगा; और यह बात अगर ध्यानमें ठीक बैठ गयी कि अरे यह तो जादूका खेल है भाई, यह तो लीला है, नाटक है, इसमें फँसो मत; तो मायाका संतरण होगया, मायाके पार होगये। मायाके खेलको सच समझकर उसमें फँस जाना ही उसमें डूब जाना है और मायाके खेलको माया समझकर, केवल प्रातीतिक समझकर उसमें न फँसना, यही उससे पार हो जाना है।

तो मायामेतां तरन्ति ते—वे लोग इस मायासे पार हो जाते हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी महाराजने वैसे तो **माम्** पदका ब्रह्म अर्थ कर पहले

बड़ा गम्भीर अर्थ किया है। **प्रपत्ति** माने उपलब्धि, अनुभव; और **माम्** माने परमात्मा। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझ परमात्मा ब्रह्मकी उपलब्धि जिसको हो जाती है, माने तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होकर अविद्याकी निवृत्ति जिसको हो जाती है, वही इस मायाके पार जाता है; और जिसको तत्त्वज्ञान होकर अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती, वह इस मायाके पार नहीं जा सकता। तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो निरुपाधिक ब्रह्माकार साक्षात्कार-रूपा वृत्ति है, उस वृत्तिमें प्रतिफलित जो चैतन्य है—आरूढ़ जो चैतन्य है—वह अविद्याको निवृत्त करता है। तो उस अविद्याकी निवृत्ति किये बिना कोई इस मायाके पार तो जा सकता नहीं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि मेरी प्रतिपत्ति, मेरा अनुभव सम्पादन करो।

परन्तु फिर वे कहते हैं—**प्रपश्यन्तीति वक्तव्ये प्रपद्यन्त इत्युक्तेऽर्थे**—कहना तो चाहिए था कि जो मेरा दर्शन करते हैं, अनुभव करते हैं, वे इस मायाके पार जाते हैं। लेकिन फिर कहाँ गया '**प्रपद्यन्ते**'। तो इसका क्या अर्थ है? बोले—

मदेकः शरणः सन्तो मामेव भगवन्तम् वासुदेवम् ईदृशम् अनन्त-सौन्दर्य-सार-सर्वस्वम् अखिल-कलाकलाप-निलयम् अभिनव-पंकज-शोभाधिक-चरणकमलयुगलप्रभम् अनवरत-वेणुवादननिरत-वृन्दावनक्रीडाऽसक्तमान-सहेलोद्धृतगोवर्धनाख्यमहीधरं गोपालं, निषूदित-शिशुपालकं सादिदुष्टसंघम् अभिनव-जलदशोभा-सर्वस्वहरण-चरणम् परमानन्दघनमयमूर्तिम् अतिवैरिञ्चि-प्रपंचम् अनवरत अनुचिन्तयन्तो दिवसान् अतिवाहयन्ति ते मत्प्रेम महानन्दसमुद्र-मग्नमनस्तया समस्तमायागुणविकारैर्नाभिभूयन्ते।

दूसरा अर्थ इन्होंने यह बताया कि ऐसा जो मैं वासुदेव हूँ। ऐसा माने अर्जुन! तुम्हारे सामने बैठा हुआ—ऐसा। कैसा? कि **अनन्त-सौन्दर्यसार-सर्वस्व**—अनन्त सुन्दरताका जो सार है, वह सार—सर्वस्व मैं ही हूँ। **अखिलकलाकलापनिलयं**—संसारके जितनी कलाओंके समूह हैं, कलाप हैं, उनका मैं घर हूँ। **अभिनव-जलदशोभा-सर्वस्व-हरण-चरणम्**—अभिनव मेघमें, रसवर्षी मेघकी जो कान्ति होती है, उसकी कान्तिको हरण करनेवाला है चरण जिसका, परमानन्द घनमय मूर्ति, परमानन्दमयी जिसकी मूर्ति है और **अनवरत-वेणुवादननिरतं** अनवरत वेणु वादनमें लगे हुए **वृन्दावनक्रीडासक्त**

मानसः वृन्दावन क्रीड़ामें उनका मन हमेशा लगा हुआ है। **खेलोद्धृत-गोवर्धनस्य महीधरम्** खेल-खेलमें जिसने गोवर्द्धन पर्वतको उखाड़कर धारण कर लिया है, ऐसा जो गोपाल है उसकी जो शरण जाते हैं—**एवं भूतं गोपालं माम् ये प्रपद्यन्ते।**

इस मायाका गायके रूपमें भी वर्णन श्रुतियोमें प्राप्त होता है। दिग्विजयी केशव कश्मीरीकी जो टीका है इस गीतापर, उसमें ऐसी श्रुति उद्धृत की है जिसका अर्थ होता है गाय माने माया। जो अनेक सृष्टिके रूपोंको जन्म देनेवाली है, उसके पालक भगवान्, यह जो गोपाल भगवान् है, इनकी जो शरण ग्रहण कर लेता है, वह इस मायाके पार हो ही जाता है—**तरन्ति एव। त एत तरन्ति नान्यः। ये प्रपद्यन्ते त एव तरन्ति** और **तरन्ति एव**—वे तर ही जाते हैं। उनके लिए फिर इस मायामें फँसनेका कोई कारण नहीं है।

तो बड़ा सुगम है भगवान्की शरणमें जाना है—**जोग न जप तप मख उपवासा।** भगवान्की शरणमें होकर प्रपन्न होकरके, उनका होकर जो रहता है उसके ऊपर इस माया ठगिनीका, यह त्रिगुणमयी जो माया है, इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। असलमें उनके जीवनमें सारे साधन, सारे भजन, सत्संगका सारा प्रभाव अपने आप ही आ जाता है और वह इससे पार हो जाता है।

अब भगवान्की शरणमें कौन नहीं होते? कुछ ऐसे लोग भी होते हैं महाराज, जो भगवान्की शरण ग्रहण नहीं करते, उनकी भी चर्चा है। क्योंकि दोनों पक्ष जान लेनेसे अच्छा रहता है। तो अब यह प्रसंग फिर कलके लिए रखते हैं।

❖

१५. भगवान्की शरण कौन नहीं जाते?

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ ७.१५

अर्थ :—जो दुष्कृती हैं, मूढ हैं, मनुष्योंमें अधम आसुरभावका आश्रय लिये हुए है और जिनका ज्ञान मायाके द्वारा अपहरण कर लिया गया है, वे मेरी शरणमें नहीं ग्रहण करते॥ १५॥

: १५.१ :

चार प्रकारके दुष्कृती अभक्त

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। ७.१४

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि—जो कोई भी, स्त्री हो, पुरुष हो, पशु हो, पक्षी हो, पापी हो, पुण्यात्मा हो, सकाम हो, निष्काम हो, जो कोई भी **मामेव प्रपद्यन्ते,** केवल मेरी, दूसरेकी नहीं और केवल शरणागति, अपने पौरुषका बल नहीं, वे और केवल वे ही इस मायाको अवश्य-अवश्य पार कर जाते हैं। माने जादूका खेल उनके लिए जादूगरको ढकनेमें समर्थ नहीं होता है।

जादूको पार करनेका, मायाको पार करनेका अर्थ क्या है? माया माने जादू। यदि कोई जादूगर जादूका खेल दिखा रहा हो और उसमें झूठे-झूठे खेल दिख रहे हों तो दिखें चाहे कुछ भी, लेकिन सच्चा उसमें जादूगर है, वह जादूका खेल सच्चा नहीं है। तो जो जादूगर भगवान्की शरण ग्रहण कर लेता है, मायाके अधिष्ठान, मायाके प्रकाशक, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित जो परमात्माको अनुभव करता है, उसके लिए यह मायाका खेल, यह जादूका खेल प्रतीतिमात्र रह जाता है, वास्तविक नहीं रहता, यही उसका संतरण है।

यह मायाकी नदी बहती रहे, परन्तु इसमें फँसे नहीं। इसीलिए पहले महात्मा लोग कहा करते थे कि इस माया नदीमें उतरे तब, जब पक्का तैराक हो। इसको सच्ची समझकर कहीं इसमें फँस न जाये, तब तो इसमें उतरो और नहीं तो किनाराकश हो जाओ, इसमें उतरो ही मत। कच्चे लोग जो इस खेलमें उतरते हैं, वे इसको सच्ची समझकर इसीमें फँस जाते हैं। और जो सन्त लोग हैं वे पक्के तैराक होते हैं, वे इस मायाके रहस्यको जानते हैं, इसमें उतरते हुए भी, इसमें तैरते हुए भी, वे इसकी क्षुद्रताको, इसकी तुच्छताको जानते रहते हैं, चाहे जब इसको छोड़ सकते हैं। तो,

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। ७.१४

जो भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं, वे उस मायासे पार हो जाते हैं।

अब बताते हैं भगवान् कि कौन तो हमारी शरण ग्रहण करते हैं और कौन हमारी शरण ग्रहण नहीं करते। दो विभाग कर देते हैं। प्रश्न यह हुआ कि जब भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे ही इस मायारूप मृगमरीचिकाके समुद्रको पार कर सकते हैं, मृगतृष्णाके समुद्रके पार जा सकते हैं, तो सभी लोग भगवान्‌की शरण ले कर इसके पार क्यों नहीं हो जाते? तो बोले कि **दुष्कृतिनः मां न प्रपद्यन्ते। सुकृतिनः मां भजन्ते**—**न माम् दुष्कृतिनः मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।**—शरणमें हो जायें तो वे इस माया नदीके पार जरूर हो जायें। लेकिन वे शरण हो ही नहीं सकते। क्यों शरण नहीं होते हैं? तो चार प्रकारके लोग तो भगवान्‌का भजन करते हैं, यह आगे बतावेंगे—**आर्त्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च,** वे सुकृती हैं। सुकृती माने पुण्यात्मा हैं। और, चार प्रकारके लोग भगवान्‌का भजन नहीं करते वे दुष्कृती हैं। तो पहले दुष्कृतियोंकी चर्चा करते हैं। क्योंकि यदि कभी कड़वा और मीठा दोनों भोजन कभी आपके सामने परसा जाये तो पहले मीठा खाकर पीछे कड़वा मत खाना। पहले कड़वा खाकर पीछे मीठा खाना, तो मीठेकी डकार तो आती रहेगी बहुत देरतक। इसलिए '**मधुरेण समापयेत्**'—आखिरमें मीठी बात होनी चाहिए, आखिरमें मीठा ग्रास होना चाहिए।

पहले बचपनमें हमलोग जब तीर्थयात्राके लिए निकले तो हरद्वार, ऋषिकेशकी यात्रा कर लौटे; मैंने कहा चलो लखनऊ भी देख लें। हमारे साथ जो बड़े-बूढ़े थे, वे बोले कि नहीं, लखनऊ देखना था तो पहले

लखनऊ देखना था और बादमें हरद्वार, ऋषिकेश जाना था; इससे लखनऊका संस्कार दब जाता है और हरद्वार, ऋषिकेशका संस्कार बना रहता। अब पहले तो देख लिया हरद्वार, ऋषिकेश, और अब जाकर देखोगे लखनऊ तो दिलमें आखिरी संस्कार लखनऊका ही रह जायेगा। नहीं, पहले जो कड़वा है बुरा है, उसको दब जाने दो, और पीछे तो बस बढ़िया-ही-बढ़िया रहे। इसीसे कहते हैं कि अन्त भला सो सदा भला! अन्तमें भला होना चाहिए। आखिरी ग्रास मीठा होना चाहिए।

तो अब दुष्कृतिकी व्याख्या करते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

दुष्कृतिनः माम् न प्रपद्यन्ते—जो पापी हैं वे मेरी शरणमें नहीं आते हैं, मेरा भजन नहीं करते हैं। ऐसे भी कह सकते हैं कि '**ये मां न प्रपद्यन्ते ते दुष्कृतिनः**'—जो मेरी शरणमें नहीं आते हैं, वे पापी हैं। यह पापका चिह्न है, यह पापकी पहचान है। यह पापका साइनबोर्ड है। तो पापका साइनबोर्ड क्या है? यही कि भगवान्‌के भजनमें रुचि नहीं होती।

नारायण कहो, तो पापी कई तरहके होते हैं। एक तो ऐसा समझो कि पूर्व जन्ममें जिन्होंने पाप बहुत अधिक किये हैं वे सब दबे हुए थे। पाप सभीके रहते हैं—जन्म-जन्मोंके पाप रहते हैं और जन्म-जन्मोंके पुण्य भी रहते हैं। उनको जगानेका जो तरीका इस जीवनमें है उसको अगर ठीक-ठीक किया जाय तो वे जग जायँ। अगर तुम्हें पुराने जन्मोंके पापके संस्कारोंको जगाना हो, तो इस जन्ममें पाप करना शुरू कर दो। इस जन्ममें पाप शुरू कर दो तो पूर्व-पूर्व जन्मोंके सब पाप जाग जायेंगे। बोले—हमारे लिए तो यहाँ खूब जगह है भाई, आओ खेलें। और पूर्व जन्मके पुण्योंको जगाना हो, तो इस जन्ममें पुण्य करना शुरू कर दो, पूर्व जन्मके पुण्य जाग जायेंगे। इस जन्ममें जो दुःख मिलता है वह पापका फल है भला, और इस जन्ममें जो सुख मिलता है वह पुण्यका फल है। लेकिन अब हमको सुख-ही-सुख मिले इसका उपाय क्या है? इसका उपाय यही है कि इस जन्ममें पुण्य करो, तो पूर्व जन्मके कर्म जागकर तुमको सुख देंगे और इस जन्ममें पाप करो तो पूर्व जन्मके पाप जागकर तुमको दुःख देंगे। इसलिए पापी होना, यही भजन न करनेका कारण है।

यह पाप कई तरहका होता है। एक तो पूर्व जन्मके प्रारब्धसे जो संस्कार हैं और अब जग गये हैं और कभी-कभी तो पुण्यके संस्कार भी भजनमें बाधक होते हैं; वे कैसे होते हैं? कि भोग बहुत देते हैं। बहुत सारा सुख लाकर सामने रख देते हैं, तो आदमी सुखमें ऐसा फँस जाता है कि भगवान्का भजन छूट जाता है। तो पूर्व जन्मके पापसे भजनमें बाधा पड़ती है और पूर्व जन्मके पुण्योंसे भी भजनमें बाधा पड़ती है, यदि ज्यादा सुख वह उपस्थित कर दे तो! क्योंकि देखनेमें आता है कि जिन लोगोंकी स्रक्-चन्दनवनितादिमें बहुत रुचि होती है वे लोग भजन-प्रेमी नहीं होते हैं जो भोगप्रेमी होते हैं, वे भजनप्रेमी नहीं होते हैं।

अच्छा, तीसरा पाप है इसमें दुःसंग। जैसा संग मिलता है वैसा रंग चढ़ता है। अगर कुसंग मिल गया तो **संगेन योगी विनिश्यति**—पहले भजन भी करते होवें, परन्तु कुसंग मिल जाये तो भजन छूट जाता है।

चौथा कारण यह है कि कोई भगवान्का अपराध हो जाये। तो भगवान्का अपराध क्या होता है? जैसे कृष्णसे प्रेम किया और रामसे द्वेष कर लिया और रामसे प्रेम किया कृष्णसे द्वेष कर लिया। निराकारसे प्रेम किया साकारकी निन्दा करने लग गये। साकारसे प्रेम किया निराकारकी निन्दा करने लग गये। उसमें भगवान् तो निराकार भी हैं, साकार भी हैं, राम भी हैं, कृष्ण भी हैं, निर्गुण भी हैं सगुण भी हैं तो यह पक्ष जो आता है, यह भगवदापराध हो जाता है, क्योंकि भगवान्के ही एक रूपकी पूजा करना और दूसरे रूपका तिरस्कार करना, यह समझदारीका काम नहीं है।

सुनते हैं कि कोई गुरुजी थे। उनके दो चेले थे। दोनों पाँव दबाते। उन्होंने पाँव आपसमें बाँट लिए थे, दाहिना पाँव मोहनका और बायाँ पाँव सोहनका। अब एक दिन महाराज, आया सोहन तो देखा दाहिना पाँव जो है वह बायें पाँवपर चढ़ा हुआ है। उसने कहा—राम-राम-राम! यह दाहिना पाँव तो हमारा नहीं है, यह हमारे वाले पाँवपर क्यों चढ़ा है? उसने उठाकर नीचे कर दिया। एक बार नीचे कर दिया तो फिर गुरुजीने करवट बदली तो फिर नीचे हो गया। तो बोले—यह बार-बार ऊपर आता है तो आकर एक डंडा उसने पाँवपर मारा। बोला—हमारेवाले पाँवपर यह गुरुजीका दाहिना पाँव क्यों चढ़ता है!

यह क्या हुआ? इसी तरह भगवान्के सब रूप हैं, राम भी कृष्ण भी, शिव भी, विष्णु भी, सब भगवान्के ही रूप हैं। निराकार भी, साकार भी, निर्गुण भी सगुण भी। तो भगवदपराध कब होता है? जब भगवान्के दूसरे रूपका तिरस्कार करते हैं। एकसे प्रेम करो, पर दूसरेका तिरस्कार तो मत करो। तो जब दूसरोंका तिरस्कार करते हैं तो भगवदपराध हो जाता है, इससे भजन छूट जाता है। भगवान्के एक रूपका पक्ष नहीं। गुरुजीने कहा कि हमारे ही दोनों पाँव हैं, एकको हमारा नहीं समझता है तो एक पाँवकी सेवा भी इससे छीन लो। यह भजनमें विघ्न पड़ गया।

अच्छा पाँचवाँ अपराध इस सम्बन्धमें होता है भक्तापराध। भक्तापराध क्या होता है कि जैसे कोई हमारा भक्त है। अब हमारे ही पास आने-जानेवाले एक भगतसे जो द्वेष करने लग जाये तो यह होता है कि भाई यह तो अकारण ही आपसमें लड़ाई-झगड़ेका वातावरण बनाते हैं। ऐसा मनमें होता है, तो सेवा छूट जाती है। भक्तापराध होनेसे भी सेवा छूटती है, भगवदापराध होनेसे सेवा छूटती है और दुःसंगसे सेवा छूटती है, बहुत भोग मिलनेसे सेवा छूटती है और पापोंके संस्कारसे सेवा छूटती है। तो दुष्कृती लोग जो हैं, पापी लोग जो हैं, वे भगवान्का भजन नहीं कर सकते।

अब इन पापियोंके चार विभाग देखो जैसे भजन करनेवाले चार होते हैं। सुकृतीके चार विभाग हैं, **आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासुः, ज्ञानी।** ऐसे ही यह दुष्कृतियोंके भी चार विभाग हैं। तो यह दुष्कृतियोंका वर्णन क्यों करना? शास्त्रमें लिखा है कि पापियोंकी चर्चा आपसमें नहीं करना क्यों? कि बोले—**कथापि खलु पापानां अलम् अश्रेयसे यतः।** पापियोंकी चर्चा भी मनुष्यको नरकमें लेजानेके लिए काफी है। पाप करना काफी नहीं है, पाप करनेसे तो नरकमें जायेंगे ही जायेंगे, अगर पापकरनेवालोंकी चर्चा भी आपसमें बैठकर करते रहेंगे तो मन तो पापकार हो जायेगा, और मनको ही पवित्र बनाना है तो पापीकी चर्चा करनेसे मन पापमय हो जाता है। कुमारिल्लभट्टने लिखा कि जिस चीजको तुम दूसरेके मनमें नहीं चाहते हो, माने यह चाहते हो कि इस व्यक्तिके मनमें कामना न आती, यह व्यभिचार न करता तो कितना अच्छा होता। तुम यह सोचते हो कि इसके मनमें क्रोध न आता, यह हिंसा न करता, तो कितना अच्छा होता। यही सोचते हो न! परन्तु जब दूसरेके मनमें क्रोध और हिंसा, दूसरेके मनमें काम और व्यभिचार तुम नहीं चाहते तो

उसी कामी और व्यभिचारी, क्रोधी और हिंसकका चिन्तन कर अपने ही चितमें उसको क्यों बसाते हो? जिस दोषको तुम दूसरेके भीतर नहीं चाहते हो, उसी दोषका चिन्तन बारम्बार कर अपने दिलके भीतर उसको बसा लेना यह कोई बुद्धिमानीका काम तो नहीं है।

यह भी इसमें दोष है कि अगर पापियोंका चिन्तन ज्यादा किया जाये और पापोंका चिन्तन ज्यादा किया जाये तो,

दोषोह्यविद्यमानोऽपि सच्चित्तानां प्रकाशते।
न चात्रापि कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः॥

जब चिन्तन करने लगोगे कि यह दोष है, यह दोष है, तो जो दोष उसके भीतर नहीं होगा वह भी अपनेको मालूम पड़ेगा, कुछ ज्यादा बना लेंगे, कुछ नमक-मिर्च ज्यादा लगा लेंगे। यह मनका स्वभाव ही है कि वह तिलको ताड़ बना दे। तिलको ताड़ बनाकर दुःखी होना—यह मनका स्वभाव है। इसलिए अपनेको सच्चिन्तनमें लगाना चाहिए, ईश्वर-चिन्तनमें लगाना चाहिए, अपनेको दुष्टचिन्तनमें कभी नहीं लगाना चाहिए। यह सावधान पुरुषका काम है।

अब दुष्कृतीके चार भेद हैं—'मूढाः, नराधमाः, माययापहतज्ञानाः और आसुरं भावमाश्रिता'। **ऐते दुष्कृतिनः मां न प्रपद्यन्ते।** ये सब दुष्कृती हैं और ये मेरी शरणमें नहीं आते हैं। तो यह पहली बात है मूढाः। मूढ़ लोग जो हैं वे भगवान्‌की शरणमें नहीं आते हैं। ज्ञानी जो होता है वह तो भगवान्‌की शरणमें आता है। जो ज्ञानी होता है वह भगवान्‌का भजन करता है और जो मूढ़ होता है, वह भगवान्‌का भजन नहीं करता। मूढ़ और ज्ञानी दोनों बराबर-बराबर रख लो। ज्ञानी भगवान्‌का भजन करता है और मूढ़ भगवान्‌का भजन नहीं करता है।

तो मूढ़ किसको कहते हैं? मूढ़ कहते हैं मोहग्रस्तको। जो मोहसे ग्रस्त होवे उसे मूढ़ कहते हैं। और मोह क्या है? मोह है चित्तकी विपरीतता, (मुह् वैचित्त्ये) चित्तका विपरीत हो जाना। स्वयं प्रकाशको जड़ समझना, आनन्दको दुःख समझना, परिपूर्णको परिच्छिन्न समझना, आत्माको अन्य समझना, यही मोह है। भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं, जगमग-जगमग। इसीकी ज्योति आँखसे, कानसे, नाकसे, त्वाचासे, जीभसे, दिलसे, दिमागसे

जगमग-जगमग ज्योति—बैठकर देखो—इस शरीरमें भभक रही है इसीकी ज्योति। उसीकी ज्योतिसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, राग-द्वेष, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति सब ज्ञात हो रहे हैं। इस उपाधिको लेकर वही तरंगायमान है और निरुपाधिकरूपसे निस्तरंग है। वह एक ज्योति अखण्ड ज्योति देदीप्यमान हो रही है। स्वयं प्रकाश परमानन्दमयी अमृत ज्योतिको, स्वयं प्रकाश परमानन्दमय अद्वय अमृत ज्योतिको, यह समझना कि यह मरनेवाली है, जड़ है, यह दुःख है, यह क्या है? कि यह मूढ़ताका लक्षण है,

संसारमें कौन फँसा? बोले—यही मूढ़ माने भटका हुआ और अटका हुआ—दोनों। कैसे? कि दिङ्मूढ़ हो गया। किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। कहीं जा रहे थे। तो कौन पूर्व, कौन पश्चिम, कौन उत्तर, कौन दक्षिण, इसका पता नहीं चला तो क्या हुआ—दिङ्मूढ़ हो गया। यह जो दिङ्मूढ़ होना है, यह भटकना है भला! और **मूढो गर्भः** माँ के पेटमें गर्भ मूढ़ हो गया, अटक गया। तो मूढ़ शब्दका अर्थ होता है भटकनेवाला और अटकनेवाला। जो जीव इस संसारमें भटक गया है, यहाँ कुछ, यहाँ ज्ञान, यहाँ अमृत, यहाँ जायेंगे तो स्वाद मिलेगा, यहाँ जायेंगे तो सुख मिलेगा, यह भटका हुआ जीव है। क्यों भटका? बोले—ईश्वरको पहचानता नहीं। और अटका क्यों? बोले—दूसरेको दूसरा समझ लिया। दुःखको सुख समझ लिया, जड़को चेतन समझ लिया मरनेवालेको अमृत समझ लिया। यह मूढ़ता है। इस मूढ़ताके कारण ही मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करता है। यह मूढ़ता जो है यह ज्ञानके विपरीत है। जो ज्ञानी होता है सो तो भजन करता है। कैसा भजन करता है? यह प्रसंग दूसरा है।

अब बोले—**नराधमाः।** जो नराधम हैं वे भी भजन नहीं करते। यहाँ जब काम करते थे तो एक सज्जनने अपना नाम रखा—अधमजी। वे कविता करते थे। कवितामें अपना नाम उन्होंने 'अधम' रख लिया। तो कुछ खुपियाका भी काम करते थे। तो जब लोगोंको मालूम हुआ तो लोग उनको ऐसे ही पुकारें। कोई कहे—ओ अधमजी! तो दूसरा बोला—ओ अधमाधमजी। अब अधम हुए, अधमाधम हुए। तो असलमें जो ज्यादा धमाधम करे, तो वह निकृष्टताका ही लक्षण है। नराधम कौन है? देखो। भगवान्‌ने नराधमकी व्याख्या कर दी है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १६.१९

भगवान् भी उनके ऊपर नाराज हैं। वे कहते हैं हम बारम्बार उनको असुर योनिमें डालते हैं जो दूसरोंसे द्वेष करनेवाले हैं—द्विषतः। क्रूरान्—जो दूसरोंकी हिंसा करते हैं। भगवान् नीच योनियोंमें नरकादिमें किनको डालते हैं? जो दूसरोंसे द्वेष करते हैं। द्वेष माने जलन।

जो राग-द्वेष करते हैं वे नराधम हैं। मूढ़ तो हैं अज्ञानी। माने चार प्रकारके जो भक्त बताये हैं, उनमें ज्ञानीके विपरीत जो है संसारमें, मूढ़ हो रहा है वह ज्ञानी नहीं है। वह मूढ़ होनेके कारण भगवान्का भजन नहीं करता है। न भगवान्के निर्गुण स्वरूपको जानता है, न सगुण स्वरूपको जानता है। न भगवान्के ऐश्वर्यको जानता है, न माधुर्यको जानता है, मूढ़ है। उसको मालूम नहीं है कि भगवान्के हृदयमें अपने आश्रितके प्रति कितना वात्सल्य है, यह मूढ़ताका लक्षण है। कहीं जरूर मूढ़ हो गया। मूढ़ न होता तो भगवान्के इस सौशील्यको वह जरूर जानता। भगवान्की सुशीलता क्या है? भगवान्की सुशीलताके दो लक्षण हैं—एक तो आश्रयकार्य-निर्वाहकत्व और दूसरे आश्रयेण सौकर्यापादकत्व। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने ये दो विशेष गुण माने हैं भगवान्में। एक तो जो अपना आश्रित है उसके कामको बना देनेकी शक्ति, जो उसकी शरण लेगा, भगवान् उसका काम बना देंगे। संसारमें ईश्वरके सिवाय दूसरा और कोई नहीं है कि अपने आश्रितके सम्पूर्ण कार्यको सिद्ध कर सके। और दूसरी बात है 'आश्रयेण सौकर्या-पादकत्व'। जब कोई हाथ उठाता है कि हम प्रभुके पास पहुँचे तो भगवान् थोड़ा पास आ जाते हैं और भगवान् अपना दोनों हाथ बढ़ाके उसको अपनी गोदमें उठा लेते हैं। अपने पास आनेवालेके लिए अपना रास्ता सुगम कर देना बल्कि स्वयं उसके पास जाकर मिल लेना, इसका नाम है **आश्रयेण सौकर्यापादकत्व** और उसके कामको बना देना, यह है **आश्रितकार्य निर्वाहकत्व**। तो जो संसारमें मूढ़ हो रहे हैं, एक भावको पकड़ कर बैठ गये—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ १८.२२

यह तमोगुणीका लक्षण है कि एक चीजको पकड़कर ऐसा बैठ गया कि और बाकी सब चीजें छूट गयीं। मनुष्यकी वृत्ति जब खुली होती है तो उसको आगे, पीछे, दाहिने, बायें सब जगह सूझता है। वह अन्धा नहीं होता है, वह दृष्टिवाला होता है। मूढ़ पुरुष जो न निर्गुणको जाने, न सगुणको जाने, न भगवान्के अचिन्त्य अनन्त कल्याण गुण गणको जाने, न ऐश्वर्यको जाने, न माधुर्यको जाने, न उनके प्रभावको जाने, न प्रतापको जाने, न तत्त्वको जाने, न रहस्यको जाने, ऐसा जो मूढ़ पुरुष है वह अपने अज्ञानके कारण भगवान्का भजन नहीं करता। मूढ़ता ही उसका हेतु है कि वह भगवान्का भजन नहीं कर रहा है, वह कहीं संसारमें आसक्ति कर, मोह कर अटक गया है।

अब दूसरी बात बतायी, यह 'नराधम' जो है यह आर्त्तके विपरीत है। यह कैसे? सोचो तो मालूम पड़ेगा। मनुष्यके जीवनमें आर्ति आती है। आर्ति माने दुःख। दुःख तो सभीके जीवनमें आता है। ऐसा संसारमें कोई पैदा नहीं हुआ जो बिना दुःखके ही मरता हो। पैदा हुआ और मरा। पैदा होनेमें भी दुःख होता है, मरनेमें भी दुःख होता है, और पैदा होने और मरनेके बीचमें भी दुःख होता है। ऐसा कोई संसारमें प्राणी नहीं होता जिसको दुःख न होता हो। परन्तु दुःख होनेपर समझदार आदमी दूसरे ढंगसे काम करते हैं और नासमझ लोग जो नराधम होते हैं वे दूसरे ढंगसे काम करते हैं। नर दूसरे ढंगसे काम करता है और नराधम दूसरे ढंगसे काम करता है। नराधम कैसे काम करता है? जैसे समझो आर्ति आयी, तो द्रौपदी यह नहीं कहती है कि हे द्वारकावासी, आओ तुम दुःशासनको मार डालो। यह भी द्रौपदी नहीं करती है कि दाँत ही से काटे कि नोंच ले दुःशासनको; नोंचती नहीं है भला, दाँतसे नहीं काटती है। अपने पतियोंसे नहीं कहती है कि मार डालो। माने दुःशासनके प्रति द्रौपदीके चित्तमें द्वेषका उदय नहीं हुआ। दुःख तो आया परन्तु दुःखके कारण जो द्वेष होता है और द्वेषके कारण जो आत्मा परमात्माका विस्मरण हो जाता है, सो द्रौपदीको नहीं हुआ।

गजेन्द्रको ग्राहने पकड़ा। आर्ति आयी गजेन्द्रपर, परन्तु गजेन्द्रने भगवान्से यह नहीं कहा कि ग्राहको मारो। भगवान्से कहा कि हमको छुड़ा लो! तो फर्क हो गया न दोनों बातंमें; जबतक चित्तमें द्वेष होता है तबतक मनुष्य भगवान्का भक्त नहीं हो सकता। क्यों? कि द्वैष जो है वह आग है

और यह जिसके मनमें होता है उसको जलाता है। जिसके प्रति होता है उसको नहीं जलाता है। अब समझो एक आदमी यहाँ बैठा और वह हमसे द्वेष करता है। हमको मालूम ही नहीं है कि हमसे द्वेष करनेवाला कौन है, तो हमको क्या तकलीफ होगी? लेकिन जिसके मनमें द्वेष होगा, वह यहाँ बैठे-बैठे आपको कथा सुनते देखकर, हमको कथा कहते देखकर, हमारी आवाज सुन-सुनकर मनमें जलता होगा।

अच्छा, तो द्वेषका क्या स्वभाव हुआ? द्वेषका स्वभाव हुआ कि जिससे किया जाता है, उसका नुकसान नहीं करता। जो करता है उसके कलेजेमें आग लगती है, उसके दिलमें जलन होती है, उसीका घर जलता है जिसके चित्तमें द्वेष होता है। आप बच्चेको कभी डाँटते हैं, तो आपके चित्तमें जलन नहीं होती है और अगर जलन हो तो? एक माता थी, तो उसको अपने बच्चेके प्रति ऐसा क्रोध आता था कि उठाकर पटक देती थी, उसका दाँत टूट गया, उसका मुँह टूट गया, होंठ फट गये; लेकिन बार-बार फिर भी वह न माने। अन्तमें उस आगमें उसीको जलाना पड़ा। द्वेषकी आगमें, उसको बच्चेसे द्वेष हो गया। किसीको पतिसे द्वेष हो जाता है, भाईसे द्वेष हो जाता है, मित्रसे द्वेष हो जाता है, लेकिन द्वेष जब चित्तमें आता है, तब मनुष्य नर नहीं रहता, नराधम हो जाता है।

तो देखो, आर्ति जब आती है, माने अपने जीवनमें जब कोई दुःख आता है, व्यथा आती है, पीड़ा आती है तो एक तो वह आदमी है जो आर्तिके पेटमें भगवान्को भर लेता है। दुःख और भगवत्प्रेमका विरोध नहीं है, परन्तु द्वेष और भगवत्प्रेमका विरोध है। यह एक मानस ग्रन्थिका स्वभाव इसमें आप लेना कि जिस हृदयमें किसीके प्रति द्वेष होगा, वह तो जिससे द्वेष होगा, उसीकी याद आयेगी, उसीका चिन्तन होगा, उसीको मारो, उसीको गाड़ो, उसीको काटो, मन-ही-मन उसको गाली देते रहो वही तुम्हारे सामने रहेगा। लेकिन जब दुःख होगा, तो दुःखमें तो दुःखसे बचानेवाले की भी याद तो आती है, तो दुःखमें, दुःख पड़नेपर जो दुःखसे बचानेवाले भगवान्की याद करता है, कि प्रभु दौड़ो बचाओ, इस दुःखसे हमारी रक्षा करो! सामने आया दुःख और मन गया भगवान्के पास। नारायण, वह दुःख कहाँ रहेगा? जितनी देर भगवान्की याद है उतनी देर दुःख नहीं रहेगा

क्यों? बोले—यह अर्थसे ही बना है। यह शरीर जो है न यह मिट्टी, पानी, आग, हवासे बना है, इसीको अर्थ बोलते हैं, और अर्थना भी इनकी होती है। *'अर्थ्यते इति अर्थः'* जो चाहे जाते हैं वे अर्थ। क्या चाहते हैं? मिट्टीके बने जौ, गेहूँ चाहते हैं, पानीके बने शर्बत चाहते हैं और आगके बने सोना चाहते हैं, साँस लेनेके लिए हम हवा चाहते हैं, गर्मी चाहते हैं। कोई भी प्राणी जबतक प्राणीके रूपमें है उसे अर्थ चाहिए। और भगवान्‌में ऐसा डूब जाये कि इस शरीरका, इस जीवनका स्मरण ही नहीं रहे, तो नहीं चाहिए। ज्ञानी भी जबतक व्यवहारमें रहता है, चलता है, फिरता है तबतक महाराज भूखको टुकड़ा देना पड़ता है। तो अर्थार्थी होना तो कोई अपराध नहीं है। लेकिन महाराज अर्थार्थी होकर जो सारे अर्थोंका मालिक है उसके सामने उपस्थित होना यह दूसरी चीज है और अर्थार्थी होकर कामकी दवा करना, यह दूसरी चीज है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। ७.२०

कामस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः और **माययापहृतज्ञाना** (७.१५)—ज्ञानका अपहरण तो दोनों दशामें होता है। धन क्यों चाहते हैं? कि कामोपभोगके लिए। कि धन क्यों चाहते हैं? कि भगवान्‌के भजनके लिए। भगवान्‌के सेवा के लिए, भगवान्‌की सेवाके योग्य जो यह शरीर है, इससे सेवाका निर्वाह होता रहे। तो हम सेवाके निर्वाहके लिए धन चाहते हैं, भोगके लिए धन नहीं चाहते हैं।

अब देखो, धन चाहनेवाले बहुत भक्त हैं। सुग्रीव भी राज्य चाहते थे, अर्थार्थी भक्त हैं सुग्रीव। विभीषणके मनमें भी,

उर कछु प्रथम वासना रही।

अर्थार्थी भक्त हैं विभीषण भी। ध्रुवका नाम तो संसारमें सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है, अर्थार्थी भक्त थे। लेकिन जब इनके मनमें अर्थकी इच्छा हुई, सुग्रीवके मनमें अर्थ-इच्छा हुई तो हनुमानजीकी सलाहसे (हनुमानजीको गुरु बना लिया) भगवान् रामचन्द्रकी शरणमें हो गये। विभीषणके मनमें अर्थकी इच्छा थी उन्होंने हनुमानजी को गुरु बना लिया, भगवान्‌के शरणागत हो गये। ध्रुवजीके मनमें अर्थकी इच्छा थी तो उन्होंने नारदजीको गुरु बना लिया और भगवान्‌की शरणमें हो गये। तो अपनी इच्छा पूरी करनेके लिए भगवान्‌की शरणमें जाना, यह दूसरी चीज है। और अर्थकी प्राप्तिके लिए

कामकी शरणमें होना, यह दूसरी बात है। रामकी शरणमें न होकर कामकी शरणमें होना—हमको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए—यह क्या बात हुई? बोले—यह कामकी मायाने अर्थकी मायाने, चमक-दमकने उनके ज्ञानका अपहरण कर लिया और जो उनमें सौन्दर्य, माधुर्य, बुद्धि है कि यह बड़े मीठे हैं, यह बुद्धि भर दी; यह माया है। वे मीठे नहीं हैं लेकिन मीठे लगते हैं, मीठा जहर है। वह यह संसारका जो आकर्षण है यह मीठा नहीं। यह मीठा तो लगता है परन्तु परिणाममें वह विष है।

तदग्रेऽमृतोपमम् परिणामे विषमिव।

यह शुरू-शुरूमें मीठा लगता है, बादमें यह संसार विष है, परिणाम विरस है, आपातरमणीय है। इसलिए **माययापहृतज्ञानाः।** जो वास्तवमें अर्थ चाहते हैं वे तो भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं और मायाने जिनकी चेतना, जिनकी बुद्धि, जिनके ज्ञानका नाश कर दिया है, लोभवश होकर संसारमें इधर-उधर भटकते हैं, वे भजन नहीं कर सकते। उन्हें संसारकी सब चीजें चाहिए, लेकिन भजन नहीं चाहिए।

अब देखो, 'आसुरभावमाश्रिताः'। जिज्ञासु जो सच्चा होता है वह आसुरी सम्पत्तिसे बचता है। जो नराधम हैं उनको तो केवल द्वेषसे बचकर भजन करनेंकी जरूरत है और जो अर्थार्थी हैं उन्हें केवल भोगसे बचकर भोग करनेकी जरूरत है। लेकिन जो जिज्ञासु हैं उन्हें तो सम्पूर्ण आसुर भावसे मुक्त रहकर भजन करनेकी जरूरत है। तो जो आसुर भावमें स्थित हैं वे जिज्ञासु कभी नहीं हो सकते। इस प्रकार जिज्ञासुके विपरीत है आसुर भावमें स्थिति, अर्थार्थीके विपरीत है मायायापहृतज्ञाना, ज्ञानीके विपरीत है मूढा और आर्तके विपरीत है नराधम। तो,

आसुरं भावमाश्रिताः (७.१५)—यह आसुर भाव क्या है? बोले —

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ १६.४

आसुरं भावमाश्रिताः—बड़ा भारी घटाटोप दम्भ जैसे नहीं है वैसे अपनेको दिखाना, करना। अभिमान दर्प-क्रोध-पारुष्य और अज्ञान। जो आगे बढ़ना चाहता है, उसको दम्भ-दर्प, अभिमानसे बचाना चाहिए। शास्त्रमें इनकी औषधि भी बतायी हुई है। बड़ोंके साथ रहनेसे अभिमान घटना

चाहिए। उनके सामने जानेसे अभिमान घटता है। और यदि बड़ोंके पास रहनेपर भी अभिमान बढ़ता है तो वह बड़ेके पास नहीं रह रहा, अपनेसे छोटेके साथ रह रहा है। अपने गुरुओंके पास रहनेसे दम्भ घटता है। उनके सामने क्या बनावट करेंगे? तो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान—ये आसुरभावके आसुरी सम्पत्तिके लक्षण हैं। लोग दम्भी होते हैं वे लोग भजन नहीं कर सकते। जो दर्पी होते हैं, वे ईश्वर बन जाते हैं। हिरण्यकशिपु प्रह्लादको कहा करता था—**मदन्यो जगदीश्वरः?** मुझसे भिन्न जगदीश्वर कहाँ है, दिखाओ तो सही! मेरे सिवाय दूसरा जगदीश्वर कौन है?

इसीका नाम दर्प हुआ। ऐसे जो घमण्डी लोग हैं, जो हेकड़ी जतानेवाले लोग हैं, जो बनावट करनेवाले लोग हैं वे भजन नहीं करते। अब बनावट करनेवाला तो हर समय अपनी बनावटकी रक्षामें ही लगा रहता है। एक बनावटी ईश्वरको यह ख्याल रहता है कि ईश्वर जो बात कहता है वह कभी झूठी नहीं होती या ईश्वरकी आज्ञा कोई टाल नहीं सकता। तो जब कोई बात कहना हो तो बहुत सोचें, बहुत विचारें तब बोलें कि कहीं हमारी बात बोली हुई झूठी हो गयी तो लोग हमको ईश्वर नहीं मानेंगे। अब दिन भर वही चिन्ता उनको लगी, ईश्वरका भजन कैसे करेंगे? बोले—भाई, हम किसीको आज्ञा दे दें और वह न माने, तब लोग फिर हमको ईश्वर कैसे मानेंगे? कि तब? कि पहले उसको पुछवा लो कि वह हमारी बात मानेगा कि नहीं? माने, तब तो हम उससे कहें और न माने तो नहीं कहें। तो अब यह क्या हुआ? असली जो ईश्वर होता है, उसको इस बातकी कोई परवाह नहीं होती है कि हमारी बात कोई मानता है कि नहीं मानता है। और हमारी बात झूठी होती है कि सच होती है। उसके अन्दर तो सब होता ही जा रहा है। सब होता जा रहा है और सब देखता जा रहा है। उसीके सामने तो सब हो रहा है।

जो लोग दम्भ करते हैं उनको अपनी बनावट की चिन्तामें, बनावट बनाये रखनेके लिए ईश्वरका भजन छूट जाता है। जो अपने ज्यादा बड़प्पनमें आ जाते हैं, उनको अपने बड़प्पनकी रक्षाके लिए भजन छूट जाता है। जो किसीके मोहमें फँस जायेंगे, उनको अपने मोहकी रक्षाके लिए ईश्वरका भजन छूट जायेगा। यह दम्भ, मोह भजनको छुड़ाता है। द्वेष भजनको छुड़ाता

है। संसारकी वस्तुओंकी जो कामनाएँ हैं, वे भजनको छुड़ाती हैं। और यह दम्भ अभिमान आदि जो दुर्भाव हैं ये भजनको छुड़ाते हैं। बोले—ये दम्भादि आते क्यों हैं? बोले—ये पापके फल है—दुष्कृतिनः। इन चारोंके मूलमें पाँचवीं चीज जो है वह पाप है। तो यदि इन चारोंसे छूटकर भगवान्‌का भजन करना हो तो पुण्य करना चाहिए।

पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सतसंगति संसृति कर अन्ता।

पुण्यपुंज करनेसे सन्तकी प्राप्ति होती है और सत्संग मिले तो संसार छूटता है।

बिनु सत्संग न हरि कथा
तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद
होइ न दृढ़ अनुराग॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा॥
बिनु देखे रघुवीर पद जिय की जरनि न जाय॥

तो पुण्यात्मा होना। जो पुण्यात्मा होता है, जन्म-जन्मका पुण्यात्मा होता है, इस जन्ममें पुण्यात्मा होता है, वह सच्चा भजन कर लेता है; नहीं तो महाराज भजनसे विमुख हो जाते हैं। भजनसे विमुखता पापी होनेकी पहचान है।

❖

१६. भगवान्‌की शरण कौन जाते हैं?

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ ७.१६

अर्थ—हे भारतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! सुकृती जन मेरा भजन करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के हैं।

: १६.१ :

चार प्रकारके सुकृती भक्त

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते (७.१५)—जो दुष्कृती हैं वे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भगवान्‌का भजन नहीं करते। वे या तो कमजोर हुए तो संसारमें किसीकी शरण ग्रहण करते हैं, विषयों के प्रेमी हो जाते हैं और बहुत प्रबल हुए तो अपनी बुद्धिकी शरण, अहंकी शरण ग्रहण करते हैं। और जो सुकृती होते हैं वे भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं। यह '*कृति*' शब्द जो है यह एक तो होता है कर्मके अर्थमें। **कृति कृतया**—ऐसे इसका रूप चलता है। यह '*ति प्रत्ययान्त कृदन्त*' शब्द है। और एक '*इञ् प्रत्ययान्त तद्धित*' शब्द है कृती, दीर्घ ईकारसे होता है। तो **कृती, कृतीनौ, कृतीनीः** ऐसा उसका रूप चलता है।

तो **सुकृतं अस्ति एषाम् इति सुकृतिनः**— जिन्होंने पूर्व-पूर्व जन्ममें और इस जन्ममें सुकृत किया है, माने अच्छे काम किये हैं, धर्म किये हैं, पुण्य किये हैं, उनको कहते हैं सुकृती। क्योंकि अच्छे संस्कार, अच्छे कर्मके बिना नहीं पड़ते। कोई सोचे कि हम मनमें अच्छी-अच्छी बात सोचेंगे तो अच्छे संस्कार पड़ जायेंगे! तो केवल मनोराज्यसे संस्कारमें उत्तमता नहीं आती है। मनोराज्य तो निर्बल है। जब उसके साथ कोई क्रिया हो या कोई वस्तु हो, तब वह मनोराज्य ही प्रबल होकर संस्कार हो जाता है। मन-मनसे सोचो कि

किसीको पाँच रुपये दे दिये, तो पाँच रुपये देनेका पुण्य संस्कार अन्तःकरणपर पड़ना चाहिए न, लेकिन वह नहीं पड़ेगा। और पाँच रुपया दो और फिर ख्याल आवे कि एक गरीबकी मैंने भलाई की, तो पाँच रुपया देनेका संस्कार चित्तमें बैठेगा और वह अन्तःकरणको शुद्ध करेगा। तो पाँच रुपया भी चाहिए और देना भी चाहिए। पाँच रुपया द्रव्य है और देना क्रिया है और श्रद्धाके साथ दिया और पात्रको दिया और अच्छे स्थानपर दिया। गंगाजीका तट हो, संक्रान्तिका पर्व हो और उत्तम कोटिका सदाचारी ब्राह्मण हो और बड़ी श्रद्धासे पाँच रुपये देनेकी क्रिया की जाये, तो उससे चित्तमें जो संस्कार उत्पन्न होगा, वह अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला होगा। और दुकानमें कोई माँगनेवाला आ गया, कि चलो भाई इससे पिण्ड छुड़ाओ, पाँच रुपया उसके आगे फेंक दिया और बोले—जाओ, जाओ, जल्दी चले जाओ। तो न स्थान, न काल, न पात्र, न श्रद्धा, अब वे बेचारे पाँच रुपये और देने की वह क्रिया सुकृत उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है। कृतंसे जो संस्कार होता है वह साधारण होता है और सुकृतंसे जो संस्कार होता है वह असाधारण संस्कार होता है और चित्तको शुद्ध करनेवाला होता है और साधारण संस्कार चित्तको शुद्ध करनेवाला नहीं होता है।

द्रव्य-क्रिया-श्रद्धा-देश-काल-पात्र—सबकी सम्पत्तिसे '**धर्मः सम्पद्यते तद्भिः अधर्मस्य विपर्ययः**'। छह बातें जब होती हैं इकट्ठी तब धर्मकी उत्पत्ति होती है और उससे हृदय शुद्ध होता है। अब समझो कि गरीबको देना दूसरी चीज है, वह दयामूलक प्रवृत्ति है भला; और अन्तःकरण शुद्धिके लिए जो धर्ममूलक दान है, वह दूसरी चीज है। इसी तरह किसीके साथ गाय हाँक देना कि ले जाओ हमने इनाममें तुमको गाय दिया, वह दूसरी चीज है और गोदानके पर्वपर हाथमें पूँछ पकड़कर, संकल्प लेकर ब्राह्मणको गोदान करना, यह दूसरी चीज है; इससे धर्मकी उत्पत्ति होती है। बिना संस्कारके उसका आगे जो सुखरूप फल होनेवाला है, बिना अपूर्वकी उत्पत्ति हुए उस कर्मसे आगे जो सुख होनेवाला है, और जो जीवनभरमें धर्मरस की उत्पत्ति होनेवाली है, वह रसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए सुकृतिनः का अर्थ है कि द्रव्य-क्रिया-देश-काल-पात्र-श्रद्धा छहोंसे सम्पन्न होकर जब मनुष्य धर्मानुष्ठान करता है, तब वह सुकृती होता है। **सुकृतं अस्ति एषाम्।**

अब बोले—महाराज कैसे पहचानें कि यह सुकृती है? कि बाबा, जो सुकृती होते हैं नारायण कहो, स्वर्ग के पुरुषोंका चिह्न दूसरा होता है और नारकी पुरुषोंका चिह्न दूसरा होता है। कोई आदमी स्वर्गसे लौटकर आया है कि नरकसे—

मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च राजेन्द्र तथा च न भविष्यतः।

यह कहाँसे आया है, कोयले की खानमें-से कोई निकले तो क्या पता नहीं चलेगा कि यह कोयलेकी खानमें-से आया है? कोई रुईके गोदाममें-से निकले तो क्या पता नहीं चलेगा कि यह रुईके गोदाममेंसे आया है? और यह कहाँ जा रहा है, इसकी चाल-ढाल कैसी है, इसको देखकर ही पता चल जाता है कि भविष्यमें यह कहाँ जानेवाला है! और यह पुरुष जीवन्मुक्त हो जायेगा, ऐसा होनहार है, देखते ही लगता है। कि भाई, यह तो वासनाओंको मिटानेमें लगा है, यह वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेमें लगा है, यह हृदय शुद्ध कर रहा है, यह वस्तु-ज्ञान प्राप्त कर रहा है। अवश्य एक-न-एक दिन यह इसी जीवनमें जीवन मुक्त होकर रहेगा **तथा च न भविष्यतः।**

नारायण कहो! सुकृती पुरुषकी पहचान क्या है? सुकृती पुरुषकी पहिचान यह है कि **मां भजन्ते। सुकृतिनः मां भजन्ते।** जो पूर्व जन्मका और इस जन्मका पुण्यात्मा होता है, धर्मात्मा होता है, वह भगवान्‌का भजन जरूर करता है। भगवान्‌का भजन करना, भगवान्‌की शरण लेना, भगवान्‌का चिन्तन-ध्यान करना यही उसकी पहिचान है। क्योंकि—

पुण्यवतां राजन् विश्वासे नैव जायते।

भगवान्‌के नाममें, भगवान्‌के प्रसादमें और वैष्णवमें—ये जो अल्पपुण्यवाले हैं, उनका विश्वास नहीं होता है।

अब देखो, **भजन्ते** कह दिया। भजन ही पुण्यवान् पुरुषकी पहिचान है।

ये सुकृतिनः ते भजन्ते। ये भजन्ते ते सुकृतिनः।

जो भजन करते हैं वे सुकृती हैं और जो सुकृती हैं वे भजन करते हैं। पुण्यात्मा होना और भजन करना एक बात है।

अब यह बताते हैं भाई, कि भजन तो सब करते हैं, किसका भजन करते हैं? तो भगवान् बोले—**मां भजन्ते,** उसमें मुख्य बात है यह। क्योंकि

भजन किये बिना तो कोई रह नहीं सकता। यह जो अन्तःकरण बना हुआ है, यह बिना ज्ञानका नहीं रहता है, इसमें कोई-न-कोई ज्ञान रहता है भला! और ज्ञान नहीं तो अभावका ही ज्ञान रहता है भला! **न किंचिद् अवेदिषम्**—कुछ नहीं जाना—ऐसा ही ज्ञान रहता है। क्योंकि चित् है न इसके भीतर, और फिर आनन्दकी परछाईं भी हर समय इसके भीतर रहती है, बिना चित्‌के कोई जी नहीं सकता। तो चेतनकी परछाईं जो हृदयमें पड़ती है, उसका नाम बुद्धि हो जाता है। और आनन्दकी जो परछाईं पड़ती है, हृदयमें, अन्तःकरणमें, उसका नाम प्रीति हो जाता है। आनन्दप्रतिबिम्बसमन्विता जो वृत्ति है उसको प्रीति कहते हैं और चित्प्रतिबिम्बसमन्विता जो वृत्ति है उसको बुद्धि कहते हैं; और सत्प्रतिबिम्बसमन्विता जो वृत्ति है, उसको एकाग्रता कहते हैं। तो सभीके अन्तःकरणमें किंचित् एकाग्रता, किंचित् प्रीति और किंचित् बुद्धि रहती ही है। अन्तःकरण होवे, तब वह सच्चिदानन्द घन ब्रह्मका प्रतिबिम्ब ग्रहण करेगा और जब प्रतिबिम्ब ग्रहण करेगा तब उसमें एकाग्रता, बुद्धि और प्रीति—ये तीनों बात स्वभावसे होगी।

तो अब देखना है कि कौन अपनी एकाग्रता, बुद्धि और प्रीतिका कहाँ प्रयोग करता है! प्रयोग तो करना ही पड़ेगा।

इषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे।

बढ़ई-मिस्त्री बाण गढ़ रहा था और सामनेसे राजाकी सवारी निकल गयी, पता नहीं चला; तो देखो एकाग्रता है न उसकी। पर कहाँ है एकाग्रता? बाणके निर्माणमें। एकाग्रता है उसमें और कितना कला-कौशल उस बाणमें वह बनाता है, यह कितनी दूरी तक जाये, उसकी पूँछ कैसी बनाती है और चित्रकारी कैसे बनाता है, उसमें गाँसी कैसे बनाता है यह बुद्धि भी है उसमें और प्रीति भी उसकी लगी है। तो बाणके निर्माणमें प्रीति होना और निर्वाणस्वरूप भगवान्‌में प्रीति होना—ये दोनों दो चीज है भला! तो जिसकी प्रीति भगवान्‌में है और जिसकी प्रीति भगवान्‌के इतर पदार्थमें है, वह भगवान्‌से टरकर है—इतर पदार्थमें टलित हो गयी वृत्ति, विचलित हो गयी।

अब देखो, तीन प्रश्न भगवान्‌के सामने आते हैं, भगवान्‌के भजन करनेके सम्बन्धमें। तीन प्रश्न समझो रखे गये—

एक तो लोग कहते हैं कि भगवान् मोक्ष ही देंगे, कामना पूर्ति नहीं करेंगे। तो कामनावाले पुरुष भगवान्का भजन क्यों करें? पुण्यात्मा सकाम भी होते हैं और निष्काम भी होते हैं। तो केवल निष्काम पुण्यात्मा ही भगवान्का भजन करेंगे, सकाम पुण्यात्मा नहीं करेंगे? बोले—नहीं, सकाम पुणत्यात्माओंको भी भगवान्का ही भजन करना चाहिए।

दूसरा प्रश्न है कि भगवान्का ही भजन क्यों किया जाये? क्योंकि हमने तो सत्संगमें और वेदान्तमें और उपनिषदोंमें इधर-उधर सब जगह सुन लिया है कि सब ब्रह्म ही है तो चाहे किसीसे भी प्रेम करें! किसीसे भी प्रेम हम कर लेंगे, तो भी तर जायेंगे, एक पेड़से प्रेम कर लेंगे तो भी तर जायेंगे, लड़कीसे प्रेम करेंगे तो भी तर जायेंगे, क्योंकि सब भगवान् ही है न! तो सर्व ब्रह्मकी दृष्टिसे हम प्रेम करते हैं—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। तो खास कृष्णसे ही प्रेम करनेकी क्या जरूरत है!

और, तीसरा प्रश्न यह हो गया कि जब ज्ञान होगया, जब मुक्त होगया पुरुष, तब उसको भक्ति करनेकी क्या जरूरत है? क्यों भक्ति करेगा?

ये तीन प्रकारके समझो आक्षेप किये। भगवान् इन तीनों प्रकारके आक्षेपोंका समाधान करनेके लिए मानो **चतुर्विधा भजन्ते मां**—यह श्लोक बोल रहे हैं।

पहली बात तो यह हुई कि भगवान्को सकाम पुण्यात्मा भी भजते हैं। सकाम भी दो तरहके होते हैं—एक पापी सकाम और एक पुण्यात्मा सकाम। तो जो पापी सकाम होंगे वे तो अपनी कामनाकी पूर्तिके लिए राजाका भजन करेंगे, सेठका भजन करेंगे। जैसी कामना होगी, समझो, धनकी कामना होगी तो सेठका भजन करेंगे, भोगकी कामना होगी तो कामिनीका भजन करेंगे, वे तो पापी हैं। तो पापी जो है वह मुरली मनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर, आनन्दकन्द नन्दनन्दनके प्रति वह प्रीति नहीं करेगा, वह तो किसी-न-किसी दूसरी जगह आकृष्ट हो जायेगा। लेकिन जो पुण्यात्मा सकाम होगा वह अपनी कामनाकी पूर्तिके लिए भी संसारमें प्रीति नहीं करेगा, संसारमें बुद्धि नहीं लगावेगा, संसारमें एकाग्रता नहीं लगावेगा, उसकी एकाग्रता संसारमें नहीं है, भगवान्में है और वह एकाग्रता नासमझीसे नहीं है, समझदारीसे है। और केवल समझदारी और एकाग्रता नहीं है, प्रीति भी है।

अब समझो तीनों बात भगवान्में इकट्ठी कर दो। भगवान्में मन लगे, भगवान्का स्वरूप समझमें आवे और भगवान्से प्रेम होवे! ये तीनों बात तुम्हारे हृदयमें आजाये तो सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव इनका जो एकीकरण होगया, उसका नाम भक्तिभाव हो गया। यही **भजन्ते** हो गया। पर ये तीनों बात भगवान्में चाहिए।

तो भाई कामनाकी पूर्ति देखो। **आर्तः अर्थार्थी जिज्ञासु**—ये तीन सकाम पुण्यात्मा हैं। इनमें पुण्यका तारतम्य है भला! तारतम्य अर्थात् कमी-बेशी। और चौथा तो सिद्ध है। वह साधन कक्षामें नहीं है, साधकसे परे हैं **ज्ञानी च भरतर्षभ**।

आर्तका मतलब है कि जो दुनियामें खूब रौंदा जा रहा है, दुःख जिसको रौंद रहे हैं उसका नाम आर्त है। यह 'अर्दन' शब्दसे तो आप परिचित्त हैं न, जनार्दनमें जो अर्दन है। यही अर्द धातु है भला! और इससे जो कृदन्तका तिल प्रत्यय हो जाता है तब 'अर्ति' शब्द बनता है और इसमें 'आ' उपसर्ग जुड़नेसे 'आर्ति' शब्द हो जाता है 'अर्दनम् अर्ति आ समन्तात् अर्दनम् अर्ति'। चारों ओरसे चोट-पर-चोट, हथौड़े-पर-हथौड़ा पड़ रहा है, उसका नाम हुआ आर्ति।

तो जो दुःखसे घिरा हुआ है वह है आर्ति। दुःखसे घिरा हुआ मनुष्य पहले तो चाहता है कि दुःख देनेवालेको ढूंढे और उसको मार डालें। अब देखो उसकी वृत्ति कहाँ गयी? ईश्वरमें नहीं गयी न। दुश्मनमें चली गयी वृत्ति। उसने दुःखका दाता किसको समझा? यह नहीं समझा कि हमने पहले पापकर्म किये हैं और उस पाप कर्मके अनुसार दुःखरूप फलका दाता ईश्वर है; और यह नहीं समझा कि अब यदि हम शुभकर्म करेंगे, तो उस शुभकर्मके अनुसार सुखरूप फल देनेवाला ईश्वर होगा। यदि मुख्य कर्ता, फलदाता ईश्वरपर दृष्टि जाती और गौण कर्ता अपने आपपर दृष्टि जाती तो पश्चात्ताप होता कि हमने बुरा काम किया और ईश्वरके प्रति श्रद्धा होती कि बड़ा न्यायकारी है। दुःख आनेपर यदि दुःख देनेवाले ईश्वरपर दृष्टि जाती या उस दुःखके कारणभूत कर्म करनेवाले आत्मापर दृष्टि जाती (अर्थात् दुःख या तो त्वं पदार्थके वाच्यार्थ भोक्ताको दिखाता और या तो तत्पदार्थके वाच्यार्थ फलदाता ईश्वरको दिखाता) तो तुम्हारे हृदयमें ईश्वरके प्रति भक्तिका उदय

होता। परन्तु हे भगवान् यह तो हुआ नहीं, दृष्टि कहाँ गयी? कि इस दुष्टने हमको दुःख दिया है। कर्म गया, ईश्वर गया, जीव गया और दुष्टने दुःख दिया है, अब उससे करो द्वेष और दुष्टका करो चिन्तन! दुष्टाकार वृत्ति और दुष्टसे द्वेष—क्या फल हुआ? मारे गये, ईश्वर छूट गया।

आर्तिनाश करनेके लिए धर्मोपाधिक ईश्वरका चिन्तन करना चाहिए। धर्मोपादिक ईश्वरका चिन्तन क्या होता है? जिसके हृदयमें धर्मके रूपमें ईश्वर आता है उसके दुःखका, उसकी आर्तिका नाश होता है। धर्मोपाधिक ईश्वर शरण्य है भला, जिसने प्रतिज्ञा कर रखी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

रामचन्द्र भगवान् बोले रहे हैं कि एक बार, केवल एक बार मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हारा हूँ यह याचना करो। बोले—अब मैं तुमको सम्पूर्ण प्राणियोंसे निर्भय कर दूँगा। कोई तुमको दुःख नहीं दे सकेगा **इति एतत् व्रतं मम**—यह मेरा व्रत है, यह मेरी प्रतिज्ञा है। रामकी शरण ग्रहण करो धर्मोपाधिक ईश्वर है। और नहीं तो महाराज शरण धर्मोपाधिक ईश्वर कृष्ण है। क्या? कि

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ १८.६६

पापसे छुड़ानेका ठेका लेकर बैठा। आर्तिका निवारण हो जायें।

गजेन्द्रपर आर्ति आयी। आर्त भक्तका उदाहरण गजेन्द्र है। तो कैसे आयी? सुकृती था गजेन्द्र। गजेन्द्रस्तोत्रमें आया है, **प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्**—पूर्व जन्ममें जो उसने सीखा था, भगवान्‌की आराधना की थी, जब तकलीफ पड़ी, किसीकी आशा नहीं रही, किसीका भरोसा नहीं रहा, वह पूर्व जन्ममें शिक्षित जो वस्तु है, वे संस्कार जाग्रत् हुए और सूँडसे कमल उठाया और गोविन्द-गोविन्द-गोविन्द पुकारा आर्त होकर। दौड़े आये। तो 'सुकृतिनः' आर्ति 'भजन्ते' है न, यह गजेन्द्र है।

द्रौपदीके ऊपर आर्ति पड़ी, भरी सभामें रौंदी जा रही है, एक वस्त्रा द्रौपदीको, गुरुजनोंके सम्मुख, एक परपुरुष दुष्ट नग्न करनेकी चेष्टा कर रहा है। क्या हुआ?

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवार्णव मग्ना—

— 'कौरवोंके समुद्रमें मैं डूब रही हूँ। दौड़ो-दौड़ो उबारो प्रभु!' देखो, दौड़े आये। भोजन छोड़ दिया, रुक्मणीको पलंगपर सोये छोड़ दिया, खड़ाऊँ टूट गयी, ऐसे जोरसे पाँव पड़ा कि श्रीकृष्णकी खड़ाऊँ टूट गयी। गरुड़ आये, बैठ जाओ महाराज हमारे ऊपर, वह महाराज हाथसे उधर धकेला। गजेन्द्रके प्रसंगमें, द्रौपदीके प्रसंगमें, देखो न क्या! आर्त पुरुष जो है, जब किसीका सहारा न रहे, भगवान्‌को पुकारो, देखो वे रक्षा करते हैं।

तो यह दुःख-निवारणकी दृष्टिसे भगवत्शरणागति है। इसमें एक ही बात है। इसको आर्त-ध्यान बोलते हैं शास्त्रमें।

अब देखो, दूसरी बात है—**जिज्ञासु** ज्ञानको चाहनेवाला यह कामनाकी अवधि है। देखो, भगवान्‌की शरणागतिसे अनर्थकी निवृत्ति होती है इसलिए तो आर्त उनकी शरण ग्रहण करता है; और स्वार्थकी प्राप्ति होती है, इसके लिए **अर्थार्थी** शरण ग्रहण करता है; और परमार्थकी प्राप्ति होती है इसलिए जिज्ञासु शरण ग्रहण करता है। दुःखका निवारण, स्वार्थकी पूर्ति और परमार्थकी प्राप्ति, तो ये तीनों पुण्यात्मा हैं। नहीं तो जिज्ञासु कहेगा कि हम साथके किसी वेदान्ताचार्यके पास चले-जाते हैं और उनसे अद्वैतसिद्धि और खण्डनखण्ड-खाद्य पढ़कर आते हैं और हमको तत्त्व ज्ञान हो जायेगा। तब महाराज खुद पण्डितजीको तो तत्त्वज्ञान है ही नहीं, वे तो ब्रह्मनिष्ठ हैं ही नहीं। श्रोत्रिय हैं परन्तु ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं। निष्ठा उनकी कहाँ है? तो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके पास जाना चाहिए था न!

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

गुरूपाधिक जो परमात्मा है वह जिज्ञासा शान्त कर सकता है। धर्मोपाधिक जो परमात्मा है वह आर्तिका निवारण करता है और गुरूपाधिक जो परमात्मा है वह जिज्ञासाको पूर्ण करता है।

नारायण कहो! तो जिज्ञासुको ज्ञानकी और अर्थार्थीको अर्थकी कामना है। कामनामें स्वार्थ कामना, परमार्थ कामना दोनोंको पूर्ण करनेवाला भगवान् है। तो देखो, आर्तसे तो धर्मात्मा और अर्थार्थीसे अर्थ-

पुरुषार्थी। धन चाहनेवाले इधर भटक जाते हैं और कामना चाहनेवालोंमें जो जिज्ञासु है—जिज्ञासाकी इच्छा है—'ज्ञातुं इच्छुः जिज्ञासुः' वह जाननेकी इच्छा प्राप्त करता है। जानना माने परमात्माको जानना। तो परमात्माको जाननेकी इच्छा जिसको है वह जिज्ञासु है। जाननेकी ही इच्छा क्यों? इसलिए कि परमात्मामें अवस्थिति ज्ञानस्वरूप ही होती है। परमात्मामें जो अवस्थिति है, वह द्रव्यात्मक नहीं है। जैसे मिट्टीका ढेला धरतीपर रहता है, ऐसे परमात्मामें स्थिति नहीं होती और क्रियात्मक भी नहीं होती है। परमात्मामें स्थिति द्रव्यात्मक या क्रियात्मक नहीं, ज्ञानात्मक होती है। माने पहलेसे जहाँ हम स्थित हैं, उसको जानते नहीं कि कहाँ स्थित हैं, बस जान जायँ कि परमात्ममें स्थित हैं। परमात्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है; अविनाशी है, माने काल परिच्छिन्न नहीं है; सर्वत्र परिपूर्ण है माने देश परिच्छिन्न नहीं है; अद्वितीय है माने विषय-परिच्छिन्न नहीं है; और वह चिन्मात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, जिसमें जड़ता, अन्यता आदि कुछ नहीं है; ऐसा है परमात्मा। तो उस परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छा जो है वह जिज्ञासुमें होती है। वह जिज्ञासु शास्त्र आदिकी शरण न लेकर परमात्माकी शरण ग्रहण करता है। नहीं तो—

वाग्वैश्वरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान-कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां चापि भुक्तये न तु मुक्तये॥

शंकराचार्य भगवान्‌ने कहा सब भोगके लिए है।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्रधीतस्तु निष्फला।
विज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतस्तु निष्फला॥
वाचो विग्लापनं हि तत्।
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
नालत्वं द्विजत्वं देवत्वम् ऋषित्वं वासुरात्मजा।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥

बहुज्ञता भी भगवत्प्राप्तिका हेतु नहीं है। तो भगवत् तत्त्वके ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भगवान्‌की शरण लेना। बोले—जिज्ञासु तो बहुत होते हैं। ऐसे जिज्ञासु हैं जो भगवत्प्रपन्न होकरके भगवान्‌को जानना चाहें, और ऐसे जिज्ञासु भी हैं जो भगवान्‌की भक्ति न कर तत्त्वको जानना चाहे। बोले—

पुण्यात्म होगा तो उसके हृदयमें श्रद्धा जरूर होगी। श्रद्धा होगी तो भक्ति भी जरूर होगी, वह भगवद्भक्ति कर ही भगवान्‌को जानना चाहेगा। ज्ञानीकी बात अभी छोड़ते हैं।

तो जो लोग इच्छाओंकी पूर्तिके लिए भगवान्‌का भजन करते हैं वे दूसरे। और, जो दुःखोंको हटानेके लिए भगवान्‌का भजन करते हैं वे दूसरे। तो जो दुःखोंको दूर करनेके लिए भगवान्‌का भजन करते हैं वे आर्त(आर्तध्यानी); और जो कामसे, क्रोधसे, लोभसे पिसते हुए भगवान्‌का भजन करते हैं, बोले वे रौद्र-ध्यानी; और बोले—धन्य (धन्य ध्यानी) कौन हैं? धन्यध्यान वे करते हैं (जो जिज्ञासु हैं)। (ज्ञानी भक्त शुक्लध्यानी हैं)। 'भविष्योत्तर पुराण' में आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धन्यध्यान और शुक्लध्यान—चार प्रकारके ध्यानोंका वर्णन है।

आपको सुना रहा था कि भगवान् केवल मोक्ष ही नहीं देते हैं, भगवान् दुःख निवारण भी करते हैं, भगवान् लौकिक अर्थ भी देते हैं, पारलौकिक अर्थ भी देते हैं। विभीषण, सुग्रीवादिको लौकिक अर्थ देते हैं। ध्रुवको लौकिक, पारलौकिक दोनों ही अर्थ देते हैं। और भगवान् परमार्थ भी देते हैं। तो चाहनेवालोंको निराश नहीं होना चाहिए—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामो उदारधिः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

चाहे तुम्हारे मनमें कामना होवे चाहे न होवे, चाहे सब कुछ चाहते हो, चाहे मोक्ष चाहते हो, भगवान्‌की भक्ति करो; उससे कामनापूर्ति भी होती है और कामना निवृत्ति भी होती है, मोक्ष भी मिलता है, ज्ञान भी मिलता है। जो चाहोगे सो मिलेगा, भक्ति जरूर करो। यह मत सोचो कि भगवान् केवल निष्कामोंके लिए हैं, सकामोंके लिए नहीं।

देखो, इसमें एक बात होती है! लोग सकामसे घबराते हैं और निष्कामसे प्रेम करते हैं—यह बात लोकमें देखनेमें आती है। सेठके पास कोई जाये और उसके मनमें चन्दा लेनेकी हो तो सेठ घबरायेगा उससे; और निष्काम भावसे, प्रेमसे उसके पास जाये, या दूसरेकी निन्दा कर उसका पैसा बचा दे तो सेठ खुश हो जायेगा। सेठसे कोई लेने-देनेवाला आदमी हो, उसकी खूब निन्दा करे कि बस उसको देना मत और पाँच

रुपया सेठका बच जाये तो सेठ खुश हो जायेगा। तो ये सेठ लोग जो हैं, जिसको देना पड़ता है, उनसे घबड़ाते हैं। तो क्यों घबड़ाते हैं? कि इनका खजाना थोड़ा है, खुद टुटपुँजिया हैं, दरिद्र। ये सोचते हैं कि हम किसीको देदेंगे, तो हमारे पास क्या रहेगा। और ईश्वर जो है वह अक्षय निधि है। सकाम पुरुषको देनेसे उसकी कीर्ति तो बढ़ती है, लेकिन घटता कुछ नहीं। इसलिए ईश्वर खूब लुटाता है।

और, फिर महाराज, जिनका सम्बन्ध ईश्वरसे न हो वे खूब अपनी निष्कामता दिखाते हुए उसके पास जायें कि हे भगवान् हम तुम्हारे दर्शनके लिए आये हैं, हम तुमसे कुछ चाहते नहीं, कुछ माँगते नहीं। अब घरवाली भी न माँगे उनसे, तो क्या सम्बन्ध हुआ? मित्र आवे बोले—नहीं, नहीं, हम तो खाकर आये हैं, पेट भरा हुआ है। अरे बेवकूफ मित्र है, मित्रके घर गया और खाकर गया। तुमको उम्मीद नहीं थी कि उसके घर जाओगे और वह तुमको खिला देगा? हम खाके आये हैं, माने मित्रके घरको पराया समझता है—यह बात उसमें आगयी। तो जो भगवान्का मित्र है, उसे भगवान्से कुछ लेने-देने में भी डर नहीं लगता है। भगवान्से लेने-देनेमें डरते वे लोग हैं जो भगवान्के रिश्तेदार नहीं है, नजदीकी नहीं हैं।

आप ही ख्याल करो कि आपके घरमें एक बाहरका आदमी आवे और वह आपसे कुछ चाहता हो तो आप घबड़ाओगे और आपकी पत्नी हो घरमें और आपसे कभी कुछ न लेवे, कभी कुछ न माँगे, साड़ी फटी पहने, शरीरमें तेल न लगावे, बाल सँवारनेके लिए कंघी न माँगे और आपके घरमें रहे, तो आप उसे पसन्द करेंगे? अरे भाई जब पत्नी है तब उसको कंघी भी मँगानी चाहिए, तेल भी माँगना चाहिए, पत्नीका प्रेम तो सम्बन्धकी गाढ़तामें है, वहाँ सकामता और निष्कामता दोनों स्वाहा हो चुकी हैं, तो ईश्वर तो महाराज अपना खास सम्बन्धी है—

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे॥

अपना मित्र तो जब कभी नहीं खाता है, कभी नहीं बोलता है तब शंका होती है कि इसके मनमें पूरी मैत्री है भी कि नहीं है। तो बाबा भगवान्के दरबारमें भी ऐसा ही है। डरो मत, नि:शंक होकर भक्ति करो।

सकाम हो तो सकाम और निष्काम हो तो निष्काम। इधर थोड़े दिनोंसे अखबारवालोंने लोगोंके दिमागमें भर दिया कि निष्काम ही भक्ति करनी चाहिए, सकाम नहीं करनी चाहिये। अब भला बताओ अपने पतिसे तो निष्काम होकर रहे और दूसरेसे कामनापूर्ति करनेके लिए जायें। तो नारायण कहो ऐसी भक्ति ठीक नहीं।

तो भगवान् कामनाकी पूर्ति करते हैं और निष्कामको मोक्ष भी देते हैं। बोले, हमको तो मोक्ष चाहिए नहीं कि क्या चाहते हो? कि हम तो जन्म-जन्म सेवा चाहते हैं। नारायण कहो, तो फिर निष्काम भजनकी क्या जरूरत? जन्म-जन्म सेवा चाहना—यही तो काम है। दिव्य काम है, पवित्र काम है, सम्पूर्ण कामनाओंको निवृत्त करनेवाला काम है। जिसको पेंशन लेनी हो, सो निष्काम हो जाये, मोक्ष मिल जायेगा हमेशाके लिए।

तो **आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी**। अब देखो, दूसरा प्रश्न यह था भगवान्का ही भजन क्यों करना? श्रीरामका, श्रीकृष्णका, नारायणका ही भजन क्यों करना? बोले—हम तो मच्छरको ही भगवान् मानते हैं, उसीकी पूजा करेंगे। तो बोले—भाई देखो, भगवान् तो सब हैं यह बात वेदमें, पुराणमें, शास्त्रमें सब जगह है, लेकिन उपाधिके तारतम्यसे भगवान्के पूजनसें तारतम्य होता है। जो सिद्ध पुरुष हैं, जिनको सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है उनके लिए तो क्या चींटी और क्या चिड़िया सब ब्रह्म है। उनको पूजा करनेकी जरूरत नहीं है, एकसे ही दिखायी पड़ते हैं। लेकिन महाराज, जिनको सब जगह ब्रह्म नहीं दिखायी पड़ता है उनको शुद्ध उपाधिमें परमात्माका चिन्तन करना चाहिए। अशुद्ध उपाधिमें परमात्माका चिन्तन नहीं करना चाहिए। वेश्यामें ईश्वरकी उपासना करने जाओगे तो वह वेश्याकी उपाधि तुम्हारे अन्त:करण को पवित्र नहीं होने देगी, निकृष्ट कर देगी भला! सेठकी उपाधिमें ईश्वरका भजन करने जाओगे तो वह तुमको व्यापारी बनावेगा, ईश्वरका चिन्तन नहीं होने देगा। कानूनकी उपाधिसे भगवान्का भजन करोगे, तो वह तुमको भोग देगी, वह तुमको परमात्मासे नहीं मिलने देगी। कहनेका अभिप्राय यह है—**मां भजन्ते**। 'मां भजन्ते' माने 'मां नंदनंदनं श्यामसुन्दरं मुरलीमनोहरम् भजन्ते'। भगवान्से प्रेम करो।

अब तीसरी बात है कि ज्ञानी लोगोंको भजन करनेकी क्या जरूरत है? जरूरत नहीं होती भला! सब काम जरूरतसे ही किया जाता है, यह तो सेठ लोगोंके मनमें कल्पना बैठ गयी है। जो सिद्ध पुरुष होते हैं: **ज्ञानी च भरतर्षभ**—ज्ञानी शब्दका प्रयोग किया गया है। वे तो बिना जरूरत ही भजन करते हैं। एक बार हमारे वृन्दावनमें लोग बैठे थे, श्रीहाथीबाबाजी थे, वहीं बैठे थे। पहले जब उनके शरीरमें शक्ति थी तो खूब घूमते-फिरते थे, आते-जाते थे, मिलते-जुलते थे। तो एकने पूछा कि राम-राम कहनेसे क्या फायदा है? तो वे बोले कि यह बनिया मालूम पड़ता है। यह राम-राम कहकर भी कुछ मुनाफा ही लेना चाहता है। ज्ञानी पुरुष तो ब्राह्मण है। वह व्यापारी नहीं है। द्रव्यमूलक, द्रव्य प्राधान्यसे जिसका जीवन बीत रहा है, वह वैश्य है और बल-प्राधान्यसे जिसका जीवन बीत रहा है वह क्षत्रिय है। देखो, यह आध्यात्मिक बात कहते हैं, वर्णाश्रम तो जैसे हैं वैसे हैं-ही-हैं। ज्ञान-प्राधान्यसे जिसका जीवन व्यतीत हो रहा है वह ब्राह्मण और कर्म प्राधान्यसे जिसका जीवन व्यतीत हो रहा है, वह शूद्र है।

वे बोले—बस मुनाफा, मुनाफा, हर जगह मुनाफा। ये ज्ञानी पुरुष जो होते हैं, उनके लिए तत्त्व-दृष्टिसे तो न यह संसार है, न यह शरीर है, न अन्तःकरण है और न तो संस्कार है। तब? कि तत्त्व-दृष्टिसे तो कुछ नहीं है, लेकिन जिस शरीरसे व्यवहारमें रह रहे हैं, जबतक विदेह-मुक्ति नहीं हो जाती, माने जबतक शरीर नहीं छूट जाता, तब-तक पड़े हुए संस्कारोंके अनुसार ज्ञानी का शरीर भी चलता है। जो खानेकी आदत है वैसा ही खायेंगे। यह थोड़े ही है कि निरामिष भोजन किया साधनकालमें और ज्ञानी होनेके बाद आमिष मिक्स कर लो।

इसका मतलब यह है कि आजीवन जिसने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माका चिन्तन किया, परमेश्वरकी भक्ति की, ज्ञानी होनेके बाद भी उसके अन्तःकरणमें भक्तिका जो सहज संस्कार है, वह अनुवृत्त रहेगा। जीवन भर तो उसने रामराम कहा, अब मरते समय क्या खुदा खुदा बोलेगा? क्या राम-राम उसकी जीभसे नहीं निकलेगा? शैतान-शैतान बोलेगा मरते समय? कि नहीं भाई, जैसा जीवनभर बोलता आया है, घरमें रहते समय जो शंकर भगवान्‌को 'हर हर महादेव' कहकर जल चढ़ाता

था, हरे कृष्ण कहकर कीर्तन करता था और नारायणका स्मरण कर अपने हृदयको पवित्र करता था, वैसा ही करता रहेगा।

अपि पाप-प्रसक्तोऽपि ध्यान्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्ति-पावनपावनः॥

कोई बहुत बड़ा पापी होवे, लेकिन एक बार भगवान्‌में अपना ध्यान टिक जाये तो वह तपस्वी हो जाता है, पंक्ति-पावन पावन हो जाता है। आजीवन उसने अभ्यास किया कि भगवान्‌का स्मरण करे, अब ज्ञानी होनेके बाद क्या वह तीतर-तीतरका स्मरण करेगा?

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाऽप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आर्त आदि लोग प्रयोजन सहित भजन करते हैं। आर्तका प्रयोजन है आर्तिकी निवृत्ति। अर्थार्थीका प्रयोजन है अर्थकी प्राप्ति। जिज्ञासुका प्रयोजन है परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना। परन्तु ज्ञानीके तो समस्त प्रयोजन पूरे हो चुके हैं, फिर भी व्यवहारमें वे प्रेमपूर्वक और बिना किसी प्रयोजनके ही भगवान्‌का भजन करते हैं। बचपनसे हरे कृष्ण, हरे कृष्ण करते-करते आदत पड़ गयी है, अब वही मुँहसे निकलता है। क्या आजीवन ॐ ॐ बोलेंगे तो मुक्त हो जायेंगे? इसलिए नहीं बोल रहा है कि उससे मोक्ष मिल जायेगा, इसलिए बोल रहा है कि उसको आदत पड़ी हुई है। तो ज्ञानी भी भगवान्‌का भजन करता है।

अब 'तीन' प्रश्नका समाधान यों हुआ। अब एक प्रश्न और उठाते हैं। वह क्या? कि जब एकसाथ किन्हीं-किन्हीं का वर्णन किया जाता है तो वे सब समान होते हैं, सहावस्थित नियम इसको बोलते हैं। **आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी**—चारोंका एक साथ वर्णन हुआ तो चारोंको समान कोटिका ही भक्त होना चाहिए, सब बराबर होने चाहिए। बल्कि यहाँ तो आर्तको पहले दे दिया और ज्ञानीको सबसे आखिरमें दिया। तो इसमें क्या कोई श्रेष्ठ, कनिष्ठ है या कि सब बराबर हैं? एक प्रश्न यह उठता है। शाण्डिल्यने भक्ति-मीमांसामें इस श्लोककी मीमांसा की है, वे कहते हैं कि यहाँ तीन तो गौण हैं और एक मुख्य है। ज्ञानी जो चतुर्थ है, वह तो मुख्य है, और आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु—ये तीनों गौण हैं। गौण क्यों हैं?

कि ये अपने स्वरूपमें स्थित नहीं हैं। कुछ अप्राप्तकी प्राप्ति इनको चाहिए। प्राप्त आपत्तिका निवारण आर्तको चाहिए, अप्राप्त अर्थकी प्राप्ति अर्थार्थीको चाहिए और अप्राप्त ज्ञानकी प्राप्ति जिज्ञासुको चाहिए। तीनों ही प्राप्तके निवारणमें तो अप्राप्तकी प्राप्तिके प्रयत्नमें लगे हुए हैं और भगवान्‌की भक्ति करते हैं। परन्तु ज्ञानीको न तो प्राप्तका निवारण करना है और न अप्राप्तको प्राप्त करना है, इसलिए ज्ञानी मुख्य है।

तो बोले—फिर चारोंका एक साथ वर्णन क्यों किया? तो चारोंका एक साथ वर्णन इसलिए किया कि ज्ञानीके साथ जब इनका वर्णन किया जायेगा, तो ये तीनों खुश हो जायेंगे कि हमारी भक्ति कोई घटकर नहीं है। माने जैसे ज्ञानीकी भक्ति परम पवित्र होती है वैसी ही सबकी है। भक्ति ही परम पवित्र है। ज्ञानी करे कि अर्थार्थी करे कि जिज्ञासु करे कि आर्त करे, इसमें तात्पर्य नहीं है, भक्तिकी पवित्रतामें तात्पर्य है। भक्ति जिसके जीवनमें आती है वह पवित्र हो जाता है, यह बात बतायी।

अब जरा इसका मीठा-मीठा अर्थ सुनाना है—**आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ**। रास पंचाध्यायीमें गोपियोंकी आर्ति—**अतप्यंस्तमचक्षाणाः**। उनकी जिज्ञासा—**पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सतं पुरुषं वनस्पतीन्**। अर्थार्थी—**जलरुहानन चारु दर्शन** और ज्ञानी—**तास्माविर्भूच्छौरिः स्मय मानमुखाम्बुजः**। तो अब इस प्रसंगको फिर कलके लिए रखते हैं।

: १६.२ :

ज्ञानी भक्त

पहले बताया कि दुष्कृती लोग चार प्रकारके होते हैं और वे भगवान्‌की शरणागति नहीं करते, भगवान्‌का भजन नहीं करते—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ ७.१५॥

मूढा, नराधमा, माययापहृतज्ञानाः और आसुरं भावमाश्रिता। तो जो मूढ़ होगा, वह बिलकुल ज्ञानीसे विपरीत होगा। एक ओर ज्ञानी और एक ओर मूढ़, दोनोंका मुँह दो दिशामें हो गया। और दुःख पड़नेपर भगवान्‌को पुकारना यह आर्त भक्तका काम है और दुःख देनेवालेसे द्वेष करना यह नराधमका काम है।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १६.१९

और **माययापहृतज्ञाना**—यह अर्थकी माया महाराज, **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः**। और जिज्ञासु जो होगा, वह दैव भावका आश्रय लेकर शम-दमादिसे युक्त होकर, भक्तिसे युक्त होकर भगवान्‌का अनुसन्धान करेगा। **दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च** (१६.४)—यह उसके भीतर नहीं आ सकता। तो यह फिरसे सिंहावलोकन न्यायसे देखो। देखो, सिंह चलते-चलते घूमकर कभी पीछे देख लेता है कि कोई आ तो नहीं रहा है हमारे पीछे।

और सुकृतीमें भी चार प्रकारके होते हैं। सुकृतीकी पहचान है भगवान्‌की प्रपत्ति। प्रपत्ति शब्द और भजन शब्द दोनों यहाँ एक ही अर्थमें आये हैं। इसलिए 'दुष्कृतिनः मां न प्रपद्यन्ते, सुकृतिनस्तु मां भजन्ते', माने सुकृती और दुष्कृती दोनोंमें भेद यही है कि जो सुकृती है वह भगवान्‌का भजन करेगा और जो दुष्कृती है वह भगवान्‌का भजन नहीं करेगा। तो **ये मां भजन्ते ते सुकृतिनः**। 'ये सुकृतिनः ते मां भजन्ते'। जो भजन करे तो समझ लो कि पूर्व जन्मका पुण्यात्मा है और भजन न करे तो समझ लो पूर्व जन्मका दुष्कृती है और इस जन्ममें भी भजनमें जो रुकावट है वह दुष्कृत ही है। सुकृत तो भजनकी ओर ले जानेवाली चीज है।

अब अर्जुनमें सुकृतिपना क्या है? ये दो सम्बोधन जो हैं अर्जुनके लिए इस (१६वें) श्लोकमें, ऐसे लगता है कि भगवान्‌को अर्जुनकी ओर देखे बिना रहा ही न जाता हो। बार-बार किसीको बोलना, पुकारकर बोलना, हे सीताराम, यह बात सुनो, हे सीताराम, यह बात सुनो, यह बात ऐसी है। राधेश्याम, तुम्हारी आँख कहाँ गयी? तो किसीको बारम्बार संबोधित करना, इससे तो भगवान्‌की अतिशय कृपा, अतिशय प्रीति प्रकट होती है।

अर्जुनकी नजर कभी इधर-उधर चली जाती है। कहीं वह सोचने लगा कि कौन-कौन लोग पापी हैं जो भगवान्‌का भजन नहीं करते हैं। बोले—दुर्योधन पापी है, दुःशासन पापी है, शकुनि पापी है। इन दुष्कृतियोंकी लड़ी जैसे अर्जुनके चित्तमें आने लगी तो भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन! भोले भाले! भजन करनेवालोंकी याद कर, न भजन करनेवालोंकी याद काहेको करते हो? तो बोले कि महाराज कहीं मैं दुष्कृती तो नहीं हूँ? कि दुष्कृती नहीं हो, तुम सुकृती हो।

सुकृती होनेका क्या लक्षण? क्या पहचान? कि सुकृती होनेकी दो ही पहचान है—**अर्जुनत्वं भरतर्षभत्वं च। उभयं सुकृतीलक्षणम्।** एक तो भरतवंशमें जन्म लेना और जन्म ही नहीं लेना, भरतवंशमें श्रेष्ठ होना। यह थोड़े ही कहते हैं कि तुम भरतवंशमें जन्म लिये हुए हो; भारत सम्बोधन तो धृतराष्ट्रके लिए भी है, वे भी भरतवंशी हैं; लेकिन यह अर्जुन तो भरतर्षभ है महाराज, भरतवंशमें मूर्तिमान धर्म। ऋषभ माने धर्म-वृषभ। भरतवंशमें मूर्तिमान धर्म ही अर्जुनके रूपमें प्रकट हुआ। यह धर्मका जो अनुयायी होता है, वह भी धर्म ही होता है। धर्मराजका अनुयायी, उनके पीछे-पीछे चलनेवाला, उनका भाई, सुकृती है। और, दूसरी बात कि अर्जुन है। अब अर्जुन कौन-सा भक्त है? आर्त है, कि अर्थार्थी है, कि जिज्ञासु है, कि ज्ञानी है? बोले—यह अर्जुन, अर्जुन—भक्त है। अर्जुन भक्त कौन है? कि जो ज्ञानका अर्जन करे उसका नाम अर्जुन होता है। अर्जुन है माने जिज्ञासु भक्त है अर्जुन। अर्जुन इस समय—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। २.७

भगवान्‌की शरणमें होगया। तो भरतवंशमें श्रेष्ठ होना, जिज्ञासु होना, भगवान्‌की शरण लेना, अर्जुनमें सुकृतिपना सब प्रकारसे है। लेकिन भाई अर्जुनके सुकृतिपनासे अपना काम तो चलेगा नहीं। अपनेको तो खुदको सुकृती होना पड़ेगा न, स्वयंको सुकृती होना पड़ेगा। स्वयं सुकृती होनेकी पहचान क्या है? बोले—भगवान्‌का भजन करो।

तो बोले—बाबा, भगवान्‌का भजन तो निष्काम ही करते हैं। नारायण कहो, सकाम भजन नहीं कर सकते, यह भ्रान्ति हटा दो—**आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।**

आर्त्तो—दुःख-दावानल-दग्ध जो पुरुष है—आर्त्त, दुःख-दावानलार्दित, 'अर्दनं अर्ति आ समन्तात् अर्तिः आर्तिः'—जिसको काम-क्रोध-लोभ, मोह, भीतरके शत्रु और बाहरके शत्रु—ग्राह, दुःशासन, ये सब बाहरके शत्रु जिसको रौंद रहे हैं, यह रौंदना जो है आर्त्ति है। देखो क्या करना चाहिए? भगवान्‌का भजन करना चाहिए।

जिज्ञासुः—उद्धवादि जो भक्त हैं, अज्ञानके मारे हुए, उन्हें अज्ञानकी निवृत्तिके लिए भगवान्‌का भजन करना चाहिए। जिज्ञासु।

अर्थार्थी—ध्रुव, विभीषण, सुग्रीव आदि अर्थार्थी भक्त हैं, इनको भी भजन करना चाहिए। आर्त्तमें और अर्थार्थीमें देखो दो भेद है, क्या? आर्त्त तो वह है जिसको एकबार अर्थकी प्राप्ति हो गयी थी, लेकिन शत्रुओंके कारण, विघ्नोंके कारण, दुर्भाग्यके कारण उसकी वह सम्पत्ति, वह वैभव नष्ट हो गया, अब रोकर भगवान्‌की शरणमें हो रहा है। और अर्थार्थी वह है जिसको अभी प्राप्त नहीं हुआ है, नये सिरेसे प्राप्त करना चाहता है। और जिज्ञासु जो है वह तो भगवान्‌को ही प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि उसको महात्माओंने बताया कि भगवान्‌की प्राप्ति ज्ञानात्मक होती है।

जब भगवान्‌की प्राप्ति होती है तो वह चल प्राप्ति नहीं है। देखो, कोई भी आचार्य भगवान्‌की प्राप्ति बतावेगा तो क्या क्रियात्मक प्राप्ति होगी? मिले और बिछुड़े, मिले और बिछुड़े, ऐसी प्राप्ति तो भगवान्‌की नहीं होगी न! तो क्रिया नहीं होगी वहाँ और द्रव्यात्मक, कोई भोग्यात्मक हो कर भगवान् मिलेंगे? कि लड्डूकी तरह भगवान् मिलें और उनको खा जाओ। तो भगवान्‌की द्रव्यात्मक प्राप्ति नहीं होगी और भगवान्‌की क्रियात्मक प्राप्ति नहीं होगी। तो शारीरिक क्रियासे प्राप्त होना और मानस क्रियासे प्राप्त होना। मानसिक क्रियात्मक प्राप्ति होगी तो भाव बनेगा और बिगड़ेगा, वहाँ भी वियोग हो जायेगा। तब भगवान्‌की प्राप्ति कैसी होगी? कि ज्ञानात्मक होगी। जब किसीको भगवान् मिलेंगे, ज्ञानरूपसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी। तब? ये समझदार पुरुष (जिज्ञासु) वह ज्ञान प्राप्त करनेके लिए भगवान्‌का भजन करता है। भगवद्धाम ज्ञानात्मक है, भगवान्

स्वयं ज्ञानात्मक हैं और उससे जो प्राप्त होता है, वह ज्ञानात्मक है, इसलिए जिज्ञासु पुरुष ज्ञानात्मक भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करता है। यह जिज्ञासु भक्त हुआ। तो ये तीनों जो हैं—आर्ति, निवारणका इच्छक धर्मोपाधिक भगवान्‌की दयापर है और जिज्ञासु भक्त गुरौपाधिक भगवान्‌की सेवा करे और अर्थार्थी भक्त जो है वह लक्ष्मीपति औपाधिक भगवान्‌का भजन करे।

अब ज्ञानी किसका भजन करे? बोले—निरुपाधिकका! अब यहाँ बात क्या हुई? देखो उस प्रश्नका उत्तर आगया कि परमात्माके सर्व होनेपर भी—आप ग्यारहवें स्कन्धमें भागवतके पढ़ें—यह बताया है कि किस उपाधिसे भगवान्‌की उपासना करनेपर कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है। शब्द तन्मात्रोपाधिक भगवान्‌का चिन्तन करो तो दूर-श्रवणरूप बुद्धिकी प्राप्ति हो जायेगी और रूप तन्मात्रोपाधिक भगवान्‌का चिन्तन करो तो दूर-दर्शनरूप सिद्धि प्राप्त हो जायेगी। अब बोले—ब्रह्म तो एक ही है भगवान् तो एक ही, भिन्न-भिन्न सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिए भिन्न-भिन्न उपाधिवाले भगवान्‌की प्राप्ति क्यों? बस इसीसे सिद्ध हो गयी वह बात। क्या? कि यह नहीं कि राह चलते किसीको लेकर बैठ गये, बोले—हम तो इसीमें भगवान्‌की पूजा करेंगे।

नारायण-नारायण-नारायण-नारायण, जैसे वह भूतकी उपाधि होगी तो दूसरे ढंगके भगवान् मिलेंगे, भैरव होंगे तो दूसरे ढंगके भगवान् मिलेंगे, कामिनीकी उपाधि होगी तो दूसरे ढंगके भगवान् मिलेंगे, धनकी उपाधि होगी तो दूसरे ढंगके भगवान् मिलेंगे। इसलिए शुद्ध सात्त्विक उपाधिके द्वारा भगवान्‌का भजन करना चाहिए—यह बात दूसरी निकल आयी। यह नहीं कि कोई कामी पुरुष किसी स्त्रीको ही कहने लगा कि तुम हमारी प्राणेश्वरी, तुम हमारे हृदयेश्वर, तुम हमारे परमेश्वर, तो उस उपासनासे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी, सो बात नहीं है। जैसी उपाधिके द्वारा भगवान्‌की परमात्माकी उपासना करेंगे, उस उपाधिसे वैसे ही परमात्माकी प्राप्ति होगी। वह सनातन धर्मका गूढ़तम सिद्धान्त है। इसको जो लोग नहीं समझते हैं वे वेदान्तकी चार बात सुननेके बाद संसारमें फँस जाते हैं।

अच्छा, अब तीसरी बात ज्ञानीका भजन! ज्ञानीका भजन क्या है? बड़ा विलक्षण। ज्ञानी क्यों भजन करे? यह क्यों वाला सवाल जो है, यह अपूर्णके लिए होता है, पूर्णके लिए नहीं होता है। किसीने कहा—ज्ञानीके लिए भजनका

विधान कहाँ है? तो उससे पूछे—ज्ञानीके लिए भजनका निषेध कहाँ है? तत्काल। यह प्रश्न-पर-प्रश्न है, प्रतिप्रश्न है। जिसके लिए विधि नहीं होती, उसके लिए निषेध भी नहीं होता। जब विधि नहीं होती, तब निषेध नहीं होता, और जब निषेध नहीं होता तो उसका जो स्वभाव है, उसको रोकनेवाला कोई नहीं है। स्वभाव है, तो स्वभाव कैसा है? कि उसने पहले तत्पदवाच्यार्थका अनुसन्धान किया है कि नहीं किया है? मूल प्रश्न यह है। और यदि अनुसंधान किया है, तो परमेश्वरका अनुसंधान करते-करते वह उसको आदत पड़ गयी है, वह अन्त:करणमें विद्यमान जो संस्कार है, स्वभाव है, वह ज्ञान होनेके अनन्तर भी भक्तिके रूपमें प्रकट है।

अच्छा, तो वेदान्तियोंने इसका विवेक दूसरे ढंगसे किया है। वे कहते हैं कि ज्ञान होनेके पश्चात् भी जीवन्मुक्ति हो गयी कि नहीं हुई? प्रश्न यह है। बोले—भाई कभी-कभी झुँझलाहट आती है कि नहीं? क्रोध जब आता है तब वह तकलीफ देता है कि नहीं? किसी चीजकी कमी खटकती है कि नहीं? तो नारायण कहो, यह मन होता है कि नहीं कि समाधि लग जाये? यह मन होता है कि नहीं कि विक्षेप निवृत्त हो जाये? माना नरकका डर नहीं है, माना ब्रह्मलोक जानेकी इच्छा नहीं है, लेकिन जबतक शरीर है, तबतक आवरण-भंग होनेके बाद भी, प्रारब्धकृत जो जीवनमें विक्षेप है, उसका निवारण करनेका मन होता है कि नहीं? बोले—अरे इच्छा होगी तो ज्ञान ही नष्ट हो गया! कि नहीं, नहीं, ऐसी इच्छा होनेसे ज्ञान नष्ट नहीं होता। उस प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए भजन है। सात प्रयोजन बताया है।

एक तो ज्ञान-रक्षा। दूसरे अमानित्व, अदम्भित्व, शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि जो साधन-सम्पत्ति जिज्ञासा कालमें आयी थी, वह बनी रहे। तीसरे जीवन भोगी न हो जाये, तपस्वी रहे चौथे अपने मनमें वृत्तियोंका कोई संघर्ष खड़ा न हो—विसम्वादाभाव। पाँचवें दु:ख-निवृत्ति। छठे अपार हर्षकी प्राप्ति। सातवें परमानन्दकी जीवन-कालमें ही अनुभूति।

यह तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी जैसे शरीरमें पूर्व प्रारब्धके अनुसार रोग होता है, ज्ञानीकी मृत्यु होती है कि नहीं? कि भाई शरीरसे तो मृत्यु होती है। ज्ञानीके शरीरमें रोग होते हैं कि नहीं? होते हैं। उस शरीरमें मृत्यु कहाँसे आती है? कि प्रारब्धसे आती है। अच्छा, उस शरीरमें रोग कहाँसे आते हैं? कि प्रारब्धसे

आते हैं। इसी प्रकार प्रारब्धसे प्राप्त जो विक्षेप है, उस विक्षेप की निवृत्तिके लिए, जैसे रोगकी निवृत्तिके लिए औषधका सेवन होता है, जैसे मृत्युकी निवृत्तिके लिए भी प्रयत्न किया जाता है, ठीक इसी प्रकार आवरण-भंगके अनन्तर भी प्रातिभास मात्र, प्रातीतिक विक्षेप आते हैं, उन प्रातीतिक विक्षेपोंकी निवृत्तिके लिए प्रातीतिक भक्ति भी होती है, वह भी प्रातीतिक है।

नारायण कहो! बोले—हमारे कोई विक्षेप नहीं है। ठीक है। तब तुमको कोई भक्ति करनेके लिए थोड़े ही कह रहा है कि करो! अरे भाई, तुम्हारे दिलमें कोई हूल उठती हो, तुम्हारे हृदयमें स्वयं परमात्माका आनन्द कभी खिल-खिल जाता हो, कभी तुम्हारे दिलमें केवल श्रीकृष्ण आकर मुस्कुरा जाते हों मन्द मन्द, कभी रामचन्द्र आकर धनुषकी टंकार कर देते हों, कभी विष्णु आकर अपना कमल हिला देते हों तुम्हारे हृदयमें, तो प्रेमसे देखो, उनके देखनेमें कोई निषेध नहीं है, उनकी भक्ति करनेमें कोई निषेध नहीं है। यह नहीं समझना कि दुकान करनेसे, नौकरी करनेसे और गप्प हाँकनेसे और दुनिया भरका काम करनेसे तो हमारे ज्ञानका नाश नहीं होता है और भक्ति करनेसे हमारे ज्ञानका नाश हो जाता है। ऐसा विपरीत जिसका विचार है, उसको अपने विचारमें संशोधन कर लेना चाहिए, कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति, प्रलय होनेसे भी जब तत्त्वज्ञानका नाश नहीं होता है तो यदि ज्ञानीके जीवनमें भक्ति रहे तो उस भक्तिसे ज्ञानका नाश नहीं होता है, भक्ति तो बहुत भली चीज है। जैसे जीवनमें धर्म रहता है, जैसे जीवनमें समाधि रहती है ऐसे ही जीवनमें भक्ति भी रहती है, वह कोई बुरी चीज नहीं, बहुत बढ़िया चीज, उससे तो ज्ञानीका जीवन शोभा-सम्पन्न हो जाता है।

तो ज्ञानी च भरतर्षभ—ज्ञानी भी भगवान्का भजन करता है। अन्तमें अब ज्ञानियोंके उदाहरणमें आपको बतायें, तो देखो, हमारे कथावाचक लोग जब कथा कहते हैं, तो—कहानी प्रधान जब कथा कहनी हो तो—उसमें कौन-कौन ज्ञानी कैसे-कैसे भक्ति करता है सब बताते हैं, सनकादिक ज्ञानी होनेपर भी कैसे भक्त हैं! भगवान्के चरणारविन्दपर चढ़ी हुई तुलसीकी गन्ध जब उनकी नासिकामें प्रविष्ट होती है तो शरीरमें रोमांच हो जाता है, आँखोंमें आँसूकी बूँदें आ जाती हैं। निर्गुण ध्यान छोड़कर सगुण ध्यान करने लगते हैं। बोले—साधनके रूपमें यदि निर्गुण ध्यान करते होते, तो छोड़ देते तो निष्ठासे भ्रष्ट हो

जाते। नहीं, वे साधनके रूपमें निर्गुण ध्यान नहीं करते हैं, स्वाभाविक निर्गुण ध्यान करते हैं, इसलिए स्वाभाविक रूपसे सगुण ही आगया तो क्या हो गया!

ऐसे शुकदेव हैं तो देखो, भक्ति कर रहे हैं, ज्ञानी होनेपर भी भक्ति कर रहे हैं। नारदजी महाराज ज्ञानी होनेपर भी भक्ति कर रहे हैं। भीष्म जो हैं वे ज्ञानी होनेपर भी भक्ति करते हैं। पृथु ज्ञानी होनेपर भी भक्ति करते हैं। प्रह्लाद ज्ञानी होनेपर भी भक्ति करते हैं। अब उनका चरित्र सुनावें न तो लोग—

'बोढ़ेहि कथा पार नहीं लहई।'

ये सब ज्ञानी हैं। कथाको बढ़ाना हो, तो जिन्दगी भरके लिए यह कथा बन जाये। जो ज्ञानी पुरुष होता है वह भगवान्की भक्ति करता है, क्योंकि शुकदेवका चरित्र, सनक-सनन्दन, सनातनका चरित्र, प्रह्लादका चरित्र, भीष्मका चरित्र, पृथुका चरित्र, नारदादिका चरित्र, यह कोई संक्षिप्त परिकर नहीं है, यह तो बड़ा विशाल चरित्र है। ऐसे ज्ञानी भगवान्की भक्ति करते हैं।

अब नारायण कहो—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था‍ऽप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्माराम—बोले—ये आत्माराम हैं। यह नहीं समझना कि विषयाराम हैं, इसलिए भक्ति करते हैं, आत्माराम हैं।

मुनयः—तल्लीनमानसः, मन डूबा रहता है फिर भी भक्ति करते हैं। **निर्ग्रन्थापि**—अविद्याकी ग्रन्थि छूट चुकी है, फिर भी भक्ति करते हैं। और भक्ति भी शान्तकी नहीं करते हैं **उरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं** वह नाचनेवाला जो है, उरुक्रम माने नाचनेवाला **उरुः उरुधा, पादविन्यासो यस्य**—जो तरह-तरहसे ठुमुक-ठुमुकर पाँव रखनेवाला है वह उरुक्रम; अथवा त्रिविक्रम—जिसने अपने दो पाँवमें सारी सृष्टि नाप ली, जीव-सहित। दो पाँवमें सारी सृष्टि और एक पाँवमें जीव, बलि। ऐसे त्रिविक्रमकी भक्ति करते हैं। तो—**ज्ञानी च भरतर्षभ।** ज्ञानी भी भक्ति करते हैं।

अब वह कल जो बात सुनायी थी आपको कि गोपियोंके जीवनमें सब प्रकारकी भक्तिका समावेश है—

आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

आर्त हैं गोपियाँ। क्यों आर्त हैं? कि भगवत्प्राप्तिके लिए।

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किंचित्संरम्भगद्‌गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः।
मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं ....।

मिलनमें भी आर्ति है। देखो सामने श्रीकृष्ण खड़े हैं, लेकिन कृष्णकी बेरुखी देखकर गोपियाँ आर्त्त हो गयीं। आँखोंसे झरझर आँसूकी धारा गिर रही है। आँखोंसे जो काजल गिरता है उससे उनका वक्षस्थलपर लगा हुआ जो केशर है वह धुल जाता है। व्याकुल हो रही हैं, अँगूठेसे धरती खोद रही हैं। सामने कृष्ण और आर्त्त हैं। और, जब अन्तर्धान होगये तब?

अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्।

श्रीकृष्णको न देखकर गोपियाँ व्याकुल हो रही हैं। आर्ति हुई, व्याकुलता, पीड़ा हुई। तब ढूँढ़ने निकलीं **पप्रच्छुराकाशवदन्तरं**—ये कौन हैं? कि जिज्ञासु।

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।

वृक्ष-वृक्षसे पूछ रही हैं, लता-लतासे पूछ रही हैं, धरतीसे पूछ रही हैं, हरिणीसे पूछ रही हैं। यह क्या है? जब जिज्ञासा की व्याकुलता जीवनमें आती है तब मनुष्य एक-एक चीजको गौरसे देखता है कि कहीं तो मिल जायें। जिज्ञासा जिसके हृदयमें व्यथा, पीड़ा उत्पन्न नहीं करती है, उसकी जिज्ञासा कमजोर है।

बोले—जाकर जमुना किनारे बैठ गयी—**कृष्णं तदागमनकांक्षिताः।** काहेके लिए? बोले—अर्थके लिए। अर्थ कौन है? कि कृष्ण अर्थ है। गोपियोंके जीवनके अर्थ कृष्ण हैं, वही परमार्थ हैं। अर्थ चाहती हैं गोपियाँ। माने अपने जीवनका जो प्रयोजन है, अपने यौवनका जो प्रयोजन है, उसको सिद्ध करना चाहती हैं। श्रीधरस्वामीने एक जगह कृष्ण शब्दका अर्थ, अर्थ किया है। भागवतमें है। देवर्षि नारद नलकूबरको शाप देनेके समय यह गान करते हैं—**तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ** क्यों गान करते हैं? अनुग्रहार्थाय। तो श्रीधरस्वामी कहते हैं—'अनुग्रहः स्वधर्माभिभावः अर्थः कृष्णदर्शनम्' नारदने कहा कि हम जैसी भक्ति करते हैं, वैसे ही भक्त ये नलकूबर-मणिग्रीव, हो जायें। साधन हमारा धर्म इनके जीवनमें आजाये, यह तो हुआ अनुग्रह। और अर्थ क्या हुआ? कि इनको श्रीकृष्ण-दर्शनकी प्राप्ति होवे।

तो अर्थ क्या है? गोपियाँ अर्थ तो चाहती हैं, यह तो आप जानते ही हो। **जलरुहाननं चारु दर्शय**—अपने सुन्दर मुखारविन्दका दर्शन हमको कराओ।

अधर सीधुनाऽऽप्याययस्व नः अपना अधरामृत हमको पिलाओ। वह पीया जायेगा जो अधरामृत, वह अर्थ है। जो आँखसे देखा जायेगा मुखारविन्द वह अर्थ है।

चरणपंकजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्।

हमारे हृदयपर अपना चरणारविन्द रख दो, वह क्या है? बोले—अर्थ है। उसीका नाम अर्थ है। आर्त्त भक्त कौन है? कि गोपियाँ। जिज्ञासु भक्त कौन है? कि गोपियाँ। अर्थार्थी भक्त कौन है? कि गोपियाँ और,

ज्ञानी च भरतर्षभ।

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥

आगे-पीछे अपने श्यामसुन्दर जब प्रकट हो गये, तो सब-की-सब उठकर खड़ी हो गयीं—**मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः,** जैसे महाराज, श्रुतियोंको अपने मनोरथका अन्त मिल गया हो। यही तो ज्ञान है न! बस-बस परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

अब वह प्रसंग देखो कि ये चारों भक्त समान हैं कि इनमें किंचित् तारतम्य है? तो एक साथ चारोंका वर्णन होनेसे समान हैं! तो शाण्डिल्य महर्षिने कहा कि नहीं, समान नहीं हैं 'गौणं त्रैविद्या'। आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, गौण हैं, 'इतरेण साहचर्यं तु प्रातस्यार्थम्'—ज्ञानीके साथ जो इनका वर्णन किया गया है, वह इनकी प्रशंसा करनेके लिए है। क्योंकि स्वयं भगवान् ही कहते हैं कि—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

ज्ञानी—विशेषका वर्णन तो भगवान् श्रीकृष्ण ही कर रहे हैं। **'तेषां—चतुर्नाम्, सुकृतिनाम्, भक्तानाम् मध्ये ज्ञानी नित्ययुक्तः एक भक्तिः। ज्ञानी विशिष्यते। कस्मात्? कि नित्ययुक्तत्वात् एक भक्तित्वात् च'**। यह विशेषण हेतुके रूपमें, हेतु गर्भित विशेषण है।

अब देखो, चारों प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी भक्त विशेष! एक प्रश्न और उठा लेते हैं। हमारे अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि कोई कैसा भी प्रेमी भक्त होवे अब वह ज्ञानीसे बढ़कर तो हो नहीं सकता, इसलिए ज्ञानीके अन्दर उसका अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। **ज्ञानी च भरतर्षभ** में चकारसे जो निष्काम प्रेमी है उस प्रेमीका भी अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। वह भी ज्ञानीके ही अन्तर्गत है। मधुसूदन सरस्वतीने ऐसा अर्थ किया है।

नारायण कहो, बोले—इसमें 'च' भी है। तो 'च' का अर्थ एक पाँचवाँ प्रेमी भी। तब एकने कहा कि **चतुर्विधा,** जब भगवान् अपने मुँहसे ही चारकी संख्या कर बोलते हैं, तो यह पाँचवेंका समावेश ज्ञानीमें काहेको करते हो? इसको अलग ही रहने दो, पंचम पुरुषार्थ है। प्रेमी तो पंचम पुरुषार्थवाला है।

अब आपको एक भेद बताता हूँ, क्योंकि विवेकके लिए भेद जानना जरूरी होता है और अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अभेद जानना जरूरी होता है। आजकल जो लोग ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे पहले विवेक प्राप्त नहीं करते हैं। माने दो चीजोंमें क्या-क्या अलगाव है, पहले इसको जान लो, तब एकताको समझोगे तो ठीक समझोगे। एक आदमीने एक हार और एक कड़ा, सोनेके बने हुए दोनों सामने रख दिये और बच्चेसे कहा कि बेटा ये दोनों एक ही हैं। अब बच्चेने रट लिया कि दोनों एक ही-हैं, दोनों एक ही हैं। थोड़े दिनोंमें जब घरमें आया, बुद्धि उसकी थोड़ी बढ़ी, देखा कड़ा भी है, हार भी है। बोला—देखो, हमारे पिताजीने तो कहा था कि दोनों एक ही हैं और यह कड़ा तो गोल-गोल है, बीचमें छेदवाला और हार पत्तेदार है, अलग-अलग बना हुआ है, यह गलेमें पहननेका है और यह हाथमें पहननेका है, ये दोनों एक कैसे? तो अब विवेक कर हार शब्दका अर्थ अलग जानना कड़ा शब्दका अर्थ अलग जानना, वह हाथमें पहननेका है, वह गलेमें पहननेका है, वह दूसरी तरहसे गढ़ा गया है, वह दूसरी तरहसे गढ़ा गया है, उसकी आकृति दूसरी है, उसकी आकृति दूसरी है। विवेक कर पहले दोनोंके पृथक्त्वको जानो। जब पिताजीने कहा कि दोनों एक ही है, तो क्या उन्होंने हमसे झूठ कहा था? बोले—कोई भी पिता अपने पुत्रको धोखा देनेके लिए झूठ तो नहीं बोल सकता, कोई-न-कोई बात तो होगी। विचार कर देखो तो हारका नाम दूसरा, कड़ेका नाम दूसरा, उसका रूप दूसरा, उसका रूप दूसरा, लेकिन दोनोंमें स्वर्ण नामकी जो धातु है सो एक है, वह धातु एक है, उसकी दृष्टिसे एकता कही गयी थी।

अब देखो, यह ज्ञानी जो है और प्रेमी, इन दोनोंको एक क्यों बोलना? इन दोनोंको एक यों बोलना कि दोनों निष्काम हैं। निष्कामत्वरूप धर्मसे जो ज्ञानी है सो प्रेमी है, जो प्रेमी है सो ज्ञानी है, यह धर्मगत ही ऐक्य है, असलमें वस्तुगत ऐक्य नहीं है। तो ज्ञानी और प्रेमी, अब आपको विवेक कर पहले बताते हैं कि दोनोंमें भेद क्या है?

आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी—असलमें ये चारों जो भक्त हैं, ये सुकृती हैं। पूर्व-पूर्व जन्ममें जो इन्होंने पुण्य किया था, उसके बलसे इनको भक्ति प्राप्त हुई है और जिसको भगवान्का परमप्रेम प्राप्त होता है, वह सुकृतके बलपर प्राप्त होता नहीं। वैष्णवोंके दृष्टकोणमें और अद्वैतवादियोंके दृष्टिकोणमें यही मौलिक भेद है। वे कहते हैं प्रमातृबला जो भक्ति है, वह साधन-भक्ति है और प्रमेयबला जो भक्ति है वह प्रेमभक्ति है, यह उनका विवेक है।

अभी साफ इसको समझना पड़ेगा। वे कहते हैं कि जीव है कर्ता और उसने किये पुण्य और उस पुण्यके बलसे अथवा पुण्यकी उपाधिसे जो भगवान्ने भक्ति दी, वह तो जीवकी कर्मफलरूपा भक्ति है, जीवके कर्मका फल है। तो प्रमाता जो जीव है, उसने अपने बलसे यह भक्ति प्राप्त की है, इसलिए यह प्रमातृबला भक्ति है। आर्त्तने भक्ति की है, जिज्ञासुने भक्ति की है, अर्थार्थीने भक्ति की है और ज्ञानीके अन्तःकरणमें भी जो भक्ति है वह पुण्यफलसे प्राप्त है। उसने पहले सुकृत किये हैं, इसलिए उसको भक्ति आयी है। लेकिन यह जो गोपियोंकी भक्ति है, श्रीराधारानीके हृदयमें जो भक्ति है, अथवा गोपियोंके हृदयमें जो भक्ति है अथवा नित्य नन्द-यशोदाके हृदयमें जो भक्ति है, कौशल्या-दशरथके हृदयमें जो भक्ति है वह प्रमातृबला भक्ति नहीं है। माने वह उनके जीवत्वके बलसे कोई कर्म कर, कोई उपसना कर, कोई आवृत्ति कर, कोई अपने ही योगाभ्यासके द्वारा, अपने ही ज्ञानके द्वारा उन्होंने भक्ति प्राप्त नहीं की है।

भीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः अव्रता तत्तपसा—तत्संधान माने भगवत्संधान। अब यह भक्ति इनको कहाँसे प्राप्त हुई?

प्रमेयबला जो भक्ति होती है—प्रमेय माने भगवान्—तो भगवान्की कृपासे जो भक्ति आती है, भगवान् जो अपने हृदयके आह्लादिनी शक्ति सार-सर्वस्व प्रीतिको उठाकर किसी अपने अनुग्रह भाजनके हृदयमें रखते हैं और फिर उसका आस्वादन करते हैं, वह भगवान्की ओरसे दी हुई भक्ति एक और भक्तके द्वारा प्राप्त की हुई भक्ति दूसरी। अपनी कमाई सीमित होती है और भगवान्का खजाना अनन्त होता है। तो वैष्णव कहते हैं कि हम प्रमातृ- बला भक्तिको जो जीवके प्रयत्नसे मिलती है पराभक्ति या प्रेमलक्षणा भक्ति नहीं मानते। हम पराभक्ति, प्रेमलक्षणा भक्ति उसको मानते हैं जो भगवत्कृपासे स्वयं

उपाय स्वरूप, स्वयं उपमेय स्वरूप, स्वयं परम प्रेमास्पाद भगवान् अपने स्वभावसे, अपनी उदारतासे भक्तिका वितरण करते हैं; वह भगवान्‌के द्वारा प्राप्त जो भक्ति है, वह प्रमेय बला भक्ति है। तो प्रमाता माने जीवके बलसे प्राप्त होनेवाली भक्ति और भगवत्कृपासे प्राप्त होनेवाली भक्ति। तो वे कहते हैं जो प्रेमी होता है, उसकी भक्ति ज्ञानीकी भक्तिसे विलक्षण होती है। वे साफ कहते हैं कि सनकादिकों या भीष्मको या पृथुको या उद्धवको या नारदको वह भक्ति प्राप्त नहीं है जो भक्ति गोपियोंके हृदयमें है, ब्रजवासियोंके हृदयमें है। फिर? बोले कि प्रेमियोंका वर्णन है गीतामें, परन्तु वह दूसरी जगह है भला—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ १८.५४

'लभते'—जैसे किसीको पड़ा हुआ धन मिल जाये, वैसे भगवान्‌के हृदयमें रहनेवाला जो भक्तिका खजाना है, वह उसको उत्तराधिकारके रूपमें ही मिल जाता है। स्वयं भगवान् ही प्रकट कर देते हैं भक्ति। तो वह भक्ति दूसरी है।

अब देखो, परमात्माका स्वरूप **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।** परमानन्द तो भगवान्‌के रसस्वरूपमें है। तो यह शुद्ध प्रेमोपाधिक है। वृत्तिज्ञान भी उपाधि है और हृदयमें आयी हुई जो प्रीति है उसमें भी अन्तःकरण लगा हुआ है। तो केवल रसमात्रकी विवक्षासे एकत्व है साधनमें एकत्वकी विवक्षा नहीं है। ऐसा।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ ७.१७॥

अब नित्ययुक्त और एकभक्ति ये दो विशेषण जो हैं वह ज्ञानीकी विशिष्टता, माने ज्ञानीके विशेषको बता रहे हैं। ज्ञानीमें क्या खास बात है, क्या विशेष है, क्या सुरखाबके पर लगे हैं? बोले—ज्ञानीमें दो बात है। यह बात किसी दूसरेमें हो ही नहीं सकती। क्या? कि नित्ययुक्त, एकभक्तिः—नित्ययुक्त होना और एक-भक्ति होना। क्योंकि ज्ञानी जो है वह अपनी आत्माके रूपमें भगवान्‌को जान गया। तो अन्य रूपसे जो भगवान् होता है वहाँ तो कभी युक्त होता है और कभी वियुक्त होता है, कभी जुड़ता है, कभी अलग होता है शरीरसे, कभी उनके हृदयसे लग गये, कभी अलग होगये। मनसे कभी उसमें

सट गये और कभी अलग हो गये। बोले—नहीं-नहीं, भक्त लोग तो कभी अलग नहीं होते। भाई, अलग नहीं होते हैं लेकिन सुषुप्ति कालमें विस्मरण तो हो जाता है न! जितनी देरतक सोये रहे उतनी देरतक भगवान्‌के संयोगका अनुभव नहीं हुआ और महाराज, ये ज्ञानी लोग जो हैं ये जाग्रत्‌में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, सृष्टिमें, स्थितिमें, प्रलयमें; अगर मैं है, तो वह भगवान्‌से मिला हुआ है और कहो कि मैं नहीं है तो ऐसी कोई स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए ज्ञानियोंने इदमर्थके रूपमें ही भगवान्‌को नहीं जाना है बल्कि अहमर्थको भी भगवान्‌के रूपमें जान लिया है।

नित्ययुक्त का अर्थ है कि जहाँ किंचित् भी अन्तर होगा वहाँ युक्तता जो है वह नित्य नहीं होगी और ज्ञानीने अपने स्वयम्‌के रूपमें परमात्माको जाना इसलिए वह नित्ययुक्त है। और '**एकभक्ति**' का क्या अर्थ है? नारायण कहो। एकभक्ति शब्दका दो तरहसे अर्थ किया गया है। तो ***एका-अद्वितीया भक्तिर्यस्य। एका-अनन्या। भक्त्या एकया ग्राह्य। भक्त्यैकगुरुदेवतात्मा।*** एका विशेषण भक्तिका आता है। भक्त्या एकया माने अनन्याः। तो एकभक्ति माने एकाभक्ति—***अनन्या भक्ति एका अनन्या भक्तिर्यस्य असौ एक भक्तिः।***

दूसरा उसका अर्थ है—***एकस्मिन् भगवति परमामात्मनि मयि भक्तिर्यस्य स एकभक्ति***, इस समासको बहुब्रीहि समास बोलते हैं। तो एकभक्तिका अर्थ क्या हुआ? कि देखोजी, भक्ति आदमीकी की जाती है जरूर—थोड़ी स्त्रीसे, थोड़ा पुत्रसे, थोड़ा धनसे! संसारके लोगोंकी भक्ति तो देखो, थोड़ी मिनिस्टरसे तो थोड़ी उसकी पत्नीसे, तो थोड़ी उसके चपरासीसे, कितने हिस्से भक्तिके, बाँट-बाँटकर भक्ति की जाती है। संसारी लोगोंकी तो ऐसे ही चलती है गाड़ी। एक पेड़ा ले आये घरमें और दो बच्चे हों, तो कहेंगे—बाबूजी, किसके लिए? कि बेटा दोनोंके लिए, तो एक पेड़ेके दो टुकड़े करके आधा उसको दिया और आधा उसको दिया, और यदि बड़ा छोटा हो गया, तो? लड़ाई।

अब ज्ञानी जो है उसको भक्तिके दो हिस्से नहीं हैं, उसके दो पत्नी नहीं है, उसके दो पति नहीं है। अव्यभिचारी भक्त है यह। इसके दो भजनीय, दो भगवान् नहीं हैं। जिसके दो भजनीय होंगे वह एकको गौण और दूसरेको मुख्य कर देगा। ज्ञानी वह है जिसके दो भजनीय नहीं हैं। हैं तो एक अपना आत्मस्वरूप प्रभु और नहीं तो सम्पूर्ण विश्व। **एकभक्तिर्विशिष्यते।** इसलिए

अनन्यता जो है जिसकी दृष्टिमें अन्य वस्तु, अन्य विषयकी सत्ता नहीं रहेगी वही एक-भक्ति हो सकता है और अनन्य हो सकता है।

उत्तमके अस बस मन मांही।
सपनेहुं आन पुरुष जग नाहीं।

वह उत्तम पातिव्रत होगा। इसीसे भक्तिका जब वर्णन आता है न,

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। १४.२६

व्यभिचार शब्दका प्रयोग भगवान्ने गीता सरीखी पवित्र पुस्तकमें किया है। अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। १३.१०

भक्ति व्यभिचारिणी हो गयी। कैसे हुई? अब आप सोचो। भक्तिके साथ इस शब्दको जोड़ना, कितना कठोर शब्दका प्रयोग भगवान्ने किया। भक्तियोगमें अव्यभिचार होना चाहिए, भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिए। इतना कठोर शब्द किसलिए? अरे बाबा, यह दूसरा जो है न, यह दूसरा खींच लेता है। तो जब ज्ञानीके द्वैतका नाश हो जाता है, जब द्वैतकी निवृत्ति हो जाती है, तब ज्ञानीकी भक्ति अव्यभिचारिणी और उसका भक्तियोग अव्यभिचार होता है। उसीसे बोलते हैं—

एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

परस्पर प्रेमका वर्णन करते हैं। अत्यर्थम्। अत्यर्थका अर्थ है अतिशय एक। और अतिशयका अर्थ है ***'अर्थं' त्रिगुणात्मकम् अतिक्रम्य इति अत्यर्थम्। अर्थं प्रयोजनम् अतिक्रम्य इति अत्यर्थम्।*** जिसमें विषयका तो सम्बन्ध नहीं है। अत्यर्थ कौन-सी भक्ति? जिसमें विषयका तो सम्बन्ध नहीं है और प्रयोजन कोई प्राप्त करना नहीं है। ऐसा प्यार जिसमें अर्थका सम्बन्ध नहीं और कोई प्रयोजन-पूर्ति करनी नहीं और जिससे बढ़कर दूसरा नहीं। ज्ञानीका ऐसा प्यारा मैं और मेरा ऐसा प्यारा ज्ञानी।

अब इस प्रसंगको फिर कलके लिए रखते हैं।

❖

१७. ज्ञानी भक्तकी विशेषताएँ

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ ७.२७

अर्थ :—उन चार प्रकारके भक्तोंमें नित्ययुक्त, एकभक्ति ज्ञानीकी विशेषता है। ज्ञानीके लिए मैं अत्यर्थ प्रिय हूँ और मुझे भी वह अत्यन्त प्रिय है॥ १७॥

: १७.१ :

नित्ययुक्त, एकभक्ति तथा अत्यर्थ प्रिय

नारायण! नारायण!! नारायण!!! नारायण!!!! जो भी भगवान्का भजन करते हैं, वे सभी श्रेष्ठ हैं। पूर्वजन्मके पुण्यात्मा तो हैं ही, इस जन्मके भी पुण्यात्मा हैं, नहीं तो भजनमें रुचि कैसे होती? परन्तु उनमें भी जो ज्ञानी पुरुष है वह पूर्व जन्मका पुण्यात्मा है, इस जन्मका पुण्यात्मा है, और पुण्यात्माओंमें भी निष्काम है, क्योंकि सकाम पुण्यात्मा तो ज्ञानी हो ही नहीं सकता। पुण्यात्मा भी निष्काम होता है, तब अन्तःकरण शुद्धि होनेपर उसे ज्ञान होता है। इसलिए अर्थार्थी पुण्यात्मा तो है परन्तु निष्काम नहीं है, आर्त्त पुण्यात्मा तो है परन्तु निष्काम नहीं है और जिसे ज्ञान हुआ वह तो पुण्यात्माके साथ-साथ निष्काम भी था।

असलमें अन्तःकरणकी शुद्धि माने निष्कामता और इसकी दो तरहसे सिद्धि है। एक तो जो लोग निष्कामता-पर्यन्त ही अन्तःकरण शुद्धि मानते हैं। दूसरे अन्तःकरणमें, निष्कामताके साथ बुद्धिमें जो ब्रह्मको ग्रहण करनेकी, ब्रह्म और आत्माकी एकताको ग्रहण करनेकी जो योग्यता है, वह भी अन्तःकरणकी शुद्धि है। तो बुद्धिकी तीक्ष्णता और बुद्धिकी निर्मलता दोनों अपेक्षित है। निर्मलतामें वासना राहित्य और विक्षेप राहित्य दोनों हैं। चित्तमें विक्षेप भी न हो, चित्तमें वासना भी न हो! ये दोनों तो पाप ही हैं। चित्तमें जो वासना है उसीका नाम तो पाप है। लेकिन बुद्धिमें जो तत्त्व-ग्रहणकी अयोग्यता है, माने सूक्ष्मताकी न्यूनता है, प्रज्ञा-मान्द्य है, वह भी अशुद्धि है।

कई लोग ऐसे देखनेमें आते हैं जो निष्काम तो हैं, परन्तु उनकी प्रज्ञा मन्द है। प्रज्ञा मन्द होनेके कारण तत्त्वमस्यादि महावाक्यका जो अर्थ है वह गृहीत नहीं होता और गृहीत न होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिए निष्कामता मात्र ही अन्त:करणकी शुद्धि नहीं है, निष्काम होनेपर भी पदार्थावगाहिनी बुद्धि होनेकी आवश्यकता है। इसको अन्त:करणकी शुद्धि बोलते हैं, इसके बिना ज्ञान नहीं हो सकता।

तब? आर्त्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु भक्तकी अपेक्षा ज्ञानीमें क्या योग्यता अधिक थी? कि एक तो निष्कामता रूप अन्त:करणकी शुद्धि और एक पदार्थावगाहिनीरूप तीक्ष्ण बुद्धि इन दोनोंसे युक्त होकरके तब उसमें परब्रह्मरूप परमात्माको जाना और अविद्याको नष्ट किया। केवल मान लेनेसे कि हम ब्रह्म हैं, किसीको ब्रह्मज्ञान नहीं होता और केवल संसारका निषेध कर देने मात्रसे ही ज्ञान नहीं होता। यह न-न करनेवाले जो पक्ष हैं, वे तो अवान्तर वाक्य हैं, महावाक्य तो हैं ही नहीं। माने केवल नेति-नेति तो एक बहुत हल्का-फुल्का पक्ष है वेदान्तका; मुख्य पक्ष तो उसका 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमस्यादि' है।

तो अब यह हुआ ज्ञानी। यह सर्ववित् है। क्षरोपाधिक पुरुषको, अक्षरोपाधिक पुरुषको और दोनोंमें एक जो अखण्ड पुरुषोत्तम है उसको—दोनोंको इसने जान लिया है। जान लेनेसे उपाधियाँ बाधित हो गयी हैं, क्षर पुरुष अक्षर पुरुष बाधित हो गये और एक अखण्ड पुरुषोत्तम रह गया है। तो अब यह नित्ययुक्त रहेगा, ज्ञानीकी विशेषता क्या है? कि और लोग ईश्वरसे जुड़ते हैं और बिछुड़ते हैं, बिछुड़ते हैं और जुड़ते हैं, पर ज्ञानी न जुड़ता है न बिछड़ता है। क्यों? कि उसको तो अपनी आत्माका ही नाम परमात्मा है।

आप अपनेसे कब मिले? बोले—भाई, हम तो गाँधी जीसे मिल आये। कि किस सन्‌में मिले? पहले गाँधीजीके पास रहते थे फिर बिछुड़ गये। तो गाँधीजीसे अमुक सन्‌में मिले और अमुक सन्‌में बिछुड़ गये। कई पुस्तकें लोगोंने लिखी हैं—

गाँधीजीके साथ सात वर्ष,
गाँधीजीके साथ सात-आठ महीने,

तो ठीक है, वह तो गये उनके पास, रहे उनके पास, बिछुड़े उनसे। अब उनसे पूछो क्यों जी, तुम आपसे पहले-पहल कब बिछुड़ोगे? बोले—अपना आपा तो मिला-मिलाया, नित्य प्राप्त है; इससे न कभी मिलना होता है और न कभी बिछुड़ना होता है। तो परमात्माके बारेमें यही बात समझो, परमात्मा केवल अपना आपा ही नहीं है, अपने आपेका भी अपना आपा है, माने अलग-अलग शरीरमें जो आपा-धापी हो रही है कि यह आपा यह आपा; उन सब आपाओंमें जो सबका आपा है, उससे; अपने आपसे कभी वियोग हो सकता है? इस छोटे अहंकारसे कभी वियोग हो भी सकता है, परन्तु यह सब अहंकारोंका जो अहं है, जिसने उसको पहचान लिया, उसने यह पहचाना कि हमारा कभी वियोग था नहीं, है नहीं और होगा नहीं। इसलिए ज्ञानी पुरुषको छोड़कर बाकी लोग जो हैं—

जो बिछुड़े हैं पियारेसे भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमनको बेकरारी क्या?
हमारा यार है हममें हमनको इन्तजारी क्या?
कबीरा इश्कका माता दुईको दूर कर दिलसे
जो चलना राह नाजुक है हमन फिर बोझा भारी
हमारा यार है हममें हमनको बेकरारी क्या?

तो ज्ञानी जो है वह नित्ययुक्त है। अब नित्ययुक्तताकी एक बात यह देखो कि ज्ञानीकी नित्ययुक्तता कैसी है?

योगीकी युक्तता यह है कि वह प्रकृति और प्राकृत प्रपंचसे अपनेको असंग जानकर अपने द्रष्टा स्वरूपमें अवस्थित होगया और फिर दृष्टि-सारूप्य नहीं हुआ तो नित्य समाधि लग गयी। बोले—बस भाई बस, अब होगया।

भक्त नित्ययुक्त कैसे होते हैं? वे प्रपंचसे परे, मायामण्डलसे परे जो परमात्मा है, उसके साथ सायुज्यको प्राप्त हो जाते हैं, तद्धित भाव उनको हो जाता है।

परन्तु ज्ञानीके लिए ज्ञानमात्रसे परमात्माके साथ नित्ययुक्त होना, यह आप देखो बड़ी विचित्र बात है। कर्मेन्द्रियोंमें यह बचन (शब्द) जो है न, यह विलक्षण है। पाँवसे अप्राप्तकी प्राप्ति होती है। पाँवसे चलकर जाते हैं,

तो जो दूर होता है वह मिलता है। हाथसे पकड़ते हैं तो जो दूर होता है सो मिलता है। बोलकर किसीको पुकारते हैं तो जो दूर होता है वह आता है। यह कर्मेन्द्रियोंका काम है! परन्तु जो हम वचनका उच्चारण करते हैं वह **वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्।** हमारे मुँहसे जो वचन निकलता है वह केवल समझ बदल देता है। वाक्य-ज्ञानसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है वह वस्तु पहलेसे प्राप्त होती है। इसीलिए वागिन्द्रिय दूसरी चीज है, वह प्रमाण नहीं है। बोलना प्रमाण नहीं है, श्रोत्र प्रमाण है; और श्रोत्र प्रमाण नहीं है वाक्य प्रमाण है। श्रोत्र तो केवल कोई शब्द बोल रहा है कि नहीं बोल रहा है, इसीमें प्रमाण है और शब्द जो है वह तो महाराज, कोई चीज बिलकुल मिली हुई हो तो बता देता है। अनमिलेको शब्द नहीं मिलता है, मिले-मिलायेको बताता है।

तो **नित्ययुक्तः** का अर्थ क्या है? ज्ञानमात्रसे जिसकी प्राप्ति होती है वह केवल अज्ञानसे ही अप्राप्त भासता था। अज्ञानसे जिसकी अप्राप्ति होती है वह मिला-मिलाया होता है और ज्ञानसे जिसकी प्राप्ति होती है वह मिला हुआ होता है। इसलिए इस ज्ञानीको जो नित्ययुक्तता प्राप्त हुई वह अज्ञान कालमें भी प्राप्त ही थी, और ज्ञान-कालमें भी प्राप्त ही है, केवल मालूम नहीं था।

न हम बन्दा थे न खुदा, हमें मालूम न था।
दोनों इल्लतसे जुदा थे, हमें मालूम न था॥

ऐसा बोलते हैं—न हम जीव थे, न ईश्वर परन्तु यह बात हमको मालूम नहीं थी। इल्लत माने उपाधि। दोनोंसे जुदा थे।

नारायण कहो! ज्ञानी नित्ययुक्त क्यों है? कि न तो उसको ईश्वरको पानेके लिए चलना है, न तो ईश्वरको मिलनेके लिए पकड़ना है, न ईश्वरसे मिलनेके लिए बोलना है, न ईश्वरसे मिलनेके लिए ध्यान करना है। न ईश्वरसे मिलनेके लिए कुछ समझना है। उसने तो पहिचान लिया कि मेरे सिवाय दूसरा कोई अलग कोई परमात्मा नहीं है और हमसे बिछुड़ा हुआ कोई परमात्मा नहीं है। अनमिला नहीं है तो मिलेगा कौन? मिला-मिलाया युक्तः। इसलिए कभी वियोग नहीं।

अब जरा **एकभक्तिः** की बात देखो। ज्ञानी एकभक्ति है। ज्ञानीकी भक्ति बड़ी विलक्षण है।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।

ज्ञानीको बुखार नहीं आता है, ब्रह्म ही आता है। ज्ञानीको जुकाम नहीं आता, ब्रह्म ही आता है। सर्वभावेन—ज्ञानी पुरुष देखता है '**हिन्दू-मुसलमाँ-पारसी-सिक्ख-जैन-ईसाई-यहूदी सबके सीनेमें धड़कता एक-सा है दिल मेरा।** मेरा ही दिल सबके दिलमें धड़क रहा है। सबके कलेजेमें जो धड़कन चल रही है, वह मेरी धड़कन है। सबकी साँस है। सबकी आँखोंमें जो रोशनी है वह मेरी रोशनी है। सबके दिलमें जो ज्ञान है वह मेरा ज्ञान है। **सर्वभावेन।** सर्वत्र पुरुषोत्तम है। सर्वत्र भगवान् है। **एकभक्तिः सर्वभावेन।** इसलिए मिट्टी-पानीसे बनी हुई चीजें भी भगवान्। आग भी भगवान्। वायु भी भगवान्, आकाश भी भगवान्। मन भी भगवान्। बुद्धि भी भगवान् और कान भी भगवान्। नारायण कहो, भगवान्-ही-भगवान्। एकभक्तिः।

तो **सर्वभावेन भजति** का अर्थ ध्यानमें बैठा लो! एक तो अपनी ओर जितने भाव हैं, वे सब भगवान्के लिए हैं। एकने कहा कि हे भगवान् हमने अपनी आँख तो तुमको दे दी, लेकिन जीभ अपने लिए रखा है भला! ऐसे समर्पण नहीं होता है। बोले—हाथ तुम ले जाओ, उससे कुछ काम करना हो भगवान्, तो करो, लेकिन जीभ तो हमारे पास रहेगी, भोजन तुम दे दिया करना। ऐसे भगवान्को समर्पण नहीं होता है। बोले—प्रभु! पाँव ले लो, इससे तो तुम चला करो; आँख हमारे पास रहने दो, जो कुछ दिखेगा, सो मैं देखा करूँगा। तुम चला करना और मैं देखूँगा, ऐसे नहीं होता है समर्पण।

तो यह हुआ स्वार्थी, जो कहता हैं कि पाँवसे तुम लेकर चलो और आँखसे मैं देखूँगा। और जो कहता है कि आँख लेकर तुम देखो, मैं चला करूँगा, वह हुआ भक्त। भक्त वह हुआ कि देखनेका मजा तुम लो, चलनेका परिश्रम मैं करूँगा। और विषयी वह हुआ, स्वार्थी वह हुआ जो कहता है चलनेका परिश्रम तुम करो, देखनेका मजा मैं लूँगा। और ज्ञानी कौन है? जिसका देखना और चलना—सर्वभावेन—देखना और चलना दोनों ही परमात्मामें है।

जहँ जहँ चलौं सोई परिकरमा,
जो जो करौं सो सेवा।

तो जो-जो कर्म करो, **तद् तद् अखिलं शम्भो तवाराधनम्।** जो दीख रहा है सो परमात्मा—सर्वभावेन—और जो हो रहा है सो सब परमात्मा है। जो कुछ तुम्हारे बारेमें कहाँ जा रहा है सो सब परमात्मा है और जो तुम्हारे बारेमें हो रहा है सो सब परमात्मा है। किसीके बारेमें जो कुछ कहा जा रहा है सो सब परमात्मा है और किसीके बारेमें जो कुछ हो रहा है सो सब परमात्मा है।

आत्मा त्वं गिरिजामतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्,
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा-समाधि-स्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणाविधि स्तोत्राणि सर्वा गिरौ
यद्-यद् कर्म करोमि तद्-तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

आत्मा और परमात्मा एक, आत्मा और शिव एक। बुद्धि पार्वती, प्राण सहचर, शरीर गृह, खाना-पीना, हँसना-बोलना, पूजा, निद्रा-समाधि, पाँवसे चलना प्रदक्षिणा, जो बोलते हैं सो स्तोत्र। जो-जो कर्म हो रहा है वह सब भजन है—सर्वभावेन।

ज्ञानीकी भक्ति कैसी? छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि ज्ञानीकी भक्ति है—सोऽहमस्मि। यह अखण्डाकार जो वृत्ति है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सद्वीदं सर्वं। ब्रह्मै वेदं सर्वं। अहमेवेदं सर्वं। ए ऐवेदं सर्वं। आत्मैवेदं सर्वं। यह जो उपनिषदोंमें परमात्माके सर्वात्मभावका वर्णन है, यही परमात्माकी भक्ति है।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। १५.१९

अपने मनके जो भाव हैं—क्या? कि तुम मेरे स्वामी, तुम मेरे आत्मा, तुम मेरे सखा, तुम मेरे शिशु, तुम मेरी माँ, तुम मेरी सखी, तुम मेरे प्रीतम। यह क्या है? जो भाव है सो सब उसीके साथ है। सर्वंभावेन।

अब सर्वभावेन होनेसे क्या हुआ? कि जिसके साथ भाव सो ईश्वर और जिसमें भाव सो ईश्वर। भावका आश्रय भी ईश्वर और भावका विषय भी ईश्वर। एक हो गया न, इसीका नाम एक हुआ। जिसमें भाव हुआ सो ईश्वर और जिसके प्रति भाव हुआ सो ईश्वर, दोनोंमें एक—एकभक्तिः। एक भक्ति हो गया। तो ज्ञानीकी विशेषता क्या है? कि वहाँ अपना नहीं, पराया नहीं। अपनेमें भी वही और परायेमें भी वही।

एकभक्तिः अतएव विशिष्यते।

ये जो 'अहं ग्रहोपासक' लोग होते हैं वे (एकभक्तिः) नहीं। वे अपनेमें भगवान्‌को देखते हैं सामनेवालेमें भगवान्‌को नहीं देखते हैं वे अहंग्रहोपासक हो गये। और एक प्रतीकोपासक हो गये—इदंमें भगवान्‌को देखते हैं अहं मे नहीं देखते। कट्टर जो भक्त होगा, वह यह कहेगा कि सबमें भगवान् हैं, सब भगवान् हैं परन्तु मुझको छोड़कर। और ज्ञानी कहेगा कि मैं भगवान् हूँ, , मेरे सिवाय, दूसरा नहीं। तो अहंग्रहोपासक कहेगा, मैं भगवान् 'इदं भगवान्' नहीं। प्रतीपोपासक कहेगा 'इदं भगवान्' मैं नहीं। फिर भक्त लोग बोलेंगे कि नहीं, दोनों (इदं और अहं) एक नहीं, दोनों मिलकर एक घुल-मिलकर, सायुज्यरूपसे एक। ज्ञानीने कहा—नहीं, दोनोंके द्वैतका बाध होना आवश्यक है; तो अद्वितीय तत्त्वके ज्ञानसे द्वैतका बाध होता है। आत्मा एक नहीं, अद्वितीय। यह विशिष्ट बात है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

अब **अत्यर्थं प्रियः**। विशिष्ट क्यों है ज्ञानी भक्त? यह समझाते हैं कि 'हि यतः' क्योंकि, 'अहं ज्ञानिनः अति अर्थं प्रियः'। स च ज्ञानी मम अत्यर्थं प्रियः।

नारायण कहो! बोले ये ज्ञानी और भगवान् तो प्रिया, प्रियतम बनकर बैठ गये। असलमें भलेमानुसको कोई पहचानेगा तो प्रेम किये बिना रह नहीं सकता और बुरे मानुसको पहचानेगा तो उसको छोड़ ही देगा। यह तो ज्ञानपर ही निर्भर बात है। जैसी-जैसी जानकारी मनुष्यकी संसारमें होती है उसीके अनुसार बर्ताव करते हैं। जिसे चोर समझते हैं उससे सावधान रहते हैं; जिसको साहुकार समझते हैं उसपर विश्वास करते हैं। तो जब विश्वास मनुष्यका टूटता है तब क्रियाकी पद्धति दूसरी हो जाती है और जब विश्वास रहता है तब क्रियाकी पद्धति दूसरी हो जाती है। ज्ञानी लोग भगवान्‌के बारेमें ठीक-ठीक जानकारी रखते हैं कि वह तो आत्मा ही है।

अब आत्मा जो है वह **अन्यस्मात् सर्वस्मात् प्रियः** आत्मदेव अन्य सबसे अधिक प्यारा है—यह सच्चा अनुभव है।

महाराज! जब अपने ऊपर संकट आता है तो लोग सबको छोड़ देते हैं। सबकी दाढ़ीमें आग लगे तो क्या होगा? बोले—सब अपनी अपनी बुझावेंगे। दो प्रेमी हों और दोनोंकी दाढ़ीमें एक साथ आग लगे, तो यह नहीं

होगा कि वह अपनी जलने देगा और दूसरेकी बुझाने जायेगा। फिर बादमें उससे पूछो कि क्यों भाई तुमने पहले अपनी क्यों बुझाई? तो बोले कि हमने यह देखा कि हमारी जलनेपर हमारे प्रीतमको तकलीफ ज्यादा होती है। और उनकी जलनेसे तो तकलीफ हमको होती, इसलिए वह तकलीफ मैंने सही। आयी बात ध्यानमें कि नहीं?

यह प्रेमियोंका कथावाचन है भला! यह प्रेमियोंकी पोल-पट्टी है। दाढ़ीमें आग लगनेपर सब पहले अपनी बुझायेंगे, कथा बादमें बाँचेंगे। यही बात श्रुतिमें समझायी हुई है—

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति।
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।
न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

—पत्नी पतिको सुख पहुँचानेके लिए पतिसे प्रेम नहीं करती है, अपनेको सुख पहुँचानेके लिए पतिसे प्रेम करती है। और पति पत्नीको सुख पहुँचानेके लिए पत्नीसे प्रेम नहीं करता है, अपनेको सुख पहुँचानेके लिए पति पत्नीसे प्रेम करता है।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

सबसे प्यारा कौन? बोले—सबसे प्यारा वह दाढ़ीवाला जो है, अपना खुद दाढ़ीदार यही है, सबसे प्यारा। जिसकी जीभ ललरीकी तरह मुँहमें घूमती है, कौड़ीकी तरह आँख जिसके जुड़ी हुई है! अरे कौड़ी ही है!!

यह दो छेदवाली नाक मुँहके ठीक ऊपर लगा दी गयी है। एक बार, इसमें-से इतना बलगम गिरा महाराज, किसी देवताको, कि देख लिया किसी भक्तने तो बोले—हे भगवान् हमको बिना मूँछका मत बनाना। मूँछसे नाकका बलगम मुँहमें तो नहीं जायेगा न, मूँछके बाल रोक लिया करेंगे। ये मूँछके बाल इसीलिए बनाये गये हैं कि यहाँ जो नाकका बलगम है, वह सीधे मुँहमें न चला जाये। नहीं, बात गन्दी नहीं करता हूँ—यह जो सांस हम लेते हैं, यह नाकमें जो हवा जाये वह जरा छन-छनके जाये, हवाके साथ ये कण और जो त्रसरेणु उड़ते रहते हैं, मोटरकी

चरणधूलि जो उड़ती रहती है, वह उड़कर सीधे नाकके रास्ते दिमागमें न पहुँचें, इसलिए थोड़ी मूँछ बना दी!

यह जो मूँछवाला है यह कौन है? माने यह हाथवाला कौन? पाँववाला कौन? नाकवाला कौन? सबसे ज्यादा प्यारा यही है, आत्मा जिसको बोलते हैं। मनुष्यको जिससे दुःख मिलने लगता है उसको छोड़ देते हैं और जिससे सुख मिलता है उसको पकड़ते हैं। यह संसारका नियम है। तो महाराज,

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं—ज्ञानी जानता है कि हमारे आत्माका नाम भगवान् है। देखो, भगवान् सबसे प्यारे हैं। क्यों? क्योंकि वे अपने अहमर्थ हैं, अपने आत्मा हैं, इसलिए सबसे ज्यादा प्यारे वही हैं। **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं।**

तो अत्यर्थंका एक अर्थ हुआ सबसे अधिक। अब दूसरा अर्थ देखो उसका। **अत्यर्थं** माने **अर्थं अभिधेयं अर्थं अतिक्रम्य अत्यर्थम्।** वाणीसे किसी-न-किसी अर्थका प्रतिपादन किया जाता है, जैसे यह घट है, यह पट है, यह मठ है। तो 'अर्थं अतिक्रम्य'का क्या अर्थ हुआ? **अर्थ-शब्दः अभिधेय वचनः, निर्वचनीय वचनः; अतः अत्यर्थं अर्थः अनिर्वचनीय।** ज्ञानीको भगवान् इतना प्यारा है कि कोई निर्वचन कर, कह कर वाणीसे वर्णन नहीं कर सकता।

भगवान् स्वयं कहते हैं; अर्जुन, क्या बताऊँ, ज्ञानीका मैं कितना प्यारा हूँ! बोले—वैसे तो मैं भगवान् हूँ और मेरी वाणी वेद है और संसारमें ब्रह्माकी वाणी भी और शिवकी वाणी भी और जितने जीव हैं, और प्रकृतिमें जितनी वाणियाँ हैं जो पहले मिल चुकी हैं, प्रकट होकर लीन हो चुकी हैं, जितनी इस समय वाणियाँ प्रकट हैं, पशुकी पक्षीकी मनुष्यकी, देवताकी और आगे ब्रह्मादि जितने देवताओंकी वाणियाँ प्रकट होंगी, उनके द्वारा जिन-जिन अर्थोंका अभिधान होगा, जितना वर्णन पहले कभी किसीने किया है, कर रहा है, आगे करेगा, ज्ञानीका मैं इतना प्यारा हूँ कि उसका वर्णन न कभी कोई कर सका है, न कर रहा है, न आगे करनेमें समर्थ है। सब वाणियाँ मिलकर भी और वाणियोंकी समष्टि मिलकरके भी, लौकिक वाणी, पारलौकिक वाणी, अलौकिक वाणी, ब्रह्माजीकी वाणी और खुद मेरी वाणी—अत्यर्थं, मेरी वाणी भी उस

अनिर्वचनीय स्वरूप प्रेमका वर्णन करनेमें असमर्थ है, जो प्रेम ज्ञानीका मेरे प्रति होता है। अत्यर्थका अर्थ है—अनिर्वचनीय।

अत्यर्थं अनभिधेयं अर्थ शब्दः।

शब्दका अर्थ होता है। शब्दका अर्थ पदार्थ। पदका अर्थ होता है, उसीको अर्थ बोलते हैं—अत्यर्थम्, पदार्थं अतिक्रम्य—अत्यर्थम्। किसी भी पदका उच्चारण कर कभी कोई उस प्रेमका वर्णन नहीं कर सकता।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्

—भगवान् कहते हैं कि मैं खुद अगर ज्ञानीके प्रेमका वर्णन करने लग जाऊँ तो असमर्थ हूँ। क्योंकि किसी पदार्थके रूपमें उसका वर्णन करना संभव ही नहीं है! इतना प्यारा, इतना प्यारा—'अत्यर्थम्'। क्योंकि 'प्रियः'। प्रियका अर्थ क्या है? प्रिय शब्दका अर्थ होता है जो खूब तृप्ति दे उसको प्रिय बोलते हैं। ***प्रीञ् तर्पणे*** धातु है, ***प्रीणाति इति प्रियः।*** जो तृप्ति दे वह प्रिय है।

महाराज! जब प्रियतम सामने खड़ा होता है तो आँख तृप्त हो जाती है देखकर, कान तृप्त हो जाता है सुनकर, त्वचा तृप्त हो जाती है छूकर, मन तृप्त हो जाता है ध्यान कर और बुद्धि तृप्त हो जाती है जानकरके।

ज्ञानीका मैं प्रिय हूँ, माने ज्ञानीको अत्यन्त प्रीति देनेवाला हूँ। इसका अर्थ है कि ज्ञानी वह है जो मुझमें चल-चलकर खुश होता है कि मैं परमात्मामें चल रहा हूँ। मुझे छू-छूकर खुश होता है, मुझे देख-देखकर खुश होता है, मुझे सुन-सुनकर खुश होता है, मुझे सूँघ-सूँघकर खुश होता है। महाराज, लोग कहाँ समझते हैं कि हम परमात्माको छू रहे हैं! कि हम परमात्माको देख रहे हैं, कि हम परमात्माको सुन रहे हैं, कि हम परमात्मामें चल रहे हैं, ऐसा लोगोंको मालूम ही नहीं पड़ता। ज्ञानी ऐसा है—

सम्पूर्णं जगदेवनं नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्त वारि निबहा पुण्या समस्ता क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिभिरे वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुतया दृष्टे परब्रह्मणि।

—परब्रह्म परमात्माका साक्षात् अनुभव हुआ, सम्पूर्ण जगत् नन्दनवन हो गया। सारे वृक्ष कल्प वृक्ष हो गये। सब जलनलका जल भी, कुएँका जल भी, सब गंगा जल हो गया। सारी क्रिया पवित्र हो गयी, उसको ज्ञानी बोलते

हैं। क्रिया मात्र जिसकी पवित्र है। वह हिन्दीमें बोले, संस्कृतमें बोले, ब्रह्मवेत्ताकी वाणी वेद है।

ब्रह्मवेद अरु ब्रह्मविद् ताकी बानी वेद।
भाषा अथवा संस्किरत करत भेद भ्रम छेद।

ब्रह्मवेत्ताकी वाणी वेद है। वह भाषामें होय कि संस्कृतमें। क्योंकि देहाती संत होगा तो संस्कृत थोड़े ही बोलेगा, वह तो संस्किरत बोलेगा, परन्तु उस वाणीमें भी भेद भ्रमको काट देनेकी शक्ति होगी।

वाराणसी मेदिनी—ज्ञानीके लिए धरतीका एक-एक चप्पा वाराणसी है। जैसे वाराणसीमें मरनेसे मुक्ति होती है न, ज्ञानीको ऐसा दिखता है कि जहाँ मरें वहीं मुक्ति है। काशीमें ही क्यों मरें? परब्रह्म परमात्माका दर्शन होनेपर सर्वावस्थिति हो गयी। अच्छा, मरते समय यदि ब्रह्मको भूल गया, ईश्वरको भूल गया, आत्मा-परमात्माको भूल गया, हाय-हाय करता हुआ, धरतीपर छटपटाता हुआ, बेहोश होकर मर रहा है, तो बोले—ब्रह्मा वस्थिति है, यही ब्राह्मी स्थिति है। सब ब्रह्म हो गया, दृष्टे पर ब्रह्माणि—परब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर ऐसा हो जाता है।

इसका अर्थ क्या हुआ?—**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्** ज्ञानीके सामने सर्वरूपमें प्रकट होकर मैं उसको तृप्ति दे रहा हूँ। धन्योऽहं! धन्योऽहं!! परमानन्दमें निमग्न होकर अपार हर्षका अनुभव कर रहा हूँ। वह ज्ञानी अत्यर्थप्रिय है।

बोले—क्या मतलब तुम्हारा कृष्ण? कुछ होगा प्रयोजन ज्ञानीसे तुम्हारा या ज्ञानीका प्रयोजन होगा तुमसे, ज्ञानी कुछ लेता होगा तुमसे? या ज्ञानीसे तुम कुछ लेते होगे? बिना लिये-दिये महाराज, दुनियामें इतनी खुशी, इतनी प्रीति कहाँसे मिले? तो भगवान्ने कहा—अत्यर्थं, अर्थं कामं अतिक्रम्य। अर्थं माने प्रयोजन। हमारा कुछ लेना—देना नहीं, अकारण प्रीति है। सहज प्रीति है, लेनेकी प्रीति नहीं है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

बोले कि भाई, एकतरफा बात कर दी तुमने कि ज्ञानीका मैं प्रिय हूँ। तुम्हारे अन्दर भी कुछ है? जगमगाहट'है तुम्हारे दिलमें सोता दिल है कि जागता दिल है तुम्हारा? भगवान् कहते हैं कि मेरा भी प्रिय—'अत्यर्थं प्रियः,

स च ज्ञानी मम अत्यर्थं प्रियः'। वह ज्ञानी मेरा अत्यन्त प्रिय है। अत्यर्थं प्रिय माने अनिर्वचनीय प्यार है ज्ञानीसे हमारा।

अनिर्वचनीय अत्याधिक और निष्काम तीन अर्थ अत्यर्थका है। अत्यर्थ शब्दका एक अर्थ है, अर्थ माने कोई प्रयोजन नहीं है और अर्थ माने पदार्थ—वर्णन करने योग्य नहीं है, अनिर्वचनीय है और अत्यर्थ माने अत्यधिक। अत्यधिक प्यारा है ज्ञानी मेरा, इसका क्या अर्थ हुआ? बोले—वर्णन नहीं कर सकते, अरे बाबा, भगवान् जिसका वर्णन न कर सकें, उसमें भगवान्में ही कमजोरी आयी न? बोले—नहीं, कोई चीजका पारावार हो और कोई वर्णन न कर सके तब उसमें दोष आता है और जिसका पारावार हो ही नहीं उसके बारमें तो यही कहना कि भाई, उसका पारावार नहीं है, यही उसका वर्णन करना है।

भगवान् ज्ञानीसे बहुत प्यार करते हैं। सच पूछो भाई, तो यह संसारमें जो भगवान्का नाम सुनायी पड़ता है, ईश्वरका जो नाम सुनायी पड़ता है और यह जो रूपोंके बारेमें लोगोंका ख्याल कि यह भगवान् यह भगवान्; और जो गुणोंका ख्याल है कि भगवान् बड़ा सर्वज्ञ, बड़ा दयालु; ये ज्ञानी लोग न होते अगर संसारमें तो इनका पता भी नहीं चलता। ज्ञानियोंने भी कह-कहकर कि हमने भगवान्से भेंट की है हमने पहचाना है, हमसे मिले हैं, हमको दीखते हैं भगवान्, ऐसे हैं, ऐसे हैं। अगर कोई यह कहनेवाला नहीं आता कि हम भगवान्को जानते हैं, पहचानते हैं, मिलते हैं, जुलते हैं, तो महाराज, ज्यादा दिनतक यह दुनिया अन्धेरेमें नहीं भटकती। साफ कह देती कि हम नहीं मानते ईश्वरको, परमेश्वरको। यह तो ज्ञानी लोगोंने प्रकट हो-होकर भगवान्की रक्षा की है। भगवान्का विज्ञापन अगर किसीने किया है तो, ज्ञानियोंने। इसीलिए कमीशन ज्ञानियोंको ज्यादा मिलता है भला! क्या? बोले—कमीशनमें तो अपने आपको ही दे दिया है, भगवान्ने अपने विज्ञापनके कमीशनमें अपने आपको ही दे दिया—ज्ञानियोंकी आत्मा बनकर बैठे हैं। ज्ञानीसे भगवान्ने कहा, जो तुम बोलोगे सो हमारा बोलना, जो तुम देखोगे सो हमारा देखना, जो तुम छुओगे वह हमारा छूना। तुम्हारी उपस्थिति हमारी उपस्थिति, तुम्हारा दिल ही हमारा दिल, तुम्हारी बुद्धि ही हमारी बुद्धि, तुम्हारा होना ही हमारा होना।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

भगवान् कहते हैं मैं प्यारा हूँ ज्ञानीका और मेरा प्यारा है ज्ञानी। माने मुझे तृप्ति देनेवाला, मुझे आनन्द देनेवाला प्रिय है ज्ञानी। ज्ञानीको देखकर मैं आनन्दित हो जाता हूँ। ज्ञानी मुझे रोशनी देता है, कहता है इधर चलो भगवान्, इधरसे चलो। ऐसे कहता है। ज्ञानी हमारे अन्दर आकृति बना लेता है, हमारी पोशाक बदल देता है, हमको बुद्धि दे देता है, हमको प्यारा-प्यारा बनाकर लोगोंसे प्रेम करवा लेता है। बड़ा प्यारा है ज्ञानी हमारा।

अब प्रश्न यह आया कि ज्ञानीकी तो बात ऐसी आये जैसे भगवान् उलझ ही गये हों ज्ञानीसे, छोड़ते ही नहीं। जिससे प्रेम होता है, वह मिल जाये तो बस उलझ जाते हैं। हमने कभी-कभी देखा है किसी झड़बेरकी तरह उलझते हैं लोग! दो प्रेमी हों न, तो बेबात की ही बात जोड़ते जाते हैं, घण्टे-आध घण्टे उनकी बात सुनो और फिर सोचो कि इतनी देरमें इन्होंने कोई मतलबकी बात की है? हमारे तो जो ज्यादा प्रेमी होते हैं, उनकी चिट्ठी आती है तो मैं पढ़ता ही नहीं हूँ। प्रेमपत्र माने बेमतलब पत्र। बेमतलब ही लिखते हैं, दो-दो चार-चार पन्ने होगा, उसमेंसे प्रयोजनकी बात एक नहीं निकलेगी। रोज लिख रहे हैं, चार-चार पेज लिख रहे हैं। दादाने हमको चिट्ठी लिखी थी कोई धौलागिरीसे, अभीकी बात नहीं है, शुरू-शुरूमें, जब उसका पहला दौरा था, प्रेमका जब पहला दौरा था, बीस पेजकी चिट्ठी लिखी थी, कहानी लिख-लिख भेजता था। मैंने वह बीस पेजवाली तो शायद पढ़ली पूरी, पर वह जो कहानी-वहानी आती थी, पढ़ता भी नहीं था। अब भी बहुतसे पत्र ऐसे आते हैं, लिफाफेपर देख लेता हूँ पता, किसके हाथके अक्षर हैं, तो दादाको दे देता हूँ, पढ़कर देख लेना भाई, मतलबकी बात हो तो हमको बता देना। और नहीं तो कौन दिमाग खराब करे। प्रेमपत्र माने बेमतलब। प्रेमियोंकी बातचीत बेमतलब। वह तो उलझनेमें ही मजा आता है, यह तो केवल मजाके लिए बात-पर-बात निकालते जाते हैं। लौट-लौटकर आते-जाते हैं। वृन्दावनमें तो वर्णन है कि जब गोपियाँ बहुत जिद करतीं राधारानीसे कि अब चलो, बहुत देर हो गयी, तो वे क्या करतीं कि जब चलने लगतीं, तो धीरेसे अपने गलेमें जो मोतीकी माला होती, उसको तोड़कर फेंक देतीं नीचे। बोलीं—

अरी सखी, सुन-सुन-सुन! हमारी तो मोतीकी माला टूट गयी, मोती बिखर गये आओ-आओ ढूँढ़ें। तो अब इस बहाने आध घण्टेमें मोतीके दाने बीने गये, तबतक चलो ठाकुरजीके साथ रहनेका मौका तो मिला, बहाना बना-बनाकर।

तो ये जो प्रेमी लोग होते हैं न, इनको तो उलझनेमें ही मजा आता है। ऐसा लगता है कि जब कृष्णके सामने ज्ञानियोंकी चर्चा आती तो उलझ गये थोड़ा—

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

अब बोले—**उदारा सर्वएवैते,** ज्ञानियोंकी चर्चामें कहीं इन गरीबोंको, भूल मत जाना बेचारोंको।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

'ऐते सर्वे एव उदाराः'। ये सभी भक्त उदार हैं। उदार हैं माने उत्कृष्ट हैं, श्रेष्ठ हैं। उदार शब्द बड़ेके अर्थमें आता है। भगवान्‌की कथा उदार है। उदार शब्दका अर्थ होता है कि जिसकी शक्ति जितना देने की होवे, उससे ज्यादा दे दे, उसका नाम उदार होता है। उदार तब बोलते हैं उसको जब वह अपनी शक्तिसे अधिक दे दे। हमारे वृन्दावनके आश्रममें एक कहार है, पानी भरनेका काम करनेवाला। कोई समझो बाईस-चौबीस बरस तो अभी आश्रमको बने हुए है उड़िया बाबाजी महाराजका और वह उससे भी पहलेसे सत्संगमें आनेवाला है। तो उसको जब कभी आश्रममें कोई काम होता है, बाजारमें सौदा लेनेके लिए भेजते हैं, पाँच, दस, बीस रुपया उसको दे दिया और गया महाराज, कोई गरीब मिल गया उसको, कोई कोढ़ी मिल गया, कोई भूखा मिल गया, खिला दिया, दे दिया और खाली हाथ बिना सौदेके लौट आया। एक बार नहीं, बारम्बार, बीसों बरससे। क्या हुआ भाई? सामान लाये? बोले कि सो तो बाबा, गरीब मिल गया एक, दे दिया, बड़ा गरीब था बाबा! अरे, ऐसे दोगे तो कैसे काम चलेगा? बोला—तो फिर हमारी तनख्वाहमें-से ले लो। अब उसकी तनख्वाह तो तीस-चलीस रुपये। अब उसमें-से उसकी उदारतावाली सम्पत्ति तो निकल नहीं सकती। बेइमान नहीं है, लालची नहीं है। उसके

बीस बरसके जीवनमें कभी कोई एक पैसे की चोरी या गलती, त्रुटि पकड़ी नहीं। बल्कि वह तनख्वाह से, जो तनख्वाह उसको मिलती है, एक ब्राह्मणको देता है वह, जिसने अब व्याकरणाचार्य परीक्षा पास कर ली काशीमें। है कहार। वह अपना तीस रुपया महीना। अपने काममें वह अपनी तनख्वाह भी नहीं लेता, बहुत ही उदार है। उदारका मतलब यह होता है जो अपनी शक्तिसे अधिक दान करे।

ये भक्त उदार हैं—यह कहनेका अभिप्राय क्या है? जरा इसपर आप समझो! भक्त अपनी माला-झोली किसीको दे दे—यह कोई बहुत उदारता नहीं है। अपना कपड़ा उतारकर दे दे सो बात भी नहीं है। ये भक्त लोग महाराज, भगवान्‌को भी दे देते हैं! तीनों भक्तोंमें भी—आर्त्त भक्तमें भी, अर्थार्थी भक्तमें भी और जिज्ञासु भक्तमें भी, यदि वह भक्त है, वह सामर्थ्य है कि भगवान्‌को भी दे दे। वह जिज्ञासाका सामर्थ्य नहीं है भला, आर्तिका सामर्थ्य नहीं है और अर्थार्थनाकी शक्ति नहीं है। यह उसकी भक्तिकी शक्ति है कि वह चाहे तो किसी दूसरेको भगवान्‌को ही उठाकर दे दे। तीनों भक्तोंमें यह सामर्थ्य है कि यदि ये किसीको वचन दे दें कि हमने अपने प्रभुका तुमको दान किया, तो तीनोंके दानपर भगवान् दूसरेको मिलनेको तैयार हैं। बड़े उदार हैं। पर भगवान् कहते हैं, हमको देते फिरते हैं। इन भक्तोंके कारण भी लोगोंके हृदयमें हमारी भक्ति आती है और मैं लोगोंको मिलता हूँ। यह उनकी उदारता है।

अच्छा इस प्रसंगको कल फिर पूरा करेंगे।

१८. सभी भक्त उदार हैं परन्तु ज्ञानी सर्वोत्तम है

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ ७.१८॥

अर्थ :—ये सब (चारों ही भक्त) उदार हैं परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह युक्तात्मा ज्ञानी पुरुष मुझमें स्थित है और उसके लिए मैं ही अनुत्तम गति हूँ॥ १८॥

१८.१
ज्ञानी मेरी आत्मा है

श्रीकृष्णने कहा कि मैं ज्ञानीका अत्यन्त प्यारा हूँ और मेरा अत्यन्त प्यारा ज्ञानी है। माने ज्ञानी प्रेमी और भगवान् प्रियतम और भगवान् प्रेमी और ज्ञानी प्रियतम। प्रियतम हैं तो दोनों प्रियतम हैं, प्रियतम रूपसे दोनों एक हैं; और प्रेमी हैं तो दोनों एक ही, और प्रियतम रूपसे भी दोनों प्रेमी, प्रेमित्वमें दोनों एक हैं। तो प्रेमीरूपसे भी दोनों एक ही, क्योंकि दोनोंका एकत्वापादक प्रेम है। प्रेममें एकत्वापादकत्व कहाँसे आया? बोले—ज्ञानसे। इसलिए अर्थ इसका यह हुआ कि ज्ञानी परमात्मा और परमात्मा ज्ञानी—

ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर, ब्रह्मज्ञानीको ढूँढे महेश्वर—(सुखमनिसाहिब)

अच्छा, यह हुआ कि ब्रह्मज्ञानी और परमेश्वर तो एक हो गये और ये बेचारे आर्त्त जिज्ञासु और अर्थार्थी ये भी आपकी लिस्टमें हैं महाराज, कि बिलकुल बाहर? उड़िया बाबाजी महाराज कहते थे कि भाई, हमारी लिस्टमें जिसका नाम लिख गया, उसकी मुक्ति हो गयी। महाराज, आपके पास रजिस्टर तो है नहीं। बोले—नहीं, कोई कागजके रजिस्टरपर नाम नहीं लिखा जाता।

अब देखो, असलमें जब भगवान्ने अत्यर्थम् शब्दका प्रयोग किया तो उसीसे यह बात निकल आयी। ज्ञानी भगवान्का अत्यन्त प्रिय और भगवान् ज्ञानीके अत्यन्त प्रिय तो इससे निकला कि अत्यन्तको छोड़करके भगवान्का कोई प्रिय भी है, क्योंकि जब एकके लिए कहा गया कि यह अत्यन्त प्रिय है

तो दूसरेके लिए अत्यन्त शब्दका प्रयोग नहीं हुआ, लेकिन प्रियता तो आ ही गयी। उपनिषद्में आता है—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

जो काम समझ-बूझकर श्रद्धासे विधिपूर्वक किया जाता है, वह अत्यन्त शक्तिशाली होता है। इसका अर्थ हुआ कि यदि विद्यामें कुछ कमी भी हो, श्रद्धामें कुछ कमी भी हो, विधिमें कुछ कमी भी हो, लेकिन काम किया जाये तो वीर्यवत्तर—अत्यन्त शक्तिशाली नहीं होगा, तब भी उसके अन्दर थोड़ी शक्ति तो रहेगी, यह बात वहाँ सूचित होती है। इसलिए भगवान् बताते हैं कि भले कोई ज्ञानी न हो, लेकिन मेरी भक्ति करे तो भक्त होनेसे ही वह महापुरुष है।

भक्ति मनुष्यको महात्मा बना देती है, महान् बना देती है। संसारी लोग जब संसारकी वस्तुओंको चाहते हैं तो वे वस्तुको तो चाहते हैं लेकिन यह ध्यान नहीं करते कि देनेवाला कौन है! उनको तो सेठ दे दे, राजा दे दे, पड़ोसी दे दे, कोई दे दे, उनको तो धन चाहिए। उनके ऊपर कोई तकलीफ है, उसको मिटा दे, चाहे कोई मिटा दे, तकलीफ मिटनेसे मतलब है। लेकिन भक्तका स्वभाव यह है कि वह तकलीफ तो मिटाना चाहता है, इसमें संदेह नहीं, परन्तु अपने प्रभुके हाथों तकलीफ मिटाना चाहता है। वह ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, लेकिन प्रभुसे ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह धन तो चाहता है, लेकिन केवल प्रभुसे ही धन प्राप्त करना चाहता है। दूसरेके द्वारा मिटायी हुई तकलीफ, उसको तकलीफदेह है, दूसरेके द्वारा प्राप्त हुआ धन उसके लिए दुःख है, दूसरेसे प्राप्त हुआ ज्ञान उसको परमानन्द नहीं देता है, उसको तो प्रभुके हाथों ही मिलना चाहिए, यह उसकी विशेषता है। और, ज्ञानीकी विशेषता यह है कि उसकी तकलीफ मिटे, कि न मिटे इसका कोई ख्याल नहीं है और ज्ञान मिले—यह उसके लिए अब प्रश्न ही नहीं है, धन मिले—यह उसके लिए प्रश्न ही नहीं है, वह सम्पूर्ण प्रेम, प्रभुसे करता है।

आर्त्त जो है उसमें एक तो संसारी आर्त्त है और एक आर्त्त भक्त है। एक भक्त था वृन्दावनमें; वह कहता था कि भगवान् जब प्रकट होकर अपने हाथसे जलेबी खिलायेंगे, तब खायेंगे, बरसों वृन्दावनमें रहा, वह मिठाई नहीं खाता था। मन तो जलेबी खानेका हो, वासना तो है, लेकिन भगवान्के हाथसे जब

जलेबी मिलेगी तब खायेंगे। महाराज, एक दिन क्या हुआ, वह गया जमुना किनारे। अब जमुनाजीमें डुबकी लगाकर जो ऊपर निकला तो क्या देखता है कि जलेबी-पर-जलेबी बही चली आ रही है। अब उसके मनमें कमजोरी आ गयी। उसने कहा यह जमुनाजीमें जलेबीका बहना यह भगवान्‌की कृपा ही तो है! भगवान् अपने हाथसे क्या खिलावेंगे, वही भेज रहे हैं। खा लिया। अब खा लिया तो भगवान् प्रकट नहीं हुए खिलानेके लिए। अगर वह न खाता जलेबी तो भगवान् प्रकट होकर उसे अपने हाथसे जलेबी खिलाते।

इतनी विशेषता उन भक्तोंकी तो माननी पड़ेगी कि वे भगवान्‌के सिवाय दूसरेका भरोसा, दूसरेसे कोई लालसा, दूसरेसे कोई मनोरथकी पूर्ति नहीं चाहते।

अब इस आर्त्त भक्तमें और ज्ञानी भक्तमें विशेषता क्या हुई? यह हुई कि आर्त्त भक्त आर्त्ति मिटानेमें भी प्रेम करता है और भगवान्‌में भी प्रेम करता है। अर्थार्थी भक्त थोड़ा प्रेम अर्थसे करता है, थोड़ा भगवान्‌से करता है। जिज्ञासु प्रेम ज्ञानसे करता है और थोड़ा भगवान्‌से करता है। लेकिन ज्ञानी पुरुष जो है वह परमात्माको आत्मरूपसे जान लेनेके कारण केवल परमात्मासे ही प्रेम करता है क्योंकि उसके तो सबकुछ परमात्मा ही हैं, अपने आत्मा प्रभु, अपने प्रेम प्रभु, अपने आनन्द प्रभु।

तो बोले—वे सभी भक्त प्यारे हैं—

उदाराः सर्व एवैते—ऐते सर्वे एव उदाराः।

ये सब-के-सब उदार हैं। उदारकी बात आपको कल सुनायी थी। जो अपनी शक्तिसे अधिक दे दे उसको उदार बोलते हैं। अमर कोशमें उदार शब्दका दो अर्थ मूलमें दिया हुआ है—

उदाराः दातृमहतोः एक तो दाताको उदार कहते हैं, जो खूब दान करे, बड़े उदार हैं भाई। यह जानते हुए भी कि यह आदमी हमको ठग रहा है, देते जाते हैं।

और, 'उदार' कहते हैं महान्‌को।

एते सर्वे एव उदाराः। एते सर्वे उदाराः एव।

इसका अर्थ हुआ कि ये सब-के-सब महान् पुरुष हैं। इनके चित्तमें संसारकी उतनी पकड़ नहीं है, भगवान्‌की पकड़ है, इसलिए सब उदार हैं।

उदार शब्दकी व्युत्पत्ति कई ढंगसे होती है। क्या? **उत् आ रान्ति। उत्** माने **ऊर्ध्वं। आ** माने **समन्तात्। रान्ति** माने **ददति।** जो अपनी शक्तिके ऊपर सबको देते हैं। **उत्** माने शक्तिके ऊपर, **आ** माने सबसे और **रान्ति** माने **ददति।** जो अपनी शक्तिसे अधिक सबको देनेके लिए तैयार, उनका नाम उदार।

उत् आ रिच्छन्ति इति उदाराः—जो भगवान्‌की ओर चल रहे हैं उनका नाम उदार हुआ। ***उत् ऊर्ध्वं आ पूर्णतः रिच्छन्ति गच्छन्ति।*** जो परमात्माकी ओर पूर्णरूपसे चल रहे हैं वे उदार।

उदर्यन्ते इति उदाराः। सब लोग महाराज, जिसके पास मददके लिए आते हैं—आप हमारी मदद करो, आप हमारी मदद करो; और वह जो सबकी मदद करता है वह उदार है। **उत्** और **आ** पूर्वक **ऋ** धातुसे कर्ममें 'घञ्' प्रत्यय हो गया तब उदार शब्द बना। **उदर्यन्ते इति उदाराः।** और फिर उससे एक दूसरा प्रत्यय और करना पड़ता है। तो यह उदार।

उदार माने महान् पुरुष। सब महान् पुरुष हैं। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होना ही महत्ताका सूचक है। इतने महान्‌के साथ जिसका रिश्ता, इतना महान् पुरुष जिसका स्वामी, वह भी महान् हो गया। ये चपरासी लोग जो बड़े लोगोंका काम करते हैं, तो जब अपने गाँवमें लौटते हैं तो बोलते हैं कि मैं प्रधान मन्त्रीका चपरासी हूँ, मैं राष्ट्रपतिका चपरासी हूँ। एक हमारे पासके गाँवका ड्राईवर था, वह कहता था कि 'सम्पूर्णानन्दजीकी खास मोटर मैं चलाता हूँ।' उसको बड़ा अभिमान था इस बातका। तो बड़ेके साथ सम्बन्ध होना भी मनुष्यके मनमें महत्ताका उदय कराने वाला होता है। और ये भक्त तो भगवान्‌के साथ रिश्ता बनाकर बैठे हैं—तुम हमारे आत्मा, तुम हमारे स्वामी, तुम हमारे मित्र, तुम हमारे पुत्र, तुम हमारे माँ-बाप, तुम हमारे पति, तुम हमारे प्रीतम। नारायण कहो, ऐसे सम्बन्ध जो भगवान्‌के साथ जोड़कर बैठे हैं, वे अपने प्रभुसे महाराज, कभी कुछ थोड़ा ले भी लेते हैं, तब भी उदार ही हैं।

बोले—फिर ये सब उदार हैं, सब महात्मा हैं, आर्त्त भक्त भी महात्मा, जिज्ञासु भक्त भी महात्मा, अर्थार्थी भक्त भी महात्मा, सब बड़े-बड़े महान् हैं। तो ज्ञानी क्या है? उसको भी तो आखिरमें महात्मा ही कहोगे न। यह अद्‌भुत बात है।

एक कथा आती है कि एक बार दण्डी और कालिदास दोनों इकट्ठे हुए। दण्डीको अभिमान था कि मैं सबसे बड़ा कवि हूँ। 'कुमारचरितम्'का है न—**वन्दनापदलालित्यम्**—पदलालित्यमें दण्डीकी बराबरी करनेवाला और कोई नहीं। और उधर कालिदास महाराज, कविकुल तिलक, कालिदासके बराबर कवि कौन? दोनोंमें हो गया विवाद। कालिदासका ख्याल था कि मैं बड़ा कवि हूँ और दण्डीका ख्याल था कि मैं बड़ा कवि हूँ यह हुआ कि चलो सरस्वतीसे पूछें। सरस्वतीके सामने जाकर दोनों उपस्थित हुए, बोले— माता, बताओ, हम दोनोंमें बड़ा कौन? सरस्वतीने छूटते ही कहा—

कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।

दण्डी कवि है, दण्डी कवि है, दण्डी कवि है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

अरे, इतनेमें तो कालिदास जल गये, तिलमिला गये, आग बबूला हो गये, बोले—

अहं रण्डे? अहं रण्डे?

अरी राण्ड! फिर मैं कौन हूँ?

सरस्वती बोलीं—**त्वं तु मद्रूप एव हि।**

कालिदास! तुम तो मेरे स्वरूप हो।

माने सरस्वती और कालिदास एक।

अब देखो, पहले कवि कहनेसे दण्डीकी जितनी प्रशंसा हुई थी, अपना स्वरूप बतानेसे उससे आगे हो गये न कालिदास। तो—

उदाराः सर्व एवैते कह कर जो साधारण भक्तोंको महान् बताया गया था, उसकी जगह भगवान्‌ने कहा—**ज्ञानी त्वात्मैव। ज्ञानी तु आत्मैव।** अगर ये सब महात्मा हैं तो ज्ञानी क्या है? बोले—आत्मैव, वह तो मैं ही हूँ। मुझमें और ज्ञानीमें कोई फर्क नहीं, आत्मीय नहीं। और सब आत्मीय हैं और ज्ञानी आत्मा है।

आत्मा शब्दका चार अर्थमें प्रयोग संस्कृत साहित्यमें होता है। एक तो धनके लिए आत्मा शब्दका प्रयोग होता है। एक जातिके लिए आत्मा शब्दका प्रयोग होता है। एक—अपने लिए होता है, एक जो अपना अत्यन्त मित्र होवे उसके लिए होता है और, वैसे कोशमें तो—

आत्मा यत्नो धृतौ बुद्धौ स्वभावो परमात्मनि।

आत्मा शब्दका उनेक अर्थ होता है। बोले—**आत्मैव का** अर्थ परमप्रेमास्पद। बस, मैं तो ज्ञानीसे एक होकर रहता हूँ। ज्ञानी हमारा धन है, ज्ञानी हमारा बन्धु है, ज्ञानी हमारी जाति है, हमारी ज्ञानियोंसे जात-पाँत है। हमारा ज्ञानियोंसे बन्धुभाव, शिष्टाचार है। ज्ञानियोंसे हमारा प्यार है, ज्ञानी हमारी पूँजी हैं। आत्मैव। जो मैं सो ज्ञानी। जो ज्ञानीको गाली देता है उसकी गाली हमको लगती है। जो ज्ञानीकी स्तुति करता है उसकी स्तुति हमको लगती है। क्योंकि ज्ञानीने मुझसे अलग अपनेको रखा ही नहीं।

बोले—कृष्ण! एक बात बताओ कि तुम कभी किसीकी बात उठाकर बोल देते हो, कभी किसीकी बात उठाकर बोल देते हो कि यह वेदका मत है, यह शास्त्रका मत है, यह पुराणका मत है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

यह किसका मत है कि ज्ञानी आत्मा है और सब भक्त महान् हैं? बोले—**इति तु मे मतम्। मे—मम।** यह मेरा मत है। मेरा यही सम्प्रदाय है। मेरा यही निश्चय है। मेरा यही मत है। मेरा यह निश्चय है कि ज्ञानीमें और मुझमें भेद नहीं है।

अब प्रश्न हुआ कि ज्ञानीके अन्दर ऐसी कौन-सी विशेषता है जिसके कारण ज्ञानीको भगवान् अपनी आत्मा बताते हैं! केवल योग शब्द पकड़ो—**स हि युक्तात्मा। हि यतः स ज्ञानी युक्तात्मा भवति।**

और, दूसरी विशेषता इसमें क्या है?

अनुत्तमां गतिम् माम एव आस्थितो भवति।

दो विशेषता है इसमें।

जब यह दोनों-दोनोंका देहमें मैं होता है न अलग-अलग, तो लड़ाई हो जाती है। भाई-भाई लड़ जाते हैं। कैसे? कि देहाभिमानसे। पति-पत्नी लड़ते हैं काहेसे? कि देहाभिमानसे। और बाप-बेटे लड़ते हैं, कहाँसे? देहाभिमानसे। अच्छा, परिवाराभिमानसे, यह मेरा खानदान है, दूसरे परिवारके साथ लड़ाई होती है। और, ग्रामाभिमानसे? वह हमलोग देहातमें देखते हैं—यह हमारे गाँवकी सीमा है और यह हमारे गाँवकी सीमा है। रातको पत्थर जो गड़ा हुआ होता है, उसको उखाड़कर दूसरे की सीमामें गाड़ आते हैं कि यहाँ तक हमारा गाँव है, तो लड़ाई हो जाती है।

प्रान्ताभिमानसे देखो, पिछले बरसों कितनी-कितनी लड़ाई और कितना-कितना विवाद हुआ। यह अभिमान बड़ा दुःख देता है। भाषाभिमान, जात्याभिमान। राष्ट्राभिमानके कारण बड़े-बड़े युद्ध होते हैं। पहले देखो हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दो कहाँ थे? वर्मा-हिन्दुस्तान दो कहाँ थे? हमारे सामने देखते-देखते वर्मा-हिन्दुस्तान अलग हुआ। हम सबके देखते-देखते पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अलग-अलग हो गया। अब? बोले—यह हमारा राष्ट्र और यह तुम्हारा राष्ट्र, मरो! खुद बनाया, खुद अभिमान बनाया। कोई नदी नहीं, कोई पहाड़ नहीं, चहारदीवारी नहीं। अभिमान बना लिया—यह हमारा राष्ट्र, यह तुम्हारा राष्ट्र! अब थोड़े दिनोंके बाद क्या होगा? अगर कोई महायुद्ध नहीं हुआ, तो यह हमारी पृथ्वी, हमारी मातृभूमि और यह मंगलग्रह यह तुम्हारी मातृभूमि। अब क्या है? कि मंगल ग्रह वालोंसे पृथ्वी ग्रहवालोंका युद्ध हो रहा है। नारायण कहो! शुक्र ग्रहवालोंका मंगल ग्रहवालोंसे युद्ध हो रहा है। एक ब्रह्माण्डका दूसरे ब्रह्माण्डसे संघर्ष हो रहा है। और यह महाराज, ईश्वर—युक्तात्मा, वह तत्त्वज्ञ पुरुष, उस परमात्मासे ऐक्य करके बैठा है जिसके अन्दर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड त्रसरेणुके समान उड़ रहे हैं। उस परमात्मासे ऐक्य कर जो बैठा हुआ है उसके लिए—

अब हम कासों बैर करौं। जित देखौं तित साँवरी सूरत।

जहाँ देखता हूँ वहाँ तू-ही-तू है। एक परमात्माका दर्शन। **यत्र यत्र मनो याति,** देहाभिमान गलित हो गया, परमात्माके स्वरूपका ज्ञान हो गया। न राग है, न द्वेष है, न वैर है, न विरोध हैं, न अपना है, न पराया है, वह तत्त्वज्ञ महापुरुष महाराज जिस भूमिकामें बैठा हुआ है ऐसे महापुरुषकी जो स्थिति होती है, उसको वही लोग समझ सकते हैं जो उस स्थितिमें पहुँचे हुए हैं। नहीं तो नोन-लकड़ी-मिर्च-मसाला और मेरा-तेरा इसमें संसारी लोग फँसे हुए हैं। तो तत्त्वज्ञ पुरुष कि स्थिति कहाँ है? कि युक्तात्मामें। युक्तात्मा है वह।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ ४.१८

युक्तात्मा है वह। कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म, प्रपंचमें ब्रह्म और ब्रह्ममें प्रपंच, अखण्ड समाधि लग रही है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ६.८

उसके लिए सब बराबर। ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा होकर बैठा हुआ है।

यह ब्रह्मविद्या महाराज, कोई साधारण विद्या नहीं है। जिनको वैराग्य नहीं है, जिनको जिज्ञासा नहीं है, जिनको सत्संगका संस्कार नहीं है, उनकी समझमें यह कभी आनेवाली नहीं है।

ज्ञानीकी एक बात तो है युक्तात्मा। यह वासना वासित अन्तःकरणवाला मनुष्य नहीं है; इसका बाधित अन्तःकरण, इसका प्रतीति मात्र अन्तःकरण ब्रह्ममयी वृत्तिसे भरपूर है।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

और दूसरी बात यह है—**मामेव आस्थिताः**—वह केवल भगवान्में ही पूर्णरूपसे स्थित है।

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्ण कुंभ इवाम्बरे।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे॥

यह अवधूत गीतामें है। भीतरसे भरपूर बाहरसे भरपूर, जैसे कोई भरा हुआ घड़ा पानीमें। बाहरसे भी शून्य, भीतरसे भी शून्य, जैसे कोई आकाशमें शून्य घड़ा होवे। तो **मामेव आस्थिताः** यह ज्ञानी पुरुष कहाँ स्थित है। आ—पूर्णतः। पूर्णतः उसकी स्थिति भगवान्में ही है। परमात्मामें ही उसकी स्थिति है—मामेव आस्थितः।

अब प्रश्न यह आया कि मोक्ष-वोक्ष तो कुछ चाहता होगा भाई! ज्ञानी मोक्ष चाहता होगा! नारायण कहो, जो मोक्ष चाहता होगा उसका नाम ज्ञानी नहीं है। मोक्ष तो केवल बद्ध ही चाहता है। जो बँधा हुआ है सो मोक्ष चाहता है। माने कहीं हथकड़ी-बेड़ी लगी है तो कैदी यह चाहता है कि हमारी कथकड़ी-बेड़ी छूट जाये, हमको इससे छुटकारा मिले, मोक्ष मिले। और, ज्ञानी पुरुष को तो उसकी हथकड़ी-बेड़ीकी सत्ता ही उड़ गयी, अब वह मोक्ष काहेको चाहेगा!

बुभुक्षुर्दृश्यते लोके मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षो विरलो हि महाशयः॥

लोगोंमें ऐसे देखे जाते हैं जो कोई बुभुक्षु होते हैं। बुभुक्षु माने भोग चाहनेवाले। बुभुक्षु माने भूखे, भोग ही चाहते हैं। और 'मुमुक्षुरपि दृश्यते'—

कहीं, कहीं मुमुक्षु लोग दीखते हैं—महाराज, बड़ा बन्धन, बड़ा दुःख संसारमें, मृत्यु सिरपर खड़ी है, कुछ समझमें नहीं आता है, इससे कैसे छूटें? मुमुक्षु भी देखनेमें आते हैं। परन्तु जिसको न भोग चाहिए न मोक्ष चाहिए, अपने आपमें खुद मस्ती-ही-मस्ती है, जो खुदमस्तीमें मस्त है ऐसा महापुरुष जिसको न बन्धन न मोक्ष, जिसको न भोग है न योग है, जो भोगसे भी छूट गया है और योगसे भी छूट गया है, वह तो कोई बिरला महापुरुष ही होता है। यह नहीं कि आसन करो तो योगी, प्राणायाम करो तो योगी और प्रत्याहार-धारणा-ध्यान करो तो योगी। वह योगके बन्धनसे भी मुक्त है और वह भोगके बन्धनसे भी मुक्त है। ऐसा अपने स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष **मामेव आस्थिताः।**

मामेवास्थिताःका अर्थ है **मोक्षाभिसन्धिमपि परित्यज्य।** उसके मनमें मोक्षकी कामना नहीं है। यह तो दुनियादार लोग जिस चीजको महत्त्वपूर्ण सामझते हैं, बोले महाराज, बस यह चीज बड़ी महत्त्वपूर्ण है, बस इसीमें लगो! देखो, पहले कांग्रेसी कहते—हमारी पार्टीमें शामिल हो जाओ दूसरी जितनी पार्टी, सो सब गलत। और जनसंघी कहते हैं कि हमारी पार्टीमें शमिल हो जाओ, बाकी सब गलत। सोशलिस्ट कहते हैं हमारी पार्टीमें शामिल हो जाओ और सब गलत। यह महाराज, जिसको जो भाता हो, व्यापारी कहते हैं सबको व्यापार करना चाहिए। फावड़ा चलानेवाले कहते हैं कि सबको फावड़ा ही चलाना चाहिए। माने जो जिसमें रचा-पचा हुआ है वह उसीमें दूसरेको खींचना चाहता है। और ज्ञानी वह पुरुष है जिसको कहीं कोई महत्त्व-बुद्धि उत्पन्न करके कि यह सच्ची चीज है, लगा नहीं सकता। यह सच्ची चीज है—यह महत्त्व बुद्धि है! ऐ! ज्ञानवालो! आप समाधि क्यों नहीं लगाते? ऐसा वे कहते हैं जो अज्ञानी हैं। ये बेवकूफ होते हैं, जो नहीं जानते हैं कुछ, उनको क्या मालूम कि समाधि क्या होती है और तत्त्वज्ञानीकी स्थिति क्या होती है! अनिर्वचनीय, जहाँ समाधि और विक्षेप बराबर। कोई माला फेरनेवाला हैं, वह बोले—ओ ध्यानी उठो, तुम क्या बैठे हो, लो हमारी माला, हम देते हैं तुमको, चेला बनो! हम कहते हैं जैसे-तैसे माला फेरो। अरे बेवकूफ, जहाँ तेरी स्थिति है वहाँसे वह बहुत आगे है।

यह जो बिना पूछे सलाह देनेवाले लोग होते हैं, वे महात्माकी, ज्ञानीकी स्थितिको नहीं जानते हैं। उसको मोक्ष भी नहीं चाहिए, उसको

वैकुण्ठ भी नहीं चाहिए, उसको समाधि भी नहीं चाहिए। उसको लोक-परलोक-अलोककी कोई स्थिति नहीं चाहिए। **मामेव आस्थितः** क्योंकि अपने आत्मरूपसे स्थित जो अद्वितीय परमात्मा है, सच्चिदानन्दघन, उसको अपने आत्माके रूपमें जानकर वह कृतकृत्य हो चुका है और उससे बढ़करके **अनुत्तमां गतिम्**—उस गतिसे बढ़कर और कोई गति नहीं है।

अनुत्तमां तिमग—*न अति उत्तमा गतिं यस्याः ता।*

'परो नास्ति' जैसे बोलते हैं—अनुत्तम—उससे ऊपर, उससे उत्तम दूसरी कोई स्थिति नहीं, दूसरी कोई गति नहीं; वहाँ वह जाकर बैठा हुआ है। **मामेवानुत्तमां गतिं आस्थिताः।** अब वह अपने चरमस्थितिमें अन्तिम, जिसके बाद और कुछ नहीं है वहाँ पहुँच चुका है।

मामेवानुत्तमां गतिं आस्थिताः यस्मात् क्योंकि उसने मेरे स्वरूपमें निष्ठा प्राप्त कर ली है। 'आस्थिताः' माने निष्ठावान हो गया है। ऐसा क्यों? ऐसा यों कि उसको ज्ञान ही प्राप्त हुआ है अन्तिम जन्ममें।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ ७.१९॥

बहूनां जन्मनामन्ते जन्मनि, इसका अर्थ ऐसे, 'बहूनां जन्मनां मध्ये अन्ते जन्मनि ज्ञानवान् भवति ततो मां प्रपद्यते'। बहुत जन्मोंके बाद।

जो भोग्य वस्तु चाहता है कि हमको इस इन्द्रियसे भोगनेके लिए यह चीज मिले, हमको मनसे भोगनेके लिए यह चीज मिले, हमको बुद्धिसे भोगनेके लिए यह-यह, चीज मिले, उसको उस-उस वस्तुका भोग प्राप्त करनेके लिए, अगर इस जन्ममें वे भोग पूरे नहीं होते हैं तो अगले जन्ममें जाना पड़ता है। जन्मकी यही प्रक्रिया है, क्योंकि यह जो वासना है चित्तमें, यह अपनेको पूरी करनेके लिए सूक्ष्म शरीररूप द्रव्यको खींचकर तत्तदाकारताको प्राप्त कराती रहती है। जो-जो जैसी-जैसी वासना होती है, उस वासनाके अनुरूप अन्तःकरणकी शक्ल बदलती जाती है और वैसे-वैसे शरीरको ग्रहण कर तत्तत् भोगकी प्राप्ति होती है।

जन्मका कारण यह है कि अपनेको ब्रह्म नहीं जानते। अपनेको परिच्छिन्न जानते हैं, मानते हैं। अपनेको ब्रह्म न जानना—इसका नाम अज्ञान है और अपनेको परिच्छिन्न मानना, इसका नाम भ्रान्ति है। और फिर, हम यह कर्म करेंगे

तो यह भोग मिलेगा, यह कर्तापन और भोक्तापन है। इस कर्तापन और भोक्तापनके अधीन होकर जीवको अपने भीतर मालूम पड़नेवाली कमियोंको पूरी करनेके लिए, पुरुष होता है तब वह कहता है कि सुख तो स्त्रीमें है , पुरुषमें नहीं, तो अगले जन्ममें वह स्त्री होगा; जब वह स्त्री होता है तब कहता है कि सुख तो स्त्रीमें नहीं, पुरुषमें है। तब उसे अगले जन्ममें पुरुष होना पड़ता है। बोले कि नहीं, शेर देखो, कितना बहादुर होता है और चाहे जिसको वह फटक ले, अब उसे शेर होना पड़ेगा। बोले—गीधको कैसे-कैसे मांस खानेको मिलते हैं, अब मांस खानेकी इच्छा होगी तो गीध होना पड़ेगा। यह वासनाके अनुरूप ही सूक्ष्म शरीरका निर्माण होता है और उसके अनुसार मनुष्यको जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं और सबके मूलमें अज्ञान तो बैठा ही हुआ है। अज्ञानके बिना अपनेमें कमी क्यों मालूम पड़ती? और दूसरेसे कुछ चाहते क्यों?

बोले—फिर कौन छूटता है इस संसारकी वासनासे? इस संसारकी वासनासे वह छूटता है, जब मनुष्य अपने जीवनमें निर्वासन होने लगे। वासना पूर्ण होनेसे मजा आता है कि वासना मिट जानेसे मजा आता है? यह आप अपने दिलमें देखो! कोई चीज देखकर दुनियामें, मन हो गया कि यह हमको मिलनी चाहिए। मनकी कमजोरी है। लेकिन यह मनके चुलबुलेपनके साथ अपनेको जोड़ देना कि हाँ-हाँ, मनने जिस चीजको पानेके लिए कहा, उस चीजको हम पावेंगे। यह जो वासना-पूर्तिमें रस लेना है, यह इस बातको सूचित करता है कि अभी तुम्हें संसारमें बहुत-बहुत वासना होंगी और उनको पूरी करनेकी लिए बहुत-बहुत जन्म होंगे। और जब वासनाकी निवृत्तिमें रस आने लगता है, आहा इतने समय तक हमारे मनमें कोई मनोराज्य नहीं हुआ, कोई वासना नहीं हुई, कैसी शान्तिसे बैठे हैं, भगवान्‌का भजन करते हैं, भगवान्‌का ध्यान करते हैं, भगवान्‌के स्मरणमें ही आनन्द आ रहा है, तब समझो कि जब वासनाकी निवृत्तिमें मजा आने लगे, वासनाकी शान्तिमें मजा आने लगे, ध्यानमें, धारणामें, समाधिमें, भगवद्‌भक्तिमें जब मजा आने लगे तब समझो कि अब तुम ऐसे जन्ममें पहुँच गये हो, जहाँसे छुटकारेकी ओर चला जाता है।

तो बहुत जन्म मिलनेके बाद अन्तिम जन्म जो प्राप्त होता है, उसमें ज्ञान होता है। श्रीमद्‌भागवतमें 'चरम' शब्दका प्रयोग है। यह जो तत्त्वज्ञानी है

इसको यह चरम शरीर प्राप्त हुआ है। भागवतमें जड़भरतके प्रसंगमें बताया **चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः** वे भरतको कैसा बोलते हैं? कि वह उनको अन्तिम शरीर—चरम शरीर प्राप्त हुआ है। 'अन्ते जन्मनि, चरमे जन्मनि', अन्तिम जन्म, अन्तिम शरीर प्राप्त हुआ है जड़भरतको। अब उसके बाद उन्हें दूसरा शरीर प्राप्त होनेवाला नहीं है। शुकदेवका शरीर अन्तिम शरीर है। ऋषभदेवका शरीर अन्तिम शरीर है। अब उनको दूसरा शरीर प्राप्त होनेवाला नहीं। जनकका शरीर अन्तिम शरीर है। भीष्मका शरीर अन्तिम शरीर है।

यह जो चरम जन्मको प्राप्त जो ज्ञानी पुरुष है, यह कैसा? बोले—अन्तिम जन्ममें ही निर्वासन पुरुषको ज्ञान होता है। निर्वासन होना अन्तःकरणकी शुद्धि होना है और निर्वासन पुरुषको तत्त्वज्ञानका प्राप्त होना, यह ज्ञानवान् होना है। अरे, जो ज्ञानवान् पुरुष होता है उसको भगवान्‌का अनुभव होता है।

अनुभव ज्ञान ही है। तुम्हारे सामने आकर भगवान् श्रीकृष्ण खेलें और तुम उनको पहचानो नहीं, ज्ञान ही नहीं हुआ कि ये श्रीकृष्ण हैं तो तुम्हें श्रीकृष्णका अनुभव हुआ? हमलोगोंके सामने ऐसी कितनी बातें आती हैं कि जब वह घटना घटित हो लेती है, आपके सामनेसे चली जाती है, तब ख्याल आता है कि अरे, यह तो कोई मनुष्य नहीं था—भाई, यह तो जीव नहीं था, ये तो भगवान् थे। कभी भूखे हैं, तो भोजन लेकर ऐसा आलौकिक व्यक्ति आता है कि उस समय तो सब कुछ भूल जाता है। खा लिया, पी लिया, वह खिलाकर चला गया, उसके बाद ख्याल आया कि यह कौन? अरे महाराज बड़ी भूल हुई यह तो, पहचाना ही नहीं कि 'वह' ऐसा चोला पहनके आया था।

एक बार मैं और चक्रजी हम दोनों कहीं उड़ीसामें घूमते हुए बिहारमें आये। अब वह देहातमें चलते-चलते कोई अपने यहाँ ठहरने ही न दे गाँवमें, हम लोग साधु नहीं थे, सफेद कपड़ा पहनते थे। लोग कहें इधर बड़े डाके पड़ते हैं, यहाँ पेड़के नीचे मत रहो और गाँवमें मत रहो, यहाँ जाओ, वहाँ जाओ। एक दिन हम लोग कोई छब्बीस अट्ठाइस मील चले। रातको ग्यारह बजे एक स्टेशनपर जाकर पहुँचे, गाँवमें रहनेकी जगह नहीं मिली। मुसाफिर खानेमें गये, पाँच-छह मील रास्ता अन्धेरेमें तय करके

मुसाफिरखाने गये। बख्त्यारपुरके आसपास हरगाँव उस स्टेशनका नाम था। ग्यारह बजे रातको अन्धेरेमें पहुँचे। अब वहाँ कोई दुकान, न बाजार और भूखे दिनभरके। चदरा बिछाकर लेटने वाले ही थे कि दो बालक आ गये—कोई बारह-तेरह बरसके, बिलकुल गौर वर्णके थे! एकदम, जैसे अंग्रेजोंके बालक होते हैं न, इनसे ज्यादा गौर वर्णके थे। अब भी याद आती है। और बोले—कुछ खाओगे? आकर बैठ गये हमारे पास। हमको 'खोआ' दिया खानेको। हम दोनोंने ग्यारह बजे रातको खूब भरपेट खाया। पानी पीया। उनसे पूछा, तुम कहाँ रहते हो? बोले—यहीं रहते हैं। खिलाकर चले गये। फिर हम सो गये, खूब थके हुए थे, पच्चीस-तीस मील चले हुए थे। जब सबेरे उठकर पता लगाया कि हमको दो बालक जो खिलाकर गये वे कौन हैं? कहाँ हैं? वहाँ तो मीलोंतक कोई बस्ती नहीं है। भाई, यह क्या है? न वहाँ स्टेशन मास्टरके कोई बच्चे, न कर्मचारियोंके बच्चे और फिर हों भी, तो वैसे कहाँसे होंगे? लेकिन जितनी देरतक वे थे हमारे सामने, यह ख्याल नहीं आया। भगवान्‌को पहचान लेना अपने सामने जिस रूपमें भगवान् आता है, उस समय उस रूपमें उसके सामने ही पहचान लेना बड़ा कठिन है।

अब भगवान् बोलते हैं कि ज्ञानी पुरुष मुझे पहचान लेता है—**प्रपद्यते। प्रपदनम्** किस रूपमें पहचानता है? बोले—**वासुदेवः सर्वमिति माम् प्रपद्यते।** प्रपत्तिका स्वरूप है यह भला! यह वासुदेव जो है श्रीकृष्ण, यह साक्षात् नराकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम क्षराक्षर विलक्षण, यह जो पुरुषोत्तम है परब्रह्म परमात्मा वासुदेव, यही सब है। इसके सिवाय दूसरा कोई है नहीं। इसका अर्थ है कि इसी देशमें, इसी कालमें इन्हीं रूपोंमें ज्ञानी पुरुष परमात्माको पहचानता है और संसारी पुरुष इनमें रहता हुआ ही उसको पहचानता नहीं है। पर वह पहचाननेवाला महात्मा बड़ा दुर्लभ होता है।

अब यह प्रसंग फिर आपको कल सुनावेंगे।

❖

१६. ज्ञानीकी शरणागतिका स्वरूप

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ ७.१९॥

अर्थ :—बहुतसे जन्मोंके अन्तिम जन्ममें ज्ञानवान् मेरी शरणागतिको प्राप्त होता है जिसका स्वरूप होता है कि सर्व वासुदेव ही है। ऐसा अनुभव सम्पन्न ज्ञानी महात्मा कहलाता है और वह अत्यन्त कठिनाईसे उपलब्ध होता है॥ १९॥

१९.१
वासुदेवः सर्वम्

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रपत्तिका वर्णन कर रहे हैं। इस प्रपत्ति शब्दका सम्प्रदायोंमें बड़ा आदर है। श्रीरामानुज सम्प्रदायमें प्रपत्ति सम्बन्धी अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, जैसे कि—

१. प्रपन्न पारिजात २. प्रपन्नामृत

भगवान्‌के प्रति प्रपत्ति। प्रपत्तिके बिना मनुष्यके जीवनमें परमार्थ सम्बन्धी कोई भाव उदय नहीं होता। आप थोड़ा ध्यान देकर देखें। एक आदमी ईश्वरको खोजनेके लिए निकला कि ईश्वर हमको मिले। पहले उसे यह प्रपत्ति होनी चाहिए कि ईश्वर है। ईश्वर है—अगर यह प्रपत्ति नहीं होगी उसके चित्तमें, तो ईश्वरको ढूँढ़नेके लिए क्यों निकलेगा? कोई धन ढूँढ़नेके लिए निकलता है या कोई इष्ट-मित्रको ढूँढ़नेके लिए निकलता है, सगे सम्बन्धीको ढूँढ़नेके लिए निकलता है, तो उसके मनमें यह प्रपत्ति रहती है कि वह है और मिल सकेगा और मैं उसको ढूँढ़ सकूँगा। उसकी सत्ता है, उसमें मिलनेकी योग्यता है और मुझमें ढूँढ़ निकालनेकी योग्यता है। यदि यह असम्भावना हो कि हमको तो वह कभी मिल ही नहीं सकता, हमारे अन्दर ऐसी योग्यता नहीं है कि हम उसको प्राप्त कर सकें या उसका ऐसा स्वरूप नहीं है कि हमको वह मिल सके या वह है ही नहीं—इन तीनोंमें से कोई भी बात होगी तो मनुष्य यह सुन्दर-सुन्दर शब्द छोड़कर, स्पर्श छोड़कर, रूप छोड़कर रस छोड़कर, गन्ध छोड़कर,

यह ऊँची कुर्सी छोड़कर और यह सोना-चाँदीका ढेर छोड़कर, यह बच्चेकी तोतली बोली और यह पत्नीका प्रेम छोड़कर मनुष्य एक अनजाने अनदेखे ईश्वरको ढूँढ़नेके लिए निकलेगा ही क्यों? इसलिए अनुसन्धन प्रारम्भ होनेके पूर्व ही एक प्रकारकी प्रपत्ति होना आवश्यक है। यह बात पन्द्रहवें अध्यायके प्रारम्भमें बतायी गयी—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी। १५.४

वह अव्यय पद तो है स्वयं भगवान् और जीव करता है प्रपदन। तो परिमार्ग—अनुसन्धान कैसे होवे? खोज, ढूँढ़ना, ईश्वरको ढूँढ़ना, यह कैसे होवे? जब पहले प्रपत्ति होवे—**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**—हम उस आदि पुरुषकी शरण ग्रहण करते हैं जिससे यह पुराणी प्रवृत्ति प्रसृत हुई है। माने जिसकी सत्तासे, जिसके प्रतापसे, जिसकी शक्तिसे, जिसके अन्तर्यमनसे यह सृष्टि प्रारम्भ हुई है और चल रही है, उस प्रभुकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ। उसकी शरण ग्रहण किये बिना तो उसकी खोज भी नहीं हो सकती **ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं।**

ईश्वरका विश्वास कर, ईश्वरका भरोसा कर, ईश्वरका ध्यान करते हुए, ईश्वरके शरणागत होकर ईश्वरकी खोजमें निकलना चाहिए।

अब समझो गुरुकी जरूरत पड़ी। तो गुरु भी बिना शरणागतिके प्राप्त नहीं होता। अभिमानी पुरुषको गुरुकी प्राप्ति नहीं होती। जिसको अपनी बुद्धिका, अपनी विद्याका, अपने धनका मद सवार है कि हम बहुत बड़े हैं, जिसको अपने अन्दर किसी भी तरहका बड़प्पन भरा हुआ है, वह गुरुकी शरण नहीं ग्रहण कर सकता। वह कहेगा हमारे पास एक बहुत बढ़िया चीज है। क्या? बोले—धन। कहीं हमने किसीकी शरण ग्रहण की और उसने छीन लिया, तो? पूरी तरहसे किसीके काबूमें नहीं आना। बोले—भाई, हमारे पास एक बहुत बड़ी सम्पत्ति है, क्या? बोले—स्त्री, पुत्र; पूरी तरहसे किसीकी शरणमें हो गये और उसने हमारी स्त्री छीन ली या हमारे पुत्रको अपना नौकर बना लिया, तो संभलकर। किसीकी शरण भी होना तो संभालकर।

अच्छाजी, बोले—और नहीं तो हमारा शरीर ही है, इतना परिश्रमी शरीर, पैसा कमा सकता है, संसारमें बड़े-बड़े काम कर सकता है, बड़ा सुन्दर, बड़ा मधुर, कहीं किसीने ठग लिया तो? जिसको संसारमें कहीं श्रेष्ठता भासती

है, सुन्दरता भासती है, महत्ता भासती है और उसको त्यागमें डर लगता है, तो ऐसा पुरुष ईमानदारीके साथ किसीकी शरणागति ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि उसको जो चीज दुनियामें बढ़िया लगती है, उसको वह पकड़कर रखेगा और यह सोचेगा कि हमने किसीकी शरण ली, तो वह ठग लेगा। तो वह अर्द्ध जरती-न्यायसे शरण ग्रहण करेगा। अर्द्धजरती न्याय क्या होता है? कि मुर्गीका आधा हिस्सा पकाये और आधा हिस्सा अंडा देनेके लिए रख ले। जैसे आधे हिस्सेका पकाना और आधे हिस्सेका अंडा देना—ये संभव नहीं है, इसी प्रकार अर्द्ध-ऊर्द्ध जो शरणागति है, वह इस मार्गमें नहीं चलती है। असलमें वह आदमी पूर्ण शरणागत हो ही नहीं सकता।

जब अर्जुनने देखा कि हमारी बुद्धि तो काम नहीं करती है, न पंडिताई, न बल, न बुद्धि, तब उसने कहा—**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** प्रपन्न हुआ। अर्जुन शरणागत हुआ। अपनी वीरताका अभिमान छोड़कर, अपनी विद्याका अभिमान छोड़कर, अपनी बुद्धिका अभिमान छोड़कर जब शरण हुआ, तब भगवान्ने उसको उपदेश दिया। इसलिए सच्चा उपदेश प्राप्त करनेके लिए शरण होना पड़ता है। यही शरणागति प्रपत्ति है।

अब आकर कहो कि साधन कर रहे हैं। अब तो हमको गुरुजीने बता दिया कि इतनी माला रोज फेरो और इतना पाठ रोज करो और इतनी भगवान्की सेवा-पूजा रोज करो और इतने व्रत करो, इतना ध्यान करो, इतना दान करो; अब तो हम मार्गमें चल पड़े! बोले—मार्गमें चलते चलते भी प्रपत्तिकी जरूरत होती है। वह नहीं समझना कि हम बड़े यती, बड़े तपस्वी और बड़े व्रती और बड़े माला-फेरक। यह महाराज,

जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा सांचो रांचो राम॥

काम इससे नहीं बनेगा, प्रपत्ति चाहिए। माला मायाके पार नहीं ले जाती, छापा (अखबार नहीं) जो शरीरपर लगाते हैं 'छापा तिलक सरै न एकौ माम'। 'मन काचे'—मन तो कच्चा है। 'नाचे वृथा'—व्यर्थ ही इधर उधर नाचता रहता है। 'सांचै रांचै राम'—जब भगवान्के रंगमें रँग जाये तब समझना कि मन सच्चा है। जबतक भगवान्के रंगमें रँगे नहीं, तबतक इस मनीरामको सच्चा नहीं समझना। ये मनीराम गिरगिटकी तरह रंग बदलते हैं।

नारायण कहो! जपका असली फल कब मिलेगा? तपका असली फल कब मिलेगा? पूजाका असली फल कब मिलेगा? जब इसमें प्रपत्ति होगी। माने भगवान्‌की शरणागति होगी। भगवान्‌की शरण हुए बिना अपने बल पौरुषसे, अपनी मालासे अपने जप-तपसे कोई भगवान्‌को पाना चाहे, तो नहीं पा सकता। इसलिए भगवान्‌ने कहा—**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।**

जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं वे ही, केवल वे ही मायाके पार जाते हैं। क्योंकि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। ७.१४

—माया संतरणके लिए भी भगवान्‌की शरणमें होना आवश्यक है।

ईश्वरकी खोज हुई शरणागतिसे, गुरुने उपदेश किया शरणागतिसे, हमारा साधन सफल हुआ शरणागतिसे। लेकिन एक ऐसी स्थिति होती है कि असलमें साधनकी सफलता ही प्रपत्ति है। यहाँ तक बताया—देखो माया तो तर गये, माया तरनेके बाद ज्ञानी पुरुषका जो वर्तमान जीवन है वह कैसा होता है? बोले—ज्ञानी पुरुषका वर्तमान जीवन भी अल्पात्मा नहीं होता, महात्मा होता है। **स महात्मा सुदुर्लभः।** महात्मा एक और अल्पात्मा एक। क्षुद्रात्मा समझो। एक तो खुदरा मालको मेरा बनाकर बैठा है और एक महान्‌को मेरा बनाकर बैठा है। तो 'स महात्मा सुदुर्लभः'। जो एक देह, स्थूल देह, सूक्ष्म देह, कारणदेहसे मैं और मेरा कर बैठा है वह क्षुद्रात्मा। और जो स्थूलदेह, सूक्ष्म देह, कारण देह-इन तीनोंमें-से मैं और मेराको हटाकर परमात्मामें बैठा है, उसका नाम महात्मा। महात्मा=*महान् आत्मा यस्य*—जिसकी आत्मा महान् है। महान् है माने अल्प नहीं है। जो एक देहको मैं-मेरा मानकर नहीं बैठा है, सम्पूर्ण विराट् सृष्टिसे तादात्म्यापन्न है; नहीं-नहीं, सम्पूर्ण हिरण्यगर्भकी जो सूक्ष्मसृष्टिसे तादात्म्यापन्न है; सम्पूर्ण ईश्वरकी जो कारण सृष्टि है उससे जो तादात्म्यापन्न है; नहीं, कारण-सूक्ष्म-स्थूल सब जिसमें बाधित हो गये, जिसके ज्ञानसे अल्पकी सत्ता ही मिट गयी, उस महान् ब्रह्मसे जो तादात्म्यापन्न होकर एकत्व अनुभव कर जो बैठा हुआ है, उसका नाम है महात्मा। महात्मा वह है जो महान्‌से एक होकर बैठा है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

'आत्मानं महान्तम् मत्वा धीरो न शोचिति'। अपने आत्माको महान्‌रूपमें अनुभव करके धीर पुरुष शोक-मोहसे पार हो जाता है।

महात्मा कौन है? जिसने अपने आत्माको महान्‌के रूपमें अनुभव किया, वही महापुरुष है और सब पुरुष हैं, वह महापुरुष है। और सब आत्मा हैं, वह महात्मा है। जिसमें आत्मा और परमात्मा दोनों मिल गये उसका नाम महात्मा।

बोले—भाई, ऐसा महात्मा होगा कौन? कि ऐसा महात्मा तो ज्ञानी ही होगा—**ज्ञानवान्।** सिवाय ज्ञानीके तो ऐसा महात्मा होगा नहीं। बोले—ठीक है, ज्ञानी कब होगा? बोले—**बहूनां जन्मनामन्ते**—*'चरमे अन्तिम-जन्मनि ज्ञानवान्भवति'*। जबतक तुम्हारे मनमें कोई ऐसी वासना भरी पड़ी है, जो इस जन्ममें तो पूरी हो नहीं सकती, वह वासना तुम्हें अगले जन्ममें ले जायेगी। महात्मा शब्दका यह अर्थ ध्यानमें रखने योग्य है। अगला जन्म कौन देता है? अगला जन्म वासनाएँ देती हैं। तो जिसकी वासनाएँ निवृत्त होगयीं या पूर्ण हो गयीं, वही ज्ञानवान् होता है। उसीका अन्तिम जन्म होता है। अन्तिम जन्म सबका नहीं होता। तो वासनाएँ तो कभी पूरी होती नहीं हैं। नारायणका नाम लो, ये पूरी होकर मिटनेवाली नहीं हैं—

यः पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः नालमेकस्य तृप्त्यर्थं—

संसारका सारा धन-धान्य, सारे पशु-मनुष्य एक ही व्यक्तिको दे दिये जायें तो उससे एक व्यक्तिकी तृप्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि यह वासना, महाराज आग है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।

मनुजीने कहा कि कामनाकी शान्तिके लिए जितना भोगरूप आहुति डालोगे उस आगमें, यह और-और भभकती जायेगी। यह वासना पूर्ण करनेसे कभी मिटती नहीं। अन्तमें कहीं-न-कहीं मनुष्यको अपनी वासनाको काटना पड़ता है, निवृत्त करना पड़ता है, छोड़ना पड़ता है। यह कैंसिल करनेकी चीज है भला! कृन्तशिल इसको बोलते हैं—**क्रिन्ताशिला यस्य तत् कृच्छिलं**—इसकी नींव उखाड़ फेंक दो, इसका जो किला है—नींव है वह उखाड़कर फेंको, यह काट डालनेकी चीज है, यह पूरी करनेकी चीज नहीं है।

तब **अन्ते जन्मनि** जन्मका अन्त कब है? अन्तिम जन्म तब है जब आगेके लिए कोई वासना शेष नहीं है। यह जो निर्वासनिक जीवन है, उसमें जब तत्त्वज्ञान हो जाये, तो वह तत्त्वज्ञान जन्म-मरणकी परम्पराको निवृत्त कर देता है। **सः महात्मा भवति।** तो वह महात्मा होता है। माने उसका जो अल्पमें तादात्म्य है, अल्पमें जो अध्यास है, आत्माको देहमें और देहको आत्मामें अध्यस्त कर—देहकी लम्बाई-चौड़ाई आत्मामें और आत्माका ज्ञान और आनन्द देहमें, यह परस्पर अध्यास कर; ज्ञानस्वरूप आत्मा है, आनन्दस्वरूप आत्मा है, अविनाशी आत्मा है, और यह शरीर साढ़े तीन हाथका है, मन दो मन वजनवाला है, और एक दिन पैदा हुआ, एक दिन मरनेवाला है—तो आत्माको इसमें चढ़ाकर और इसको आत्मामें थोपकर, आत्माका अध्यारोप इस शरीरमें कर और शरीरका अध्यारोप आत्मामें कर; इस अध्यासके कारण यह मनुष्य अल्पात्मा बना हुआ है। जब यह अध्यास कटता है, तब महात्मा होता है।

बोले—भाई, महात्मा कौन? उसकी प्रपत्ति बताओ। अभी 'जो है' उसकी प्रपत्ति बतायी, गुरुकी शरणमें जो जानेवाला है, उसकी प्रपत्ति बतायी, मायापार जानेके लिए जो प्रपन्न हो रहा है, उसकी प्रपत्ति बतायी। अब यह महात्माकी प्रपत्ति किंरूपा है? माने महात्मा किस शरणागतिमें स्थित होता है? जिज्ञासुको कहना पड़ता है—**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये।** हम उसकी शरणमें हैं। शिष्यको कहना पड़ता है—**त्वां प्रपन्नम्।** हम तुम्हारी शरणमें हैं। और चलनेवालेसे भगवान् कह रहे हैं—**मां प्रपद्यते** मेरी शरणमें आता है।

अब ज्ञानीकी शरणागति, ज्ञानीकी प्रपत्ति, ज्ञानीका भजन क्या है? बोले—**वासुदेवः सर्व इति मां प्रपद्यते**—यह ज्ञानीकी प्रपत्ति है। प्रपत्ति माने उपलब्धि, प्रपत्ति माने अनुभूति। क्या अनुभव हो रहा है? क्या प्रपद हो रहा है? महात्माको कैसा दर्शन हो रहा है? तो बोले—**वासुदेवः सर्वं इति प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वम्।** ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट् और विराट्का शरीर यह विश्व, हिरण्यगर्भका शरीर सूक्ष्मसृष्टि और ईश्वरका शरीर कारण-समष्टि, यह जो शरीरी भावापन्न त्रिविध परमात्मा है, यह त्रिविध परमात्मा एक ही ब्रह्मका विलास है। एक ही ब्रह्मका विवर्त है। एक ही ब्रह्म ईश्वरात्मना, हिरण्यगर्भात्मना, विराडात्मना, कारणात्मना, सूक्ष्मात्मना, स्थूलात्मना, एक अद्वितीय ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है। इसलिए—**वासुसेवः सर्वं इति मां प्रपद्यते।**

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।

विष्णुपुराणमें शरणागतिका स्वरूप बताया—यह सब परमात्मा है और मैं सब भी परमात्मा है भला! माने सबके शरीरमें, अगल-अलग मैं—मैं जो फुर रहा है न, वह एक ही ज्ञान सबके शरीरमें मैं-मैं फुर रहा है और सबके शरीरमें अलग-अलग जो 'यह'—'यह' फुर रहा है, वह एक ही ज्ञान सबके शरीरमें यह-यह फुर रहा है। इदंके रूपमें और अहंके रूपमें जो भी फुर रहा है, वह परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है।

विष्णु पुराणमें यह प्रसंग आया प्रह्लादजी महाराज बोल रहे हैं। उनको समुद्रमें डाल दिया गया, तो हिरण्यकशिपुको डर लगा कि यह समुद्रमें-से निकल आवेगा, बड़ा जादूगर है। तो प्रह्लाद्के ऊपर पहाड़ डाल दिये गये। समुद्रमें डालकर फिर पहाड़से दबा दिया गया, चुन दिया गया और प्रह्लाद नीचे बैठे अनुभव कर रहे हैं—

सकलमिदं अहं च वासुदेवः।

यह समुद्र भी वासुदेव है, यह पहाड़ भी वासुदेव है, यह दबानेवाले भी वासुदेव हैं और मैं भी वासुदेव हूँ।

अहं हरेः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।
इति यस्य मतिः परमार्थ गतिः
सनरो सागरमुद्धरति।

—ऐसी जिसकी बुद्धि है सर्वरूपमें नारायण हैं, *अन्तर्वहिश्च सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः*; बाहर भी वही भीतर भी वही।

अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यम्।

वृहदारण्यक श्रुतिने कहा कि उसमें पहले कुछ दूसरा नहीं है, बादमें कुछ दूसरा नहीं है, बाहर कुछ दूसरा नहीं है और भीतर कुछ दूसरा नहीं है। उसमें पहले-पीछे बाहर-भीतर है ही नहीं। ऐसा महाराज, ठसाठस, ठोस चेतनतत्त्व चित्तत्त्व, ठसाठस ठोस भरपूर है। हमारे एक महात्मा बस इतना ही बोलते थे। दर्शन करने गये बोले—महाराज कुछ उपदेश करो। बोले—भाई, बस ठसाठस ही है। माने दूसरी चीज उसमें घुसनेकी कोई गुंजाइश नहीं है। न उसमें कोई माया आसकती, न उसमें छाया आसकती, न मैं आसकता, न तुम आ सकता, दूसरी चीज उसमें घुसनेकी कोई गुंजाइश नहीं है—

वासुदेव सर्वमिति मां प्रपद्यते।

प्रपत्तिका स्वरूप क्या है? कि प्रपत्तिका स्वरूप है—**वासुदेवः सर्वमिति।**

यह वासुदेव बड़ा अद्‌भुत है। विष्णु पुराणमें वासुदेव शब्दकी अनेक व्युत्पत्ति दी हुई है—

वसत्यस्मिन्निति वासुः अधिष्ठानम्।

जसमें यह सम्पूर्ण प्रपंच रहता है उस वसतिका नाम, उस वासका नाम, उस वासस्थानका नाम वासु है।

दीव्यति स्वयं प्रकाशते इति देवः।

वासु माने अधिष्ठान—सर्वाधिष्ठान। वह रस्सी जिसमें साँप, डंडा, फूलमाला, भूच्छिद्र अनेक प्रकारकी वस्तुएँ कल्पित होती हैं, उस रज्जुका नाम वासु। उस ब्रह्मका नाम वासु, जिसमें ईश्वरसे लेकर जीवतक और जिसमें प्रकृतिसे लेकर तृण तक; तृणसे लेकर प्रकृतितक जड़वर्ग और जीवसे लेकरके ईश्वरतक; इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण, कुबेर, ब्रह्मा, शिव—सब जिसमें; अभिमानी वर्ग और अभिजात्यवर्ग जिसका अभिमान होता है वह और जो अभिमान करता है वह, अधिष्ठित वर्ग और अधिष्ठान, अधिष्ठाता वर्ग और अधिष्ठित वर्ग—दोनों जिस अधिष्ठानमें रह रहे हैं, उसका नाम वासु।

बोले—यह जड़ है कि चेतन? वह कहीं जड़ सत्ता तो नहीं है? बोले—नहीं, देवः। *देवः* माने *दीव्यति, स्वयं प्रकाशते*। स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान।

वासुदेव माने सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश।

दूसरी व्युत्पत्ति यह दी कि जो वशमें रहे सो वासुः। यह परमात्मा वासु है। वासु क्यों है? कि सबमें वसता है। सबके दिलमें वसे सो वासु। तो यह वासुदेव है। जो सबमें रहे, जिसमें सब रहे और जो स्वयं प्रकाश चिन्मात्र होदे उसको वासुदेव कहते हैं।

श्रीमद्‌भागवतमें वासुदेवके नामसे श्रीकृष्ण प्रसिद्ध ही हैं। ***वसुदेवस्य अपत्यं पुमान् वासुदेवः***—जो वसुदेवका बेटा होवे उसका नाम वासुदेव। तो वहाँ व्युत्पत्ति भागवतमें दूसरे। ढंगसे की हुई है। वे कहते हैं—**सत्त्वं विशुद्धम् वसुदेवशब्दितम्**—विशुद्ध जो सत्त्व है अन्तःकरण, उसको वसुदेव बोलते हैं। शुद्ध अन्तःकरण, वासना-रहित जो अन्तःकरण, निर्वासन जो अन्तःकरण उसका नाम वसुदेव, शुद्ध सत्त्वात्मा जिसमें रजोगुण नहीं और तमोगुण नहीं।

सत्त्वंविशुद्धं वसुदेवशब्दितम् भागवतके पाँचवें स्कन्धमें यह निरूपण है। शुद्ध अन्तःकरणमें जो प्रकट होवे उसका नाम वासुदेव। तो शुद्ध अन्तःकरणमें कौन प्रकट होता है? बोले—परमात्मा।

यस्तु विज्ञानवान भवति, समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।
सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।
स्मृति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

शुद्ध अन्तःकरणमें परमात्माकी प्राप्ति होती है। परिस्थतिसे प्रभावित अन्तःकरणमें परमात्माका दर्शन नहीं होता। देशसे प्रभावित अन्तःकरणमें भी परमात्माका दर्शन नहीं होता। कलकत्ते गये तो कलकत्तेका प्रभाव पड़ गया, बम्बई गये तो बम्बईका प्रभाव पड़ गया! ऐसे ढंगसे अन्तःकरण रहे कि स्थानका प्रभाव न पड़े, परिस्थितिका प्रभाव न पड़े, क्रियाका प्रभाव न पड़े, व्यक्तिका प्रभाव न पड़े, अवस्थाका प्रभाव न पड़े, धर्मका प्रभाव न पड़े। ऐसा अन्तःकरण होवे तब उसमें जो सत्य है। वह सत्य प्रकट होता है—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः।
श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्।

तो **वासुदेव सर्वमिति**—यह शुद्ध अन्तःकरणमें प्रकट होनेवाला वासुदेव। वासुदेव माने ब्रह्म। वासुदेव माने श्रीकृष्ण। वासुदेव माने सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश, जिसमें अहं और इदं दोनों भासते हैं। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने दृष्टान्त ही दूसरे ढंगके पकड़े हैं, भागवतमें दृष्टान्त हैं—

न यदिदमग्र आस भविष्यदतो निधनात्,
अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथैः,
वितथ मनोविलास मृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥

अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथैः—जैसे सोनेमें कड़ा है, सोनेमें हार है। सोनेमें एक मूर्ति बनायी, एक स्त्रीकी बड़ी सुन्दर मूर्ति सोनेमें बनायी। अब उस मूर्तिमें कंगन भी पहना दिया, हार भी पहना दिया, कुंडल भी पहना दिया।

और उस स्त्रीकी यह आँख है, यह ललाट है, यह नासिका है, यह मुख है, यह हस्त है, यह पाद है, सर्वांग दिखा दिया। अब वे स्त्रीके जो भिन्न-भिन्न अंग हैं और उसके जो भिन्न-भिन्न आभूषण हैं वे सब क्या हैं? बोले—उसमें धारण करनेवाली स्त्री भी स्वर्णमात्र ही है, और उसने जो आभूषण धारण किया है, सो? कि वह भी स्वर्णमात्र ही है।

वासुदेवः सर्वमिति—यह सृष्टि महाराज, इसमें एक धरती नहीं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड, उसी सोनेंमें तस्वीरकी तरह बने हुए हैं। और उस सोना-रूप परमात्मासे जुदा किंचित् भी नहीं हैं, पर इस बातको पहचाने कौन? कि जो ज्ञानी महात्मा होवे सो पहचाने। तो बोले—इसीलिए वह महात्मा हो गया न! एक तो भगवान् और एक भगवान्‌को पहचाननेवाला।

सुदुर्लभः—अद्भुत बात इस श्लोकमें कही गयी है। भगवान् तो सब हैं, विचार कर देखो भगवान् सब है, परन्तु महात्मा दुर्लभ है। भगवान् दुर्लभ नहीं हैं।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ७.३

तत्त्वरूपसे हैं भगवान्, इसलिए सुलभ हैं। परन्तु पहचाननेवाला जो है, वह तो तीन हजार मनुष्योंमें कम-से-कम, एक व्यक्ति ईश्वरकी ओर चलना चाहता है। *मनुष्याणां सहस्त्रेषु। सहस्त्रं च सहस्त्रं च सहस्त्रं च सहस्त्राणि सहस्त्रेषु*—माने हजार-हजार, लाख-लाख मनुष्योंमें कोई-कोई, और 'यततामपि कश्चित् सिद्धो भवति'—प्रयत्न करनेवाले हजारों-लाखोंमें किसी एकका अन्तःकरण शुद्ध होता है। और 'यततामपि सिद्धानां' उन हजारों, लाखों सिद्धोंमें-से कोई परमात्माको तत्त्वतः जानता है। इसलिए महात्माका मिलना बड़ा मुश्किल और भगवान्‌का मिलना आसान। भगवान्‌से मिले हुए महात्माका मिलना बड़ा मुश्किल।

पर यह महाराज, भगवान् भी ऐसा है कि ये रहते तो सब जगह हैं, उदासीन भावसे रहते हैं अपने आप न किसीसे जान-पहचान करते हैं, न मिलते हैं, पर जब कोई पहले परिचय करा दे कि महाराज! यह आपका भक्त है, यह आपको ढूँढ़ता हुआ आया है और भक्तसे कहे कि भक्तजी देखो, यह भगवान् हैं, तो ये मिलते हैं। कोई मिलनिया चाहिए इनको बीचमें। जैसे विलायतमें दो आदमी मिलते हैं तो कोई परिचय करानेवाला चाहिए, न परिचय करावे

तो दिनभर साथ बैठे रहेंगे, साथ बैठकर खायेंगे और साथ ही रहेंगे, साथ ही चलेंगे, लेकिन आपसमें बातचीत नहीं करेंगे। कि क्यों नहीं करते? कि अभी किसीने परिचय नहीं करवाया और मनमें बहुत है कि बोलें, बात करें। तो यह भगवान्‌का भी ऐसा स्वभाव है कि ये जीवसे मिलते तब हैं, बोलते तब हैं, जान-पहचान तब करते हैं जब कोई बीचमें मिलनिया हो, जब कोई भक्तसे कहे—यह रहे भगवान् और भगवान्‌से कहे कि यह रहा तुम्हारा भक्त। यह आपसे मिलनेके लिए बहुत दिनोंसे उत्कंठित है। भगवान् बोलेंगे—अरे भाई मिलनेके लिए उत्कंठित मैं भी था, लेकिन कोई जान-पहचान करानेवाला नहीं था। तो, महात्मा सुदुर्लभः।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

पहले तो महात्मा मिलता ही नहीं है—दुर्लभः। महत्पुरुषका संग दुर्लभ है। फिर कहीं सुलभ हो जाये, महात्मा भी मिल जाये, तो बोले कि अगम्यः—पहचान नहीं सकोगे कि यह महात्मा है। ईश्वर भी इसीलिए नहीं मिलता है। क्यों नहीं मिलता है? ईश्वरने तो कभी तुमसे कहा नहीं कि हमारी यह-यह पहचान है, तुमने अपने मनमें उसकी कुछ पहचान बनाकर बैठा ली। अब उसी बनायी हुई पहचानकी कसौटीपर तौलकर मिलते हो तो ईश्वर नहीं मिलता। तुम्हारी मानी हुई पहचानकी जो कसौटी है वह गलत है, तुम्हारी कसौटी ही गलत है। सोना गलत नहीं है, भला! सोना तो असली है, लेकिन उस सोनाको पहचाननेकी जो कसौटी तुमने अपने घरमें रख छोड़ी है, वह कसौटी तुम्हारी गलत है, इसीलिए ईश्वर पहचानमें नहीं आता और न महात्मा पहचानमें आता है। लेकिन पहचानमें आजाये तो? बोले—'अमोघश्च'—उसका संग अमोघ है। कभी व्यर्थ नहीं जाता।

तो **सुदुर्लभः**का अर्थ, दो विभाग कर इसकी व्याख्या करनी चाहिए। 'सु' और 'दुः' ये दो उपसर्ग हैं और 'लभ्' धातु है। उससे तो आप बहुत परिचित हो, क्योंकि यही लाभ बन कर आता है। गीतामें भी तो है न,—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व""। ११.३३
लभते च ततः कामान्""। ७.२२

वही है यह। इसमें उपसर्ग दो हैं। एक 'सु' और एक 'दुः'। तो अलग-अलग दोनोंको जोड़ो—एकबार सुलभः करो और एकबार दुर्लभः करो। दो

व्याख्या इसकी है। यह महात्मा कैसा? बोले—सुलभः। और यह महात्मा कैसा? तो बोले—दुर्लभः। एक ही व्यक्ति सुलभ और दुर्लभ, दोनों कैसे? तो बोले—जो श्रद्धालु हैं और जो संसारके तापसे परितप्त हैं, जो सचमुच दुनियाको छोड़ना चाहते हैं और श्रद्धालु हैं, उनके लिए तो यह महात्मा सुलभ है; और जो संसारको छोड़ना नहीं चाहते पकड़ रखना चाहते हैं और श्रद्धा सम्पन्न नहीं हैं, उनके लिए यह महात्मा दुर्लभ है। किसीके लिए सुलभ है किसीके लिए यह दुर्लभ है। स्वयं महात्मा ही देखता है—यहाँ हमारी जरूरत है।

एक महात्मा थे, बहुत भटके कि हमको कोई गुरु मिले, नहीं मिला। एक दिन उन्होंने सोचा कि बस अब शरीर छोड़ देना है, तो आवाज़ आयी ठहरो! आगये, सुलभ होगया उसके लिए। जो संसारको छोड़ना चाहता है, श्रद्धालु है, ईश्वरके मार्गमें चलना चाहता है, उसके घरमें महात्मा आ जाता है और जिसके चित्तमें श्रद्धा नहीं है जो संसारको नहीं छोड़ना चाहता, संसारको ही पकड़ रखना चाहता है उसके घरमें आया हुआ भी लौट जाता है। क्योंकि वह पहचानेगा ही नहीं, उसके मनमें तो कीमत धनकी है, उसके मनमें तो कीमत संसारकी है, उसके मनमें कीमत तो संसारी बंधनोंकी है, वस्तुओंकी है, महात्माकी कीमत नहीं है। इसीलिए उसके लिए वह दुर्लभ होता है।

यहाँतक **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।** यह ज्ञानी भगवान्का प्यारा है, इसकी व्याख्या की। अब **उदाराः सर्व एवैते,** यह जो कहा कि आर्त भक्त भी उदार हैं, अर्थार्थी भक्त भी उदार हैं—उत्कृष्ट है, जिज्ञासु भक्त भी उदार है। नारायण कहो, ये क्यों उदार है? क्यों उत्कृष्ट है? बोले—देखो, सकाम और भेददर्शी होनेपर भी यह हमारी शरण लेता है। दुनियाके किस्मतके मारे हुए लोग, कामनाओंके मारे हुए लोग भिन्न-भिन्न देवताओंकी शरण ग्रहण करते हैं। देखो, यह आर्त भक्त, यह अथार्थी भक्त, यह जिज्ञासु भक्त कितना श्रेष्ठ है कि हमारी शरण लेता है। सो अन्य देवताओंकी शरण ग्रहण करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेके कारण यह हमारा भक्त श्रेष्ठ है। अपने भक्तकी महिमा बतानेके लिए दूसरे देवताओंके जो प्रपन्न हैं, उनकी निंदा भगवान् आगे बताते हैं। तो अब यह प्रसंग आपको फिर कल सुनावेंगे।

❖

२०. कौन दूसरे देवताओंकी शरण लेते हैं?

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ ७.२०

अर्थ :—उन-उन कामानाओंसे जिनका ज्ञान हरण कर लिया गया है, वे उन-उन नियमोंमें आस्था रखकर अपने स्वभावसे प्रेरित होकर दूसरे देवताओंकी शरण लेते हैं (मेरी शरण नहीं लेते)॥ २०॥

: २०.१ :

कामनाओंसे ज्ञानका अपहरण

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ ७.१९

जो ज्ञानी पुरुष हैं वे सर्वका वासुदेवके रूपमें ही अनुभव करते हैं। सर्व वासुदेव हैं। क्योंकि उनके अन्तःकरणमें न किसीसे राग है, न किसीसे द्वेष है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिस परमात्मामें **वश्यते स्वे-स्वे** जैसे मृगतृष्णाका जल, जैसे सूर्य-किरणमें जल, ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिस परमात्माके स्वरूपमें चमक रहे हैं और हैं कुछ नहीं, उस परमात्माको आत्माके रूपमें अनुभव करके ज्ञानी बैठा हुआ है, ऐसे ज्ञानीका सृष्टिमें मिलना भी कठिन है। इसलिए—

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। ७.१७

ज्ञानीका प्यारा मैं, मेरा प्यारा ज्ञानी, हम दोनोंका प्रेम अत्यर्थ है—अतुलनीय है, किसी वस्तुको लेकर नहीं है, स्वार्थको लेकर नहीं है, भोग-संयोगको लेकर नहीं है, चुम्बनालिंगनको लेकर नहीं है, वह तो स्वरूपभूत प्रेम है। ज्ञानी और ब्रह्मका जो प्रेम है उसमें भोग्य भोक्तापनका भाव नहीं है।

न ज्ञानी परमात्माको भोग्य बनाता है, न परमात्मा ज्ञानीको भोग्य बनाता है। यह जो चुम्बनालिंगनजन्य सुख है और यह जो सांसारिक प्रीति है इसमें एक दूसरेको भोग्य बनाते हैं, एक दूसरेके भोक्ता बनते हैं। इसलिए वह प्रेम मायिक है। मायिक प्रेममें भोक्ता और भोग्यका भाव रहता है और परमार्थिक प्रेममें भोक्ता और भोग्यका भाव नहीं रहता है। ज्ञानी और भगवान्का जो परस्पर प्रेम है वह ज्ञाता-ज्ञेय कार्य-कारण, भोक्ता-भोग्यके भेदसे रहित है।

कार्य और कारणसे रहित परमात्मा है। जैसे परमात्मामें कार्य और कारण नहीं, यह सत्ताका विवर्त है; जैसे, परमात्मामें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं, ये दोनों ज्ञानके विवर्त हैं; वैसे भोक्ता और भोग्य ये दोनों भेद भी परमात्मामें नहीं, क्योंकि ये आनन्दके विवर्त हैं। तो परमात्माके वास्तविक स्वरूपका जो अध्ययन कर लेता है, उसमें कारण और कार्य, कर्ता और कर्म, ज्ञाता और ज्ञेय, भोक्ता और भोग्य—यह भेद नहीं रहता है, इसलिए ज्ञानी और परमात्माका प्रेम अखण्ड प्रेम है, उसमें कोई भोग नहीं है, कोई संजोग नहीं है, कोई वियोग नहीं है, कोई रोग नहीं है, कोई स्वार्थ नहीं है, कोई ऐन्द्रियक रस नहीं है। अद्भुत प्रीति है, ज्ञानी और भगवान्की। जहाँ प्रेम-ही-प्रेम, केवल प्रेम-ही-प्रेम हो।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं......। ७.१७

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। ७.१८

अब प्रश्न हुआ कि ये जो आर्त हैं, जिज्ञासु हैं, अथार्थी हैं, इनकी भी आपने बड़ी प्रशंसा की, **उदाराः सर्व एवैते**—अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, तो इनकी श्रेष्ठताका का कारण क्या है? श्रेष्ठताका कारण यह है कि जो लोग दुनियामें घसीटे जा रहे हैं इधर से उधर, बेहोशीमें, अपने संस्कार और वासनाओंके अधीन हैं, उन-उन भोगोंकी मृगतृष्णामें फँसे हैं, बड़े-बड़े नियम-तपस्या करते हैं, कभी उनकी, कभी उनकी शरणमें जाते हैं, ये लोग कामनाओंके अधीन रहनेवाले जो हैं, इनकी ओर एकबार देखो और एकबार इस भक्तकी ओर देखो, जो अर्थार्थी होनेपर भी, सकाम होनेपर भी भगवान्के सिवाय दूसरेकी ओर नहीं देखता। भेददर्शी होनेपर भी भगवान्के सिवाय दूसरेकी ओर नहीं देखता, वह आर्त्त, वह जिज्ञासु, वह अर्थार्थी, उसकी श्रेष्ठता समझनेके लिए जो ये संसारके निकृष्ट प्राणी हैं, उनकी भोगासक्ति, उनकी

अन्य देवासक्ति, उनकी सकामता, उनका भोगदर्शन, देखो तो सही, कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं! इसलिए भगवान् दूसरे देवताओंकी प्रपत्ति करनेवाले, दूसरे देवताओंकी शरण ग्रहण करनेवाले जो लोग हैं उनकी ओर दिखाते हैं अपने भक्तकी महिमा प्रकट करनेके लिए। क्योंकि भक्त जो कुछ बोलते हैं वह भगवान्की महिमा प्रकट करनेके लिए और भगवान् जो कुछ बोलते हैं, वह अपने भक्तकी महिमा प्रकट करनेके लिए। यह तो परस्पर **दोउ चकोर दोउ चंदा**—दोनों चकोर हैं और दोनों चन्द्रमा हैं। भक्तको भगवान्के सिवाय दूसरा कुछ नहीं और भगवान्को भक्तके सिवाय दूसरा कुछ नहीं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा आया है—

मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।

भगवान्ने, नारायणने दुर्वासाजीसे कहा 'मदन्यत् ते न जानन्ति'—'ते भक्ताः मत् अन्यत् न जानन्ति'—वे भक्त मेरे सिवाय दूसरेको नहीं जानते हैं, उनकी जान-पहचान ही नहीं है दूसरेसे। और 'नाहं तेभ्यो मनागपि'—मैं भी अपने प्रेमियोंके सिवाय दूसरोंको थोड़ा भी नहीं जानता हूँ। 'मनागपि न जानामि'—उनके सिवाय दूसरोंको थोड़ा-सा भी मैं नहीं जानता हूँ।

तो भक्त भगवान्के चकोर हैं और भगवान् भक्तके चकोर हैं। भक्त भगवान्के चन्दा हैं और भगवान् भक्तके चन्दा हैं। वे उनको देख-देखकर खुश हो रहे हैं, वे उनको देख-देखकर खुश हो रहे हैं, दूसरेको देखने-सुननेकी कोई जरूरत नहीं। बस, अपने भक्तकी महिमा प्रकट करना—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

बोले—भाई लोग, अपनी वासनामें अपने मनोराज्यमें, अपने संस्कारमें ऐसे फँस जाते हैं कि अपने बनाये हुए बन्धनमें ही बँध जाते हैं। हमको एक सज्जन बता रहे थे कि दिल्लीमें एक ब्याह होनेवाला था किसीका। तो नये ढंगके लोग हैं, उनको किसी ज्योतिषीसे, पंडितसे पूछनेकी तो कोई जरूरत नहीं। तो महाराज, गुसाजीने यह निश्चय किया कि छह बजे हमारे घरसे बारात निकल जायेगी और साढ़े छह बजे उनके दरवाज़ेपर पहुँच जायेंगे और सात बजे ब्याह होगा। गुसाजीने स्वयं यह निश्चय किया। अब महाराज, बारातियोंके आनेमें पाँच मिनटकी देर हुई, छह की जगह सवा छह बज गये, घरमें ही साढ़े छह

होगये! अब वे नाराज़ हों, पाँव पीटें, बाहर निकलें, भीतर जायें, हमारा मुहूर्त बिगड़ गया, हमने छह बजे बारात निकलनेका मुहूर्त रखा था, बिगड़ गया।

क्यों भाई, किस पंचांगसे देखकर मुहूर्त निश्चय किया था? किस पंडितसे पूछा था? किस ज्योतिषके अनुसार मुहूर्त था? बोले—वह तो सब अपने मनके अनुसार ही था। अब वे सिर पीट रहे। आनेवालोंपर चिड़चिड़ा रहे, अरे हमारा मुहूर्त बिगड़ गया।

आदमी अपने आपही तो बंधन बनाता है, फिर उसके लिए दुःखी होता है। उसका बनाया हुआ बंधन ही छूटने लग जाये, उसमें कोई प्रतिबन्ध पड़ जाये तो आदमी दुःखी होने लगता है। यह क्या है? इसीका नाम वासनाओंका बंधन है, इसीका नाम संस्कारोंका बंधन है। बोले—एक हिम्मत ऐसी भी तो होनी चाहिए, कि अबतक बरसों चाहे जो भी मनोराज्य किया हो और जो भी बंधन बनाये हों, एक धक्केमें काट दिया, महाराज कुछ नहीं इसीका नाम संन्यास होता है। बचपनसे माँ-माँ कहते आये, बाप-बाप कहते आये, बेटा-बेटा कहते आये, बहू-बहू कहते आये! वह क्या सामर्थ्य है कि एक झटकेमें सारा बन्धन टूट गया, वह संस्कारको छोड़नेवाला, वह वासनाको छोड़नेवाला, एक झटकेमें पार। नारायण कहो, जैसे शेर एकही धावेमें अपने शिकारको हड़प लेता है। आदमी जो फँसा हुआ है वह अपनी उलझनोंमें ही फँसा हुआ है, संसारकी किसी वस्तुने नहीं फँसाकर रखा है। **प्रकृत्या नियताः स्वया**—का अर्थ क्या है? 'स्वया प्रकृत्यैव नियताः नियमिताः'। उनको किसने अपनी मुट्ठीमें ले रखा है? बोले—अपनी प्रकृतिने, अपने जन्म-जन्मके संस्कारसे जनित वासनाओंने; उसीके अधीन वे हो रहे हैं। बोले—अब तो हमको आदत पड़ गयी। एक सोलह-सत्रह बरसका बालक था मेरे पास। हम कहते थे भाई, यह काम छोड़ो। बोले—हमारा तो स्वभाव बन गया है। भाई, जब सोलह बरसकी उम्रमें ही तुम्हारा स्वभाव बन गया, तो बत्तीस बरसकी उम्रतक तो इसको छोड़ सकते हो, छोड़नेकी आदत डालो। जिस दिन धरतीपर आये उस दिनसे करते-करते तो स्वभाव बनाया, सोलह बरस और ले लो छोड़नेके लिये। जो बनाया हुआ स्वभाव है, वह छोड़ा जा सकता है। **स्वभावविजया शौर्या**—जीवनमें बहादुरी क्या है, शौर्य क्या है? कामके सामने सिर झुकाकर हाथ जोड़कर उसके अधीन हो जाना, इसका नाम

बहादुरी नहीं है। काम तो शत्रु है। इसके सामने शूरता प्रकट होनी चाहिए। और उसपर विजय प्राप्त कर लेना, यह शौर्य है : **स्वभावविजयं शौर्यं।**

अगर तुम्हें कोई आदत ऐसी पड़ गयी है, बैठकर तिनका तोड़नेकी, तो उसको छोड़दो। तुम्हारे मुँहसे गाली निकलनेकी आदत पड़ गयी है तो उसे छोड़ दो। कोई कामनापूर्ति करनेकी आदत पड़ गयी है तो उसको छोड़ दो। स्वभाव विजयमें ही साधनाकी पूर्णता है। यह बनावटी स्वभाव है, यह सच्चा स्वभाव नहीं है। यह ईश्वरका दिया हुआ स्वभाव नहीं है, यह मूल प्रकृतिका दिया हुआ स्वभाव नहीं है। यह तुमने कर-करके अपने जीवनमें बुरी आदत डाल ली है। तुम्हारे मनकी आदत बुरी, तुम्हारी आँखकी आदत बुरी, तुम्हारे हाथकी आदत बुरी, उसपर तुम विजय प्राप्त कर सकते हो।

तो पहली बात यह है कि इन्होंने अस्त्र-शस्त्र डाल दिये। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी शरण ग्रहण नहीं की—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ १८.७८

स्वयं धनुर्धारी होकर खड़े नहीं हुए और योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी शरण नहीं ली, दुश्मनके हाथों अपनेको डाल दिया—यही **प्रकृत्या नियताः स्वया** हुआ। तमोगुणी-रजोगुणी-सत्त्वगुणी जैसी प्रकृति जीवनमें प्रकट हुई है, उसके द्वारा नियत माने नियन्त्रित होगये, उसके कण्ट्रोलमें आ गये। शैतानके कण्ट्रोलमें आगये।

अब इसके बाद क्या हुआ? बोले—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**। काम एक नहीं महाराज, हज़ार और **प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः**। शरण लेनेके लिए देवता भी हजार। अन्य देवताः—देवताः भी बहुवचन है और कामैः भी बहुवचन है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

यह काम जो है महाराज, यह आप जानते हैं, अन्धकारमें प्रवेश करनेका द्वार है। नरकमें, अज्ञानमें, दुःखमें, तमस्‌में प्रवेश करनेका द्वार यही है। तमस् माने मृत्यु। आप जानते हैं, मरनेके बाद क्या होगा? अन्धेरा है कि नहीं है? मरनेके बाद अन्धेरा है न,

न साम्पराय प्रतिभाति बालम्।
अस्तीत्येके नायमस्तीत्येके।

अंधेरा है न, मरनेके बाद कहाँ जाओगे? बिलकुल अन्धकारमें। पता है कहाँ जाओगे? इसीका द्वार है काम, मृत्युका द्वार है। अज्ञान दशामें क्या होता है? बोले—अज्ञान, बेहोशी। वह क्या है? कि तमस् है। जब दुःख आता है जीवनमें तब क्या है? तमोगुण छा जाता है। अब हमारे किये क्या होगा? यह जो मृत्यु है इसका नाम तमस् है। यह जो अज्ञान है इसका नाम तमस् है। यह जो दुःख है, इसका नाम तमस् है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ १६.२१
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ १६.२२

काम-क्रोध-लोभ—ये तमके—तमस्के दरवाज़े हैं। काम छोड़कर परमात्माके मार्गमें चला जाता है, यही परमात्माका कार्य है।

अब देखो, **काम एष क्रोध एष।** जिसको काम जितना होगा, उसको क्रोध भी उतना ही आवेगा, क्योंकि जब-जब कामनाकी पूर्ति नहीं होगी, तब-तब वह यह सोचेगा कि इसने बाधा डाल दी—हमारी कामनाकी पूर्तिमें, यह हमारा दुश्मन है। यह नहीं देखते कि हम जो कामनाके वशमें हो रहे हैं, वह हमारे हृदयमें बैठी हुई कामना हमारी शत्रु है, जिसने रुकावट डाली उसने तो हमारा भला किया।

साधक और विषयीमें यही फर्क है। विषयीकी कामनामें कोई बाधा डाले तो कहेगा हाय-हाय! बाधा डालनेवाला हमारा दुश्मन है और साधककी कामनापूर्तिमें कोई बाधा डाले तो कहेगा हमारा हितैषी है। यही तो पहचान है। **रजोगुणसमुद्भवः**—इसी कामनासे मनुष्य प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा—इनमें फँसता है।

कहो कि अच्छा भाई, थोड़ी पूर्ति करके पेट भर लें! कि **महाशना**—यह तो अघासुर है। महाशना—इसका पेट कभी भरता नहीं, भागवतमें महाशनका अर्थ अघासुर लिया है। महाशन माने जिसका पेट बड़ा भारी हो, भरते जाओ, भरते जाओ, अलं-बुद्धि कभी नहीं होगी कि बस-बस, अब जरूरत नहीं है।

महापाप्मा—अच्छा भाई, खूब खिलायेंगे, तुष्टिकरणकी नीति से एकदिन यह भी हमारे प्रति कृतज्ञ हो जायेगा। कि यह कृतज्ञ होनेवाला नहीं

है, बड़ा पापी है! तुम जितना दोगे उतना लेता जायेगा और बाकी और माँगता जायेगा और तुम्हें चपेटता जायेगा। अपने दुश्मनको पहचानो। **विद्ध्येनमिह वैरिणम्।**

यहाँ अगर अपना कोई दुश्मन है तो यह काम दुश्मन है, और यह करता क्या है? भगवद्गीतामें बहुत बढ़िया-बढ़िया बात कही गयी है इसके सम्बन्धमें। काम करता क्या है? बोले—काम ज्ञानपर पर्दा डाल देता है—**तथा तेनेदमावृतम्**—'**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा**'। यह ज्ञानपर पर्दा डालना, ऐसे समझो कि कोई रास्तेमें जा रहा हो भली-भाँति, अच्छी तरह देख-देखकर चल रहा हो, भीतर से किसीने आकर उसकी आँखपर एक पट्टी डाली और पीछेको बाँध दिया और आगेका रास्ता दीखना बंद होगया—**आवृतं ज्ञानमेतेन**—जैसे कोई आँखपर पट्टी बाँध दे वैसे यह बुद्धिपर पट्टी बाँध देता है, बुद्धिको फिर कुछ सूझता नहीं है। न माता सूझती, न पिता सूझता, न गुरु सूझता, न वेद सूझता, न शास्त्र सूझता, न सम्प्रदाय सूझता, यह महाराज पदा ही आवृत कर देता है ज्ञानको, ढँक देता है। बोले—भाई, ढँक ही नहीं देता है, ले जाता है फिर उठाकर—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।**

हृतज्ञान क्या हुआ? ज्ञानको उठाकर ले गया। लुटेरा है। मनुष्यकी क्या स्थिति हुई? कि एक काम नहीं, हज़ार काम, झुण्ड बनाकर आये, यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए। फिर क्या किया? कि ज्ञानको हरकर ले गये।

अच्छा भाई, हरकर ले गये, कोई बात नहीं, लुटेरे हैं, ले गये, फिर वापिस आ जायेगा ज्ञान। तो आप देखो, वह भी गया—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ३.४१

ये केवल आवृत्त नहीं करते, ढँकते नहीं हैं, केवल आवरण नहीं करते हैं, लूट ले जाते जाते हैं, और लूट ही नहीं ले जाते हैं, मार डालते हैं—'ज्ञानविज्ञाननाशनम्'। पर्दा डालना दूसरी चीज़, लूट ले जाना दूसरी चीज़ और मार डालना दूसरी चीज़।

प्रजहि ह्येनं—मार डालते हैं। कई टीकाकार जो संस्कृत पढ़े

लिखे नहीं होते हैं, उनको भ्रम हो जाता है। संस्कृतमें 'जहि' का अर्थ होता है मार डालो और 'जहिहि' का अर्थ होता है छोड़ दो, **जहि, प्रजहि, प्रजहिहि।**

भगवान्‌ने यहाँ बड़े रहस्यकी बात बतायी हुई है—**जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्** एक जगह बताते हैं कि कामरूप शत्रुको मार डालो। कैसे मारो? **एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना**—अपनेको बुद्धिसे परे जानकर। बोले—कि मन मरता नहीं; कभी डर लगता है कि काम मरेगा तो बुद्धि मर जायेगी। बोले—अरे भाई, बुद्धि मरे तो मरे, तुम तो नहीं मरोगे। अपने आपको बुद्धिसे परे जानकर तो देखो! आत्माको जाननेसे कामकी मृत्यु होती है—

जहि शत्रुं महाबाहो.......। ३.४३
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं.................॥ ३.४१

इन्द्रियोंके नियमनसे कामका त्याग होता है। कामका संग छोड़ना दूसरी चीज़ है। इन्द्रियोंके नियमनसे कामकी मृत्यु नहीं होती है, कामत्याग होता है और आत्मज्ञानसे काम की मृत्यु होती है। ये दो बात भगवान्‌ने साफ-साफ बतायी है। 'प्रजहि'—यह जोहात् त्यागे धातुका जहाहि, जहिही, जहीहि—तीन रूपोमें पाठ होता है और 'जहि' जो है यह हिंसार्थक धातुका रूप है। तो आत्मज्ञानसे काम मरता है और इन्द्रियोंके नियमनसे कामका त्याग होता है। ये दो अर्थ भगवान्‌ने इस प्रसंगमें बताये।

तो अब यह काम कैसा? बोले—यह हमारे ज्ञानको ढँकनेवाला। कैसे-कैसे ढँकता है?

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३.३८

यह जो सात्त्विक कामना है वह आत्मज्ञानको, ज्ञानको ढक नहीं पाती है, जैसे आग प्रज्वलित भी हो रही है, धुआँ भी निकल रहा है! सत्त्वमें धुआँ है और 'यथादर्शो मलेन च' और शीशेपर जो धूल पड़ती है वह कहीं ढकती है कहीं नहीं ढकती है—वह रजोगुणी काम है। 'यथोल्बेनावृतो गर्भः' जैसे जरायुसे गर्भ ढकता है, वह तमोगुणी काम है और ये तीनों काम हमारे

ज्ञानको ढक देते हैं। ज्ञान रहता तो है पर ये ढक देते हैं। यह ज्ञान और विज्ञानको नाश करनेवाला जो काम है यह **ज्ञानिनो नित्यवैरिणा** यह साधकका नित्य वैरी, जिज्ञासुका नित्यवैरी है। क्योंकि जो लोग जिज्ञासु नहीं विषयी हैं, उन्हें तो काम कभी-कभी सुख देता है और कभी-कभी दुःख देता है। कभी-कभी काम-भोगसे विषयी पुरुषको सुख मिलता है और कभी-कभी दुःख मिलता है। लेकिन जो जिज्ञासु है और साधक है उसको तो महाराज, भोगके पहले डर लगा हुआ, भोगके समय पूरी रुचि नहीं, उत्साह नहीं और भोगके अनन्तर पश्चात्ताप! जिज्ञासु पुरुषको तो यह हमेशा दुःख ही दुःख देता है।

अब यहाँ यह बात बतायी जा रही है कि एक काम नहीं, हजार काम हैं क्योंकि **कामरूपं दुरासदम्। राक्षसाः कामरूप्याः।** राम-रावणका जब युद्ध हो रहा था, तो राक्षस लोग, तरह-तरहका वेश धारण करके वानरोंपर आक्रमण करते थे। एक दिन तो क्या हुआ कि रावणने आज्ञा ऐसी दी कि सब-के-सब राक्षस गाय बन गये, वह बड़ी-बड़ी सींग और वे कूद पड़ीं बन्दरों पर; सींगसे उठा-उठाकर वह फेंकने लगीं। अब राम भगवान् हाथमें बाण लिये खड़े, बोले—गायपर कैसे बाण चलावें, बन्दर कोई ढेला न फेंके। ये बन्दर ढेला फेंक-फेंककर पेड़ोंसे मारते थे। अब कैसे कोई करे! अब विभीषणजी आये, बोले—प्रभु, यह माया है—राक्षसी माया। आप ऐसा बाण चलावें जो बाण व्याघ्र बन जाये, व्याघ्र बाणका प्रयोग करो। भगवान् रामचन्द्रने उठाकर वह बाण मारा कि करोड़ों व्याघ्र आकर सामने खड़े हुए। जो दौड़े गायोंकी तरफ तो राक्षस सब डर-डरकर गायका वेश छोड़कर फिर राक्षस हो गये। फिर लड़ाई होने लगी।

इसका क्या अर्थ है कि काम तरह-तरहका रूप बनाता है। यह काम कभी महन्त बन जाता है, तो काम कभी विरक्त बन जाता है, तो काम कभी आचार्य बन जाता है, काम कभी मण्डलेश्वर बन जाता है। काम साधुका वेश भी धारण करता है—

बैरगिया नाला जुलुम जोर,
तहँ बसत साधु के भेस चोर।

जब तबला बाजे धीन धीन,
तब एक-एक पर तीन-तीन॥

यह बचपनमें हमलोगोंने किताब पढ़ी थी, स्कूलमें; उसमें यह था। लेकिन उस समय हमारी समझमें यह आता था कि मिर्जापुर चुनारके बीच कोई नाला बहता होगा उसका नाम 'बैरगिया नाला' होगा। लेकिन बात वह नहीं है, कवितामें वह बात नहीं है। वह तो बैरगिया साधुसे मतलब है।

काम साधुका वेश धारण करता है। बोला—कोई आ रहा है न सामनेसे, अरे बहुत बढ़िया है। बोले—एक डाकू जो साधु बनकर बैठा हुआ था, वह बोला—दामोदर, दामोदर!

यह क्या हुआ? कि भगवान्‌का नाम ले रहा है। बोले—नहीं, इसके कमरमें दाम बँधा है। दाम+उदर। दूसरे ने कहा—नारायण, नारायण = नालेमें जाने दो। जब नालेकी तरफ पहुँचा तो तीसरा बोला—वासुदेव, वासुदेव= अब बाँस मारो।

यह मैथिलीशरण गुप्तका था। पढ़ाया जाता था पहले किताबमें।

कामके जो रूप हैं वे दुरासद हैं। माने जैसे राक्षस ब्राह्मण भी बन लेता है, देवता भी बन लेता है; जैसे राक्षस पशु भी बन लेता है, पक्षी भी बन लेता है। बकासुर भी राक्षस है, अघासुर भी राक्षस है, वृषभासुर भी राक्षस है, केशी भी राक्षस है। दैत्य लोग जो हैं न, दैत्य-दानव तरह-तरहका रूप धारण करके आते हैं। इसी प्रकार यह काम भी—**कामरूपं दुरासदं।** दुरासद माने पकड़में नहीं आता है। इसलिए **कामैस्तैस्तैः हृतज्ञाना**का अर्थ है, उन-उन वस्तुओंकी कामना।

इस कामका दार्शनिक विवेचन सुनावें आपको तो बात गम्भीर हो जाती है और कभी-कभी किसीको नींद आने लगती है। एक-एक विषयकी कामना समझो कि शब्द विषयकी कामना। तो अपनी तारीफ सुननेकी कामना अलग और अपना जिससे प्यार है उसकी तारीफ सुननेकी कामना अलग। वह आदमी जो किसीका प्रेमी होता है, वह जब आकर बैठता है तो यह चाहता है कि ये हमारे प्यारेकी तारीफ करके हमको सुनावें और कोई-कोई आत्मलीन होता है, आत्मनिष्ठ होता है तो कहता है हमारी तारीफ करके सुनावें।

अच्छा, शब्द में ही कोई ठुमरीका प्रेमी होता है, कोई दादराका प्रेमी होता है, कोई ध्रुपदका प्रेमी होता है, कोई धमारका प्रेमी होता है, कोई अनुप्रासका प्रेमी होता है, कोई गमकका प्रेमी होता है, कोई लच्छेदार भाषाका प्रेमी होता है, कोई ऊँची आवाज़का प्रेमी होता है।

अब देखो—एक एक शब्दकी कामना, धनकी चर्चा चले, कामिनीकी चर्चा चले, युद्धकी चर्चा चले, अपनी-अपनी रुचि ही तो है न, क्या-क्या सुननेकी इच्छा होती है। अब यह समझो कि शब्द अलग-अलग और उस-उस तरहके शब्दोंकी सुननेकी इच्छा और फिर? माने यह तो अलग-अलग शब्दोंके सुननेकी इच्छा हुई, फिर शब्द समष्टिकी कामना। एक ऐसी कामना जो समग्र शब्दसे सम्बन्ध रखती है।

इसी तरह स्पर्शमें। कोई कपड़ेका मुलायम स्पर्श चाहता है, कोई पाउडरका स्पर्श चाहता है, दूध-सा सफेद पाउडर अपनी शय्या पर बिछाकर सोते हैं, देखा है मैंने।

एक बहुत मुलायम वस्त्र चाहते हैं। कोई अपने बहुत प्रिय व्यक्तिका स्पर्श चाहते हैं। काली चमड़ीका स्पर्श, गोरी चमड़ीका स्पर्श, स्त्रीका स्पर्श, पुरुषका स्पर्श, यह स्पर्शकी कामना। फिर समष्टिकी कामना विचित्र होती है। फिर रूप-समष्टि और उसके पृथक्-पृथक् रूप। रसके पृथक्-पृथक् रूप, गन्धके पृथक्-पृथक् रूप। देखो, किसीको बेला पसन्द है, किसीको गुलाब पसन्द है, किसीको कमल पसन्द है, किसीको इत्र पसन्द है, किसीको किसीके अंगकी गन्ध पसन्द है और फिर गन्ध समष्टि। अब समझो यह अलग-अलग समष्टि बनाकर फिर सबकी एक समष्टि।

अच्छा, फिर किसीको त्यागकी कामना होती है। कोई-कोई कहते हैं हम बड़े निष्काम हैं। सबसे बड़ा झूठ होता है कि हमको कोई कामना नहीं है। हमको कोई कामना नहीं है ऐसा जो लोग समझने लग जाते हैं यह अपने अन्दर हीनताके भावको दिखाते हैं। ब्रह्म निष्काम है। ब्रह्मके सिवाय कोई परिच्छिन्न भी होवे और निष्काम भी होवे, या तो वह बेवकूफ है जो कामनाके रूपको समझता नहीं है, क्योंकि परिच्छिन्न रूपसे कोई निष्काम नहीं होता है; और या तो निष्काम है ब्रह्मस्वरूपमें, निष्काम है आत्मरूपमें, निष्काम है अपने द्रष्टा साक्षी असंग स्वरूपमें।

तो कामके रूपको पहचानना। **कामरूपं दुरासदम्** इसलिए—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।**

एक सज्जन कहते हैं देखोजी, हमारे सामने हमारी तारीफका कोई शब्द मत बोलो। अब वे कहते क्यों हैं? माने हम अपनी तारीफ़ नहीं चाहते—इसमें जो अपनी तारीफ है वह दूसरोंके मुँहसे नहीं, अपने मुँहसे करके खुश हैं। माने सबसे बढ़िया आदमी कौन है कि जो अपनी तारीफ पसन्द न करे। अब वह कहता फिरे कि हम अपनी तारीफ पसन्द नहीं करते तो? तो वह यह कहता फिरता है कि हम दुनियामें सबसे बढ़िया आदमी हैं। यह कहनेका अभिप्राय यह है कि कामनाके कैसे-कैसे रूप हैं—

कामरूपं दुरासदम्।

बोले—अभिमान बिलकुल नहीं करना चाहिए। बोले—ये सब अभिमानी हैं, मैं निरभिमान हूँ। अरे मैं निरभिमान हूँ ऐसा कहते समय जो छाती तन गयी, निरभिमानका रूप धारण करके अभिमान आ गया। यही **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः** होता है। यह तरह-तरहके रूप धारण करके कामना मनुष्यके ज्ञानका अपहरण करती है।

अच्छा अब आज इतना ही रहने देते हैं।

❖

: २०.२ :

कामनावान देवताओंकी शरण लेते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ ७.२०

ज्ञानी भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है, ज्ञानी भक्त को भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं। ज्ञानी भक्त भगवान्‌की आत्मा है। ज्ञानी भक्त सर्वको वासुदेवके रूपमें अनुभव करता है। ज्ञानी भक्त महात्मा है। ज्ञानी भक्त अत्यन्त दुर्लभ है। बोले—फिर जिनको उदार कह गये थे कि **उदाराः सर्व एवैते** वे क्या हैं महाराज? बोले—वे भी मेरे प्यारे भक्त हैं, वे भी संसारके और सब उपासकोंसे श्रेष्ठ हैं। कैसे? कि जो लोग भगवान्‌की उपासना न करके कामनाओंके अधीन होकर दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं, उनकी क्या स्थिति है? उनकी क्या गति है? वे क्या प्राप्त करते हैं? इसका वर्णन करके भगवान् अपने भक्तकी श्रेष्ठता दिखाते हैं। माने यह जो वर्णन है **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः** यह भी अपने भक्तोंकी श्रेष्ठता बतानेके लिए है। यहाँ कोई कामनाके अधीन होकर दूसरे देवताओंकी आराधना करे, दूसरेके घर भेजनेके लिए नहीं है, बल्कि यह भी अपने ही घर बुलानेके लिए है।

अब एक-एक देखो—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**—तरह-तरहकी कामनाएँ मनुष्यके ज्ञानको हर लेती हैं। 'तैस्तैः' बहुवचन है, वे-वे कामनाएँ। उन-उन कामनाओंके द्वारा मनुष्यका ज्ञान हरण कर लिया जाता है। कल आपको सुनाया था कि यह ज्ञानको नष्ट करनेवाली कामनाएँ कितनी धूर्त हैं कि पहले ये ज्ञानको ढक देती हैं, फिर ज्ञानको लूट लेती हैं और फिर ज्ञानको नष्ट करती हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

यह है ज्ञानका आवरण और **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना** ये कामनाएँ ज्ञानका हरण करती हैं, यह बताया और—**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ, पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्** (३.४१) से बताया कि यह काम पापी है और ज्ञान-विज्ञानको नष्ट करनेवाला है।

अब नारायण कहो, यह कामैस्तैस्तैः में बहुवचन कैसे है ? तो राम एक होता है और काम अनेक होते हैं। कामकी पद्धति यह है कि जब वह हृदयमें आता है तब एक होकर आता है और जब रहता है तब अपनी शाखाओंका विस्तार कर देता है। आप समझो कि एक आदमीके मनमें गुलाबका फूल लेनेकी कामना है। एक बहुत मामूली बात है, गुलाबका फूल तोड़ लेना, छीन लेना, यह कोई बहुत बड़ी बात तो है नहीं। अब गुलाबका फूल जब हाथमें आता है तो आप उसको क्या-क्या चाहते हैं ? मन होता है कि सूँघे। तो यह गन्धकी कामना हो गयी। मन होता है कि देखें, तो यह सौन्दर्यकी कामना हो गयी। मन हुआ कि उसको शरीरमें जहाँ-तहाँ लगाकर उसकी कोमलताका स्वाद लें, उसकी शीतलता देखें; तो यह स्पर्शकी कामना हो गयी। अब मन हुआ कि इसकी माला बनाकर गलेमें पहनें कि बालमें लगावें, तो उससे अपने सौन्दर्यके अभिमानको पुष्ट करनेकी इच्छा होगयी, कि हम बड़े सुन्दर। कामनाने क्या रूप धारण किया। बोले—और ? कि यह बहुत देरतक बना रहे, कि ऐसे गुलाबके फूल हमारे घरमें रोज आने चाहिए, कि पौधा घरमें ही लगा लो इसका, बोले कि इसका गुलकन्द बनाकर खाओ। नारायण कहो, एक गुलाबका फूल आया अपने हाथमें और एक बहुत मामूली कामनाके साथ आया था, लेकिन

तरंगायिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति।

कोई भी दोष पहले हमारे हृदयमें एक तरंगके समान उठता है, बादमें जब उस विषयका संग मिलता है, तब वह वस्तु समुद्र बन जाती है। इसीको कहते हैं—*'छिगुनी छूकर पहुँचा पकड़ना'*। तरंगके रूपमें आकरके समुद्र बन जाना। *'भिक्षुपादप्रसारण न्याय'* इसको बोलते हैं। एक भिखारी कहीं आया, बोला—थक गये हैं भाई, जरा बैठने दो। अच्छा, बैठ जाओ। बैठ गया तो बोला पाँव फैलाये बिना तकलीफ होती है। अच्छा भाई, पाँव फैला लो। बोला—थोड़ी धूप लगती है छाता तान लें। तो छाता तान लिया। बोला—छातेको हाथमें कबतक रखें ? थोड़ा इसको गाड़ दें। अब महाराज, लेट जायें। बोले—यह तो हमारी ज़मीन है। इसपर तो हमारा कब्जा है, बरसोंसे। तो इसको 'भिक्षुपाद-प्रसारण न्याय' बोलते हैं। इसका अर्थ है कि जब कामना हमारे हृदयमें आती है तो नन्हासा रूप लेकर आती है और बादमें अनेक रूप धारण कर लेती है—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।**

पहले तो महाराज, **जहाँ राम तहाँ काम नहीं, जहाँ काम नहिं राम।** यह काम नहीं आया हृदयमें, ज्ञानीका वैरी आया, **महाशनो महापाप्मा**, यह अघासुर आया। इसका पेट भरनेवाला नहीं है। यह तो जब कृष्ण आवेंगे इसके पेटमें तब यह भरेगा। यह काम जो है यह अघासुर है। कामके पेटमें स्त्री हो तो बढ़ेगा, कामके पेटमें पुरुष हो तो बढ़ेगा, कामके पेटमें धन हो तो बढ़ेगा, इनको तो निगल जायेगा, खा जायेगा। पर कामके पेटमें कृष्णको डाल देंगे तो कृष्णके चरणारविन्दका स्पर्श होते ही यह काम कृष्णवर्त्मा बन जाता है। कृष्णवर्त्मा माने आग। भस्म हो जाता है काम जहाँ श्रीकृष्णके चरण पड़े, यह कामनाके लिए आग है, जैसे अघासुर मर गया, ऐसे मर जाता है।

अब देखो, कामना रहती कहाँ है ? **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः** यह नरकका द्वार **त्रिविधं नरकस्येदम् द्वारं** यह नरकका दरवाजा यह **तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः** यह तमो गुणका द्वार, यह महाशन और महापापी। महापापीका अर्थ है कि साधारण लोग अगर कुछ चाहते हैं, कोई एक रुपया माँगे, उसको दे दो तो खुश होकर कहेगा—जुग-जुग जीओ बेटा; आशीर्वाद दे देगा। ब्रजमें दो आना पैसा किसीको देकर कहो कि नाचो तो वह नाच भी देगा। कहो कि रसिया सुनाओ तो रसिया भी सुना देगा। दो आने पैसेमें बड़ा कृतज्ञ हो जायेगा। पर महापापीका क्या लक्षण है कि एक रुपया दो तो दो रुपया माँगेगा, दो रुपया दो तो पाँच माँगेगा, पाँच दो तो दस माँगेगा। दस दो तो सौ माँगेगा, हजार माँगेगा—महापाप्मा। यह कभी नहीं कहेगा कि बस, बस हमारी तृप्ति हो गयी, तुष्टि हो गयी। यह दुष्टका जो तुष्टिकरण है, वह असाध्य है। **असदिन्द्रियेतर्षणात्**—यह इन्द्रियोंकी जो विषयतृष्णा है, यह असत् है, कभी तृप्त होने वाली नहीं है। कल सुनाया था,

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियाः .....

यह तृष्णा पिशाची 'तैस्तैर्हृतज्ञानाः', ज्ञानका हरण कैसे करती है ? इसको खुलेमें आपको पहचानना होगा। काम रहता कहाँ है ? एक आगये महाराज, बढ़िया घोड़ा बुलाकर, अच्छा बुद्धिमान सारथि बुलाकर अच्छा रथ प्राप्तकर उसपर सवार हुए और उसने कहा कि चलो शत्रुपर विजय प्राप्त

करेंगे। रथ भी दृढ़, घोड़े बलवान, बागडोर बड़ी सुन्दर जो शस्त्रसे न कटे, और सारथि बड़ा बुद्धिमान। अब उसके शत्रुको मालूम पड़ा कि यह रथी दृढ़ रथ पर, बलवान् घोड़े जोतकर, दृढ़ बागडोर, बुद्धिमान सारथि, सबके साथ हमारे ऊपर आक्रमण करनेवाला है। तो हमें क्या करना चाहिए? उसने क्या किया महाराज, घोड़ोंको चुपकेसे आकर भोजन करावे और सारथिको कुछ दे-लेकर मिला लिया। अब घोड़े भी उसके पक्षमें हो गये, सारथि भी उसके पक्षमें हो गये, बागडोर ढीली पड़ गयी, सरक जाय सारथिके हाथमें-से ऐसी हो गयी। अब जब वह चला शत्रुपर विजय प्राप्त करनेके लिए तो घोड़े शत्रुसे मिले हुए, बागडोर ढीली और सारथि पागल। नारायण, यह क्या हुआ? बोले—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ३.४०

यह काम है वैरी, इसके रहनेकी जगह कहाँ है? कि यह हमारे घोड़ोंमें ही रहता है, हमारी बागडोरमें, हमारे सारथिमें ही रहता है। इन्द्रियोंमें काम बैठा हुआ है। इस जीवनरूप रथके घोड़े हैं इन्द्रियाँ, यही तो ले जाती है, पाँव ही तो चलकर ले जाता है।

अब यह देखो, कि पाँव तुम्हारे कहे अनुसार चलता है कि कामनाके अनुसार चलता है? कहाँ ले जाता है पाँव तुमको? जहाँ वासनाएँ पूरी हों, वहाँ ले जाता है कि जहाँ वासनाएँ निवृत्त हों वहाँ ले जाता है? ये घोड़े कहाँ ले जाते हैं तुमको? यह सारथि तुमको कहाँ ले जा रहा है? तुम्हारा सारथि काम है कि श्याम है? कौन है सारथि?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

इन्द्रियाँ रूपी घोड़े, मनरूपी बागडोर और बुद्धिरूप सारथि और यह जीव रथी और यह जीवन रथ और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनके जानेकी जगह। इन्द्रियाँ कहती हैं कि इधर बहुत सुख दिखता है, यह रास्ता बहुत बढ़िया, मन कहता है—हाँ-हाँ छोड़ दो बागडोर, ढीली कर दो, इधर चलो। सारथि कहता है हाँ, यह युक्ति करो तब यह चीज मिलेगी।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ २.६७

आगे-आगे चलीं इन्द्रियाँ, पीछे-पीछे चला मन और मनके पीछे चल
ी बुद्धि, सत्यानाश हुआ। '**एतैर्विमोहयति**' (३.४०)—इनके द्वारा यह मोहित
ता है। '**ज्ञानमावृत्य**'—इससे क्या होता है कि ज्ञान ढक जाता है। इसका
ि है कि ईश्वरकी कृपासे, जन्म-जन्मके पुण्यसे, सद्गुरुके प्रसादसे जो
झदारी प्राप्त हुई थी, कामना उसको छीन लेती है। तब ढकनेके बाद
ाकर ले जाता है और फिर नष्ट हो जाता है।

देखो, हम ज्ञानके अनुसार चलते हैं कि वासनाके अनुसार? यह भले-
ुसकी पहचान है कि पहले प्रज्ञा, फिर विषयज्ञान। पहले निश्चय करे कि
चीज ऐसी है, फिर मन कहे यह पकड़नेकी है कि छोड़नेकी है, फिर
द्रयाँ उसको पकड़े या छोड़ें। यह भले-मानुषका मार्ग है। पहले तो निश्चय
लो कि हमारे घरमें एक साड़ी खरीदनेकी जरूरत है और वह हमारी
ातके लिए, हमारे शरीरको ढँकनेके लिए, जाड़ा मिटानेके लिए जरूरी है।
निश्चय करनेके बाद उसको लानेका संकल्प करो और जाकर लाओ,
खसे उसको पसन्द करो, हाथसे उसको छूकर देखो और कीमत चुकाकर
आओ। यह तो ठीक है। यह तो प्रज्ञाका मार्ग हुआ, बुद्धिमानीका रास्ता
ा। और, रास्तेमें चल रहे हैं, किसीको नयी डिजायनकी साड़ी पहने देख
ग्रा, तो आँखने कहा बहुत सुन्दर, मनने कहा—हमको चाहिए। तो बुद्धिने
ा कि इसको खरीदो। बोले—पैसा तो नहीं है, बोले—पतिदेवकी
ामें-से निकाल लो। नारायण गोविन्द! निकाल लो, प्राप्त कर लो, यह क्या
ा? कि यह इन्द्रियोंका मार्ग हुआ। तो इसमें इन्द्रियाँ गुरु हैं और मन-
द्र चेला। और उसमें बुद्धि गुरु है, मन-इन्द्रियाँ चेला हैं। अपने जीवनको
दृष्टिसे नापना चाहिए कि तुम आखिर चल कहाँ रहे हो?

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः—हतज्ञानाका अर्थ होता है ज्ञानका आहरण। वह
ो होता है? देखो, ज्ञानका स्वभाव है—'ज्ञानं प्रकाशकं न तु कारकम्'—ज्ञान
ाशक होता है, कारक नहीं होता। आँख आपको यह बता देगी कि यह नीला
पीला है, लाल है कि काला है। आँखका काम यह नहीं है कि वह कहे कि
चीजको उठाकर पाकिटमें रख लो। कान आपको बता देगा कि शब्द कोमल
के कठोर है। यह कानका काम नहीं है कि कहे कि यह गाली दे रहा है,
तो वासना जो मनमें बैठती है वह बोलती है। तो चीज जैसी है, वैसा बता

देना तो ज्ञानका काम है और उसको चाहने लगना, उससे राग करना अथवा उससे द्वेष करना यह आँखका काम नहीं है कानका काम नहीं है, नाकका काम नहीं है, जीभका काम नहीं है। ज्ञान हमेशा असंग होता है, इस बातको आप ध्यानमें रखो। यदि इन्द्रियोंसे प्रकट होनेवाला ज्ञान असंग नहीं होगा तो बुद्धिमें स्थित कूटस्थ ज्ञान भी असंग नहीं होगा और आत्मा भी असंग नहीं होगा।

अब इस ज्ञानको हम वासनाके हवाले कर देते हैं! पूर्व-पूर्व जन्मके और इस जन्मके संस्काररूपसे उदय होनेवाली जो वासना है, उसके अनुसार हम अपनी जानकारीको चलाने लग जाते हैं। नहीं, वासनाके अनुसार अपने ज्ञानको मत चलाओ। यह स्त्री है, इतना बताना ज्ञानका काम है, यह पुरुष है इतना बताना ही ज्ञानका काम है। इतना ही ज्ञान है कि यह स्त्री है, यह पुरुष है। और यह पुरुष हमेशा हमारे साथ रहे और यह स्त्री हमेशा हमारे साथ रहे, यह बताना ज्ञानका काम नहीं है, यह बताना वासनाका काम है या इसका कभी मुँह न देखें यह बताना हमारी वासनाका काम है या इसको हमेशा अपने साथ रखें, यह वासनाका काम है। देखो, शुद्धज्ञानके द्वारा हमारा जीवन संचालित होगा, तब तो हमारा जीवन ईश्वरीय होगा और जब कामके द्वारा हमारा जीवन संचालित होगा तब वह ऐन्द्रियक जीवन होगा, हम इन्द्रियोंमें जीने लग जायेंगे—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।

तो बाबा यह हुआ कि ज्ञान तो गया पड़ोसीके घर। जानकारी जो अपनी थी कि यह अच्छा है, यह बुरा है, वह तो अपने दिलमें कभी रही नहीं। यह 'तैस्तैः कामैः'—बताया, एक वस्तुके सम्बन्धमें अनेक अनेक काम होते हैं, एक काम होता है कि अनेक काम होता है, फिर एक विषयके अनेक-अनेक काम होते हैं, जैसे दृश्य विषयक अनेक काम होते हैं, ऐसे स्वाद विषयक अनेक काम होते हैं। ऐसे श्रवण विषयक अनेक काम होते हैं, ऐसे त्वचा विषयक अनेक काम होते हैं, इनका झुण्ड-का-झुण्ड। विशेष-विशेष कामनाएँ, उनका सामान्य और सामान्य कामनाएँ और उनकी बीज समष्टि। यहाँ तक कि जहाँ हम सुषुप्तिमें जाते हैं वहाँ भी काम सामान्य रहता है उठनेपर वह प्रकट होता है।

यह तो हुई स्थिति चित्तकी। अब बोले कि भाई इन कामनाओंकी पूर्ति कैसे करें? तो एक ईश्वरपर दृष्टि नहीं गयी। कहाँ दृष्टि गयी? कि **प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः**। ईश्वरकी शरण नहीं लेंगे। किसकी शरण लेंगे? बोले—

देखो, धन तो मिलेगा सेठसे और भोजन मिलेगा होटलमें और नाच देखनेको मिलेगी क्लबमें। कई जगह जाना पड़ गया न! क्योंकि एक ही जगह सारी चीजें नहीं मिलती हैं। जो ईश्वरको छोड़कर दूसरेसे अपनी वासना पूरी करना चाहेगा, उसकी सब वासनाएँ एक जगह पूरी नहीं होंगी। कुछ वासनाएँ बापसे पूरी होंगी, कुछ पतिसे पूरी होंगी, कुछ बेटेसे पूरी होंगी, कुछ पत्नीसे पूरी होंगी, कुछ सेठसे पूरी होंगी, कुछ मिनिस्टरसे पूरी होंगी। इसी तरहसे समझो आँख सम्बन्धी वासनाएँ सूर्यसे पूरी होंगी, कान सम्बन्धी वासनाएँ दिशाओं-से पूरी होंगी, रसना सम्बन्धी वासनाएँ वरुणसे पूरी होंगी, त्वचा सम्बन्धी वासनाएँ वायुसे पूरी होंगी। एक-एक विषयका एक-एक देवता है; वह उसका अधिष्ठातृ देवता होता है। जो ईश्वरको छोड़कर दूसरेकी शरणागति ग्रहण करेगा वह एकके अनन्य नहीं रह सकता।

बोले—बाबा, हम तो कृष्ण-कृष्ण करते हैं! अब एक दूसरी बात आपको सुनाने जा रहे हैं। आप लोग निष्पक्ष होकर पुराणोंकी तरफ ध्यान दोगे तब पता चलेगा। एक कहता है कि हे कृष्ण! हमारे दुश्मनको मार दो; और एक कहता है कि हे कृष्ण! हमको स्त्री-पुत्रादि रूप भोग दो; और एक कहता है कि हे कृष्ण! हमको जगत्का ईश्वर बना दो, ब्रह्मा बना दो; और, एक कहता है कि हे कृष्ण! हमको मोक्ष दे दो और एक कहता है कि हे कृष्ण! हमको अपने प्रेमसे सराबोर कर दो। तो साधारण रूपसे यह मालूम पड़ता है कि यह सब बातें कहनेवाले एक ही कृष्णको बुला रहे हैं। यह बात नहीं है। पुराणोंमें यही लीला है बड़ी विचित्र। आप भैरव-पुराण पढ़ें। यह भैरव काशीके कोतवाल हैं। जब 'भैरव चलते हैं तो उनके साथ जो पार्षद चलते हैं एक पार्षद 'कृष्ण' नामका है। उसमें एक पार्षद 'शिव' नामका है, एक पार्षद 'ब्रह्मा' नामका है, एक पार्षद 'इन्द्र' नामका है। माने उन्होंने अपने नौकरोंके नाम बड़े-बड़े रखे हैं। मैं तो पुराणोंको पढ़ता हूँ, उनके पढ़नेमें बड़ा मजा आता है। अब वे भैरवके जो नौकर हैं वहाँ जो शिव है वह गोरा है, त्रिशूल रखता है। वहाँ जो कृष्ण है वह साँवरा है, वह बाँसुरी रखता है, पर नाटे-नाटे हैं। सब बौने-बौने हैं। भैरवसे ऊँचा कोई नहीं है। भैरवकी जो शक्ल है, उससे सब-के-सब छोटे ही रहते हैं। अब कहो कि हे कृष्ण! हमारे दुश्मनको मारो, तो यह नहीं समझना कि राधारमण गोलोक बिहारी, नित्य निकुञ्ज लीलामें अनुरक्त भगवान् तुम्हारे दुश्मनको मारने आ जायेंगे। वही

भैरवका जो नौकर है, काला नौकर, वह मारेगा। देखो, देवीभागवतमें वर्णन आता है कि देवी भगवती जब बैठती हैं सिंहासनपर, तो ब्रह्मा-विष्णु-महेश उनके सामने, ता-ता-थेई, ता-ता-थेई करके नाचते हैं। तो विष्णुपुराणमें जिस विष्णुका वर्णन है वह दूसरा है और वहाँ देवीके सामने जो नाचनेवाला है वह तो देवीको एक ऐसा नौकर मिल गया है, जिसके चार हाथ हैं, साँवरा वर्ण है, वह देवीका सेवक है।

इस तरहसे भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न रीतिसे इनका वर्णन आता है। और जो लोग ठाकुरजीसे नौकरी लेनेके लिए, अपनी सेवा लेनेके लिए, अपना काम करानेके लिए बुलाते हैं, उनका काम करनेके लिए वह खुद नहीं आते हैं; यही भूतभैरवादि जो हैं, यही उनको प्राप्त होते हैं। इसलिए **प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः** दूसरे-दूसरे जो देवता हैं उनकी प्रपत्ति करते हैं, ईश्वरकी प्रपत्ति नहीं करते हैं। क्योंकि ईश्वरकी प्रपत्तिमें एक विशेष बात है। एक तो एकबार ईश्वरकी शरण लेनेपर फिर दूसरेके पास जानेकी जरूरत नहीं रहती; और दूसरे ईश्वर परम दयालु हैं इसलिए वह मनुष्यकी ऐसी कामना पूरी नहीं करता है जिससे नरकमें जाना पड़े और उसका अनिष्ट हो जाय; वह देख-देखकर जिसमें उसकी भलाई है, वही कामना पूरी करता है। और तीसरी बात यह है कि सब कुछ उसमें भरपूर है, जो उस ईश्वरको देखता है उसको कहीं जानेकी जरूरत नहीं पड़ती है—

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। २.७०

जो कामनाको पूरी करनेके लिए यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ भटकता रहता है उसको कभी शान्ति नहीं मिलती। देखो भाई, साधुका कमण्डलु कभी खाली नहीं होता और साधुका आसन कभी हिलता नहीं। अपने आसनपर बैठा है और संसारके सारे भोग उसकी सेवा करनेके लिए आते हैं! वह मना कर देता है कि भाग जाओ, हमको जरूरत नहीं है; और वे बोलते हैं तुम हमारे बापजी हो, **तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे** (२.७०)—तुम हमारे कारण हो।

कार्यका प्रवेश कारणमें होता है। कामके बाप कृष्ण हैं। वह कामका भी जो कारण है परमात्मा, उससे जो भक्त एक होकरके बैठा हुआ है उसके लिए क्योंकि विश्वकी सम्पूर्ण कामनाएँ आकर ईश्वरमें प्रवेश करती हैं, इसलिए उसको अपनी कामना पूर्ण करनेके लिए किसीके पास कहीं जाना नहीं पड़ता है, सारी कामनाएँ अपने आप पूर्ण हो रही हैं।

और जो अन्य देवताका सेवक है वह अन्य देवता महाराज, एक ही कामना पूरी कर सकता है। कहते हैं कोई भक्त था उसने शीतला देवीकी आराधना की। शीतला देवीको तो आप जानते ही हैं—काशीमें शीतलाका मन्दिर है। तो शीतला देवी उसके सामने प्रकट हुईं। बोलीं कि बेटा, वर माँगो तो उसने कहा देवि! हमको बढ़िया उच्चैःश्रवाके समान घोड़ा चाहिए। शीतलाजीने सिर पीट लिया कि बेवकूफ अगर मेरे पास घोड़ा होता तो मैं गधेपर क्यों चढ़ती? मैं खुद गधेकी सवारी करती हूँ तो मैं घोड़ा कैसे दे सकती हूँ?

महाराज ये हँसीकी बात नहीं, एक-एक देवता एक-एक विषयके मालिक होते हैं, सर्व-विषयके मालिक नहीं होते। कपड़ा बाँटनेवाला विभाग दूसरा है, सोना बाँटनेवाला विभाग दूसरा है, ब्याह करानेवाला विभाग दूसरा है, नौकरी देनेवाला विभाग दूसरा है। नौकरी देनेवाले विभागमें जाकर कहो कि हमारा ब्याह करा दो, तो ब्याह नहीं करावेगा वह। और ब्याह करानेवाले विभागमें जाकर कहो कि हमको नौकरी दे दो, तो वहाँ नौकरी थोड़े ही मिलेगी। तो ये जो देवता लोग अलग अलग हैं ये सब टुटपुँजिये हैं भला! ये एक-एक चीजके मालिक हैं, ये सब चीजके मालिक नहीं हैं। एक ईश्वर ही सब चीजका मालिक है। और जिसको ईश्वर मिल जाता है, उसे किसी चीजकी कमी नहीं रहती और जो ईश्वरको छोड़कर इधर-उधर दौड़ता है, उसको जगह-जगह जाना पड़ता है।

अब देखो, तीन बात हुई, एक तो तुम्हारा ज्ञान चौपट कर दिया इस कामने। दूसरे, भिन्न-भिन्न देवताओंसे सम्बन्ध जोड़ना पड़ा माने दरवाजे-दरवाजे चापलूसी करनी पड़ी क्योंकि बिना चापलूसीके, बिना लल्लोचप्पो किये संसारके लोग पिघलते नहीं हैं। उनके सामने तो बड़ी पूँछ हिलानी पड़ती है, बड़ी हाँ-हजूरी करनी पड़ती है, बड़ी लल्लो-चप्पो करनी पड़ती है। यह सबसे कहना पड़ता है कि तुम्हीं परमेश्वर हो। हे भैरव! हमारे हृदयेश्वर-प्राणेश्वर सर्वेश्वर-तुम हो! हे भूत! हमारे हृदयेश्वर प्राणेश्वर सर्वेश्वर तुम हो। जिसके सामने जाओ, उसीसे यह दिखाना पड़ेगा कि हमने अपना दिल तो पूरी तरहसे तुमको ही दिया है। वेश्यापना आ जाता है। यही तो हृदयका वेश्यापना है! **तं तं नियममास्थाय** और भी आश्चर्य। यहाँ प्रशंसा करनेके लिए यह बात नहीं कही जा रही है। यह अपने अर्थार्थी भक्त,

आर्तभक्त, जिज्ञासु भक्तकी अपेक्षा, ये जो संसारमें भटकनेवाले कामी और भिन्न-भिन्न देवताओंके उपासक हैं उनकी निन्दा करनेके लिए यह बात कही गयी है। और निन्दा भी इसलिए कि भगवान्‌की शरण ग्रहण करो।

अब और कठिनाई क्या? कि—**तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।** इन देवताओंके लिए नियम भी अलग-अलग पालन करने पड़ते हैं। आपको सुनावें, बड़े विचित्र! श्मशानमें कोई साधना की जाती है तो रातको जाकर मुर्देपर बैठना पड़ता है—**तं तं नियममास्थाय।** अब ऐसा नियम पालन न करो तो देवता ही खुश न हो। एक देवताकी आराधना करनी पड़ती है तो चारों कपड़े खोलकर अलग रख देने पड़ते हैं, नग्न होकर उनके मन्त्रका जप होता है। एक देवताको खुश करना हो तो शरीरमें गन्दगी लगाकर उनकी सेवा-पूजा करनी पड़ती है। एक देवताकी आराधना होती है तो मुँह जूठा करके तब उनकी पूजा होती है। बिना मुँह जूठा किये उनकी पूजा ही नहीं होती है। **तं तं नियममास्थाय।** ईश्वरको छोड़कर दूसरोंको खुश करने लग जाओगे तो मुँह जूठा हो गया न! बिना मुँह जूठा हुए संसारी देवता खुश होता ही नहीं। मुँह जूठा करो उसके लिए, नंगे हो जाओ उसके लिए, मुर्देपर जाकर सवारी करो उसके लिए, गन्दगी लपेटो अपने शरीरमें, अपनेको गन्दा करो; यह ईश्वरको छोड़कर संसारमें जानेका, संसारमें भटकनेका यही तो फल है न! ऐसे नियम पालन करने पड़ते हैं एक-एक देवताको प्रसन्न करनेके लिए। सकाम जो अनुष्ठान होते हैं, बड़े विचित्र होते हैं। एक देवताको प्रसन्न करनेके लिए नहाते वक्त ही जप करना चाहिए, पानी सिरपर डाललो, कपड़ा भींग जाये तो बाथरूममें बैठकर माला फेरो उनकी, तब सिद्धि मिलेगी। कहीं सर्दी लग जायेगी, डरोगे तब काम नहीं बनेगा। तो **तं तं नियममास्थाय।** देखो एक तो ज्ञानपर वासनाके रंग चढ़ गये। दूसरे हजारोंकी शरण लेनी पड़ी, हजारोंकी खुशामद करनी पड़ी और चित्र-विचित्र अशुद्ध बनानेवाले नियम लेने पड़े।

बोले—बाबा, जब इतना झगड़ा है तो लोग इसमें फँसते क्यों हैं? न फँसते, फटकार देते कि नहीं चाहिए। बोले—न बाबा, यह तो **प्रकृत्या नियताः स्वया**—लोग अपने सजातीयके पास ही जाते हैं। जहाँ उनका खून मिलता है, अरे मन मिलता है ऐसे कहो, जहाँ उनका खून मिलता है, सबके शरीरमें-से एक तरहकी तन्मात्राएँ निकलती रहती हैं। कोई साधुके पास

जाता है, उसकी तन्मात्राका मेल बैठता है तो आनन्द आ जाता है। कोई जुएखानेमें जाता है तो सबकी तन्मात्रा एक होकर मिल जाती हैं तो उनको बड़ा मजा आता है। बोले—यह जुआखानेमें जाकर खुश होना, शराबखानेमें जाकर खुश होना वेश्याघरमें जाकर खुश होना, यह जैसे उन-उन व्यक्तियोंकी निम्न वासना और निम्नप्रकृतिका सूचक है, इसी प्रकार ईश्वरकी शरणमें होना, यह उच्च प्रकृतिका सूचक है और तत्तत् देवताओंकी शरणमें जाना यह निम्न प्रकृतिका सूचक है।

प्रकृत्या नियताः स्वया। तो क्या किया जाय? उनके साथ जुड़ी हुई प्रकृति जो है उनकी। प्रकृति है माने संस्कार हैं अपने-अपने सबके। ये बनते भी हैं थोड़ा-थोड़ा बिगड़ते भी हैं। इनमें डरनेकी बात नहीं है, इनका रहस्य समझना चाहिए। आदमी कैसा हो जाता है? **या दृशां सन्निविशते**—जैसे लोगोंमें उठता-बैठता है। ऐसा रंग चढ़ता है महाराज, कि फिर दूसरेको कुछ मानता ही नहीं है। थोड़े दिनों नास्तिकोंका संग होवे तो वह कहेगा कि सब धर्म-कर्म छोड़ दें। बोले—ईश्वर? कि ढोंग है। वेद? कि पाखण्ड है। साधु-महात्मा? कि सब ढोंगी हैं। यह बात कहाँसे निकलेगी? भाई वैसे लोगोंमें बैठोगे, तो सुनते-सुनते उनका असर पड़ जाता है। सच्चाईको भूल जाता है आदमी और झूठेमें फँस जाता है। **या दृशां सन्निविशते** और **या दृशां चोपसेवते** और यह देखो कि वह आदमी सेवा किसकी करता है! कामिनीकी सेवा करेगा तो कामी हो जावेगा। लम्पटोंके बीचमें बैठेगा तो लम्पट हो जायेगा। और **या दिदृक्षेत् तु भवितुम्**—और मनुष्य स्वयं क्या होना चाहता है? उसके मनमें उद्देश्य क्या है? यह तीसरी बात है। संग-साथ कैसा, श्रद्धा किसपर और अपने जीवनका लक्ष्य क्या? इन तीनोंको मिलाकर मनुष्यकी प्रकृति बनती है **तादृशो भवति पूरुषः।** मनुष्यके जीवनका निर्माण ऐसे ही होता है। तो **प्रकृत्या नियताः स्वया,** जैसा संग वैसा रंग। जैसा संग रहेगा वैसा ही बनेगा। *गुरुका संग और नाम अभंग और प्रेमका रंग।* गुरुका तो संग हो और नामका अभंग जप होवे लगातार और महाराज, प्रेम होवे भगवान्‌में! अनुराग होवे भगवान्‌में, तब मनुष्यके जीवनका निर्माण होता है। अपनी प्रकृतिके निर्माता तुम्हीं हो। नहीं तो जैसी लोगोंकी बात सुनोगे ऐसा असर पड़ता है। हमारे महात्मा लोगोंमें तो यह एक बड़ा मशहूर दृष्टान्त है—क्या?

कहते हैं कि एक कोई गाँवका भोला-भाला व्यक्ति था। वह बकरीका बच्चा अपने कंधेपर लेकर कहीं जा रहा था, तो रास्तेमें कोई सज्जन मिले। तीन थे ठग, उन्होंने सलाह कर ली ऐसे कि एकने कहा—क्यों भाई, तुम अपने कन्धेपर कुत्तेको क्यों ले जा रहे हो? उसने कहा—कुत्ता नहीं है भाई, बकरीका बच्चा है। अच्छा, जाओ, कोई बात नहीं, हमें इससे क्या मतलब है? दूसरा मिला, बोला—क्योंजी तुम बड़े विचित्र आदमी हो, कंधेपर कुत्तेका बच्चा लेकर चलते हो! कि नहीं भाई, कुत्तेका नहीं, यह तो बकरीका है, मैं इसको घरसे लेकर चला हूँ। देखा, उसको तो बकरीका ही बच्चा लगा। तीसरा मिला, बोला—पागल हो गये हो क्या? राम, राम राम, यह बिलकुल कुत्तेका बच्चा तुमने अपने कंधेपर रख छोड़ा है। अब तीन आदमियोंने कहा, तो ऐसा असर पड़ गया कि उसने बकरीके बच्चेको उतार अलग कर दिया। फिर तो वे तीनों ठग उठाकर ले गये उसको। यह जो एक ही तरहकी बात जगह-जगह सुननेको मिलती है, तो ऐसा कोई नहीं है जो सुनी हुई बातका असर न माने।

देखो, पुत्र लोग पहले अपने माँ-बापकी बात कितनी ज्यादा मानते हैं; फिर जब पत्नी आती है और वह महाराज रातमें कान भरने लगती है तो थोड़े ही दिनोंके बाद उनके मनमें यह आ जाता है कि हमारी पत्नी हमसे जितना प्रेम करती है, उतना माँ-बाप नहीं करते हैं। क्यों, क्या माँ-बापका प्रेम कहीं छूट गया? नहीं, माँ बापका प्रेम छूट नहीं जाता है, लेकिन पत्नीकी बात सुनते-सुनते उसका संस्कार दृढ़ पड़ जाता है। वह पत्नी भी पराये घरकी आयी हुई होती है तो उसको रंग जमाना होता है कि ये हमारे प्रेमको भी कुछ समझें। इसलिए अनजानमें ही वह ऐसी-ऐसी बातें कहने लग जाती है, जिससे यह मालूम पड़ जाय कि हमारा प्रेम ज्यादा है। जैसे कि भाई सासजीके तो बहुत बच्चे हैं, सबका ध्यान रखती हैं, सबको मलाई दे देती हैं, तुम्हारे लिए नीचेका दूध रखती हैं। अब पत्नी मलाई खिलाना शुरू करेगी भला! नारायण कहो। तब क्या होगा? कि हाँ, माँसे ज्यादा प्रेम करनेवाली तो पत्नी है।

प्रकृति बनती कैसे है मनुष्य की? जैसा काम करने लगता है, जैसी बात सुनने लगता है, जैसे लोगोंका संग होता है, झट मनमें परिवर्तन हो जाता है। तो बारम्बार डाले हुए संस्कारसे मनुष्यका स्वभाव बन जाता है। और उसी

स्वभावके अनुसार उसकी गति होती है। असलमें बहादुर कौन? कि बहादुर वह है जो इन बातोंके वशमें न आवे। सुने सब, पर इन बातोंके वशमें नहीं होवे—**स्वभाव विजयं शौर्यम्।** शूरता यह है कि स्वभावपर विजय प्राप्त करो।

ये लोग महाराज ऐसे संगमें पड़ गये हैं, ऐसा रंग चढ़ गया है इनके ऊपर कि ये अपनी प्रकृतिके वशीभूत होकर तत्-तत् कामनाओंके हाथों ठगे गये, उन-उन देवताओंकी शरणमें गये और वैसे-वैसे नियमका पालन करने लगे।

अब क्या बतावें आपको, आप साधुओंकी वेश-भूषा देखना—कोई-कोई अंग ही काट देता है भला, कोई बाल कैसा बना लेता है, कोई राख कैसे पोत लेता है, कोई लंगोटी कैसे पहनता है, कोई भाला कैसा लगाता है? इन सब बातोंको देखो, तो सारी बातोंमें अलगाव कहाँसे आया? अलगाव यहींसे आया कि जिसने जैसोंका संग किया, वह वैसा हो गया।

बोले—प्रभु! तुम क्या करते हो? यह सब देखते हुए तुमको क्या ठीक लगता है? बोले—बड़ा मजा आता है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः (७.२१)—बोले—अच्छा भाई, तुम इसको प्रेम करते हो, लो देख आओ, वहाँका भी मजा देख आओ—

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। ७.२१

'तामेव तमेव—प्रतिं तस्य-तस्य अचलां श्रद्धा विदधामि', उसी-उसी पर रीझ गये हैं। अच्छा भाई, तुम उसीसे जुड़ना चाहते हो, तो जुड़कर देख आओ एक बार! क्योंकि हमेशाके लिए कोई ईश्वरके सिवाय किसीसे जुड़ नहीं सकता, यह नियम है। हमेशाके लिए जुड़ेगा तो ईश्वरके साथ जुड़ेगा और दूसरेके साथ जुड़ेगा तो टूटना पड़ेगा—दो बरसमें टूटे, पाँच बरसमें टूटे, दस बरसमें टूटे, अरे महाराज, टूटना तो संसारमें पड़ेगा ही, वह तो ईश्वर ही तोड़ेगा। लेकिन ईश्वर कहता है जब मैं तुमको पसन्द नहीं हूँ, तुमको दूसरा ही पसन्द है, तो भाई, जो तुमको पसन्द है, वही सही। बोले—उसको खाने-पीनेको कौन देता है? कि सो तो मैं सब कर लेता हूँ, लेकिन तुमको वह पसन्द है तो वही सही, फिर वह जो भगवान्‌के ध्यानका उनके सान्निध्यका, उनके प्रेमका, उनके साहचर्यका जो मजा है वह नहीं आवेगा।

२१. अन्यदेवताओंकी श्रद्धाको मैं भी पुष्ट तो कर देता हूँ लेकिन.....

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

अर्थ :—जो-जो भक्त जिस-जिस दूसरे देवताके शरीरकी श्रद्धासे पूजा करनेकी इच्छा करता है, मैं उस-उसकी श्रद्धाको उसी-उसी देवतामें अचल कर देता हूँ॥ २१॥

: २१.१ :

पुष्टि भगवान्से ही

मनुष्यकी समझदारी उसका साथ कैसे छोड़ देती है, इसका कारण बताया—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना**—जो कामनाके अधीन हो जाता है, समझ उसका साथ छोड़कर चली जाती ह और कोई समझ कभी आवे भी, तो वह स्थिर नहीं हो सकती। क्यों? जब स्थितप्रज्ञका प्रसंग आया था, तो बताया था कि—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ २.५५

—जब कामनाका परित्याग करेगा, तब प्रज्ञामें स्थिरता आवेगी, बुद्धि मनुष्यकी कायम-मुकाम—मुस्तकिल तब होगी, समझ अपनी दृढ़ तब होगी, जब कामनाएँ उसको घसीट नहीं सकेंगी। तो समझदारीका सबसे बड़ा दुश्मन है काम। जो कामके अधीन हो जाता है, वह समझदारीसे हाथ धो बैठता है।

दूसरी बात बतायी कि उस नासमझीका नमूना क्या है? कैसे समझें कि आदमी अब नासमझ हो गया है? बोले—**प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः** ईश्वरको छोड़कर मनुष्य दूसरेकी जब शरण ग्रहण करे तो समझ लेना कि अब यह नासमझ होगया है।

तीसरी बात है कि उसकी आस्था किस पर है? आखिर देवताकी शरण ली है तो आस्था उसकी देवतापर होगी न! राम कहो, देवतापर उसकी आस्था नहीं है **तं तं नियममास्थाय** (७.२०) वह जो विचित्र-विचित्र नियम ग्रहण करता है, बोला इस नियमसे यह काम पूरा नहीं हुआ तो यह नियम लेंगे। अब इस नियमसे यह काम पूरा नहीं हुआ तो अब यह नियम लेंगे, बैठकर काम सिद्ध नहीं हुआ तो अब खड़े होंगे और खड़े होकर सिद्ध नहीं हुआ तो अब उलटे टँगेंगे, सिर नीचा करके और पाँव ऊँचा करके तब देवताकी आराधना करेंगे। तो उसकी आस्था देवतापर नहीं है, अपने अभिमानसे होनेवाले नियमों पर है।

बोले—भाई, आखिर कामनाएँ आयीं क्यों? दूसरे देवताओंकी शरण ली क्यों गयी? और आस्था ईश्वरपर न होकर, देवतापर न होकर, नियमोंपर क्यों गयी? तो इसका कारण बताया—**प्रकृत्या नियताः**—प्रकृति ही उनका संचालन कर रही है। तो बोले—भाई प्रकृतिका संचालन तो बहुत बढ़िया है। आदमीकी कोई जिम्मेवारी नहीं, प्रकृति जहाँ लिये जा रही है वहाँ चले जायँ। बोले—अगर मूल प्रकृति ले जाती, तब तो एक बात भी थी। यह मूल प्रकृति मनुष्योंको नहीं ले जा रही है। यह मूल प्रकृति सारे कर्म करा रही है, सारे भोग दे रही है, अगर ऐसी बात होती और मैं अकर्ता हूँ, मैं अभोक्ता हूँ—यह ज्ञान ही होता, तब क्या पूछना, तब तो हम नमस्कार ही करते कि असंग महापुरुष हैं। बात कही कि **स्वया प्रकृत्या नियताः**—स्वया प्रकृत्या, प्रकृतिका एक विशेषण है 'स्वया' माने 'स्ववासनारूपया प्रकृत्या' यह जो प्रकृति है यह अपनी व्यक्तिगत प्रकृति है। माने स्वयं काम कर-करके जैसी आदत डाल ली है वैसी। एक आदमी बैठकर तिनका ही तोड़ता जा रहा है। उसके सामने कोई कागज रखा हुआ है, तो अनजानमें किताब फाड़ देते हैं लोग। बोले—यह क्या है? बोले—हमारी तो प्रकृति है, स्वभाव है, आदत है। तो यह क्या ईश्वरकी बनायी हुई है? या स्वयं बनी हुई है? कि नहीं, नहीं, तुमने ही ऐसे काम कर-करके आदत डाल ली है। रोनेकी आदत, ताना मारनेकी आदत, अपने पास बैठे हुए आदमीको खोदकर बात करनेकी आदत। देखो न, कोई सामने बैठा हुआ हो, तो हाथसे एक बार उसको खोद दिया और फिर बोला—हमारी बात सुनो। यह आदत कहाँसे? यह क्या

ईश्वरने भेजा है? कि मूल प्रकृतिने ऐसा कहा है? नहीं, बचपनसे तुमने आदत बिगाड़ ली है। यह जो तकिया कलाम लोगोंके पड़ते हैं—राम आसरेसे, रामेच्छासे वे तो बहुत अच्छे हैं। तरह-तरहके पड़ जाते हैं—समझे? बारम्बार बोलेंगे—समझे! तो यह कहाँसे पड़ता है? कि **नियताः स्वया**—यह अपनी ही आदत तुमने बिगाड़ ली है। वह बिगड़ी हुई आदतके रूप बताये कि मनमें तरह-तरहकी कामना, समझदारीकी हानि, बहुतोंकी शरण, भिन्न-भिन्न नियमोंका ग्रहण—यह सब वासनाका विलास है। **प्रकृत्या नियताः स्वया**—यह अपनी बनायी हुई प्रकृति है।

एक आदमीको हम जानते हैं, दस बरससे जानते हैं। बड़ी अच्छी आदत, आँख सीधी करके बैठना, पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठना, किसीकी ओर देखना नहीं, दस बरससे। अब दो महीनेमें महाराज, उसने आदत ऐसी बना ली कि अमुक व्यक्तिकी ओर देखे बिना हमारी आँख रहती नहीं! बोले—अब क्या करें, अब तो आँखोंकी आदत पड़ गयी है। पच्चीस बरसकी आदतने कुछ साथ नहीं दिया, पाँच दिनकी आदतने आँखोंको बिगाड़ दिया। तो ये ऐसी आदतें हैं जिनको आदमी सुधार सकता है। अपनी बनायी हुई जो बुरी आदतें हैं, उनको मनुष्य सुधार सकता है और इनको सुधारनेमें ही असलमें साधन भजनकी सार्थकता है। साधन नई चीज पैदा करनेके लिए नहीं है। तब काहेके लिए है? कि यह जो बीचमें बुराईयाँ अपने जीवनमें घुस आयी हैं, उनके निकालनेके लिए यह साधन है।

बोले—अच्छाजी, खैर देवतापर तो विश्वास है और उसकी शरण ले रहे हैं और उन-उन नियमोंका पालन कर रहे हैं, तो देवता किसी दिन कृपा करेगा तो भगवान्में भक्ति भी हो जायेगी! बोले कि वह देवता भगवान्में भक्ति देनेवाला नहीं है। जिस देवताकी शरण तुम लेते हो, वह अपना पशु बनाकर तुमको रखेगा हमेशा, वह तुम्हें ईश्वरका भक्त नहीं बनावेगा, वह तुमको ईश्वरसे विमुख करेगा। यह बात मनुष्यकी समझमें पहले नहीं आती है, बहुत बादमें आती है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

भगवान् कहते हैं कि जो-जो मनुष्य, जो-जो भक्त, जिस-जिस तनुपर

श्रद्धा करता है और श्रद्धाके द्वारा उसकी अर्चा करना चाहता है, पूजा करना चाहता है, उस-उस भक्तकी उसी तनुके प्रति—'तामेव तनुं प्रति, अचलां श्रद्धां अहं विदधामि'—श्रद्धाको मैं अचल कर देता हूँ।

इसमें बात क्या है? जो संस्कृत जानते हैं थोड़ा, वे देखेंगे कि 'यां यां भक्त:' में 'यत्' शब्दका दो बार प्रयोग किया हुआ है। तो, **'यां यां तनुं भक्तः तां तामेव प्रति श्रद्धां अचलां विदधामि'** इस प्रकारसे अन्वय होना चाहिए। जिस-जिस शरीरके प्रति वह भक्त हो गया है उसी-उसी शरीरके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको अचल कर देता हूँ। यदि 'तां' को श्रद्धाका विशेषण मान लें तो 'यां यां' करके 'यत्' शब्दका जो दो बार प्रयोग किया गया है उसे 'तत्-तत्' शब्दकी अपेक्षा है और उस अपेक्षाकी पूर्ति नहीं होती। तो 'तां तामेव तनुं प्रति श्रद्धां अचलां विदधामि'।

भगवान् बोलते हैं कि एक आदमी बड़ी श्रद्धासे किसी देवताके प्रति भक्ति करता है और पूजा करता है। तो भगवान् कहते हैं कि मैं उसी देवता-शरीरके प्रति उसकी श्रद्धाको उन-उन भक्तोंकी श्रद्धाको अचल कर देता हूँ। कोई भैरवकी आराधना करेगा, कोई हनुमानकी आराधना करेगा, कोई सूर्यकी आराधना करेगा, कोई गणेशकी आराधना करेगा, कोई शक्तिकी आराधना करेगा, कोई इन्द्रकी आराधना करेगा, कोई कुबेरकी आराधना करेगा। साधुओंमें भी कुबेरकी आराधना चलती है। कुबेरकी आराधना करेंगे **'कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः'** कहकर पुष्पांजलि देते हैं न! यह मन्त्र नहीं उतरा है अभी,

काम कामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः।

इसमें 'काम कामाय मह्यं'—मैं विषयोंका कामी हूँ, यह स्वीकार किया गया है। 'काम कामाय मह्यम्' और 'कामेश्वर: वैश्रवण:' हमारी विषयोंकी इच्छाको पूरी करें, 'कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः'।

अच्छा, ये कर्मकाण्डी लोग भी जब कोई कर्मकाण्डका अन्त होता है तो यह मन्त्र बोलवाकर पुष्पाञ्जलि करवाते हैं।

हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि कोई कुबेरकी पूजा करता है, कोई भूत-भैरवकी पूजा करता है, कोई किसी मूर्तिकी पूजा करता है, कोई किसी मूर्तिकी पूजा करता है। तो देखो, बात तो असली यह है कि ये मूर्तियाँ

तो अलग-अलग हैं, शरीर अलग-अलग है और सब मूर्तियोंमें, सब तनुओंमें ईश्वर एक ही है। सूर्यमें भी वही है, भूत-भैरवमें भी वही है, शक्ति-गणेशमें भी वही है। मूर्तियाँ अलग-अलग हैं, तनु अलग-अलग हैं, लेकिन जो उन-उन तनुओंका अधिष्ठाता ईश्वर है, वह अलग-अलग नहीं है, वह तो सबमें एक है। इसीसे ईश्वरको कोई खास पक्षपात भी नहीं है, वह रोकता भी नहीं है—कि अच्छा भाई, तुमको यह शरीर अच्छा नहीं लगता, यह अच्छा लगता है, तो चलो इसीसे सही। कोई ब्राह्मणके मुखसे ईश्वरको भोजन करवाता है और कोई चाण्डालके मुखसे ईश्वरको भोजन करवाता है, यह तो अपनी-अपनी रुचि हुई, अपनी-अपनी प्रवृत्ति हुई! दोनोंके भीतर बैठकर भगवान् ही खाता है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। भंगीके पेटमें जो वैश्वाकार होकर भोग लगा रहा है वह दूसरा नहीं है और ब्राह्मणके पेटमें जो वैश्वाकार होकरके भोग लगा रहा है वह दूसरा नहीं है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १५.१४

साँपके भीतर मुँहमें जो दूध जाता है उसको भी भगवान् ही भोग लगाता है। वैश्वानर बनकर साँपके पेटमें वही बैठा है और नन्दनन्दन श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरकी मूर्ति सामने रखिये, उसे दूधका भोग लगाते हैं। सबेरे-सबेरे, गर्मागर्म दूध, उसको भी वही पीता हैं। दो नहीं, सबके भीतर वही एक है।

पर प्रश्न तो है भावका। क्या साँपको दूध देते समय या भूत-भैरवकी पूजा करते समय उस एक ईश्वरका ध्यान तुमको रहता है, जो सबके भीतर एक शरीरीके रूपमें बैठा हुआ है? मुख्य प्रश्न तो पुजारीके भावका है। बोले—भाई नहीं, वह तो एकको छोड़ा, दूसरेको पकड़ा ऐसा है। बोले—पहलेको क्यों छोड़ा? बोले—इसमें ईश्वर ठीक नहीं दिखा, दूसरेमें ईश्वर ठीक दिखता है। जरा दाढ़ी-मूँछवालेमें ईश्वर कम दिखता है, बिना दाढ़ी मूँछवालेमें ईश्वर ज्यादा दिखता है, ऐसा कुछ। ब्रजमें ऐसी भूमिका कुछ ज्यादा है। किसी-किसीको पुरुष शरीरमें ईश्वर ज्यादा नहीं दिखता है, स्त्री शरीरमें ज्यादा दिखता है। भाई, यह भी ठीक है। किसीको स्त्री-शरीरमें ईश्वर ज्यादा नहीं दिखता है, पुरुष शरीरमें ज्यादा दिखता है।

नारायण कहो, हमारा स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीरसे ज्यादा मतलब नहीं है, मतलब तो उस ईश्वरसे है जो सब शरीरोंमें एक शरीरी है—**यस्य पृथ्वी शरीरं। यस्य आदित्य शरीरं।** यह सूर्य देवता जिसके शरीर हैं उस शरीरसे हमारा अभिप्राय है, वह शरीरी परमात्मा। तो शरीरी एक परमात्माको छोड़कर शरीरोंमें-से केवल एक शरीरके शरीरीकी शाखा में गया। यह कैसा हुआ? कि जैसे कोई किसी मनुष्यको तो अपने घरमें रखे बड़े प्रेमसे, लेकिन वह बोले कि हम संगीत सुना-सुनाकर कानकी तो सेवा करेंगे क्योंकि तुम्हारे कान हमारे इष्ट हैं, परन्तु आँखकी नहीं करेंगे। अथवा कहे कि सौन्दर्य दिखा-दिखाकर तुम्हारी आँखकी सेवा करेंगे, लेकिन कानकी नहीं। और, कानकी करेंगे; लेकिन आँखकी नहीं। और नाकको गन्ध सूँघनेके लिए देंगे, पर मुँहको भोजन नहीं देंगे, लेकिन विस्तर बहुत बढ़िया देंगे। माने जैसे किसी व्यक्तिके एक अंगकी सेवामें तो रुचि हो और दूसरे अंग जो उसी व्यक्तिके हैं उनकी सेवामें रुचि न हो तो उस व्यक्तिकी ठीक-ठीक सेवा हो रही है क्या? नहीं हो रही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण तनुओंमें, सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही ईश्वर व्याप्त है। लेकिन इस तमोगुणीने क्या किया—हृताज्ञाना नहीं हृतज्ञाना हुआ तो तमस् आ गया, यह तमोगुणी भक्त हो गया। आप देखना ध्यानसे, तमोगुणी भक्त है यह। यदि केवल कामना ही होती तो रजोगुणी भक्त होता, लेकिन ज्ञान भी हरण हो गया इसलिए मोह आ गया और मोह आजाने-से यह तमोगुणी हो गया।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ १८.२२

अट्ठारहवें अध्यायमें भगवान्ने कहा यह तनु जो है यह तो एक कार्य है, एक व्यक्ति है। 'यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तम्' इसीमें तुम फँस गये और हमको इससे मुक्ति मिलेगी कि धर्म मिलेगा कि भक्ति मिलेगी कि भगवान् मिलेगा यह सब ख्याल छूट गया। '**अतत्त्वार्थवत्**'—वह तो तत्त्व नहीं है केवल आकृति है और 'अल्पं च'—अपरिच्छिन्न नहीं है, परिच्छिन्न है। इस प्रकारकी एक देवता समूह में तुम्हारी जो आसक्ति है वह तमोगुणी आसक्ति है।

अब रही बात कि उसमें आगयी श्रद्धा; तो श्रद्धाके भी तीन भेद हो जाते हैं—सात्त्विकी, राजसी, तामसी। श्रद्धासे जो पूजा करना चाहता है, तो भगवान् कहते हैं कि भाई फिर मैं बुद्धि-भेद नहीं करता।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ ३.२६

अच्छा भाई, फँस गये तो फँस गये, जाओ तुम वहीं फँसो। वहीं जाकर तुम फँसो! कोई बात नहीं, तुम्हारी श्रद्धाको हम उसी मूर्तिके प्रति अचल किये देते हैं। क्योंकि भगवान् तो जानते ही हैं कि 'मैं' सब मूर्तियोंमें हूँ, और मैं ही हूँ; वह जानता है कि बस जो कुछ है सो सब इतना ही है। श्रद्धा को अचल करके बैठा दिया।

बोले—प्रभु यह तो तुमने कुछ बहुत भला नहीं किया उसका। कि भला तो नहीं किया, लेकिन किसीकी पकड़को मोहग्रस्त पकड़को एकाएक छुड़ाना भी तो कुछ बढ़िया बात नहीं है। बलात्कृत्य किसीके चित्तको छुड़ा देनेसे भी उसकी हानि होती है। यह उपनिषद्में प्रसंग आया है। जब प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन दोनोंको उपदेश दिया कि आँखमें जो परछाईं पड़ रही है यह ब्रह्म है। तो इन्द्रने तो विचार किया कि आँखमें जो परछाईं पड़ रही है वह तो शरीरकी पड़ रही है और उसमें तो हाथ-पाँव आदि अलग-अलग अवयव हैं, ये तो विनाशी हैं, ये तो परिच्छिन्न हैं, यह भला ब्रह्म कैसे हो सकता है? और विरोचनने मान लिया कि हाँ, बस यह शरीर ही ब्रह्म है क्योंकि आँखमें शरीरकी परछाईं पड़ती है। तो जब दोनों लौटकर आये और बोले कि हमने पहचान लिया, तो ब्रह्माजी ने भरी सभामें विरोचनको यह नहीं कहा कि तुम मूर्ख हो, तुमने नहीं पहचाना। बोले—क्यों? कि **सभामध्ये मानभंगाद् बुद्धिभ्रंशो भवेदिति**—यदि भरी सभामें हम कह देंगे कि प्रह्लादके बेटे विरोचनने ठीक नहीं समझा, तो उसकी समझका तिरस्कार करनेसे उसका और बुद्धि-भ्रंश हो जायेगा—**न काणं काण इति ब्रूयात्**—अगर कोई काना आकर सामने खड़ा हो जाय तो उसको काना कहकर नहीं पुकारना चाहिए। कानेको काना नहीं कहना, मूर्खको मूर्ख नहीं कहना, अन्धेको अन्धा नहीं कहना। क्यों? अन्धेको प्रज्ञाचक्षु कहकर बोलना, सूरदास कहकर बोलना, बिल्वमंगल कहकर बोलना। ऐसे शब्दसे किसीको नहीं बोलना, जिससे उसका तिरस्कार हो जाय। अपना मन क्यों खराब करना?

भगवान् भी ऐसे ही करते हैं—कि इसकी तो भाई बड़ी श्रद्धा है, इसी तनुके प्रति, इसी मूर्तिके प्रति, इसी व्यक्तिके प्रति। और श्रद्धासे—**अर्चयितुं**

इच्छति। श्रद्धा तो इसको मिली है न! श्रद्धा मिलना बड़ा मुश्किल है। मनुष्यके मनमें संशय ही सब जगहसे मिलता है और फिर एक जगह किसीकी आसक्ति हो जाय तो दूसरी जगह तो उसको संशय ही मिलता है। आसक्तिका फल ही यह है कि जिसपर आसक्ति होगी, उसपर विश्वास होगा, उसकी बातको वह सही मानेगा और दूसरेकी बातमें शंका होगी कि कहीं कोई ऐसी बात यह न कह दे कि इससे हमारी आसक्ति टूट जाये। अपने आसक्ति-भंगका भय लगा रहता है। एकके प्रति जो आसक्ति होती है, वह जिससे आसक्ति होती है उसकी बातपर विश्वास होता है और दूसरेकी बातपर संशय आ जाता है, अविश्वास आ जाता है। यह असक्तिका ही एक तरहका विलास है, फितूर है कि वह एकपर विश्वास कराती है और दूसरेपर-से विश्वास उठा देती है। यह श्रद्धा मिल गयी उसको। श्रद्धा माने सत्य मानकर उसको धारण करना। यह सत्को छिपानेके लिए, भेदकी रीतिसे श्रत् कर दिया गया है। **श्रदिति सत्य नाम**। निरुक्तने बताया कि सत्यका ही एक नाम श्रत् है और 'श्रद्धानां श्रद्धा'। 'श्रततया धारणं'। किसी भी वस्तुको श्रत्-सत्य मानकर धारण करना, इसका नाम श्रद्धा है।

मध्वाचार्य भगवान्ने कहा—

श्रद्धेति आस्तिकायामभिधानं।

आस्तिकताका एक नाम है श्रद्धा। यह जो तनु है यही हमारी कामना पूर्ण करनेवाली है, इसीसे हमारा भोग सब सिद्ध हो जायेगा, ऐसी श्रद्धा करके जब कोई एक तनुकी पूजा करना चाहता है, तो भगवान् कहते हैं—**तामेव तनुं प्रति**—शरीरके प्रति, **तस्य तस्य ताम् ताम् श्रद्धां अचलं विदधामि**—उन-उन लोगोंकी उस-उस श्रद्धाको मैं अविचलित कर देता हूँ।

कि आप ही करते हैं? कि हाँ, मैं ही करता हूँ। महाराज फिर तो उसकी वह उपासना, वह पूजा कहीं निष्फल न हो जाये। नहीं, निष्फल भी नहीं होती, मैं धीरेसे उसका फल भी दे देता हूँ। पता नहीं चलता है उसको पर फल मैं ही देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ ७.२२

२२. देवाराधन का फल भी मैं ही देता हूँ

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ ७.२२

अर्थ :—वह उसी श्रद्धासे युक्त होकर उसी देवता तनुकी आराधनाकी चेष्टा करता है और मेरे द्वारा विधान किये हुए काम्य भोगको प्राप्त करता है॥ २२॥

: २२.१ :
फलदाता ईश्वर ही

स तया श्रद्धया युक्तः = वह पुरुष उसी श्रद्धासे युक्त होकर श्रद्धामें भी जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसीके अनुसार जिसकी प्रकृति होती है उसीपर व्यक्ति विश्वास करने लगता है।

यह बात देखनेमें आती है कि जैसे हम कहीं जाते हैं, तो एक आदमी आता है तो सीधे हमसे बात करने लगता है; कोई थोड़ा संकोच करता है तो दादासे बात करता है; फिर कोई रामानुजसे बात करता है; कोई महाराज, वहाँ जो नौकर, कहार होता है, उसीसे दोस्ती गाँठता है और उसीसे वह अपनी सारी बात पानेकी कोशिश करता है। कहारके पास बैठकर उससे घण्टों बात करनेवाला कौन? आप देखो, उसकी प्रकृति जहाँ मिलती है, उसके पास वह समान प्रकृतिको ढूँढ़कर उससे मैत्री जोड़ता है।

हमारे पास एक सज्जन आये तो उनकी जाति जरा निम्न कोटिकी थी हम तो कोई ज्यादा ख्याल इस बातका नहीं करते हैं, परन्तु उनको कोई बात

करना हो तो वे हमलोगोंसे बात करना नहीं पसन्द करते थे। वे कहारसे ही बात करना पसन्द करते थे क्योंकि वहाँ उनकी प्रकृति मिल जाती है। जो अपरिच्छिन्न परमात्मासे एक होनेवाला व्यक्ति होता है, उसकी चाल, उसका मान, उसकी प्रीति अपने समान कोटिमें होती है; और जो छोटी-मोटी कोई चीज़ लेकर जानेवाला होता है, वह अपनी प्रीति छोटी-मोटी जगहमें करता है। यह बात संसारमें देखनेमें आती है।

स तया श्रद्धया युक्तः तस्याः तनवः राधनं ईहते।

तस्याः तनवः अलग है और **राधनं** अलग है। एक पद न करके मधुसूदन सरस्वतीने और दूसरे आचार्योंने यह कहा—'तस्याः तनवः राधनं ईहते' यह बिना 'आ' उपसर्गके भी 'राध' धातु आराधनाका ही वाचक है।

तस्याः तनवः—वही जो देवताका तनु है जो मूर्ति उसके सामने आयी है, उसीके आराधनाकी, साधनकी चेष्टा करता है। केवल 'राधन' शब्द साधनके अर्थमें है। ***राध् साध संसिद्धौ।*** 'राध्' धातु और 'साध्' धातु दोनों संसिद्धिके अर्थमें हैं। 'साध्' धातुसे साधनं बनता है—***साध्यते अनेन इति साधनं*** और 'राध्' धातुसे राधनं बनता है—**राध्यते अनेन इति राधनम्।** इसीसे 'राधिका' शब्द बनता है। इसीसे राधिका, राधा, आराधना, आराधिका—ये सारे शब्द इसी 'राध्' धातुसे बनते हैं। वह बस अपनी सारी श्रद्धा समेटकर उसी तनुकी आराधनामें लग गया।

लभते च ततः कामान्—फिर उसकी आराधना करके वह जो उनको पाना होगा, मिलेगा। अब—**यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनं खरः।**

जिसकी आराधना करोगे भाई, उसके पास जो होगा, वही तो वह देगा न! इन्द्र देवताकी आराधना करोगे तो तुम्हारे हाथोंमें बल आवेगा, बढ़िया-बढ़िया काम करावेगा और स्वर्गका राज्य दे सकता है। मगर महाराज, पूरा राज्य तो कभी नहीं देगा, खुद मालिक भी बना रहेगा। कुबेरकी आराधना करोगे तो वह तुमको धन देगा। महाराज, त्रिपुर सुन्दरीकी आराधना करो, तो बहुत सुन्दर स्त्री तुमको मिलेगी। त्रिपुर सुन्दरीके पास बहुत सुन्दर-सुन्दर स्त्रियोंका जमघट है। तो 'हादिविद्या'की आराधना करनेसे त्रिपुर सुन्दरी प्रसन्न होगी और एक बड़ी सुन्दर स्त्रीसे विवाह करवा देगी। फलश्रुति में यही आता है। जब सादि विद्या, हादि विद्याकी उपासना, शक्तिकी आराधना

की जाती है तो शक्तिकी आराधनामें फलश्रुति यही आती है। नहीं तो महाराज, जप करो,

पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम्।
रूपं देहि जयं देहि देहि सौभाग्यमारोग्यम्।

अब क्या मिलेगा? बोले, जब उसकी आराधना करके तुम चाहोगे तो तुमको क्या मिलेगा? बोले—**लभते च ततः कामान्**—जो चीज़ उस देवताके पास होगी वही मिलेगी। सुन्दरीकी आराधना करो सुन्दर स्त्री मिले। अब सुन्दरीके लिए आवश्यक आभूषण भी मिलेगा, वस्त्र भी मिलेगा। उसके भोगके योग्य मकान भी मिलेगा, वाहन भी मिलेगा, पलंग भी मिलेगा, भोगकी सारी सामग्री वहाँसे आ जायेगी। यह तो जैसेकी आराधना करोगे भाई, चीज़ वही मिलेगी—**लभते च ततः कामान्।** एक जन्ममें नहीं मिलेगा दूसरे जन्ममें मिलेगा, इस जन्ममें व्याह नहीं होगा तो अगले जन्ममें हो जायेगा। वह तो मरनेके बाद भी होता है। वासना जो है वह एक जन्ममें शान्त नहीं होती, दूसरे जन्ममें भी पूरी होती है। यदि ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ, यदि मुक्ति नहीं हुई, यदि ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई, तो वासना इस जन्ममें पूरी नहीं हुई तो अगले जन्ममें पूरी होगी।

मयैव विहितान्हि तान्—बोले—ये देवता लोग तो बड़े अच्छे हैं, सब कामना पूरी कर देते हैं। लेकिन कामना भी एक-एक देवताके साथ अलग-अलग जुड़ी रहती है। ये देवता लोग भी तो कामी होते हैं, काम जो है वह देवताओंके अन्तर्गत है। काम सात्त्विक भी होता है, राजस भी होता है, तामस भी होता है। जो सात्त्विक काम है वह देवता है और काम भगवद्रूप भी होता है। **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।** (७.११) एक भगवद्-विभूतिरूप काम और एक देवताओंके पक्षमें रहनेवाला काम, एक दैत्यों—दानवोंके साथ रहनेवाला काम और एक राक्षसोंके साथ रहनेवाला काम। अब यह देखो तुम्हारा काम कौन-सा है?

बोले—तब तो देवताओंमें बड़ा सामर्थ्य है, कामना तो पूरी करते हैं। बोले—कामना वे पूरी नहीं करते हैं, क्योंकि किसी एक चीज़से अगर उपासककी कामना पूरी हो सकती, तब तो एक देवता उस कामनाको पूरी कर सकता। देखो, इसका विज्ञान यह हुआ।

जैसे तुम अश्विनीकुमारकी आराधना करो, तो अश्विनीकुमारकी आराधना करनेसे यदि तुम सुगन्ध चाहते हो केवल, तो नासिकाका देवता अश्विनीकुमार प्रसन्न होकर तुम्हारी नासिकामें ऐसी योग्यता उत्पन्न कर दे कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गन्ध तुम ग्रहण कर सको। लेकिन केवल गन्ध ही पाकर तुम खुश हो क्या? बोले—नहीं गन्ध नहीं, उसके साथ गुलाबकी पंखुड़ियाँ चाहिए, उसके साथ कमलकी पंखुड़ियाँ चाहिए, सुन्दर-सुन्दर, कोमल-कोमल। कोमलता तो वायु देवताके विभागमें है और सुन्दरता सूर्य देवताके विभागमें है, तो अकेले अश्विनीकुमार भला क्या करेंगे? उनसे कहो कि महाराज, हमको बड़ा सुन्दर कमलका फूल चाहिए, बड़ा सुगन्धवाला चाहिए और बहुत कोमल चाहिए। अब अश्विनी कुमार एक दिन, दो दिन तो बेचारे सुनते रहेंगे, लेकिन फिर कहीं टेलीफोन करेंगे, किसको? कि सूर्य देवताको फिर वायु देवताको टेलीफोन करेंगे। हमारे जैसे मिनिस्टरोंमें होता है न; एक विभागवाले मिनिस्टिरको बसमें कर लो और उससे वह काम पूरा न होता हो, तो दूसरे विभागवाले कर्मचारियोंको फोन करता है भला! अब इस तरह अश्विनीकुमार बेचारेको बुला लो और कमलकी सुन्दरता माँगनेके लिए सूर्यको फोन करना पड़ेगा और उसकी कोमलता माँगनेके लिए वायुको, तब कहीं जाकर वह एक गुलाबका दिव्य सुगन्धित फूल, एक दिव्य कमल अश्विनीकुमार तब दे सकेंगे।

बोले—अब वह समन्वय सबमें करनेवाला, जो अश्विनीकुमारमें भी हो, वायुमें भी हो, सूर्यमें भी हो, वह कौन है? तो भगवान् बोलते हैं कि वह हूँ तो मैं ही, और मुझे सबका पता रहता है कि कौन किस देवताकी आराधना कर रहा है और कौन क्या चाह रहा है, तो मैं धीरेसे वह दे देता हूँ। वह कोई एक देवता किसी मनुष्यकी वासनाको पूरी करनेमें समर्थ नहीं है, उसको दूसरोंकी सहायता लेनी पड़ती है। क्योंकि उनका विभाग ही छोटा-छोटा-छोटा, एक-एक इन्द्रियोंवाला विभाग है। एक-एक इन्द्रियके विभागके वे मिनिस्टर हैं। अब सब इन्द्रियोंसे भोगे जानेवाले फलको कोई एक नहीं दे सकता। तब? जो सबसे ऊपर है उसके पास बात पहुँचती है। बोले—भाई, ये तो हमारे जो अधिकारी लोग हैं, यह उनका बड़ा खैरख्वाह है। नेहरुजी भी साधुओंसे मिल लेते हैं। तो कैसे

मिलते हैं? कि भाई, नन्दाजी बहुत मानते हैं इनको। नन्दाजीको खुश करनेके लिए साधुओंको समय देना। ऐसा होता है, हम साफ-ही-साफ सच्ची बात बता रहे हैं। नेहरूजी जिस साधुसे मिलना पसन्द नहीं करते हैं, जिसको नहीं जानते हैं, जब उनको यह बात बतायी जाती है कि नन्दाजी इनके ऊपर बहुत श्रद्धा करते हैं, राधाकृष्णन् इनसे मिलते हैं, इनको मानते हैं, बोले—अच्छा भाई,पाँच मिनटके लिए बुला ले आओ, मिल लेते हैं। इसी प्रकार एक-एक देवताकी आराधना करनेवाले जो लोग होते हैं, उनको भी ईश्वर जब यह देखता है कि यह सूर्यका भक्त है, यह अश्विनीकुमारका भक्त है, यह हनुमानजीका भक्त है, यह भैरवका भक्त है, यह शिवजीके गणका भक्त है, तो भगवान् कहते हैं अच्छा, इसको जो चाहिए, धीरेसे इसके घर भेज दो।

बोले—महाराज, आप अपने ही नामसे भेजो न, कि हम भेज रहे हैं। बोले—अपने नामसे भेजेंगे तो इसका जो प्रेम है उनसे, उनका खैरख्वाह है, उनकी सेवा करता है, तो उसकी निष्ठा डाँवाडोल हो जायेगी, इसलिए यह तो ऐसा ही समझे कि जिसकी मैं सेवा करता हूँ, भक्ति करता हूँ, उन्होंने ही भेजा है, पर भेज दूँ मैं, क्योंकि ईश्वरको कोई एहसान लादनेकी जरूरत तो है नहीं कि यह हमारा कृतज्ञ होवे। जिसको कृतज्ञ बनाना होता है, कि यह हमारा कृतज्ञ बन जाये, वह कोई चीज किसीको देता है, तो दिखाकर देता है। जाहिर करता है कि हमने दिया है। लेकिन ईश्वरको किसीके ऊपर एहसान लादनेकी तो कोई जरूरत नहीं, किसीको कृतज्ञ बनानेकी जरूरत नहीं, कि हाँ भाई, आभार प्रकट करेंगे कि ईश्वरने हमारे पास भेज दिया, धन्यवाद देंगे। बोले—ईश्वरको धन्यवादकी जरूरत नहीं है, इसलिए चुपचाप उन-उन देवताओंके भक्तोंको भेज देता है।

२३. मेरे भक्त और देवाराधकोंका अन्तर

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ ७.२३

अर्थ :—उन अल्पबुद्धिवाले देवाराधकोंकी साधनाका फल विनाशी है। देवोंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं॥२३॥

: २३.१ :
फलमें, बुद्धिमें और अन्तिम गतिका अन्तर

अच्छा भाई, जब ऐसी बात है कि देवाराधकोंको भी ईश्वर फल देता है और उनके भीतर भी ईश्वर ही है, तो उन्होंने अपराध क्या किया? ईश्वरके ही एक शरीरकी आराधना की और वस्तुत: ईश्वरका भेजा हुआ ही फल प्राप्त किया तो साधारण भगवान्के भक्तोंमें और उनमें फर्क क्या रहा? बोले—फर्क रहा, तीन बातका फर्क रहा—फलमें फर्क रहा, उनकी बुद्धिमें फर्क रहा और उनकी अन्तिम गतिमें फर्क रहा। इन तीनों बातोंको बताते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां—मेरे ही दिये हुए वे फल, जो उन देवताओंकी सेवा करनेके बदलेमें मैं भेजता हूँ, वे उनके परिश्रमके फल-रूपमें मिलता है और अन्तवत् होता है। माने वह फल फिर सड़ जाता है, जल जाता है। वह देवताकी शक्तिसे युक्त होता है, ईश्वर अपनी शक्ति उसमें प्रकट नहीं करता है। जहाँ परिपूर्ण ईश्वरकी प्राप्ति न हो जाये, वह फल अन्तमें नष्ट हो जाता है।

देखो, असलमें फल क्या है?

अपने हृदयमें एक भाव प्रतिफलित होता है कि यह चीज़ हमको मिल गयी, इसके सिवाय फल कुछ नहीं। फल माने उस वस्तुको लेकर, अपने हृदयमें जो अहंका उदय होता है, वही फल है। हमारे घरमें कोई बढ़ियासे बढ़िया, सोनेका खज़ाना हो, लेकिन हमको मालूम न हो और इस खज़ानेका मालिक मैं हूँ, यह बात मालून न हो, तो उस खज़ानेके मिलनेका या होनेका

कोई सुख होगा? स्वत्वकी जो उत्पत्ति है, माने उस वस्तुका अपने साथ जो जुड़ना है, माने अहंका और उस वस्तुका जो एकमें मिलना है, यह फल है।

संसारकी कोई भी वस्तु जो मिलती है, किसीकी दी हुई, उसके साथ अपना अहं हमेशा जुड़कर नहीं रहता। पाँच रुपये मिलता है, थोड़ी देर वह पाँच रुपये मिलनेकी वृत्ति अहंके साथ जुड़ती है, खुशी होती है, लेकिन पाँच रुपयेमें अपने अहंको तुम रख सकते हो कभी? फिर पाँच रुपयेकी कमी मालूम पड़ती है, फिर गरीब बनते हो, फिर उसको चाहते हो, फिर पाते हो। फिर पाँच मिनटके लिए खुशी आती है, फिर चली जाती है। दुनियाकी जितनी चीज़ें हैं, ये जो अहंके साथ जुड़ती हैं, इनमें जो अहं भावका योग है, वह क्षणिक होता है। क्यों? ये वस्तुएँ ही क्षणिक होती हैं। तो—**अन्तवत्तु फलं तेषां**—इनका जो फल है, वह अन्तवत् है।

अब बुद्धि कैसी बनी? बोले—'**अल्पमेधसाम्**'—अल्पमें इनकी मेधा है, माने परिपूर्ण ब्रह्माकार बुद्धि तो हुई नहीं, अल्पमें, क्षुद्रमें हुई। खुदरा माल है यह। यह जो फल मिला, यह थोक माल नहीं है, खुदरा माल है, क्षुद्र है, अल्प है। यह कल्प भी नहीं है, अल्प है और परमात्मा तो अनल्प है। तो इनकी बुद्धिमें छोटी चीज़ फँसी हुई है। इसीसे मनुष्यकी प्रकृतिका पता चलता है कि वह कितनी छोटी चीज़में फँसा हुआ है।

एक सेठको देखा—एक कुलीको मजूरी देनेके लिए; समझो वे चार आना देना चाहते थे और वह आठ आना माँग रहा था। चार आनेका फर्क। सेठकी देनदारीमें और कुलीकी माँगमें चार आनेका फर्क था और गाड़ीको बड़ी देर ठहरना था। महाराज! पन्द्रह मिनट उन्होंने कुलीसे लड़ाई की, अन्तमें बचा लिया, चार आना नहीं दिया। दे दिया, इस बातको छोड़ दो, बचा लिया—यह कल्पना करलो। अच्छा, तो पन्द्रह मिनट जो वाद-विवाद हुआ, उसमें जो उनकी शक्तिका अपव्यय हुआ और बादमें भी जो उनके हृदयमें उसका असर रहा, नाराज़गी; कलेजेके भीतरका चाम, थोड़ी उसमें लाली बढ़ गयी थी, थोड़ा खून ज्यादा आगया था, वह रक्तकी लालिमाका जो दबाव था कलेजेमें, वह पन्द्रह-बीस मिनट, आध घण्टे और रहा। जबतक कुछ खाया नहीं, पीया नहीं, जबतक गाड़ी चली नहीं, हवा लगी नहीं, तबतक रहा। उन्होंने चार आनेकी कीमतपर अपनी वाणी और अपना दिल

दोनों खराब किया। माने उनके दिल और वाणीकी कीमत नहीं है, चार आने पैसेकी कीमत ज्यादा है।

इस बातको छोड़दो, दृष्टान्तके रूपमें मत लो। कोई न्यायके बड़े प्रेमी हों, जो अपने साथ न्याय-ही-न्याय करते हों। न्याय करनेका अधिकार असलमें होता किसको है? जो अपने सुख स्वार्थके समय तो दूसरेसे अन्याय करले और दूसरेके सुख-स्वार्थके समय न्यायकी माँग करे, ऐसे लोगोंको न्यायके पक्षमें बोलनेका भी अधिकार नहीं होता है। अपने लिए ब्लैक करना हो, कमाई करना हो, दूसरोंका माल लेना हो तो वहाँ न्याय नहीं, झूठ भी बोल लो, बेईमानी भी कर लो, दूसरेका माल अपने पास। लेकिन दूसरेको कभी चार आना देना हो तो वह न्याय, वह ईमानदारी। असलमें बात क्या है? कि उनके मनमें न्यायकी कीमत नहीं, ईमानदारीकी कीमत नहीं, उनके मनमें चार आने पैसेकी इतनी कीमत है, जिससे वे अपना दिल और दिमाग भी खराब कर लेते हैं। उनकी बुद्धि कहाँ लगी है? अपने शरीरमें नहीं; दो रसगुल्लेके मोहमें पड़कर जिसने अपना पेट खराब कर लिया, उसकी कीमत कहाँ है? उसका मूल्यांकन रसगुल्लेमें है, खराब न होने पावे रसगुल्ला क्योंकि अब पैसा लग चुका, आठ आनेमें दो रसगुल्ले आगये, पैसा लग गया, अब इनको छोड़ना ठीक नहीं है, पेट ही में रखना ठीक है। कि पेटमें रखनेसे तो पेट खराब हो जायेगा। कि नहीं पच जायेगा, ठीक है। बोले—खराब हुआ, तो? बोले—डाक्टर बुलाओ, अब? भाई, सोलह रुपया डाक्टरको दो और बीस रुपयेका नुस्खा डाक्टर लिखकर देगा। आजकलके डाक्टर बीस रुपयेसे कम नुस्खा लिखना पसन्द नहीं करते। पाँच-सात दवायें उसमें जरूर लिख देंगे। तो यह क्या हुआ? कि **अल्पमेधसाम्।** बुद्धि छोटी-छोटी चीज़में लगी हुई है।

अन्तिम गतिमें क्या होगा? कि '**देवान्देवयजो यान्ति**'—अन्तिम गतिमें ईश्वर नहीं मिलेगा। जो देवताओंके तनुसे भक्ति करेगा, जो देहप्रेमी होगा उसे देहकी प्राप्ति होगी। जो भूत-भैरवका बहुत प्रेमी है तो क्या होगा? आप समझ लो! भैरवजीके आसपास जो लोग रहते हैं उन्हींमें-से तो कुछ होना पड़ेगा न! कुछ-न-कुछ वही होना पड़ेगा। अरे भाई हम भी काशीमें जाते हैं तो वहाँके कोतवालको प्रणाम करते हैं। वह बात दूसरी है और उपासना

दूसरी चीज है भला! रास्तेमें चलते हुए कोई मिल गया और उसको सलाम बजा लेना। फाटकमें-से किसीके घरमें जाना तो चपरासीसे दो मीठी बात करके भीतर जाना या दरबानसे दो बात मीठी करके जाना, यह दूसरी बात है और उसीको मालिक बना लेना यह बात दूसरी है। तो **देवान्देवयजो यान्ति।**

एक मारवाड़ी सेठने हमको कलकत्तेमें बताया था, उसकी जिम्मेवारी मेरे ऊपर मत डालना, इसलिए मैं बता देता हूँ। वह कहता है कि जब कोई सिक्ख सरदार कलकत्तेमें घुसता है तो वह यह सोचता है कि ये जो टैक्सी और मोटर यहाँ चल रही हैं, इसकी ड्राइवरी हमको कैसे मिले? और जब कोई देहातका बंगाली आता है तो वह सोचता है, बस चलानेके दफ्तरमें हम क्लर्क कैसे बन जायँ? और उत्तर प्रदेशके लोग आते हैं तो कहते हैं कि हम भैया (दरबान) कैसे बन जायँ? मारवाड़ी आता है तो वह सोचता है यह बसकी जो कम्पनी है, इस कम्पनीका मालिक मैं कैसे बन जाऊँ, यह कम्पनी मेरी कैसे हो जाय? ऐसे मारवाड़ी सेठने बताया था, बुद्धि अलग-अलग होती है। कोई ड्राइवरी चाहता है, कोई क्लीनरी चाहता है, कोई क्लर्क होना चाहता है और कोई सारी-की-सारी कम्पनीको अपने हाथमें करना चाहता है, इस व्यापारको ही हाथमें ले लेना चाहता है। तो **देवान्देवयजो यान्ति।** किससे दोस्ती करके तुम किसके पास जाना चाहते हो? एक-एक विभागके चपरासियोंके पास, क्लर्कोंके पास जाना चाहते हो, कि जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका एकमात्र अधीश्वर है, सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश सर्वावभासक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न जो प्रभु है, उसके पास जाना चाहते हो? तो **मद्भक्ता यान्ति मामपि**—जो मेरी भक्ति करते हैं उन्हें मेरी प्राप्ति होती है।

अब यह बताते हैं कि मुझसे ही तो फल मिला और बिना विधिके मेरे ही सेवकोंकी तो आराधना की, परन्तु उनका दोष क्या है? कि दोष यह है कि अज्ञान है। उन्हें समझना चाहिए इस बातको, जो समझदारीसे करते हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं और जो नासमझीसे करते हैं वे मायामें फँस जाते हैं।

❖

: २३.२ :

देवोपासनाके फलकी मीमांसा

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ ७.२३

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यह बात बतायी कि मेरी ही दी हुई श्रद्धासे युक्त होकर देवाराधक देवताओंकी आराधना करते हैं, क्योंकि श्रद्धा देनेवाले भी भगवान् ही हैं। मैं उसी-उसी देवता-तनुके प्रति उन-उनकी श्रद्धाको अचल कर देता हूँ। तो श्रद्धा अचल की भगवान्ने और वे देवता भी भगवान्के शरीर ही हैं, कोई दूसरे तो हैं नहीं :

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या: विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च। ११.२२

ग्यारहवें अध्यायमें आया कि सब देवता भगवान्के विराट् शरीरमें उन्हींके अंग हैं, उन्हींके अवयव हैं। अच्छा, तो श्रद्धा भी दी भगवान्ने और पूजा भी हुई भगवान्की ही और फल देनेवाला भगवान्—

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्। ७.२२

वे-वे देवता तो यन्त्र हैं-मशीन हैं, देनेवाला असली तो मैं ही हूँ। तो फल देनेवाले भी भगवान्, भगवान्के ही अंगकी आराधना और उस आराधनामें श्रद्धा अचल करनेवाले भी भगवान्। आगे-पीछे जहाँ देखो वही हैं, फिर आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भक्त तो उदार हैं और यह देवताकी पूजा करनेवाले उदार नहीं हैं, क्यों? देव-पूजा करनेवाले—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:** (७.२०) ऐसे हैं—इसका क्या कारण है? भगवान्के खास भक्तोंमें और देवताओंकी पूजा करके उनसे कामना प्राप्ति करनेवालोंमें क्या

फर्क है? यह प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए जो भगवान्‌के भक्तमें और देवताके भक्तमें अन्तर है, उस अन्तरको स्पष्ट करनेके लिए भगवान् यह श्लोक बोलते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

आप जानते-हैं देवताओंकी पूजाको भगवान् अपनी पूजा मानते हैं। क्योंकि भगवान्‌की दृष्टिमें देवता कोई दूसरे नहीं हैं, तब फलमें भेद क्यों होता है? यह बात आगे चलकर (९वें अध्यायमें) बहुत स्पष्ट कही हुई है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ ९.२३-२४

वहाँ बताया—'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। इन्द्राय स्वाहा, कहकर यज्ञकुण्डमें जो आहुति दी जाती है, उसका भी भोक्ता मैं ही हूँ और उसका फल देनेवाला भी मैं ही हूँ, 'प्रभुरेव च' ।

तो फिर काहेको कहते हो कि देवताओंका भजन करनेवाले अच्छे नहीं हैं? तुम्हारे भक्त भी तो सकाम होते हैं, अर्थार्थी होते हैं, आर्त होते हैं। तुम्हारे भक्तोंके चित्तमें कामना नहीं रहे यह तो नियम नहीं है—निष्काम भी भगवान्‌के भक्त होते हैं और सकाम भी भगवान्‌के भक्त होते हैं, फिर जब भगवान्‌के भक्त भी सकाम होते हैं तो फिर दोनोंमें अन्तर क्या? तो भगवान्‌ने वहाँ यह अन्तर बताया कि,

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते। ९.२४

वे मुझे पहचानते नहीं हैं। अगर वे पहचान लेते कि इन सब देवतारूप अंगोंमें एक ही अंगी भगवान् है और अंगकी उपासना भी अंगी रूप भगवान्‌की ही उपासना है, तब उनका च्यवन नहीं होता, च्युति नहीं होती। लेकिन वे मुझे पहचानते नहीं हैं और प्रेम करते हैं, उपासना करते हैं, उनसे फल प्राप्त करते हैं, उनका ध्यान करते हैं, उनका भजन करते हैं, उनको स्वतन्त्र समझते हैं, तो यह उनकी गलती है। यह गलती तीन रूपोंमें प्रकट होती है। अब वर्तमान श्लोकको देखो तो उसमें स्पष्ट रूपसे यह बात कही हुई है।

एक दिन आपको सुनाया था कि एक राजकुमारीका तलवारसे विवाह हो गया। राजकुमारको उसने देखा नहीं था। जब वह विवाह होनेपर ससुरालमें गयी तो राजकुमारने एक षड्‌यन्त्र रचा! अपने खूब गुणानुवाद उसके पास सुनवाये, अमुक व्यक्ति है, ऐसा है, ऐसा है, सुन्दर है, प्रेमी है, स्वस्थ है, तुम्हारे लिए मरता है। अब वह राजकुमारी ससुरालमें गयी अपने पतिको पहचानती तो थी नहीं और वह फँस गयी षड्‌यन्त्रमें और जिस पुरुषका सन्देश आता था, जिसकी दासियाँ आती थीं, उससे वह प्रेम करने लगी, उससे मिलनेको राजी हो गयी। जब एकान्तमें उससे मिली, तब उस पुरुषने बताया कि मैं कोई पर-पुरुष नहीं हूँ, मैं तो वही राजकुमार हूँ जिससे तुम्हारा विवाह हुआ है।

अब समझो कि इसमें राजकुमारीसे कोई अपराध हुआ कि नहीं हुआ? अपराध हुआ, क्योंकि उस पुरुषको अपना विवाहित पति न समझते हुए भी, उसने उसका प्रेम प्रस्ताव जो स्वीकार कर लिया और मिलना स्वीकार कर लिया, यह राजकुमारीका अपराध हुआ। इसका फल यह हुआ कि राजकुमारी अपना मुँह भी उसको नहीं दिखा सकी फिर, आत्महत्या कर ली उसने।

यह सच्ची घटना रजवाड़ेमें घटित हुई। अब उसमें बात क्या हुई? उसका प्रेम करना भी ठीक और वास्तवमें वह उसका पति ही था, परन्तु न पहचाननेके कारण, वह पहचानती तो थी नहीं कि वह हमारा पति है और उससे प्रेम करती है, इसलिए व्यभिचार-दोषकी प्राप्ति होगयी। क्योंकि जो दोष प्राप्त होता है वह कर्ताकी बुद्धिसे प्राप्त होता है। वह अन्य पुरुषमें-से नहीं आता, वह कर्ममें-से नहीं आता। कर्ता पुरुषकी बुद्धि कैसी है, उस बुद्धिके अनुसार ही दोषकी प्राप्ति होती है। इसलिए भगवान्‌ने कहा—

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते। ९.२४

वे इन देवताओंको पहचानते तो हैं नहीं, कि ये भगवान्‌के अंग हैं, कि ये भगवान्‌के स्वरूप हैं, कि यहाँ सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक सर्वेश्वर प्रभु विराजमान हैं और उनके द्वारा हम उनकी उपासना कर रहे हैं। भीड़में कई पुरुष चल रहें हैं, एक पिताका पुत्र भी उसके साथ चल रहा है। तो यदि वह

यह जानकर कि ये हमारे पिता हैं और उँगली पकड़े हुए है, तो वह अपने पिताको ही पकड़े हुए है। अंगुलीको पकड़ना भी पिताको ही पकड़ना है। कहो कि पूरे पिताको तो नहीं पकड़ा। कि हाँ पूरे पिताको तो नहीं पकड़ा, पिताके एक अंगको पकड़ा, तब भी पिताको पकड़ना है। 'अंगवदोपासना' हो गयी। एक अंगके पकड़नेसे भी पूरा पिता पकड़ा गया। लेकिन अगर वह बालक यह नहीं देखता है कि यह हमारा पिता है कि नहीं; बिना इस बातको समझे किसीकी भी उँगली पकड़ लेता है, तो वह पिताको पकड़ना नहीं हुआ। तो मुख्य बात इसमें बुद्धिकी है कि ये जो देवताके उपासक हैं, इनके हृदयमें यह भाव है कि नहीं, कि ये हमारे जो सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी प्राणवल्लभ, हृदयेश्वर, हृदयसर्वस्व हमारे प्रभु हैं, यह देवता उन्हींका अंग है कि उनकी अपेक्षा स्वतन्त्र है। तो,

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते। ९.२४

तो अज्ञान ही सबसे बड़ा दोष है। माने सबसे बड़ा पतनका हेतु क्या है? भगवान्‌का अभिज्ञान न होना, उनको न पहचानना। उनको पहचान कर प्रीति करो तो इन्द्रमें भी वही है, रुद्रमें भी वही है, आदित्यमें भी वही है, वसुगणोंमें भी वही है, उनके अंगरूपसे उपासना करो, आवरण देवताके रूपमें उपासना करो, अंगदेवताके रूपमें उपासना करो, उनकी उपासना हो रही है; परन्तु अंगीको तो भूल गये और अंगोंके चक्करमें पड़ गये, तो एक अंगका प्रेमी दूसरे अंगको काटेगा। इसलिए भगवान् बताते हैं, तीन कमी उसमें रह गयी।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

'तेषां तु'—'तु' माने हमारे आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तोंकी अपेक्षा, उन दोका उपासकोंमें बड़ा भारी अन्तर है, यह 'तु' कहनेका अर्थ यह है। 'तु' शब्द महती विलक्षणताका सूचक है। बड़ी भारी विलक्षणता है, बड़ा भारी फर्क है दोनोंमें। क्या फर्क है कि, **तेषां फलं अन्तवत् भवति, आर्तादि फलं अन्तवत् न भवति। तेषां देवतानां फलं तु अन्तवत् भवति। जो** गजेन्द्रकी तरह या द्रौपदीकी तरह आर्त होकर भगवान्‌को पुकारते हैं वे या सुग्रीव, विभीषण, ध्रुव आदिके समान अर्थके लिए भगवान्‌की शरण ग्रहण

करते हैं, अथवा जो उद्धव आदिके समान जिज्ञासु होकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं, वे भले पहले किसी दूसरी इच्छासे आवे; कभी-कभी तो भगवान् कृपा करके वह इच्छा ही मिटा देते हैं। विभीषणकी इच्छा मिटा दी, उसे राज्य दिलाकर इच्छा मिटा दी। ध्रुवके मनमें फिर बड़े पश्चात्तापका उदय हुआ। नरसिंह पुराणमें आता है—

एक बार देवर्षि नारद ध्रुवजीके पास गये, तो ध्रुवजीकी आँखोंसे टपाटप आँसू गिर रहे थे। उन्होंने पूछा—ध्रुव तुम क्यों रो रहे हो? भगवान्‌के इतने बड़े भक्त, क्यों रो रहे हो? ध्रुवजी कहने लगे कि, मैंने भगवान्‌का भजन किया, तप किया, परन्तु इसलिए कि मुझे ऊँचा पद मिले। मेरी इसी वासनाके कारण मुझे इतने ऊँचे पदपर आकर बैठना पड़ा, भगवान्‌की सेवा नहीं मिली कि उनके पास रहें और उनकी सेवा करें, उनकी लीलामें प्रवेश नहीं मिला। मुझे इतनी दूर जो रहना पड़ रहा है भगवान्‌से, यह हमारी वासना के कारण हुआ, हाय-हाय मैं अधम!

देखो! वासना निवृत्त विभीषणकी भी हो गयी, ध्रुवकी भी हो गयी। लेकिन यह जो सच्ची भक्ति आती है, हृदयमें तो वह चाहे वासना निवृत्त करके महारानी बन जाये और चाहे वासना पूरी करके महारानी बने, भगवान्‌की भक्ति तो दिलमें ऐसी बैठती है, कि एक बार आकर जहाँ स्थान बना लेती है, एक बार जिसे अपना बालक स्वीकार कर लेती है, एक बार जिसको अपनी गोदमें ले लेती है, वह चाहे किसी भी प्रकारसे अपनी गोदमें लेवे, उसको कभी छोड़ती नहीं है। वासना पूरी करके या वासना मिटाकर, जैसे-तैसे भगवान्‌को मिलाकर ही रहती है। लेकिन जो सकाम भावसे दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं—

तेषां फलं अन्तवत् भवति।

उनको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह अन्तवत् फलकी प्राप्ति होती है।

अब 'अन्तवत्' का अर्थ है कि वह फल काल-परिच्छेद्य है। कालकी एक ऐसी वेगवती धारा आवेगी, जिसमें वह फल टूटकर गिर पड़ेगा, जिसमें वह फल सड़ जायेगा, जिसमें वह फल फिर मिट्टीमें गिर जायेगा। अन्तवत्‌का अर्थ है कालकी वेगवती धारामें समाप्त होनेवाला। इसको न्यायकी भाषामें बोलते हैं ध्वंस-प्रतियोगी। यह जो फलरूप भाव है इसका

प्रतियोगी ध्वंस है। तो यह फल ध्वंस प्रतियोगी भाव है, माने इसका नाश होनेवाला है। क्यों? देखो, कई तरहसे अन्तवत् है।

फलकी अन्तवत्ता अगर आपको समझावें तो ऐसे-जैसे अंगूर आम नहीं है और आम अंगूर नहीं है। अगर किसीको आमरूप फलकी प्राप्ति नहीं हुई तो उसको अंगूर-रूप फलकी प्राप्ति नहीं हुई और अंगूर-रूप फलकी प्राप्ति हुई तो आमरूप फलकी प्राप्ति नहीं। तो ये जितने देवता हैं, सूर्य देवता प्रसन्न होगा तो सुन्दर-सुन्दर रूप तुमको देगा, दिशा देवता प्रसन्न हो तो तुम्हें संगीत सुननेको दे, अश्विनीकुमार देवता प्रसन्न हों तो सुगन्ध दें सूँघनेको। वरुण देवता प्रसन्न हों तो स्वाद दें, रसीला भोजन दे प्रसन्न होकर। इसी प्रकार एक-एक देवताका एक सीमामें राज्य होता है। किसी भी देवताका राज्य सम्पूर्ण नहीं होता है। जिसका शब्दपर अधिकार हो उसका रूपपर नहीं, जिसका रूपपर अधिकार हो उसका स्पर्शपर नहीं, जिसका स्पर्शपर अधिकार हो, उसका रसपर नहीं, जिसका रसपर है, उसका गन्धपर नहीं। कोई भी देवता सम्पूर्ण रूपसे सृष्टिका स्वामी नहीं है। तो परिच्छिन्न द्रव्यके अधिपति होनेके कारण, परिच्छिन्न इन्द्रियोंके अधिपति होनेके कारण, सर्वदेशमें रहनेवाला फल नहीं दे सकते, सर्वरूप फल नहीं दे सकते।

और देखो साँची बात तो यह है कि ये सब देवता तो एक दिन खुद ही मरनेवाले हैं। एक आदमीको पाँच बरसके लिए राज्य मिला, उसने कहा—हम पचास बरसका तुमको पट्टा लिखते हैं। नारायण कहो! पाँच बरसतक रहनेवाले आदमीका पट्टा पचास बरस तक कैसे माना जायेगा? दूसरे पाँच बरसमें जो आवेगा उसकी नीति न जाने कैसी होगी, उसकी रीति न जाने कैसी होगी, उसकी बुद्धि न जाने कैसी होगी? तब? कि भाई जिसका जितने कालतक अधिकार है, जितने देशमें अधिकार है और जिस विभागपर अधिकार है, अपने विभागके अन्तर्गत और अपनी सीमाके भीतर और अपने राजत्व कालमें, वह चीज दे सकता है, अपने राजत्व कालसे बाहर नहीं। रहे तो हिन्दुस्तानमें और पाकिस्तानकी जमीन पट्टापर लिखे तो वह तुमको मिलेगी? नहीं, क्योंकि वह उसकी सीमाके बाहर है। हो तो वैद्य, लेकिन दवा लिखकर दे डॉक्टरीके, तो डाक्टरसे पूछकर

लेना भला! वैद्यकी लिखी डाक्टरी दवा वैद्यके कहनेसे नहीं लेना, क्योंकि वह उसके विभागकी चीज नहीं है। तो अपने-अपने विभागके देवता लोग मालिक होते हैं। उनका विभाग न देशसे अपरिच्छिन्न है, एक इन्द्रियके द्वारा भोग्य पदार्थ दे सकते हैं माने वस्तु, परिच्छिन्न हैं और काल-परिच्छिन्न हैं—एक मन्वन्तरमें सब देवता पूरे हो जाते हैं।

इन्द्रकी उम्र कितनी? बोले—ब्रह्माकी आयु सौ बरस, ब्रह्मकी कालगणनाके अनुसार ब्रह्माके तो सौ बरसमें एक दिन और उसके एक दिनके चौदह घंटे। उन चौदह घण्टेमें एक घण्टेके लिए एक आदमी इन्द्रकी पदवीके लिए बैठाया जाता है। माने ब्रह्माजीके एक दिनमें चौदह मन्वन्तर होते हैं और एक मन्वन्तरके लिए एक इन्द्र बैठाया जाता है। जैसे हमारे दरवाजेपर घण्टे-घण्टेके लिए चौबीस पहरेदार होवें, इस प्रकार इन्द्रकी दशा है।

देवता कोई मन्वन्तरकी आयुवाले होते हैं, कोई कल्पकी आयुवाले होते हैं, कोई महाकल्पकी आयुवाले होते हैं। ये खुद मरनेवाले हैं। तो उनकी दी हुई चीज अनन्त कहाँसे हो सकती है? ये अनन्तको देनेवाले नहीं हैं। देवता स्वयं मृत्युग्रस्त हैं और उसकी सेवापूजा भी सान्त है, उसके द्वारा मिलनेवाला फल भी सान्त है और उसके भोगनेवाली इन्द्रियाँ भी सान्त हैं। ऐसी अवस्थामें देवताओंकी उपासनासे मिलनेवाला फल कभी अनन्त नहीं हो सकता। और भगवान्‌की आराधनासे मिलनेवाला जो फल है वह अनन्त होता है, क्योंकि भगवान् स्वयं अनन्त हैं, उनके प्रति प्रेम अनन्त है और फल रूपमें वे दूसरी कोई चीज नहीं देते। भगवान्‌की कोई भक्ति करे, भगवान्‌से कोई प्रेम करे, तो भगवान् कहते हैं यह प्रेम करता है हमसे और इसको दूसरी चीज दें, तो बड़ा अन्याय होगा इसके साथ! यह प्रेम करता है हमसे, भक्ति करता है हमारी और इसे फलरूपसे हम दूसरी चीज दे दें, तो इसके साथ बड़ा अन्याय होगा। स्वयं फलरूपमें उसको मिल जाते हैं। तो प्रेमीका प्रेम भी अनन्त, भगवान् अनन्त और स्वयं भगवान् ही अपनेको फलरूपमें देते हैं।

अच्छा, बोले—भाई ये भगवान्‌का भजन छोड़कर दूसरेका भजन करते क्यों हैं? करते यों हैं कि **अल्पमेधसाम्**—उनकी मेधा बड़ी अल्प है। अल्पमेधाका क्या अर्थ है? एक तो होता है मूढ़ और एक होता है अल्पबुद्धि,

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ ७.१५

दुष्कृतिनां और मूढा—पापी हों, आसुरभावके आश्रित हों, इसलिए वे तो दुराचार करते हैं भला! भगवान्की शरण नहीं लेते, सकाम होते हैं और दुराचारी होते हैं। ये 'अल्पमेधसाम्' कैसे हैं? कि ये भगवान्की शरण तो नहीं लेते, सकाम हैं, परन्तु दुराचारी नहीं हैं, सदाचारी हैं भला! ये यज्ञयागादिके द्वारा शास्त्रविहित रीतिसे, देवताओंका आराधन करना चाहते हैं, इसलिए ये मूढ़ नहीं हैं, अल्पबुद्धि हैं। मूढको तो बुद्धि नहीं है, पर उनके थोड़ी-थोड़ी बुद्धि, थोड़ी-थोड़ी अकल है।

अच्छा भाई, थोड़ी-थोड़ी अकल है, इसलिए दुराचार तो नहीं करते, पर असलमें कमी क्या है? कि कमी यह है कि भगवान्की शरण नहीं लेते। और अकल यह है कि दुराचार नहीं करते। इसलिए ये अल्पमेधस हैं।

अब 'अल्पमेधस' को दूसरी रीतिसे ध्यानमें ले आओ। श्रुतिने 'अल्प' शब्दकी व्याख्या की है कि अल्प क्या होता है?

यत्र अन्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यत्।
जानाति तदल्पम् यदल्पं तन्मर्त्यम्॥

जहाँ अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यको जानता है। यह जो सुना हुआ अन्य है, देखा हुआ अन्य है, जाना हुआ अन्य है, वह जो नेत्रका विषय, श्रोत्रका विषय, बुद्धिका विषय अन्य है, वह अल्प है और जो भी वस्तु अल्प होती है, वह मरनेवाली होती है। इसके विपरीत **यो वै भूमा तत्सुखम्**—जो भूमा है वही सुख है।

अब ये सज्जन कहाँ लगे हुए हैं? **अल्पमेधा येषां ते अल्पमेधसः। तेषां अल्पमेधसाम्।** इनकी मेधा अल्पमें लगी हुई। अल्पमें लगी हुई माने भेददर्शी। पहली बात यह हुई कि ये भेददर्शी हैं। दूसरी बात यह हुई कि छोटी-छोटी चीजोंमें इनकी अकल लगी हुई है। इनकी बुद्धि कहाँ है? कि छिटपुट चीजोंमें।

अब इस बातको ध्यानमें बैठा लो। ईश्वरने हमको मेधा दी है। मेधा कहते हैं उस बुद्धिको जिसमें धारणाशक्ति रहती है। **धी धारणावती मेधा।**

बुद्धिर्मनीषाधिष्णा धी प्रज्ञा शेमुषी मतिः।

यह मेधा, मेधा क्या है? संस्कृतमें बोलते हैं—ये मेधावी पुरुष हैं। मेधावी हैं माने बड़ा बुद्धिमान है। श्रुतधर, जिसको श्रवण करता है उसको धारण कर लेता है। श्रुतधर पुरुषको मेधावी बोलते हैं। लेकिन बहुत लोग ऐसे होते हैं कि अच्छी बात बोलें तो उनको धारण न हो और बुरी बात बोलें तो उनको धारण हो जाय। जैसे हम पाँच हजार शब्द बोलें और उसमें साढ़े चार हजार शुद्ध हों तो उनमें-से कोई याद नहीं रहेगा, लेकिन अगर पाँचसौ शब्द उसमें-से अशुद्ध हों, सौ शब्द अशुद्ध हों, २० शब्द अशुद्ध हों, पाँच शब्द अशुद्ध हों, बोलनेमें भूल हो गयी हो, बीचमें कहेंगे जरूर! तो वे याद रहेंगे कि इन्होंने यह अशुद्ध बोला। तो यह क्या हुआ? कि यह तुम्हारी धारणा शक्तिका दोष है, जो अच्छी-अच्छी बातोंकी धारणा न करके, बुरी-बुरी बातोंको धारण कर लेती है। अल्प-विषया मेधा है। मेधा ठीक रास्तेसे नहीं चल रही है, गलत रास्तेसे चल रही है। भला, ऐसा कौन होगा जिसने इन्द्रका वर्णन तो सुना हो, रुद्रका वर्णन तो सुना हो, वरुण-कुबेरका वर्णन तो सुना हो, लेकिन भगवान्का वर्णन न सुना हो? ऐसा कोई मनुष्य हो सकता है? जिसने इन्द्र, चन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर इन देवताओंका वर्णन तो सुना हो और इनकी उपासना कैसे की जाती है यह तो जानता हो, परन्तु ईश्वर क्या होता है और ईश्वरका अवतार कैसा होता है, राम-कृष्ण कैसे होते हैं, इस बातको न जानता हो! ऐसा कोई होगा भला! नहीं होगा। लेकिन महाराज, यह उनकी बुद्धि जो है, अल्पमेधसाम्, इनकी बुद्धि ऐसी है कि ईश्वरका वर्णन सुनकर तो भूल गयी और इन्द्र, चन्द्र, वरुण, कुबेर आदि जो हैं उनको पकड़कर रह गयी। जैसे देखो, कोई बड़ा आदमी होता है तो वह शानदार जगहमें जाता है और छोटा आदमी होता है, तो वह छोटी जगहमें ही अपना डेरा डाल देता है। तो यह अल्पमेधसाम्का अर्थ है, इस मनुष्यका स्तर बहुत नीचे गिरा हुआ है, इसकी बुद्धिका स्तर बहुत नीचा है, जिसने सम्पूर्ण जगत्के स्वामी प्रभुको तो नहीं पकड़ा और छोटे-मोटे देवताओंको पकड़ लिया—अल्पविषया मेधा माने उसकी पकड़ छोटी है।

फल तो विनाशी है और उसकी बुद्धिमें जो पकड़ है वह छोटी

वस्तुकी है। **अन्तवत्** का अर्थ हुआ कालपरिच्छिेद्य और उसकी बुद्धिमें जो विषय है न, वह वस्तु-परिच्छेद्य है, बड़े छोटे-छोटे विषय हैं, अल्प नन्हीं वस्तु हैं। माने वह अनन्त परमात्माको ग्रहण नहीं करता और अनन्त-फलको प्राप्त करता नहीं। अब देशकी दृष्टिसे जाता कहाँ है? जरा यह देखो—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

लोग अपने-अपने स्तरमें ही मेल करना चाहते हैं। यहाँ लोग मकान खरीदते हैं बम्बईमें, तो कहते हैं भाई यहाँकी लोकेलिटी (Locality) कैसी है, माने वहाँके लोग कैसे हैं! लोकेल्टी अच्छी होगी, तो मकानकी कीमत ज्यादा। तो तुम्हारी बुद्धि किस लोकेलिटीमें रहना चाहती है, उसको भी तो देखो! वह ईश्वरके पास रहना चाहती है, ईश्वरका आभूषण बनना चाहती है, ईश्वरकी दासी बनना चाहती है, ईश्वरकी चमकसे चमकना चाहती है, ईश्वरमें लीन होना चाहती है कि छोटे-मोटे टुटपूँजिए जो देवता हैं, उनके साथ मिलना चाहती है? तो,

देवान्देवयजो यान्ति—जो देवताओंका यजन करते हैं वे कहाँ जाते हैं? बोले—**देवान् यान्ति,** उनमें-से कोई रुद्रका गण हो जायेगा कोई इन्द्रका गण हो जायेगा, मरुद्गण हो जायेगा, उनचास मरुद्गण हैं, वह उनमें चला जायेगा, तो उनमें भी कोई साध्य हो जायेगा, कोई विश्वदेवान्में चला जायेगा, कर्म देवता होगा वह। सिद्ध देवता नहीं होगा, कर्म देवता हो जायेगा। और जब देवताका अधिकार समाप्त होगा तो उसके साथ ही साथ वह भी वहाँसे उतार दिया जायेगा। जो उस दिन सिंहासनपर होता है वह एक दिन गिरफ्तार भी कर लिया जाता है। क्योंकि छोटा-छोटा यह झगड़ा है।

जो देवताओंका यजन करनेवाले हैं वे देवताओंके पास जाते हैं। बोले—और तुम्हारी भक्ति कोई करे तो? यह बताते हैं वह मेरे पास आते हैं। **मद्भक्ता यान्ति मामपि।** '**अपि**', '**निश्चितम् महद् वैलक्षण्य**'। अपि शब्द अत्यन्त विलक्षणताका द्योतक है। मद्भक्ताः माम् यान्ति, जो मेरा भक्त होता है, वह मेरे पास आता है। भगवान्का भक्त हो जाओ, क्योंकि भगवान्को अपना भक्त ही प्यारा है। पहली बात तो यह है कि भगवान्को अपना

आज्ञाकारी सेवक, प्यारा है। श्रुति भगवान्की आज्ञा है, स्मृति भगवान्की आज्ञा है। जो भगवान्का आज्ञाकारी होता है, वह भगवान्को पसन्द है, आज्ञापालन न करनेवालेका तो डर लगा रहता है कि पता नहीं यह कब कोई बात हमारी मानेगा और पता नहीं कब नहीं मानेगा? क्योंकि उसमें स्वतन्त्र्य है, उसमें भक्तिकी न्यूनता है। तो पहली बात तो है आज्ञाकारी होना और आज्ञाकारीके बाद फिर प्रेमकी बात चलती है, भगवान्का भक्त हो जाना।

यहाँ जो '**मद्भक्ताः**' शब्द पड़ा है, वह भातवाले भक्त शब्दसे भी बन सकता है भला! एक संस्कृतमें 'भक्तम्' शब्द बनता है और एक भक्तः शब्द बनता है। तो 'भज्यते मुसलैः'—जो मूसलसे तोड़ा जाय उसका नाम भक्त। '*भंजो आमर्दने*' कूट-कूटकर जिसमें-से भूसी निकाल ली जाय और चावल अलग कर लिया जाय। और फिर महाराज भज्यते, भुञ्जानैः। खानेवाले लोग जिसका सेवन करते हैं उसका नाम भक्त हुआ, भक्तम्। बंगालियोंका बहुत प्यारा है। मद्रासी लोग भी खूब खाते हैं, गुजरातियोंमें भी खूब चलता है, उसे भक्त बोलते हैं। तो नपुंसक लिंगमें भक्तम् होता है और पुंल्लिगमें जो भक्त शब्द बनता है तब वह ऐसे बनता है—'भक्तः अस्य आस्त इति भक्तः'। *तद्धितमें भक्तः मत्वर्थी प्रत्यय* होनेसे '*भक्ति अस्यस्ति इति भक्तः*' और *कृदन्तमें त प्रत्यय* होनेसे '*भक्तम्*' एक कृदन्त है और एक *तद्धित* है।

बोले—भाई, यह कृदन्त वालेकी चर्चा यहाँ क्यों करते हो? यों करते हैं कि भक्त कैसा? कि जो भगवान्का भात बन जाय। जैसे भोजन करनेवाले बड़े प्रेमसे भात खाते हैं, वैसे जिसको भगवान् अपना भोग्य बना लें, सो भगवान्का अपना भक्त। पर फिर यहाँ **मद्भक्तः** का अर्थ होगा, मेरे भक्त, मेरा भात बने हुए जो हैं—सो क्या अर्थ हुआ इसका? जैसे भातमें कई विशेषता, एक तो जब वह पक जाता है, तब भी पृथक् रहता है। यह उसकी अच्छाई है। सिद्ध होनेपर हल्वा एकमें मिल जाता है और भात सिद्ध होनेपर भी अलग रहता है और अभिमानकी कणिका उसमें बिलकुल नहीं रहती, और निर्मल—उज्ज्वल होता है। रंगमें उज्ज्वल, अभिमान बिलकुल नहीं, और पृथक्-पृथक् और भगवान्को बड़ा प्यारा।

नमकीन करलो तो नमकीन और मीठा करलो तो मीठा—खानेवालेकी रुचिसे अपने स्वादको बदल देनेवाला। भगवान् नमकीन बनाकर खायें तो नमकीन होनेको राजी और भगवान् मीठा बनाकर खायें तो मीठा होनेको राजी; यह भक्तम् है। यह भात है। तो **मद्‌भक्ता यान्ति मामपि**—जो हमको अपना भोग्य न बनाकर, हमारे भोग्य भक्तके समान बन जाते हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं।

अब भक्ति देखो, **मद्‌भक्ता यान्ति मामपि**—यदि हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आगयी समझो भक्तिसे बड़ी और कोई चीज है ही नहीं। श्रीमद्भागवतमें बताया—**भक्त्याहमेकया ग्राह्यः** (११.१४.२१)—अकेली भक्तिके द्वारा मेरा ग्रहण होता है, भक्तिके सिवाय दूसरी किसी वस्तुसे मेरा ग्रहण नहीं होता। एकया—केवलया। 'ज्ञानादिनिरपेक्षया'—'एकया'। अकेली भक्ति हो। इसमें कर्मकी भी अपेक्षा नहीं, बुद्धिकी भी अपेक्षा नहीं, ज्ञानकी भी अपेक्षा नहीं, कर्ममें भक्ति हो तो कर्म कर्मयोग बन जाता है। ज्ञानमें भक्ति हो तो ज्ञान ज्ञानयोग बन जाता है। ज्ञानमें भक्ति तो महारानी है महाराज—सेवा और सेवक जो होता है, वह चाहे कोई काम करे, चाहे न करे और अपने मालिकके बारेमें उसकी जानकारी चाहे कम हो, चाहे ज्यादा हो, यदि वह सेवक है तो सेवकका प्रवेश अपने मालिकसे अन्तरङ्ग पर्यन्त होता है। सेवक तो वह है जो अपने मालिकके दिलकी बात जान लेता है। अभी मालिकके दिलमें क्या आनेवाला है, अभी आया नहीं है, सेवक यह सोचता है कि हम उनके पास जा रहे हैं, तो वहाँ जानेपर उनके मनमें, क्या खानेकी इच्छा होगी, उनके मनमें क्या पीनेकी इच्छा होगी, उनके मनमें क्या वस्तुविशेषकी इच्छा होगी, सेवक वह होता है जो भगवान्‌का भी अन्तर्यामी होता है, भगवान्‌के दिलकी बातको जानता है। वह भक्त होता है।

भक्त कौन है? कि **भक्ति अस्यास्ति**—जिसके हृदयमें भक्ति है। भक्ति क्या है? **प्रेमपूर्वकं अनुध्यानम्**—प्रेमपूर्वक उसीके बारेमें चिन्तन करना। जो वैद्य रोगीका ध्यान नहीं करेगा, वह रोगकी दवा नहीं कर सकता और जो रसोईया यह नहीं जानता कि हमारे मलिकको क्या खाना पसन्द है, वह रसोई बनाकर कैसे खिला सकता है? जो सेवक अपने स्वामीकी रुचिको

नहीं जानता है, वह क्या सेवा कर सकता है? तो मद्भक्तका अर्थ है भगवान्‌का प्रेमी सेवक। वह कहाँ जायेगा? बोले, उसको तो कहीं जाना ही नहीं है। जहाँ-जहाँ भगवान् वहाँ-वहाँ सेवक। सेवक और भगवान् ये दोनों अलग-अलग नहीं होते। तो **मद्भक्ता यान्ति मामपि।**

अब तुम कहाँ जाना चाहते हो, यह देखो! अप्सराओंवाले स्वर्ग-लोकमें जाना चाहते हो, कि प्रकाशवाले सूर्यलोकमें जाना चाहते हो, कि ऐश्वर्यवाले वैकुण्ठलोकमें जाना चाहते हो, कि प्रेमवाले गोलोकमें जाना चाहते हो, कि सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन जो ब्रह्म है उसका साक्षात्कार करना चाहते हो? भगवान्‌की जो भक्ति होगी वह तुम्हें भगवान्‌के पास पहुँचावेगी और यह जो भगवद्‌रूप फल है यह अन्तवत् नहीं है, अनन्त है। और यह 'अल्पमेधसः' नहीं, 'भूमामेधसः' है। यह अल्प मेधाओंको प्राप्त होनेवाला नहीं, भूमामें जिनकी मेधा लगी है उनको प्राप्त होता है और इससे देवताओंके पास नहीं जाना पड़ता। माने यह जो फल हुआ, यह न कालपरिच्छेद्य है, न वस्तु परिच्छेद्य है।

२४. निर्बुद्धि लोग मेरा तत्त्व नहीं समझते

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ ७.२४॥

अर्थः—निर्बुद्धि लोग मुझ अव्यक्त परमेश्वरको व्यक्ति–मनुष्य समझते हैं और इस सगुण साकाररूपमें जो मेरा परम् कारुणिक भाव है और सर्वोत्तम अव्यय भाव है उसको नहीं जानते (अतः वे मेरा भजन नहीं करते)॥ २४॥

: २४.२ :

निर्बुद्धि मेरा अवतार रहस्य नहीं जानते

जो लोग दूसरे देवताओंका भजन करते हैं वे एक तो अल्पमेधा हैं, उनकी बुद्धि छोटी चीजमें लगी हुई है। देखो, बुद्धि न तो छोटी होती है न बड़ी होती है। बुद्धि परिणामको जाननेवाली होती है। छोटी चीजको छोटी चीज जानना, बड़ी चीजको बड़ी जानना; आकाश कितना फैला हुआ है यह जानना, बाल कैसा रूक्ष होता है यह जानना, देश कैसा विशाल होता है यह जानना। बुद्धि न छोटी होती है न बड़ी। तब? छोटी चीजमें लग जाय बुद्धि तो छोटी और बड़ी चीजमें लग जाय तो बड़ी। तुम्हारी बुद्धि लगी कहाँ, छोटी चीजमें कि बड़ी चीजमें? बेटेमें लग गयी, नन्हें मुन्नेमें लग गयी, अब नन्हामुन्ना छोटा है तो बुद्धि भी छोटी हो गयी। गुरुजीमें लग गयी तो गुरुजी तो बहुत बड़े हैं, तो बुद्धि भी बड़ी हो गयी, ऐसे समझो। तो एक भगवान् श्रीकृष्णमें फँस गया, अब इससे बड़ा और क्या होगा? बोले—औरतमें फँस गया, सीताराम, सीताराम कहो! मर्दमें फँस गया कि राम कहो—

कथापि खलु पापानां अलं शृणोति।

पापियोंकी चर्चा भी मत करो! दूसरे देवताओंमें प्रेम करना—यह बुद्धिका छोटापन हुआ; और इसका जो फल होगा वह विनाशी होगा; और अन्तमें जो प्राप्ति होगी, वह एक-एक विभागके जो देवता हैं, शब्दको ग्रहण करनेवाली जो इन्द्रिय है कान, उसका देवता (दिग्देवता), रूपको ग्रहण करनेवाली आँख, उसका देवता सूर्य; इन्द्र है, वरुण है छोटे-छोटे देवताओंसे मिलना होगा; और प्रलयके समय सब मर जायेंगे या मन्वन्तर बदलनेके समय देवता बदल जायेंगे, तो उनका अधिकार ही नहीं रहेगा। लेकिन भगवान्का भजन करोगे तो भगवान्की प्राप्ति होगी और भगवान्से बड़ा और कोई है नहीं। तो यह बात सिद्ध हुई कि भगवान्का भजन करनेसे सर्वोत्तम फलकी प्राप्ति होती है—

समाने प्रयासे महति च फलविशेषे।

श्रीधर स्वामीने उल्लेख किया है कि देवताकी भक्ति करनेंमें और भगवान्की भक्ति करनेमें परिश्रम तो बराबर ही पड़ा। क्योंकि चन्दन, फूल, भोग, दक्षिणा तो चढ़ानी पड़ेगी, हाथ सबको जोड़ना पड़ेगा, सभीको दंडवती करनी पड़ेगी। जब पैसा भी खर्च होता है, परिश्रम भी होता है, मन भी लगाना पड़ता है, सब काम तो बराबर ही करना पड़ता है, तो फिर वही काम चपरासीके सामने क्यों करना? महाराजाके सामने क्यों नहीं करना? तो ऐसी स्थितिमें क्यों प्राणी दूसरेको छोड़कर भगवान्का भजन नहीं करते या भगवान्से विमुख क्यों हो जाते हैं? तो भगवान् बताते हैं कि इसमें प्रज्ञापराध ही मुख्य है। अज्ञान-बेवकूफी। अनजान होनेके कारण लोग ईश्वरको छोड़करके, दूसरेसे प्रेम करनेमें, दूसरेसे फँसनेमें लगते हैं, यह उनका अनजानपना ही है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

'अबुद्धयः मां परं अव्यक्तं इदानीं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।' अबुद्धयः=जिन लोगोंने बुद्धि प्राप्त नहीं की है। बुद्धि एक तो वह होती है जो कर्मके फलरूप आती है। पूर्व जन्ममें जैसा पाप पुण्य होता है उसके मिश्रणसे मनुष्यको बुद्धि मिलती है। पापकी अधिकतासे पशुबुद्धि मिलती है, पुण्यकी अधिकतासे

देवबुद्धि मिलती है और दोनोंके मिश्रणसे मनुष्य-बुद्धि मिलती है। पर मनुष्य होनेके बाद भी बुद्धि प्राप्त करनेका अवसर है। ऐसा मौका है कि मनुष्य बुद्धि प्राप्त कर ले। पर बुद्धि क्या सोना है कि चाँदी है, कि नोट है? बुद्धि कहाँ मिलेगी? अरे बुद्धि तो भाई, जिसके पास होगी उससे मिलेगी, बुद्धिमानसे बुद्धि मिलेगी, मूर्खसे जो बुद्धि मिलेगी, इसके लिए गीतामें भी शब्द है— 'अकृत बुद्धया'। जैसे यहाँ अबुद्धयः है; अबुद्धयःका अर्थ पत्थर नहीं है, पेड़ नहीं है, माटी नहीं है, माने जिसमें बुद्धि बिलकुल होवे नहीं, ऐसा नहीं। अबुद्धयाका अर्थ अकृतबुद्धया है।

अकृतबुद्धयाका अर्थ क्या है? कि सत्पुरुषोंकी सेवा करके, सत्संग करके, सच्छास्त्रोंका स्वाध्याय करके, गुरुकी सेवा करके इन्होंने बुद्धि प्राप्त की नहीं है। अबुद्धयाका अर्थ है अकृतबुद्धया। असंस्कारित बुद्धया, इन्होंने बुद्धि प्राप्त नहीं की। बोले—ऐसी कौनसी चीज है जो हमारी समझमें नहीं आसकती? कहीं तो बुद्धि पत्थरकी तरह होती है, पर बुद्धि होती है भला! जड़ पदार्थोंमें लगी हुई बुद्धि है, खाओ और कमाओ, कमाओ और खाओ! दिनभर क्यों खटते हो भाई? कि कमायेंगे नहीं तो खायेंगे क्या? कि खाने क्यों बैठे हो भाई? अरे आज खायेंगे नहीं तो कल कमाने कैसे जायेंगे?

रात एक सज्जनसे बात हुई, बेतहाशा धन कमाते जा रहें हैं। क्या होगा? बोले—यह नहीं मालूम है। सवेरे खा-पी लेते हैं, और आफ़िस जाते हैं, व्यापार करते हैं, कमाते हैं, रोज कुछ-न-कुछ बढ़ता है। बढ़ता जाता है, रखते जाते हैं। लेकिन क्या होगा? कि इसपर हमने कुछ नहीं सोचा है। भाई लेगा, कि बेटा लेगा, कि सरकार छीन लेगी, कि नष्ट हो जायेगा, यह नहीं सोचा है।

कुर्वते कर्मभोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते।

भोगके लिए कर्म करते हैं और कर्म करनेके लिए भोग करते हैं।

नद्यान्सिचाय आवर्तात् आवर्ताये कर्म आसुते।

एक लहरसे निकले दूसरी लहरमें फँसे, दूसरी लहरमें-से निकले पहली लहरमें आये! बस यहाँ-से वहाँ, वहाँ-से यहाँ, कर्म-से भोग, भोग-से कर्म, बस खाना-पीना, इतना ही उनका करना, बस इतना ही उनका कर्म कुछ सोचते ही नहीं हैं कि शास्त्रसे, सत्संगसे, सद्‌गुरुकी कृपासे जो ईश्वर-विषयक बुद्धि प्राप्त होती है, वह विलक्षण बुद्धि होती है।

इसका मतलब यह हुआ कि अबुद्धया, जो किस्मतके मारे सत्संगसे फायदा नहीं उठाते हैं, वही अबुद्धि हैं। देखो, अबुद्धिका अर्थ यही है कि वे स्वयं तो मूर्ख हैं ही, दूसरेसे उधार बुद्धि लेकर भी काम नहीं चलाते हैं। घरमें पैसा न हो तो दूसरेसे उधार लेकर काम चला लेते हैं। लेकिन बुद्धि न हो, तो दूसरेसे उधार भी नहीं लेते हैं। यही मूर्खताका नमूना है।

एक विद्यार्थी था, वह काशीमें पढ़ता था पंडितजीके पास। एक बरस, दो बरस, दस बरस, बस पढ़ता ही जाये, घर गया नहीं। संयोगवश उसके पढ़ानेवाले जो पंड़िजी थे, वे उसके गाँवमें, जन्मभूमिमें पहुँच गये। उसके पिताको मूलम पड़ा तो आये, बोले—पंडितजी हमारा पुत्र आपके पास पढ़ता है, क्या हालचाल है उसका? बोले—भाई, हालचाल यह है कि खुदकी तो उसको समझ नहीं है, स्वयं तो समझता नहीं है और दूसरेकी बात मानता नहीं है। न समझ है न श्रद्धा है। समझ न हो तो श्रद्धासे काम चल जाता है, श्रद्धा न हो तो समझदारीसे काम चल जाता है। अब उसको न तो समझ है न श्रद्धा। ये दो ही तो पहिये हैं मनुष्यरूप जीवनरथको चलानेके लिए, एक मनु और एक श्रद्धा। मनु माने मनन और इनकी पत्नी जो है श्रद्धा। श्रद्धा और मनुके संयोगसे मानवकी उत्पत्ति हुई है। मानव कहाँसे पैदा हुआ? श्रद्धा और मनन—इन दोनोंके संयोगसे। इसलिए जिसके हृदयमें श्रद्धा है और बुद्धिमें मनन है, वह सच्चा मानव है। यह बालक तो अबुद्धि है भाई!

बोले बुद्धिकी पहचान क्या है? बुद्धिकी पहचान यह है कि **अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मां मन्यन्ते**—मेरे बारेमें उनका ख्याल ऐसा है कि जैसे कोई जीव जन्मके पहले अव्यक्तमें लीन रहता है वैसे मैं भी जन्मके पहले अव्यक्तमें लीन रहता हूँ और जैसे जीव कर्मके अधीन होकर व्यक्तिभावको, मनुष्य-योनिको प्राप्त होता है, वैसे मैं भी मनुष्य-योनिमें आता हूँ। जन्म लेनेके पूर्व मैं भी और जीवोंकी तरह अव्यक्त प्रकृतिमें लीन था, अप्रकाश था; और जन्म लेनेके बाद मैं भी दूसरे जीवोंकी तरह व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ—ऐसा मानते हैं। भगवान् श्रीकृष्णको, रामको, भगवान्‌के अवतारको, स्वयं भगवान्‌को जीववत् कर्माधीन मानना यह अबुद्धिका लक्षण है। जो कर्मके अधीन है सो जीव है और जो स्वतन्त्र है वह भगवान् है। जो मायाके अधीन है, अविद्याके अधीन है, कर्मके अधीन है वह जीव है और जो

कर्मके अधीन नहीं है, अविद्या जिसको कभी छू नहीं सकती, जो मायाका अधिष्ठान है, मायाका संचालक है, मायाका प्रकाशक उसका स्वामी है, मायापति है, उसका नाम ईश्वर है। जो लोग ऐसा ख्याल बना लेते हैं कि भगवान् भी कर्मवश मछली होते हैं, भगवान् कर्मवश कछुआ होते हैं, भगवान् कर्मवश वराह बनते हैं, कर्मवश हयग्रीव बनते हैं, कर्मवश नृसिंह बनते हैं, कर्मवश परशुराम बनते हैं, वामन बनते हैं, राम बनते हैं, कृष्ण बनते हैं, जो लोग कर्मको ही सर्वोपरि मानकर भगवत्ताको सर्वोपरि नहीं मानते हैं, वे 'अबुद्धयः' हैं। यह भी, जीव जैसे पहले प्रलयमें रहता है, जन्मसे पहले रहता है, वैसे भगवान् रहते हैं और अब कर्मके वश होकर व्यक्तभावको प्राप्त हुए हैं। एक बात।

अब देखो दूसरी। दूसरी क्या?

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।

भगवान् कहते हैं कि जितने देवता शरीर हैं, क्या भूत, क्या भैरव, क्या ब्रह्मा, क्या विष्णु, क्या इन्द्र, सबमें अव्यक्त रूपसे मैं ही विद्यमान रहता हूँ। इन्द्र, चन्द्र, रुद्र, सूर्य, वरुण, कुबेरादि जितने देवता हैं सबमें अव्यक्त रूपसे विराजमान मैं एक। लेकिन वे मूर्ख क्या करते हैं—'अव्यक्तं सन्तं सर्वेषु देवेषु माम् सर्वासु देवासु अव्यक्तं सन्तं मां परिपूर्णरूपं विहाय व्यक्तिमापन्नं देवरूपं मन्यन्ते'—हूँ तो सबमें मैं ही एक अखण्ड, लेकिन वे मेरे उस सर्वव्यापी अखण्ड रूपकी उपेक्षा करके व्यक्ति-भावापन्न देवता शरीर मानते हैं। देवताका शरीर भी कर्मज है, इन्द्ररूप कर्मसे हुआ है, चन्द्ररूप कर्मसे हुआ है, रूद्ररूप कर्मसे हुआ है, वरुण-कुबेररूप कर्मसे हुए हैं। ये कर्मज रूप हैं। वे हमको व्यक्ति-भावापन्न मान लेते हैं। मेरे अखण्ड स्वरूपको न जानकर, मेरे व्यक्ति-स्वरूको ही मानते हैं। 'अबुद्धयः बुद्धि' है।

अबुद्धिकी व्याख्या स्वयं भगवान् आगे कर रहे हैं—**परं भावमजान्तो ममाव्ययमनुत्तमम्**। स्वयं ही भगवान् अबुद्धिकी व्याख्या कर रहे हैं। इसलिए अभी इसको रखते हैं बादके लिए।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं—देखो, इसमें विचार करने लायक बात यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए दो दिशामें शोधन होना आवश्यक है—एक तो मैंकी दिशामें और एक देवताकी दिशामें। मैं की दिशामें शोधन क्या है?

निष्काम होना। **आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ** (७.१६)में केवल ज्ञानीको दोनों दिशा सिद्ध है। परमात्माके शुद्ध स्वरूपका उसे ज्ञान भी है और निष्काम भी है। लेकिन जो आर्तभक्त जिज्ञासु है उनमें परमात्मा तो सिद्ध है, लेकिन उनका जो अन्तःकरण है वह आर्तिके कारण, अर्थ-कामनाके कारण और ज्ञान-कामनाके कारण कामनासे आच्छादित है। ज्ञानीका दोनों सिद्ध—परमात्मा भी शुद्ध और जीवात्मा भी शुद्ध और जो भक्त है आर्त जिज्ञासु, अर्थार्थी उनके परमात्मा तो शुद्ध, लेकिन अन्तःकरण शुद्ध नहीं। और, ये जो देवताके उपासक हैं इनकी क्या स्थिति? कि ये 'व्यक्तिम् आपन्नं'के उपासक होनेके कारण न तो इनका परमात्मा ही शुद्ध है, क्योंकि इन्होंने परमात्मतत्त्वका शोधन नहीं किया है कि परमात्मा कैसा होता है और सकाम होनेके कारण इनका अन्तःकरण भी शुद्ध नहीं है। दोनों ओर मलिनता। जो सकाम भावसे देवताका उपासक है, वह दोनों ओर अशुद्ध, उधर तो शुद्ध तत्पदार्थ नहीं और इधर शुद्ध त्वं पदार्थ नहीं, इसलिए इन्हें संसारकी प्राप्ति हो गयी और जो सकाम भक्त हैं, उसमें अन्तःकरण तो शुद्ध नहीं है, लेकिन भगवत्पदार्थ शुद्ध है।

भगवत्पदार्थ जो शुद्ध है उस प्रमेयकी शुद्धिके बलसे अन्तःकरण बादमें शुद्ध हो जायेगा और उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। और कहो कि अच्छा भाई, कोई ऐसा हो कि स्वयं तो निष्काम हो और देवताकी उपासना करता हो तो? निष्काम भावसे देवताकी उपासना करता हो? तो जितनी-जितनी कामना अपने हृदयमें करता जायेगा, माने अध्यात्म जितना शुद्ध होता जायेगा, अधिदैव भी उतना अपना शुद्ध रूप प्रकट करता जायेगा, देवता पदार्थका शोधन होकर अन्तमें वहाँ ईश्वरत्वकी अभिव्यक्ति हो जायेगी। दोनों शुद्ध हों तब तो एक नम्बरकी बात है और दोनोंमें-से ईश्वर शुद्ध हो तो समझो कि बात बन जायेगी बादमें, और यदि दोनों ही अशुद्ध हों तब तो फिर अशुद्ध माने अशोषित—दोनोंके स्वरूपका ठीक-ठीक बोध नहीं।

कामना करनेवाले जो हैं वे अपने शुद्ध रूपको नहीं जानते हैं, क्योंकि आत्माका जो शुद्ध रूप है वह कामनावाला नहीं है। वह तो आत्मा जो है वह—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २.२१

यह आत्माका वर्णन है, यह परमात्माका वर्णन नहीं है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २.२०

परमात्माका तो हनन प्राप्त ही नहीं है, निषेध कहाँसे होगा? वह तो आत्माका ही हनन प्राप्त है इसलिए उसका निषेध कर दिया! और महाराज, परमात्मा तो हो शुद्ध स्वरूप उसमें साक्षाद् सच्चिदानन्दघन, नराधिपति राधिकारमण, नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर परमात्मा तो हो साक्षाद् परब्रह्म नराकृति परिपूर्ण पुरुषोत्तम और कोई कामसे उसका भजन करे तो? श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने रासके प्रसंगमें यह बात कही—**कामेन पूरितः कामाः संसारं जनयति स्थितम्**—यदि सकामके द्वारा कामनाकी पूर्ति होगी तो संसारकी उत्पत्ति होगी और निष्कामके द्वारा कामनाकी पूर्ति होगी तो संसारकी उत्पत्ति नहीं होगी।

साक्षाद् भगवान्के प्रति यदि सकाम होकर भी जाय तो विषय महिम्ना—श्रीधर स्वामीने अपनी टीकामें लिखा है—**विषय महिम्ना,** यहाँ महिमा प्रेम करनेवालेकी नहीं है, बल्कि जिससे प्रेम किया गया उसकी महिमा है। वह गया तो कामना पूर्तिके करनेके लिए, लेकिन भूलसे ही सही, पहुँच गया भगवान्के पास। भगवान्के पास जाते ही काम सकुचाके भागा और वह भगवान्के साथ मिल गया। उसको तो भगवान्ने अपनी गोदमें उठा लिया और कामना भग गयी, यह हुआ।

गोपी जाती है भगवान्के पास, तो पहले जाती है कामसे, परन्तु वहाँ तो कन्दर्प-दर्प-दलन, कोटि-कामकमनीय स्वयं भगवान् श्यामसुन्दरके पास जानेपर उन्होंने अपने हृदयसे लगा लिया और काम भाग गया। यह भगवान्की महिमा हुई। या तो भगवान्के बारेमें अपने विचार बिलकुल शुद्ध होवें, ऐसा भगवान्। हम भगवान्का भजन करते हैं और किसीका नहीं; या तो फिर किसी भी देवताका भजन करो कि अन्तःकरण निष्काम होवे और अन्तःकरण निष्काम होवे और भगवान्का भजन होवे तब तो कहना ही क्या! तब तो सोनेमें सुगन्ध। लेकिन कामना भी होवे और

भगवान्का भजन न होकर दूसरेका होने लग जावे, तब? उसीको बताया—इधर काम भी है और अन्य देवता भी हैं और—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ ७.२०
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः॥

भगवान् श्रीकृष्ण निर्बुद्धिका लक्षण बताते हैं कि निर्बुद्धि कौन है? अपने ऊपर मत घटाओ इसको, क्योंकि मनुष्य अपनेको निर्बुद्धि मानना पसन्द नहीं करता है। कहते हैं अपनी अकल और दूसरेका धन—इनको लोग ज्यादा ही मानते हैं, कम नहीं मानते हैं। हमारी अकल सबसे बड़ी। अगर कोई ज्यादा अकलमंद मिल जाय, तब अपनी तारीफ कैसे करते हैं कि देखो, हमारी अकल इतनी अच्छी है कि हमने बड़े अक्लमन्दको पसन्द किया है। इसमें भी अपनी ही तारीफ करते हैं।

अब देखो, निर्बुद्धिका लक्षण। भगवान् कहते हैं कि अव्यक्तं—'अव्यक्त-रूपेण सर्वासु देवतासु स्थितं माम् व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते'—अव्यक्त रूपसे मैं सम्पूर्ण देवताओंके अन्दर स्थित हूँ, लेकिन उनकी आँख मुझ अव्यक्त पर कहाँ है? उनकी आँख तो तद्-तद् देवता व्यक्ति जो हैं, उस देवता व्यक्तिपर है।

अब देखो, तीसरी बात कि 'व्यक्तिमापन्नं सन्तं माम्। अबुद्धयः अव्यक्तं परोक्षं इन्द्रादिकं कंचित् देवताविशेषं मन्यन्ते'। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि देखो, मैं तो बिलकुल सामने 'परं भावमजानन्तः'—परमभावके वशमें होता हूँ। भगवान्का परमभाव क्या है? जब संसारके जीवोंको दुःखी होते देखा; देखा कि वे छोटी-छोटी चीजोंमें फँस जाते हैं, वे कामनाओंके जालसे ढँके हुए हैं, कान्दिशीक हो रहे हैं, उनको मार्ग नहीं मिल रहा है कि किधर जाना चाहिए तो मैं अतिशय वात्सल्य और अतिशय कारुण्यके वशमें होकर व्यक्त होता हूँ; क्योंकि भगवान् अकारण-करुण है, किसी स्वार्थको लेकर किसीपर कृपा नहीं करते हैं और आश्रित-वात्सल्यजन ही हैं।

दो गुण भगवान्में विशेष हैं—एक तो 'आश्रयण सौकर्यापादन'—जो कोई भी भगवान्की शरणमें जाना चाहे उसके लिए रास्ता सुगम बना देते हैं। सब कठिनाई दूर कर देते हैं। हाथ बढ़ाकर पकड़ लेते हैं, खुद आ जाते हैं

और दूसरा गुण है 'आश्रित कार्य-निर्वाहकत्व'। अपना जो आश्रित है उसका काम बनाना—ये दो गुण हैं। जब भगवान् देखते हैं कि संसारके जीव हमारी प्राप्तिके बिना, हमारे ज्ञानके बिना संसारमें दुःखी हो रहे हैं तो जो बात उनके स्वरूपमें बिलकुल नहीं, उनके स्वभावमें बिलकुल नहीं; विरक्त हैं लेकिन रागी-सरीखे बनकर आते हैं कि भाई, विरक्तके प्रति उनकी रुचि नहीं है तो रागी बनकर उनके सामने आये हैं। अपरिच्छिन्न, लेकिन परिच्छिन्न बनकर आये। हैं तो निर्गुण-निराकार, सगुण साकार बनकर आये। हैं तो गोलोकमें रहनेवाले, परन्तु मर्त्यलोकमें आये, ऐसे।

यह जो भगवान्का परमभाव है, सर्वोपरि भाव, करुणाका भाव, वात्सल्यका भाव, लोगोंका कल्याण करनेका भाव, इसको तो लोग पहचानते नहीं हैं। इसी भावसे भगवान् व्यक्तिभावको प्राप्त हो गये हैं। नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, नारायण कहो, सेवक बनकर आये हैं। 'व्यक्तिमापन्न'—देखो न, व्यक्तिभावको प्राप्त। सारथिका काम कोई सर्वोच्चका काम है? सम्पूर्ण विश्वके स्वामीका क्या यह काम है कि वह किसीके रथपर बैठकर घोड़ेकी बागडोर पकड़कर और चाबुक हाथमें लेकर पाँच-छः रुपया महीना लेनेवाला सारथि, (उन दिनों पाँच रुपया महीना भी नहीं मिलता था सारथिको) वह सारथिका काम करे, रातको जागकर पहरा दे। युधिष्ठिरकी सेनाके लिए कृष्ण पहरा देते थे। जब युधिष्ठिर राजाकी हैसियतसे बैठते थे तो उनकी सभामें साधारण सदस्य बनकर कृष्ण बैठते थे। पार्षद, सारथ्य, सेवा। जब घोड़े थक जाते थे तो उनकी मरहम पट्टी करते थे। राजदूत होनेकी जरूरत पड़ती थी तो उनके भेजे हुए दूत बनकर कौरवोंकी सभामें चले जाते थे। यह जो छोटा-छोटा साधारण काम करते थे, यह क्या था? कि यह उनके परम विशिष्ट भावका सूचक था। लेकिन महाराज, लोग उनको यही समझते कि जैसे कोई मनुष्य है, सब उसका भजन न करके किसका भजन करेंगे? बोले—हम तो स्वर्गमें रहनेवाले अव्यक्त, अप्रकट परोक्ष इन्द्र, चन्द्र, वरुण का भजन करेंगे। 'व्यक्तिमापन्नं सन्तम् माम् अबुद्धयः अव्यक्तं सर्वादि सुस्थितं इन्द्रादिदेवविशेषान् मन्यन्ते'।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।

यह अबुद्धिका लक्षण है कि श्रीकृष्ण तो हैं सामने, *'घर आये नाग न पूजिहिं बाँबी पूजन जाहिं।'* घर आया नाग, उसकी तो पूजा नहीं करते, बांबीकी पूजा करने जाते हैं **उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितकल्पनायां मानाभावः**—सामने खड़े हैं कृष्ण, उनको छोड़कर इन्द्रकी पूजा।

देखो, साफ-साफ भगवान्ने गोवर्धनपूजाके अवसरपर ग्वालबालोंको बताया कि स्वर्गके इन्द्रकी पूजासे ज्यादा अच्छा तो व्रजके पत्थरकी पूजा है। व्रजके एक पत्थरका टुकड़ा भी स्वर्गके इन्द्रसे श्रेष्ठ है और हमारा जो भक्त होवे, अनन्य होवे उसको व्रजभूमि छोड़कर स्वर्गके देवताकी पूजा नहीं करनी चाहिए। इन्द्र-पूजाका निषेध करके भगवान्ने यह स्पष्ट कर दिया।

अब एक चौथी बात लो; उसमें क्या है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। अबुद्धयः माम् अव्ययम् अनुत्तमम् परंभावं अजानन्तम् सन्तः। माम् अजानन्तः सन्तः अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं च मन्यन्ते।

माम् पुरुषोत्तमम् अबुद्धयः। मुझ पुरुषोत्तमको न जानकर। **माम्**का अर्थ है पुरुषोत्तम और **अव्यक्तं**का अर्थ है अक्षरम् और **व्यक्तिमापन्नं**का अर्थ है उभयं। माम् अबुद्धयः—मुझे न जानकर, मुझे तो पहचानते नहीं कि यह कौन है? तो क्या करते हैं? कि 'अक्षरं क्षरं च मन्यन्ते'। उपासना किसकी करते हैं? बोले—क्षराक्षर विलक्षण पुरुषोत्तम तत्त्वरूप जो मैं हूँ, वे मेरा तो कर देते हैं परित्याग और पूजा किसकी करते हैं? क्षरकी अथवा अक्षरकी।

क्षर-अक्षर शब्दका अर्थ क्या? अब पुरुषोत्तमयोग आता है। वहाँ देखो, क्षर माने यह स्थूल जगत् एक अर्थ है और अक्षर माने कारण जगत्—यह दूसरा अर्थ है और क्षर माने जड़ और अक्षर माने पुरुषोत्तम जीव, यह दूसरा अर्थ है। और क्षर माने भौतिक उपाधिसे युक्त चेतन जीव, और अक्षर माने अव्याकृत—सूक्ष्म, मायाकी उपाधिसे युक्त ईश्वर। तो पुरुषोत्तम कैसा? कि वह जगत्से भी विलक्षण, प्रकृतिसे भी विलक्षण। जीवसे भी विलक्षण, ईश्वरसे भी विलक्षण। ऐसा पुरुषोत्तम है परमात्मा। कई-कई कहते हैं कि क्षर माने मायाका कार्य और अक्षर माने साक्षात् ब्रह्म, दोनोंसे विलक्षण। अक्षर धाम है और पुरुषोत्तमधामी है। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने अचित् विशिष्ट चेतनको, अचित् सम्पृक्त जीवको क्षर कहा है और अचित्से असम्पृक्त—मुक्त जीवको अक्षर कहा है।

बद्ध और मुक्त दोनोंके उपास्य, व्यक्त और अव्यक्त, व्यक्त शरीरको मैं मानकर बैठा हुआ बद्ध और अव्यक्त शरीरको मैं मानकर बैठा हुआ मुक्त—दोनोंसे विलक्षण। वेदान्ती कहते हैं भौतिक देहको अपनी उपाधि माननेवाला यह जीव और मायाको अपनी उपाधि मानने वाला अक्षर दोनोंसे विलक्षण पुरुषोत्तम। मध्वाचार्यजी महाराज कहते हैं क्षर माने जगत् और अक्षर माने लक्ष्मी, अक्षर प्रकृति, महालक्ष्मी; भगवान् दोनोंसे विलक्षण ऐसे जो पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण! 'माम् एवंभूतं माम् अबुद्धयः' ऐसा जो मैं हूँ पुरुषोत्तम—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १५.१८

ऐसे माम्‌को छोड़कर

यो अव्यक्तं मन्यन्ते केचिद् व्यक्ति मापन्नं मन्यन्ते; कोई-कोई अव्यक्तकी उपासनामें लग जाते हैं और कोई-कोई व्यक्तिमापन्नकी उपासनामें लग जाते हैं, मुझ पुरुषोत्तमकी भक्ति नहीं करते हैं। आखिर बात क्या है, कुलका कारण क्या है? कि कारण यह है कि **परं भावमजानन्तो** अज्ञान ही कारण है। यह बात सर्व-प्रतिपन्न है।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज मानते हैं कि यह जो जीव संसारमें फँसा है, वह अज्ञानसे ही फँसा है। बोले—पूरा अज्ञानी तो कोई नहीं है, ज्ञान तो सबको है। बोले—विशेष ज्ञान नहीं है। विशेष ज्ञान क्या? बोले—चिदचिद्-विशिष्ट जो विशेष तत्त्व है, उसका ज्ञान न होनेके कारण संसारमें जीव फँस गया है, ऐसा। जब वह विशेष—भक्तिरूपा माने भक्ति मिश्रित ज्ञान, भक्ति विशिष्ट ज्ञान, भक्त्याकार परिणत ज्ञान जब होता है तब उस चिद्-अचिद्-विशिष्ट भगवत् तत्त्वका जो अज्ञान है वह दूर होता है और उसकी प्रपत्ति हो जाती है। ज्ञानसे ही परमात्मा मिलता है। इसमें श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका कोई विज्ञान नहीं है; लेकिन वह ज्ञान-विशेष है। माने चिदचिद् विशिष्ट, चिदचिद् शरीरी, चिदचिद् अंशी जो भगवान् है उस भगवान्‌का ज्ञान है और उस भगवान्‌के ज्ञानसे अपने अन्तत्वका, शरीरत्वका, विशेषत्वका ज्ञान हो जाता है और ज्ञान हो जानेसे परमात्मामें प्रतिपत्ति हो जाती है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके मतमें भी अज्ञान भगवान्‌को न पहचानना ही शरणागति न होनेमें हेतु है। यह 'इदं' और 'अहं'—ये दोनों वस्तुतः

भगवान् ही हैं। हार भी भगवान् है, कुण्डल भी भगवान् है, कटक भी भगवान् है। बिना विकारका भगवान् है परन्तु वे जो प्रवाही जीव हैं, वे तो उसको कभी पहचान ही नहीं सकते।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ १६.१९-२०

प्रवाही जीव उसको नहीं पहचान सकते और जो भगवदुन्मुख जीव है, भगवत् प्राप्तिके लिए योग्य, वे पहले मर्यादाको प्राप्त होते हैं। मर्यादाको प्राप्त होनेके बाद फिर भगवान्‌की पुष्टि, भगवान्‌का अनुग्रह उनके जीवनमें प्रकट होता है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ १०.११

भगवान् उनके ऊपर अनुग्रह करते हैं। पुष्टि जीव, मर्यादा जीव, प्रवाही जीव भगवान्‌की कृपाके पात्र विशेष होते हैं।

यह सर्व-सम्मत है कि भगवान्‌के न पहचाननेके कारण ही यह मनुष्य संसारमें फँस रहा है। जो अज्ञान है वह दूर होना चाहिए, तो क्या अज्ञान है—

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।

'मम अनुत्तमम् अव्ययम् परं भावं अजानन्तः अबुद्धयः'। अब अबुद्धि कौन है? यह देखो! एक तो बताते हैं कि मेरे परम भावको जो नहीं जानते। परम भाव क्या है? सगुणवादके अनुसार भगवान्‌का जो कारुण्य है, वात्सल्य है, संसारी जीवोंके ऊपर, यही परम भाव है। जीवोंके कल्याणके लिए जो भगवद्भाव है, वह परम भाव है। यह कैसा है? 'अव्ययं अनुत्तमम्'। यह कहो कि भगवान्‌को कभी होता है, कभी नहीं होता है। नहीं, भगवान्‌का कुछ खर्च तो होता नहीं कृपा करनेमें। ये धनी लोग जो हैं, ये किसीके ऊपर कृपा करनेमें डरते हैं। क्यों डरते हैं? बोले—उसके ऊपर ज्यादा कृपा करेंगे तो हमको धन देना पड़ेगा और धन देंगे तो हमारा धन खर्च हो जायेगा, तो हम गरीब हो जायेंगे। उनको खुद गरीब होनेका जो डर है, इसलिए वे करुणा करेंगे, उत्तम भाव उनके अन्दर आवेगा, परन्तु अव्यय भाव नहीं

आवेगा। क्योंकि धन खर्च हो जानेका डर है और आखिर भाव भी कबतक रहेगा उनके अन्दर? विद्वान् पुरुष भी करुणा करनेमें कंजूसी करते हैं। क्यों करते हैं? विद्या देनेसे घटती तो नहीं है। विद्या तो देनेसे और बढ़ती है, घटती नहीं है। बोले—यह श्रमादिके भयसे कि भाई, इनको अपनी विद्या बतावेंगे तो परिश्रम करके फिर उनको पढ़ाना पड़ेगा, सिखाना पड़ेगा। उसमें भी परिश्रमादिका भय होता है। ऐश्वर्यशाली लोग हैं, ऊँचे पदपर बैठे हुए, वे भी कृपा करनेमें डरते हैं। क्यों डरते हैं? कि वे सोचते हैं कि अगर हमने रियायत करना शुरू करदी कभी या करुणा करना शुरू कर दिया, तो ये रोज-रोज हमसे रियायत लेनेके लिए जब देखो तब दरवाजेपर खड़े हो जायेंगे। पर भगवान् महाराज, उनकी करुणा कभी खत्म होनेवाली नहीं है। उनके यहाँ ख-रचना तो है ही नहीं है। ख-रचनामें 'ख' माने शून्य। उनके यहाँ खात्मा नहीं है। खात्मा=शून्य आत्मा।

यह शून्य शब्द है न, इसकी वेदमें बड़ी विलक्षण उत्पत्ति है :—**श्वयति इति श्वा**—जो चलता रहता है, भूँकता रहता है। शून्य किसको बोलते हैं? कि **शूने हितं शून्यं**। जब कोई न हो तो कुत्ता चुपचाप बैठा रहेगा और कोई आवे तो बेचारेको भूँकना पड़ेगा। तो शून्य वह है जहाँ कुत्तेको भूँकना न पड़े। ये लोग अपने घरको शून्य नहीं होने देते भला! खल-आत्मा, खात्मा न हो। खर्चना न हो, ऐसा अपने घरको बनाये रखते हैं। ईश्वरको इस बातका डर नहीं है कि हमारा कुछ खर्च हो जायेगा। हमारे पास यह नहीं रहेगा, वह नहीं रहेगा। वह तो जैसे सूर्यमें से प्रकाश निकलता है, जैसे चन्द्रमामें-से चाँदनी निकलती है, जैसे जल रसात्मक होता है, जैसे पृथिवी धारणात्मक होती है। इसी प्रकार ईश्वर जो है वह परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन है। अव्यय, कभी विपरीत भावको प्राप्त नहीं होता।

देखो, आज भाव है कल अभाव हो जाय—ऐसा नहीं होता। 'न व्ययति विपरीतं एति। न वि विपरीतं एति। इति अव्ययः'। अपने स्वरूपसे विपरीत भावको कभी प्राप्त नहीं होता। पृथिवी अपने स्वरूपसे विपरीत भावको प्राप्त हो जायेगी। आज खेत है और कल मिट जायेगा, जल उड़ जायेगा आसमानमें, अग्नि बुझ जायेगी, पाँवकी गति बन्द हो जायेगी, यह मन लीन हो जायेगा। ये सब जैसे दीखते हैं, उससे विपरीत भावको प्राप्त

होते हैं, परन्तु परमात्मा कभी विपरीत भावको प्राप्त नहीं होता, बिलकुल एकरस रहता है।

बोले—भाई, एकरस तो है, लेकिन निकृष्ट होवे तो? जैसे, देखो काल है, मास-पर-मास बीता, सम्वत्सर बीते, मन्वन्तर बीते, प्रलय बीते, काल तो रहता है, नित्य है काल। पर क्या सर्वोत्तम है काल? बोले—काल सर्वोत्तम नहीं है, वह लोगोंको एक ओर दण्ड देता है तो दूसरी ओर मारता है। मारण क्रियाका हेतु भी काल है। इसलिए काल अव्यय होनेपर भी सर्वोत्तम नहीं है परन्तु परमात्मा अविनाशी भी है और सर्वोत्तम भी है। कोई सर्वोत्तम तो होवे, लेकिन थोड़े दिनोंके लिए सर्वोत्तम होवे, तो? बोले—मर जायेगा तो कैसे बनेगा? तब? कि अव्यय भी होवे। अव्यय भी होवे और सर्वोत्तम भी होवे।

अब **परं भाव**का अर्थ देखो। परं भावका अर्थ है परम् सत्ता। भाव माने सत्ता।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७.७

'मत्तः परतरं नान्यत्'—यह जो भगवान्ने कहा, यही भावकी-परमरूपता है। इस भावको न जाननेके कारण ही ये लोग भगवान्की शरण नहीं लेते हैं। कभी किसीकी, कभी किसीकी, कभी इनकी, कभी उनकी शरण लेनेके कारण उनको मृत्यु आदि वस्तुएँ मिलती हैं, छोटा-मोटा फल मिलता है और बुद्धि भी छोटी चीज़में लगनेसे नष्ट हो जाती है। इसलिए मनुष्यको भगवद्भजन ही करना चाहिए। भगवान्का ही भजन करना चाहिए, यह सिद्धान्त निष्पन्न हुआ। ज्ञानी होकर भजन करो, निष्काम भजन बहुत अच्छा! परन्तु सकाम भजन भी ज्ञानके लिए करो, आर्ति निवारणके लिए करो, अर्थकी प्राप्तिके लिए करो—लेकिन भजन भगवान्का ही करो—यह बात बिलकुल पक्की है। भगवान्के सिवाय दूसरेका भजन नहीं करना चाहिए।

❖

२५. भगवान् सबके प्रति अपना अवतार-रहस्य प्रकट नहीं करते

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ ७.२५॥

अर्थ :—मैं योगमायासे अपने स्वरूपको छिपाये रखता हूँ, अतः सबके प्रति मैं प्रकाशित नहीं होता। मूढ़ लोग मेरे अज, अव्यय स्वरूपको नहीं पहचानते (मुझे साधारण मनुष्य ही जानते हैं)॥२५॥

: २५.१ :

योगमाया समावृतः

भगवान्ने बताया कि लोग मेरे अनुत्तम अव्यय परमभावको नहीं जानते, इसी अज्ञानके कारण जो मूर्खता, जो भ्रान्ति उनके जीवनमें आती है, उस अज्ञानजन्य भ्रान्तिके कारण मुझे परमात्माके रूपमें नहीं पहचानते, मुझे व्यक्तिके रूपमें जानते हैं मानो मैं कोई कर्मके अनुसार शरीरको ग्रहण करनेवाला जीव होऊँ और मुझे न पहचाननेके कारण ही वे मेरी भक्ति नहीं करते और मेरी जगह देवताओंकी भक्ति करते हैं और देवताओंकी भक्ति करके विनाशी फल प्राप्त करते हैं और मुझसे वंचित ही रह जाते हैं, कामके ही चक्करमें रह जाते हैं, उन्हें रामकी प्राप्ति नहीं होती।

अब यह प्रश्न उठा कि जब भगवान् इतने प्रकट हैं, तो लोग उन्हें पहचानते क्यों नहीं? पहले लोगोंके प्रसंगमें यह बात बतायी थी—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ ७.१३

वहाँ बताया कि यह त्रिभिर्भाव ही उपाधि है और उपाधिमें फँसे हुए होनेके कारण लोग निरुपाधिक स्वरूपको नहीं जानते।

विलायतमें कोई सज्जन थे। उन्हें एक महिला बहुत प्रिय लगी। उन्होंने उससे जान-पहचान किया, उनके साथ उठने-बैठने लगे, हँसी-खेल होने लगी। फिर थोड़े दिनोंके बाद महिलाके मनमें उनके प्रति बड़ी करुणाका उदय हुआ कि यह कैसे भूले हुए लोग हैं। एक दिन उन्हें अपने घर बुलाकर ले गयीं और उनसे पूछा कि आखिर मेरे शरीरमें तुमको क्या अच्छा लगता है? बोले—बाल तुम्हारे बहुत सुन्दर हैं।, तो उन्होंने कहा कि ये तो नकली हैं मैंने ब्यूटी हाऊसमें बनवाया है और इतनेमें बना है और उतारकर उन्होंने अलग रख दिया। बोले—अच्छा, और तुम्हें मेरे शरीरमें क्या अधिक पसन्द आता है? तो बोले—तुम्हारे दाँत बड़े चमकदार हैं। सो उन्होंने दाँत निकालकर तश्तरीमें उनके सामने रख दिया। बोली—ये तो नकली हैं भला! अब यह शरीरका रंग? बोले—यह तो पालिश किया हुआ है। तो मनुष्य कहाँ फँसा? बनावटी बालमें फँसा, नकली दाँतमें फँसा, पालिशके रंगमें फँसा।

वासुदेव सार्वभौम उन भगवान्का नाम है और वह सगुण साकार भगवान् सामने ही प्रकट हैं, उनको न पहचाननेका क्या हेतु है? श्रीकृष्ण भगवान् हैं, यह बात तो सबकी समझमें आ जानी चाहिए। क्यों? कि जन्मके समय कंसके कारागारमें जो नारायणके रूपमें ही प्रकट हुए, अपना जो वैकुण्ठस्थ ऐश्वर्य रूप है, उसीको उन्होंने जेलखानेमें प्रकट किया और श्रीवत्स वक्षःस्थलपर, कौस्तुभ मणि गलेमें, घुटनेतक लम्बी बनमाला, सिरपर किरीट और कुण्डल दिव्य उपकरण धारण किये हुए ही प्रकट हुए। भगवान्के सिवाय ऐसा दूसरा कौन हो सकता है? और फिर हाथमें शंख, चक्र, गदा, पद्म, चतुर्भुज। फिर समय-समयपर देखा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण गरुड़पर बैठकर कहीं-कहीं आते-जाते हैं। पारिजात-हरणके प्रसंगमें स्पष्ट ही यह बात देखी गयी कि भौमासुरका वध करनेके लिए प्राग्ज्योतिषपुरमें गरुड़पर बैठकर सत्यभामाके सहित गये। गोवर्धन धारणके प्रसंगमें यह देखनेमें आया कि स्वयं कामधेनुने और इन्द्रने आकर उनका अभिषेक किया। देवता, दैत्य कोई उनका मुकाबला कर नहीं सकता, दिव्य लीला उन्होंने प्रकट की। सम्पूर्ण अवतारोंके शिरोमणि, सम्पूर्ण लोकोंका उद्धार करनेके लिए पृथिवीमें अवतीर्ण, निरतिशय सौन्दर्य माधुर्य ऐश्वर्यके

सार-सर्वस्व, ऐसी इनकी मूर्ति, बाल-लीलामें ही जिन्होंने ब्रह्माको मोहित कर लिया और जिन्होंने पारिजात-हरणके प्रसंगमें इन्द्रको जीत लिया, बाणासुरके युद्धमें जिन्होंने शंकर भगवान्‌को जीत लिया, सम्पूर्ण सुरासुरके विजयी श्रीदामादि, सुदामा आदि जो बड़े गरीब ब्रह्मण, उनको परम वैभव देनेवाले, सोलह हजार महलोंमें एक साथ सोलह हजार रूप धारण करके रहनेवाले, महामहिमा युक्त, नारद, मार्कण्डेय, महामुनि व्यास आदि जिनकी स्तुति करते हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट रूपसे प्रकट हैं, उनको यदि कोई मनुष्य समझता है या उनको जीव समझता है तो—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। ९.११

केवल मनुष्यके समान शरीरका संस्थान होने मात्रसे ही यदि कोई उनको मनुष्य अथवा जीव मानता है, तो कैसे मानता है? यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है। श्रीकृष्ण तो इतने स्पष्ट इतने प्रत्यक्ष भगवान् हैं कि कोई अबुद्धि-से-अबुद्धि हो, मूर्ख-से-मूर्ख हो, तो भी उनको भगवान् माने! और फिर भी **अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः** ७.२४ मूर्ख लोग उनको व्यक्ति मानते हैं कि ये भी कर्मके अनुसार शरीर धारण करके आये हैं, ये भी पहले स्थूल शरीरसे रहित कोई जीव लोक-लोकान्तरमें थे और अब स्थूल शरीर धारण करके कर्मानुसार आये हैं। ऐसा जो मानता है वह कैसे मानता है? यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है।

भगवान् बोले—भाई, न पहचाननेमें सर्वथा दोषी जीव ही है सो बात नहीं है, थोड़ा मेरा भी हाथ है और थोड़ी उसकी मूढ़ता है। माने भगवान् जब कृपा करते हैं, अपनी पहचान देते हैं तब न मनुष्य उनको पहचाने।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

जब अनादि कालसे अर्जित सुकृत होवें और उन सुकृतोंके साथ पर्यावरण होवे जो हृदयको पवित्र बनावे, शुद्ध बनावे; सद्‌गुरुकी, आचार्यकी करुणा होवे; स्वयं भगवान् प्रसन्न होकरके मनुष्यके हृदयमें प्रकट होवें, उसकी आँखोंमें ऐसी योग्यता दें कि वह उनको पहचान सके; तब कोई भगवान्‌को पहचान सकता है। कोई अपनी बुद्धिके बलसे, कोई आँखमें खुर्दबीन लगाकर चाहे कि हम भगवान्‌को पहचान लेंगे, तो खुर्दबीनसे भगवान् नहीं पहचाने जाते, दूरबीनसे नहीं पहचाने जाते, बुद्धि बहुत अधिक

होनेसे भगवान् नहीं पहचाने जाते। वे तो कहते हैं हम स्वयं छिपकर बैठते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

भाई! मैं अपने भक्तके सामने प्रकट होता हूँ, सबके सामने प्रकट नहीं होता हूँ। तो अभिप्राय इसका यह समझो। सबका अर्थ यह है कि जो भजन करनेवाला होवे, भगवान्‌के लिए व्याकुल होवे, उनका नाम लेकर पुकारे, प्रीतिपूर्वक उनका अनुध्यान करे, सच्चा जिज्ञासु होवे, सच्चा प्रेमी होवे तब तो भगवान् उसके सामने प्रकट होवें और नहीं तो जने-जनेके सामने उनको प्रकट होनेकी क्या गर्ज पड़ी है? बोले—महाराज, प्रकट होनेकी गर्ज तो नहीं पड़ी है, लेकिन यह छिपनेकी क्या गरज पड़ गयी? छिपते क्यों हो? तो—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

क्या-क्या आश्चर्यजनक भाव उसमें-से महापुरुषोंने निकाला है। श्रीशंकराचार्यजी महाराज कहते हैं कि योगमाया समावृत—मैंने अपनेको योगमायासे समावृत कर लिया है। तो योगमाया शब्दका उन्होंने दो अर्थ किया। एक अर्थ तो उन्होंने यह किया कि योग माने युक्ति, गुणोंकी घटना। माने संसारमें जो सत्त्व-रज-तम इन गुणोंकी जो घटना है यही योग है। माने अघटित-घटना-पटीयसी महामाया जो विचित्र-विचित्र प्रकारके दृश्य प्रकट कर रही है, इन दृश्योंके बीचमें वैसा ही बनकर मैं छिप गया हूँ। इसमें अनिर्वचनीय जो महामाया है योगमाया है उसीको मैंने अपना पर्दा बनाकर अपनेको ढक लिया है, वह पर्दा ओढ़ लिया है। **योगमायासमावृतः।**

दूसरा अर्थ उन्होंने योगमायाका किया कि योग माने चित्तका समाधान। समाधान माने भगवान्‌का संकल्प। समाधानका अर्थ है अपने संकल्पको भगवान्‌ने ऐसा बनाया कि वे अपने ऊपर कोई पर्दा न होनेपर भी, अपने ऊपर कोई ढक्कन न होनेपर भी एक अनहुआ-सा पर्दा, एक अनहुआ-सा आवरण बनाकर अपने आपको ढँक लिये हैं। बोले—भाई, भगवान् प्रकट होनेपर भी क्यों पहचानमें नहीं आते? बोले—उनका

संकल्प ही ऐसा है, भगवान् ऐसा संकल्प करके बैठे हैं कि सब लोग मुझे न पहचानें! लोगोंको विवेक होवे कि ईश्वर कैसा है; फिर ईश्वरके सिवाय दूसरोंसे वैराग्य होवे, वैराग्य होनेके बाद शमदमादि सम्पत्ति आवे; तब प्रपंचसे मुमुक्षा होवे; फिर वे गुरुकी शरण लेकर श्रवण करें, एकान्तमें बैठकर मनन करें, फिर अपने चित्तको ध्यानस्थ करें, ध्यानकी चेष्टामें संलग्न करें; और फिर साध्य-साधनके क्रममें उनकी योग्यता ठीक बने और फिर 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य जन्य वृत्तिके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होवे; और तब मुझसे एक होकर ऐक्यके ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होवे; और मुझसे एक होकर खुश होवें। भगवान्का संकल्प यह है कि बिना विवेकके, बिना वैराग्यके, बिना शमदमादि सम्पत्तिके, बिना मुमुक्षाके, बिना सद्गुरूपसत्तिके, बिना श्रवण-मननके लोग मुझे न जानें। क्योंकि जब साधन करके मुझे जानेंगे और साधन करके मुझे पहचानेंगे तो उसके बाद वे ऐसे योग्य होंगे कि मेरे पास बिलकुल एक होकर रहेंगे। अधिकारी बन-बनकर लोग मुझे प्राप्त करें। यह जो भगवान्की लीला चल रही है, यह जो भगवान्की संकल्पमयी लीला है, उसीके कारण वे ढके हुए हैं।

बोले—महाराज, अनधिकारीको ही क्यों नहीं मिल जाते? ऐसी कृपा करो कि सब अनधिकारियोंको ही मिल जाये। देखोजी अधिकारी उसको कहते हैं कि जो फल-कालमें फलको अपने पास रख सके। जैसे देखो, कोई खेत है; उसपर आपने जबरदस्ती चढ़ाई कर दी और जोत लिया, और जोतकर उसमें बीज डाल दिया, वह बहुत बढ़िया उगेगा, चने निकलेंगे, उसमें गेहूँ फलेंगे, ठीक है; लेकिन जब वह खेत काटनेका समय होगा तो जो खेतका असली मालिक होगा, वही उस फले हुए गेहूँका अधिकारी होगा। जिसने अनधिकार चेष्टा करके उसमें गेहूँ बो दिया है वह उस गेहूँका अधिकारी नहीं हो सकता। यह जो तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य ज्ञान है, यह ज्ञान अगर अनधिकारी प्राप्त करेगा, तो भले यह अन्त:करणमें जोड़ दे, लेकिन जबतक अन्त:करण उसके काबूमें नहीं है, जबतक मन उसके वश में नहीं है, वासनाएँ निवृत्त नहीं हैं, जबतक श्रवण-मननादि ठीक रीतिसे नहीं हुआ, सद्गुरुकी कृपासे सम्प्रदायकी

रीतिसे जबतक वह ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तबतक ब्रह्मनिष्ठा होगी नहीं और ब्रह्म निष्ठा नहीं होगी तो अनधिकारीके द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान भी फलोपलब्धि पर्यन्त नहीं जायेगा, बीचमें ही उसका अन्त:करण खुल जायेगा। इसीलिये पशु भी तत्त्वमस्यादि सुनता है, पक्षी भी तत्त्वमसि सुनता है, अनधिकारी भी तत्त्वमसि सुनता है, लेकिन किसीको ब्रह्मनिष्ठा नहीं होती। ब्रह्मनिष्ठा क्यों नहीं होती? कि वह अनधिकारी है। फलपर स्वामित्व उसका नहीं है, माने ब्रह्मज्ञान होनेके अनन्तर जो निष्ठा होनी चाहिए वह निष्ठा अनधिकारीको प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए भगवान् **योगमायासमावृत्त**: अपनेको योगमायासे ढके रहते हैं—**योगायसाधनानिष्ठाय या माया तया समावृत:।** साधनानुष्ठान करवानेके लिए जो माया है उस माया से वे ढके रहते हैं।

हमको अपने बचपनकी याद है। हमारे एक चाचा हमको बहुत खेलाया करते थे। खेलाते-खेलाते बगीचेमें या घरमें कहीं छिप जाते थे, तो छिप जानेपर कई स्थिति होती थी—या तो हम रोने लगते थे, कि कहाँ चले गये, या तो कोई खिलौना लेकर खेलने लगते थे और या सोचते थे कि अच्छा हुआ चले गये, अब चोरीसे जो चीज़ खानेकी थी खा लेंगे और कभी ढूँढ़ने लगते थे कि कहाँ छिपे हैं?

तो यह जो ईश्वर हमलोगोंके सामनेसे छिपा हुआ है उसमें अपनी स्थिति देखो; कुछ लोगोंने तो सोचा कि भला ईश्वर कहाँ है, आओ चोरीका माल खायें। अरे **योगमाया समावृत**: वह तो खम्भेकी आड़में छिपा हुआ है। देख रहा है कि यह हमारी अनुपस्थिति समझकर चोरीका माल खा रहा है।

दूसरा कोई ऐसा हुआ महाराज, कि उसको मिल गया खिलौना—स्त्री, पुत्र, मित्र अब उनसे खेलने लग गया! ईश्वर देखता है कि भाई, इनको हमारी जरूरत नहीं, अपने रंगमें मस्त है।

तीसरा कोई बुद्धिमानीसे ढूँढ़ने लग गया। तो ढूँढ़नेमें क्या होता है कि जब पता लग जाता कि इधर छिपे हुए हैं चलो ढूँढ़नेके लिए तो उधरसे हटकर वे दूसरी ओर हो जाते, अच्छा फिर तीसरी तरफ हो जाते फिर कभी पीछे आ जाते। अब देखो ढूँढ़नेमें क्या होता कि यहाँ ढूँढ़ो, वहाँ ढूँढ़ो, जबतक थका नहीं लेते तबतक मिलते नहीं। ढूँढ़नेमें थकना जरूरी है।

श्रीयामुनाचार्यजी महाराज कहते हैं कि ब्रह्मा आपकी स्तुति करें और हम आपकी स्तुति करें, तो आप पहले किसको मिलेंगे? तो उत्तर देते हैं कि ब्रह्माको सारे वेदोंका ज्ञान है, चार मुख हैं, अपरिमित शक्ति है, वे अपने जीवन भर आपकी स्तुति करते रहें; लेकिन हमारी तो शक्ति अल्प है, मुख अल्प, ज्ञान अल्प, हम थोड़ी देर खोजकर जब बेहोश होकर गिर जायेंगे तो आपको पहले दौड़कर मुझे ही उठाना पड़ेगा। पहले ब्रह्माकी ओर भगवान् नहीं जायेंगे, पहले हमारी ओर आयेंगे।

योगमाया समावृतःका दूसरा अभिप्राय देखो। योगमायाका अभिप्राय है—भगवान् यह सृष्टि काहेके लिए करते हैं? यह भक्तोंका भाव है देखो, एक बात सुनाते हैं। इसको आप श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजका भाव समझो, उनकी टीका श्रीमद्‌भगवद्‌गीतापर उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु इस भावकी आप टीका समझ लो, कैसे? कि यह सृष्टि किसलिए बनायी गयी है? बोले—**क्रीडार्थमात्मानः इदं त्रिजगत कृतन्ते।** भगवान्‌ने खेलके लिए यह सृष्टि बनायी है। **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**—इस सूत्रसे भी सिद्ध है कि भगवान् कभी लीला करते हैं, कभी कैवल्यमें स्थित होते हैं। कभी अकेले रहते हैं, जब कभी उनकी मौज होती है, उनकी मौज होती है तो खेल कर लेते हैं। जैसे महात्मा लोग कभी भक्तोंमें आजाते हैं और कभी एकान्तमें बैठकर ध्यान-समाधि लगाते हैं, ऐसे भगवान् भी खेल करते हैं, कभी उनको एकान्तमें ध्यान-समाधि लगाना, कभी कबड्डी खेलना अच्छा लगता है। नारायण कहो, यह तो खेलकी बात है। तो यह सृष्टि भगवान्‌ने बनायी खेलके लिए। तो खेल-खेलमें विशेष रसकी उत्पत्तिके लिए जो लीलामें स्थित जीव हैं, उन जीवोंके लिए—प्रवाहमें जो जीव हैं उनके लिए नहीं—जो लीलामें जीव हैं उनके लिए विशेष रसदान करनेके लिए भगवान् **योगमाया समावृतः** एक चदरा ओढ़ लेते हैं।

हमको इसका भी स्मरण है, रातका समय, हम बैठे दरवाज़ेपर अकेले। एक आदमी बड़ी भारी लाठी लिये और कम्बलसे अपना शरीर ढके सामने आता हुआ दिखायी पड़ा। डर गया, पता नहीं यह कौन आ रहा है, लाठी लिये, यह बड़ा भारी कम्बल ओढ़े हुए। पास आ गया तो मैंने देखा कि वे तो हमारे घरके ही कोई व्यक्ति थे। अब तो हँसी आगयी, दौड़कर उनके साथ लिपट गये। तो यह भी तो क्रीड़ा हुई न!

रसदानाय। **योगाय शरीराय रसदानाय या माया सा योगमाया**—भगवान् जीवोंको विशेष रसदान करनेके लिए, विशेष संयोग देनेके लिए, विशेष रस देनेके लिए अपनी जो अनन्त लीलाशक्ति है उस लीला शक्तिसे भगवान्-अपनेको समावृत कर लेते हैं, ढक लेते हैं। काहेके लिए? कि रसदान करनेके लिये। अगर भगवान् छिपें नहीं तो कौन पुकारे भगवान्‌को?

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे॥

विरहासक्ति कैसे होवे? प्रभुकी प्राप्तिके लिए व्याकुलता कैसे होवे? और यदि व्याकुलता न होवे, विरह न होवे तो संयोगसे रसकी वृद्धि कैसे होवे? **संयोग पुष्टिमश्नुते** वियोगके बिना संयोग संपुष्ट नहीं होता। अब देखो, वियोग कैसे! गोपियोंके सामने भगवान् खड़े हैं और कह दिया लौट जाओ! प्रेममें, दया में, कोमलतामें जो निष्ठुरता बिलकुल नहीं थी वह निष्ठुरता कैसे प्रकट हुई? बोले, यह निष्ठुरता योगमाया है। अब निष्ठुरतामें कौन-सी योगमाया है? आप पहचान लो इसको कि अगर उस समय भगवान् गोपियोंके आनेपर केवल प्रेम, केवल कोमलता, केवल स्नेह दिखाते तो गोपियोंके हृदयमें कितना प्रेम छिपा हुआ है, वे '**मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्**' के रूपमें प्रकट न होता। लोग कहते कुछ गाँवकी लड़कियाँ थीं वे प्रेम करनेके लिए कृष्णके पास गयीं और उन्होंने उनके साथ रासलीला करनी शुरू कर दी। बोले—नहीं भाई, गोपियाँ तो ऐसी प्रेमिका थीं कि मामूली लड़कियोंके साथ मामूली स्त्रियोंके साथ उनकी उपमा नहीं दी जा सकती, वे तो कहती हैं—

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥ भा० १०।२९।३५

यह बात '**ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते**' केवल श्रीकृष्णको बताया। क्या बताया? कि गोपियाँ हमसे इतना प्रेम करती हैं कि मेरे

वियोगकी संभावनासे ही विरहाग्निसे जलने लगीं। यह जो श्रीकृष्णकी निष्ठुरता प्रकट हुई है, यह निष्ठुरता कोई वियोग नहीं है, परन्तु वियोगकी संभावनासे ही गोपियोंकी यह दशा हुई कि विरहकी आगसे हम अपनेको भस्म कर देंगी। विरहकी संभावना मात्रसे गोपियाँ कितनी व्याकुल हैं और ध्यान करके जन्मान्तरमें भी श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी प्राप्तिके लिए कृतसंकल्प हैं, दृढ़ निश्चय है। यह सुनकर आप सोचो जिस समय मना करनेपर गोपीकी वाणीसे यह भाव प्रकट हुआ होगा उस समय स्वयं भगवान्‌को कितना रस आया होगा।

योगमाया समावृतःका अर्थ है भगवान्‌ने अपनी कोमलता समावृत करके निष्ठुरता जो प्रकट की उस निष्ठुरताको प्रकट करनेमें क्या था? योगमाया। योगमाया माने गोपियोंके हृदयमें सच्ची व्याकुलता, सच्ची लालसा, सच्चा ध्यान, मरणान्तरमें भी श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी लालसा, यह जो तीव्रता है इसको अभिव्यक्ति देनेके लिए भगवान्‌ने अपनी कोमलताको योगमायासे समावृत कर लिया।

अब समझो कि कोमलता तो एक गुण है, वहाँ गुणको समावृत किया और श्रीकृष्णके मिलनकी जो लालसा है वह अभिव्यक्त हुई। सारे श्रीमद्भागवतमें यह बात स्पष्ट रूपमें देखनेमें आती है। यशोदा मैया श्रीकृष्णसे अलग होकर घरके काममें लग जाती हैं, यह देखनेमें आता है—**जगतामासकर्मसु**। अब यह बात दूसरी है कि इनके घरके काम भी श्रीकृष्णकी सेवाके लिए ही, प्रेमरूपसे स्थापित हैं। अच्छा ग्वालबाल भी श्रीकृष्णसे विमुख होकरके अघासुरका शरीर देखने लगते हैं, कहीं वृन्दावनकी शोभा देखने लगते हैं, कभी भोजनमें मग्न हो जाते हैं। लेकिन गोपियाँ जो हैं उनकी दृष्टि कभी कृष्णसे हटी भी तो विषयमें नहीं गयी। कहाँ गयी?

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि। भा०१०.२९.४६

विषयपर नहीं गयी, श्रीकृष्णको छोड़कर दृष्टि अन्यपर नहीं गयी, गयी तो अपने ऊपर गयी। वे स्त्री हैं, कान्ताभाव उनके चित्तमें है, यदि उनकी चित्तवृत्ति दूसरेके ऊपर जाय तो वह कान्ताभावके सर्वथा विपरीत है। दृष्टि अगर उनकी हटी भी तो दूसरेपर नहीं गयी, अपने ऊपर गयी।

इसलिए उनका पातिव्रत्य, उनका अव्यभिचारी भाव ज्यों-का-त्यों बना रहा, क्योंकि—

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि। भा० १०.२९.४७

परन्तु आत्मनिष्ठ दृष्टि भी भगवान्‌को स्वीकार नहीं हुई। भगवान् अन्तर्धान हो गये काहेके लिए? कि **योगमाया समावृतः** योगमायाका समावरण है। आत्मनिष्ठ माने त्वं पदार्थ प्रधान दृष्टि। इसी श्लोककी टीकामें महापुरुषोंने कहा कि तत्पदार्थको छोड़कर जो त्वं पदार्थ प्रधान दृष्टि है वह भगवान्‌को स्वीकृत नहीं है, वह तो साइंसका मत है, बल्कि वह तो अवैदिक है। जब तत्पदार्थ और त्वं पदार्थ दोनोंमें रहनेवाला जो एक पदार्थ है, ऐक्य रतिका जब उदय होता है, तो उस ऐक्य रतिको तो श्रौत कहते हैं; लेकिन तत्पदार्थको पृथक् छोड़कर केवल त्वं पदार्थमें होनेवाली जो रति है वह अवैदिक है, वह अश्रौत है।

अब वहाँ भगवान्‌ने क्या योगमायाकी रचना की? अन्तर्धान हो गये। अब भगवान् कहीं गये? बोले—गये बिलकुल नहीं। गोपियोंने जब अनुसन्धान किया, तो बड़ी लम्बी यात्रा उन्होंने की—वृक्षोंसे पूछा, पृथिवीसे पूछा, हरिणियोंसे पूछा, वनाद् वनं—एक वनसे दूसरे वनमें गयीं, तो भगवान् गये नहीं थे। यह भगवान्‌का चरणचिह्न है और यहाँ पुष्पचयन किया है, यहाँ उनके साथ कोई दूसरी स्त्री है, यह सब अनुभव कैसे हुआ? यह महाराज, विरहके कारण जो उनका चित्त व्याकुल हो गया था, उस व्याकुलतासे ही उनको ऐसा अनुभव हुआ। स्वयं भगवान् उनके साथ—नृत्यके समय किसी गोपीकी ओढ़नी जो गिर गयी थी, उसको भगवान्‌ने उठाया, स्वयं घूँघट काढ़कर ओढ़ लिया और उन्हींके बीचमें, उनके स्वरमें स्वर मिलाकर रो रहे हैं। उनके साथ-साथ चलें, उनके साथ-साथ वृक्षसे पूछें, लतासे पूछें, उनके साथ-साथ वनसे वनमें जायँ! और यह सब लीला जो हुई, बोले—हमारे विरहमें, हमारे वियोगमें देखो, गोपियाँ कैसी हो रही हैं, इनके चित्तकी क्या दशा हो रही है। देखो यह बात निकलती कहाँ से है? यह बात निकलती यहाँसे है कि जब भगवान् प्रकट हुए तो कहाँसे आये? बताओ। कदम्बके वृक्षपर-से उतरकर आये? कि यमुनाजीकी जलधारामें-से निकलकर आये, कि कहीं वटकी ओटमें

छिपे हुए थे वहाँसे आये? कहीं एक कदम भी चलते हुए दिखायी पड़े? बोले—नहीं—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः। भा० १०.३२.२

तासां मध्ये इव आविर्भूत, मण्डल गोपियोंका बनकर—**जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि**—यह जो गोपियाँ प्रेमसे भरकर अपने हृदयका संगीत प्रकट कर रही थीं न, उन्हीं गोपियोंके मण्डलमें, मध्यमें-से ही निकल आये। **तासां आविर्भूत शौरिः** प्रकाशमान हुए बहुत तेजस्वी थे। तेजस्वी क्यों? बोले—रोज मैं तुमसे विनती करता था गोपियों, आओ नाचें हँसें खेलें, सो तुमलोग रोज हमको रुकाया करती थीं, अब बड़े शौरि—बड़े प्रकाशमान, सूर्यनन्दन भगवान् **स्मयमान मुखाम्बुजः**—मुखचन्द्र खिला है, माने हमने तुमलोगोंके साथ कोई छल नहीं किया, कोई कपट नहीं किया, कोई कहीं गया नहीं। आज तो तुमलोगोंके हृदयमें जो छिपा हुआ प्रेम था, उसको बाहर करके, मूर्तिमान करके मैंने उसका आस्वादन किया,

योगमाया समावृत :।

यह योगमाया संयोगमाया है। संयोगमाया समावृताः तुमलोगोंके साथ संयोग करनेकी हमारी जो इच्छा है न, जो नृत्य करनेकी इच्छा है, उसीकी यह माया, उसीकी यह रचना है, उसीसे भरकर मैं प्रकट हुआ। **पीताम्बरधरः**—माने पीताम्बर हाथमें ले लिया था। संस्कृत साहित्यकी मर्यादा है यह कि यदि भगवान्‌को पीले वस्त्रवाला कहना हो तो बहुव्रीहिके अनुसार केवल पीताम्बरः कहना चाहिए, पीताम्बरधरः नहीं कहना चाहिए। पीतं अम्बरं यस्य सः पीताम्बरः। पीताम्बर भगवान् प्रकट हुए—ऐसे बोलना चाहिए। बोले—नहीं, पीताम्बरधारी भगवान्‌का अर्थ यह है कि वह जो ओढ़नी ओढ़ ली थी न, उसको तो गिरा दिया और जो काँखके नीचे अपना पीताम्बर गिराया हुआ था, उसको निकालकर हाथमें ले लिया। विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि गलेमें डालकर पीताम्बर, दोनों हाथसे पकड़ लिया, जैसे कोई अपराधी जैसे कोई कर्जदार अपने मालिकके पास हाथमें अपना दुपट्टा लेकर क्षमा माँगनेके लिए जाय। ऐसे गोपियोंके सम्मुख प्रकट होकर श्रीकृष्ण बोले—गोपियो, तुमको कष्ट तो बहुत हुआ, लेकिन मुझे बहुत मजा आया। अब बताओ दोनोंमें-से कौन तुमको पसन्द है? कि हमको मजा

आया और तुमको कष्ट हुआ, तो यह बात तुम्हारे लिए सुखप्रद है कि नहीं? अपनेको कोटि-कोटि कष्ट देकरके भी प्रेमी लोग अपने प्रियतमको लेशमात्र सुख या सुखाभास पहुँचानेके लिए भी तैयार रहते हैं। गोपियो, आज तो हमको वह मजा आया जो कभी नहीं आया था, हमारे अनादि अनन्त जीवनमें यह लीला तो कभी देखनेको नहीं मिली कि हम अपने विरही भक्तोंके साथ-साथ होवें और वे हमें कैसे ढूँढ़ते हैं, कैसे व्याकुल होते हैं, उनके हृदयमें हमारे प्रति कितनी प्रीति होती है? अब जो भगवान्‌का वहाँ अन्तर्हित होना है, अन्तर्धान होना है वह क्या है? **योगमाया समावृत :**—यह योगमाया समावृत है, माने योगकी मायासे समावृत होकर ही भगवान् **नाहं प्रकाशः सर्वस्य** सबके सम्मुख नहीं हो रहे हैं।

ऐसा समझो कि आर्तके सामने भी भगवान् प्रकट होते हैं,गजेन्द्र आदिके सामने, अर्थार्थीके सामने भी भगवान् प्रकट होते हैं—ध्रुवादिके सामने, उद्धवादिके सामने भी, माने जिज्ञासु भक्तोंके सामने प्रकट होते हैं। नारदादि जो हैं, सनकादि जो ज्ञानी भक्त हैं उनके सामने भी भगवान् प्रकट होते हैं। महाभारतके नारायणोपाख्यानमें यह प्रसंग आया है। भगवान्‌ने साफ बताया कि ये जो एकतः ऋषि हैं, ये जो द्वित्व ऋषि हैं, ये जो त्रित् ऋषि हैं, ये देखो **पश्यन्ति न पश्यन्ति**—इनको हमारा दर्शन नहीं हो रहा है। नारद, ये हमारे एकान्तिक भक्त नहीं हैं और तुम हमारे एकान्तिक भक्त हो, इसलिए तुमको हमारा दर्शन हो रहा है। तो उनके सामने तो माया प्रकट हो रही है और तुम्हारे सामने मैं प्रकट हो रहा हूँ।

हम तो लीलाके लिए छिपते हैं और लीलाके लिए प्रकट होते हैं। लेकिन ये जो देवताओंके उपासक हैं, ये जो सकाम होकर भगवान्‌के उपासक होवें, तब तो भगवान् उनके सामने प्रकट हो जाते हैं। सकाम होवें तो भी, निष्काम होवें तो भी; क्योंकि सकामता और निष्कामताकी मर्यादा यह है कि सारी कामना चाहे कोई भी हो, जब भगवान्‌के द्वारा पूर्ण होती है, तो कामना मिट जाती है और भगवान् रह जाते हैं और निष्काम प्रेम होवे तब तो कहना ही क्या! उसमें तो भगवान् प्रकट होते ही हैं। लेकिन जो सकाम होकरके भगवान्‌की उपासना नहीं करते, देवतान्तरकी उपासना करते हैं वे मूढ़ हो जाते हैं। मूढ़ हो जानेके कारण क्या होता है? कि—

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।

उधर तो भगवान्‌की लीला और इधर आगया महाराज, मूढ़। माया उधर है और मोह इधर है। यह देखो, वेदान्ती लोग बोलते हैं—एक ओर अविद्या है और एक ओर माया है। **योगमाया समावृत:**। भगवान्‌की ओर योगमाया और जीवकी ओर **मूढोऽयं नाभिजानाति**—अविद्या।

हमारे शंकरानन्द नामके गीताके जो टीकाकार हैं वे तो **योगमाया समावृत:** को भी भगवान्‌के ऊपर नहीं लगाते। वे तो कहते हैं—**योगमाया समावृत: अयं मूढो लोका:**। योगमाया समावृत: लोकका विशेषण है, यह भगवान्‌का विशेषण नहीं है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको **मामजमव्ययम्**।

ये मोहग्रस्त लोग जो हैं वे मुझ अजन्मा अव्ययको पहचानते नहीं हैं। **अभिजानाति**का अर्थ जानातिसे विलक्षण है। गीतामें भी जानाति और अभिजानाति दोनोंका प्रयोग है भला!

भक्तया मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ १८.५५

अभिज्ञान और ज्ञान। शाण्डिल्यने इसकी मीमांसा की है कि अभिज्ञान शब्दका अर्थ ज्ञानकी अपेक्षा कुछ विलक्षण होता है। जाना हुआ तो हो और सामने भी हो, लेकिन पहचान नहीं रहे हैं यह **लोकोऽयं नाभिजानाति।**

अच्छा, इस प्रसंगको अब फिर कलके लिए रखते हैं।

: २५.२ :

मूढोऽयं नाभिजानाति

नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

अहं सर्वस्य प्रकाश: ना। किन्तु केचिद् भक्तानां प्रकाश:। मैं सबके सामने प्रकट नहीं होता हूँ, किन्हीं-किन्हीं भक्तोंके सामने ही प्रकट होता हूँ। देखो, भगवान् हैं सब, सर्वत्र और सर्वदा, परन्तु प्रकट होते हैं किसी-किसीके सामने; सबके सामने नहीं। माने अपना सर्व रूपत्व, अपना सर्व कामित्व, अपना सार्व देशिकत्व सबके सामने प्रकट नहीं करते—**अन्तर्बहिश्च तत् सर्व हि व्याप्य नारायण स्थित:**। बाहर भी वही भीतर भी वही। **अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यम्**—अपने इस रूपको प्रभु सबके सामने प्रकट नहीं करते हैं। तब यह प्रश्न उठा कि सबके सामने क्यों प्रकट नहीं करते हैं? इसका अर्थ मूलपर लगा लो।

सर्वस्य क़थं न प्रकाशनम्? सबके सामने क्यों भगवान् प्रकट नहीं हैं? तो बोले—**योगमाया समावृता:**—यह भगवान्‌का ही विशेषण है। कल अन्तमें शंकरानन्दजीकी जो व्याख्या सुनायी थी, वह दूसरे ढंगसे है। भगवान् ही योगमायासे अनावृत होते हैं और योगमायासे समावृत होते हैं—

क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगम:। भा० १०.८७.१४

कभी वे अपनी लीला शक्तिसे खेल करते हैं और कभी शान्त हो जाते हैं। सृष्टिकी रचना भी उनकी एक लीला है और शान्त होकर शयन करना भी उनकी एक लीला है। **वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रित:** भा० १०.२९.१

यह भी योगमायाका उपाश्रयण ही है; और जब भगवान् अन्तर्धान होते हैं तो वह योगमायाका समावरण है।

यह योगमाया क्या है? संसारके लोग नासमझ हैं वे नहीं समझते कि भगवान्‌का भजन करनेसे क्या लाभ है, और भगवान्‌का भजन न करनेसे क्या

हानि है? भजन नहीं करोगे तो भगवान् तुम्हारे सामने सर्व होते हुए भी अं
सर्व देशमें होते हुए भी और सर्वकालमें होते हुए भी और अपना आत्मा हं
हुए भी प्रकट नहीं होंगे। भजन करनेवालोंको योगमायाका पर्दा हटाव
भगवान् मिलते हैं; और जो भजन नहीं करते हैं उनको भगवान् नहीं मिल
हैं। इसलिए अनुकूल जीवोंको अपनी ओर लानेके लिए और प्रतिकू
जीवोंको संसारमें रखनेके लिए योगमाया है। भजनमें जो वर्तमान काल
सुख है और परिणाममें सुख है और जो भगवत् प्राप्ति है, उस भजनव
विशेषता दिखानेके लिए भगवान् योगमायाका पर्दा ओढ़कर बहुत बढ़ि
लिहाफ, बहुत बढ़िया चद्दर मायाकी ओढ़कर अपनेको ढँककर रखते हैं
यह **योगमाया समावृतः** की व्याख्या है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ ७.२६

मैं सबको जानता हूँ; परन्तु मुझको कोई जान नहीं सकता। य
योगमाया समावरण है और—

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।

इसमें यह मूढ़ताकी व्याख्या क्या है? बोले—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ ७.२७

और जो भगवान्‌को पहचानते हैं, उनकी व्याख्या क्या है? तो,

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ ७.२८

पहचाननेवालेकी पहचान वह है और न पहचाननेवालेकी पहच
है—'इच्छाद्वेषसमुत्थेन'। और भगवान्‌की योगमाया क्या करती है, व
बताया हुआ है—'वेदाहं समतीतानि'।

अब आप एक ब्रजकी बात सुन लो; क्योंकि यह गीता कुरुक्षेत्रको
ब्रजभूमि बना देती है। गीता ऐसा संगीत है कि कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें भी बाँसु
बज उठे। उपनिषदें हैं गाय और दोहनेवाला गोपालनंदन। अब समझो f
सैंकड़ों-हजारों उपनिषदें गायका रूप धारण कर खड़ी हैं और उनके नी
बछड़ा बनकर सब उपनिषदोंको अर्जुनरूप वत्स है और यह गोपालनन्

महाराज, गोपाल नहीं, गोपालनंदन है यह। गोपालनंदन कहनेमें जो अवस्थाका माधुर्य है वह सूचित होता है। वह तो कृष्णके लिए 'गोपाल' शब्द तो चलता ही है सर्वत्र। गोविन्द गोपाल यह तो कृष्णका ही नाम है न। अब गोपालनन्दनः कहनेका अर्थ क्या हुआ? गोपाल शब्द तो हो गया जातिवाचक और नन्दन शब्द हो गया किशोरका वाचक। माने यह हैं ब्रजयुवराज, यह ब्रजराजकुमार। ब्रजराज नहीं, ब्रजराजकुमार। ब्रजराज तो नन्द हैं। यह ब्रजराजकुमार जो हैं, किशोर साँवरा, सलोना, हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ भुजदंड, भरापूरा शरीर—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥
भा० १०.२९.३९

ऐसा जो यह गोपालनन्दन है न, वह उपनिषद्‌रूपी गायोंको दूह रहा है और अर्जुन बछड़ा बना हुआ है और **दुग्धं गीतामृतं महत्।** दूध क्या है? अरे दूध नहीं है बाबा, अमृत है यह। क्षीरसागरका मन्थन करनेसे अमृत निकलता है और यहाँ उपनिषद् सुधासागरका मन्थन करके स्वयं भगवान् अमृत निकालते हैं। कुरुक्षेत्रमें भी ब्रजभूमिकी शोभा प्रकट की—क्योंकि गाय जहाँ दुही जाये वह तो ब्रज है सो ऐसी शोभा प्रकट की।

ब्रजवाले योगमाया शब्दका अर्थ तीन प्रकारसे करते हैं। एक तो समझो कि कंसके कारागारमें भगवान् प्रकट हुए, वसुदेवने देखा, देवकीने देखा। देवता लोग भगा दिये गये थे सब वहाँसे, उन्हें प्रकट होते समय किसीने नहीं देखा—

ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्। भा० १०.२.४२
अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः॥ भा० १०.३.१

वह काल ही तब आया जब देवता लोग चले गये। भगवान्‌के प्राकट्यका काल कहाँ? कि ब्रह्मा जहाँ हैं वह काल नहीं है, ईशान जहाँ है वह काल नहीं है, इन्द्र जहाँ हैं वह काल नहीं है। **अथ सर्वगुणोपेतः कालः** जब देवता लोग लौट गये, तब सर्वगुणोपेत काल आया—संहारगुणोपेत काल नहीं, सर्वगुणोपेत काल आया। माने अन्तरमें जो कोमलता भक्ति आदि गुण हैं उस गुणसे युक्त, भगवद्विषयक रागसे युक्त काल आया और **परमशोभनः** स्वाभाविक था। यह उस समयकी बात है।

वसुदेवको भगवान्‌का दर्शन हुआ, देवकीको भगवान्‌का दर्शन हुआ लेकिन द्वारपालोंका क्या हुआ? बोले—कि द्वारपाल सब सो गये। देखो, भगवान् प्रकट तो हुए परन्तु द्वारपाल सो गये। यह क्या हुआ? बोले— कि भगवान्‌की, **या योगमायाजनि नन्दजायया** भा० १०.३.४७—'योगमाया' शब्दका प्रयोग है। नन्दजायासे जो योगमाया प्रकट हुई थी, वह विमुखजनमोहिनी बनकर आयी और द्वारपालोंपर एकाएक चढ़ बैठी और सब नींदमें सो गये।

भगवान् प्रकट हुए, वसुदेवने देखा, स्तुति की, देवकीने देखा स्तुति की, भगवान्‌ने आज्ञा की कि हमको ले चलो नन्दगोकुल और वसुदेवजी लेकर जब निकले, सारे फाटक खुल गये। भगवान् जिसकी गोदमें होते हैं न, जिसके हृदयमें भगवान्, उसके लिए कोई लौह शृंखला नहीं, उसके लिए कोई फाटक नहीं, उसके लिए **अव्याहत सा गतया**—जहाँ जाना चाहें वहाँ जा सकते हैं।

विमुखजन मोहित हो गये, यह क्या हुआ? यह विमुखजन मोहिनी योगमाया हुई। और वसुदेव-देवकीने दर्शन किया और उनमें वात्सल्य जगा—यह क्या हुआ? कि यह स्वजनमोहिनी माया हुई। अच्छा महाराज मथुरामें तो बड़े-बड़े भक्त थे, वे क्यों नहीं जगते रहे? अच्छा, गोकुलमें तो सब भक्त ही थे, यशोदा भी और नन्दबाबा भी। वे जगते रहते? गोकुलके अन्तःपुरमें जो दासियाँ थीं भगवान्‌की आगे होनेवाली सेविका थीं, दासी थीं—प्रियदासी, वे क्यों नहीं जाग्रत हुई? बोले—भगवान्‌की योगमायाने वहाँ भी काम किया। क्या? बोले—वहाँ भी स्वजनमोहिनी माया जो थी। तो द्वारपाल सोये (मोहित हुए) तो भगवान् उनके बीच में-से निकल गये और गोकुलके लोग सोये (मोहित हुए) तो भगवान् उनके बीचमें आ गये—स्वजनमोहनी माया। यही कहते हैं—

आनुकूल्य प्रातिकूलाभ्यां व्यवस्था।

भगवान्‌के अनुकूल जो जीव होते हैं, उनके लिए योगमाया ऐसी व्यवस्था करती है कि उनको भगवान् मिलें और जो प्रतिकूल जीव होते हैं, उनके लिए योगमाया ऐसी व्यवस्था करती है कि उनको भगवान् न मिलें।

स एव साधु कर्म कारयति यं अभेय निंचते—देखो यह अनुकूल जीवको मिलनेका, ऊपर उठानेका काम भगवान् ही करते हैं और प्रतिकूल जीवको भगवान् न मिलें यह काम भी भगवान् ही करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १६.१९

जिससे लोगोंको यह मालूम पड़े कि भजन करनेवाला जो व्यक्ति है वह विशेष हो जाता है और जो भजन करनेवाला व्यक्ति नहीं है, वह संसारी हो जाता है यह बात भगवान्‌को दिखाना इष्ट है।

अब देखो, एक माया और थी भगवान्‌की। उसके लिए योगमाया शब्दका अर्थ—**योगमायाया आश्रयऽपि इदानीं कांचित् अनिर्वचनीयां आह्लादिनी सारसर्वस्व भूतां योगमायां राधां उपाश्रिता**—भगवान् सर्वाश्रय हैं, लेकिन राधारानीके उपाश्रित हैं, जैसे भक्त लोग भगवान्‌के आश्रित होते हैं। गये उनके पास कि किशोरीजी रासलीला करनी है आप अनुमति दीजिये, स्वीकृति दीजिये, सम्मिलित होइये। उनकी स्वीकृति लेनेके लिए गये, यह भी योगमाया है। यह कौन-सी योगमाया? बोले—यह स्वमोहिनी योगमाया है। तो, योगमायाके तीन रूप ब्रजमें मानते हैं—

१. विमुखजन मोहिनी योगमाया,
२. स्वजन मोहिनी योगमाया,
३. स्वमोहिनी योगमाया।

स्वमोहिनी क्या है? कि अपने आपको भी भूल जाते हैं। उज्ज्वलनीलमणि में यह प्रसंग आया है। जब रासलीलामें भगवान् कृष्ण अन्तर्धान हुए तो गोपियोंने ऐसी मोर्चेबन्दी की, वह घेरा डाला कि कहाँ निकलकर जायेंगे! वृन्दावन हमारा उसके एक-एक वृक्षसे, लतासे, कुंजसे हम परिचित; उससे निकलकर जायेंगे कहाँ? घेर लिया। अब भगवान् एक कुंजमें दुबके। गोपियाँ प्रकट हो गयीं। अब गोपियाँ वहाँ प्रविष्ट हुईं तो नारायण कहो, श्रीकृष्णने देखा कि पकड़े गये। तो झट चतुर्बाहु बनकर, शंखचक्रगदाधारी बनकर बिलकुल मूर्तिकी तरह बैठ गये। गोपियोंने प्रणाम किया, यह चार भुजाका देवता आगया वृन्दावनके निकुंजमें। आकर प्रियाजीको कहा। प्रियाजीने कहा—चलो मैं तो देखूँ, वृन्दावनमें यह चारभुजावाला आया कहाँसे? जो उस निकुञ्जमें प्रवेश किया तो श्रीकृष्णका जो यह संकल्प था कि मैं चतुर्भुज नारायण हूँ, यह संकल्प प्रियाजीको देखते ही, प्रियाजीके दर्शनमात्रसे स्वसंकल्पकी विस्मृति हो गयी। तब सहज स्वरूप

जो द्विभुज हैं, मुरली मनोहर, वह प्रकट हो गया। यह भगवान्के संकल्पको भी छुड़ानेवाली देवी कौन है भाई? तो बोले—यही स्वमोहिनी माया है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य—इसीलिए, यह तो जब भगवत् शक्ति चक्रवर्तिनी योगमाया, जिसके ऊपर कृपालु होकर जिसके लिए पर्दा हटाती है वह भगवान्को देखता है और जिसके लिए पर्दा डाल देती है वह नहीं देख पाता—**योगमाया समावृतः** ।

यह योगमाया क्या है भाई? देखो अवतारके प्रसंगमें भगवान्ने गीतामें ही कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ ४.६-८

अब इसमें योगमायाका कार्य क्या है? देखो, एक तो भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ना—अजन्माको जन्मवाला बनाकर दिखाना। यह आत्ममायाका एक काम है और साधु परित्राण—जसोदानन्द, दशरथ कौशल्या आदिकी जो तीव्र लालसा है कि भगवान् हमारी सन्तान बनें, हमारे वात्सल्य भाजन बनें—यह साधु परित्राण करना; अथवा बनमें रहनेवाले जो लोग हैं, साधु हैं, भजन करनेवाले, धर्मप्रेमी, उनका परित्राण करना—यह दूसरा काम है। और तीसरा काम हुआ अधर्मका नाश करना, धर्मकी ग्लानिके जो हेतु हैं और अधर्मके अभ्युत्थानके जो हेतु हैं उनको निवारण करना। तो तीन काम हो गया—अधर्मको निवृत्त करना, धर्मकी स्थापना करना और साधुओंका परित्राण करना। और भगवान्को भक्तोंकी इच्छाके अनुसार भगवान्के नित्य सिद्ध विग्रको प्रकट करना—यह आत्ममाया, यह भगवान्की अपनी खास माया, प्राइवेट माया है यह—आत्ममाया।

यह आत्ममाया संसारियोंको भुलावेमें डालनेवाली नहीं, यह तो भगवान्को दूरसे निकट लानेवाली है। अभी इन्तजार कर रहे हैं, रो रहे हैं, उनको अभी प्रकट करनेवाली। कालकी दूरीको मिटानेवाली। भगवान्के

आनेमें, प्रकट होनेमें जो देरी है न, उस देरीको मिटानेवाली। और भगवान्की स्थितिमें जो दूरी है, उस दूरीको मिटानेवाली। भगवान्के पूर्णरूपको प्रकट करनेवाली, यह जो आत्ममाया है—भगवान्की, आत्ममयी माया स्वरूप भूता—यह उनसे कुछ पृथक् नहीं है; यह उन्हींकी संधिनी, उन्हींकी संवित्, उन्हींकी आह्लादिनी शक्ति है। स वै एका सर्वसंश्रयाः—उन्हीं भगवान्में सत्प्रधाना संधिनीमाया चित् प्रधाना संवित् माया, आनन्दप्रधाना आह्लादिनी माया, उन्हीं प्रभुमें है और वह भगवत्संकल्पके अनुसार अपना रूप प्रकट करती रहती है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।

चैतन्य महाप्रभु कहते थे,

दुर्भगो इदृशं इहां जनि नानुरागः।

भगवान्ने तो बड़ी कृपा करी, पर हमारी बड़ी बदकिस्मती, हमारा ही दुर्भाग्य, कितना बड़ा दुर्भाग्य कि 'इहा जनि नानुरागः'—भगवान्में प्रेम नहीं हुआ। यह बदकिस्मती है—मूढोऽयं लोकः—यह महाराज, लोग मूढ़ हैं। कहाँ मूढ़ हैं? यह बात तो आगे आवेगी कि—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्वे यान्ति परंतप॥ ७.२७

ये लोग मूढ़ हैं। परमात्माकी प्राप्ति मूढ़को नहीं होती है, अमूढ़को होती है। यह बात तो आप गीतामें बारम्बार पढ़ते हैं—

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। १५.५

मामजमव्ययम्। वही अव्यय है पदमव्ययं तत्। उस अव्यय पदकी प्राप्ति किसको होती है? जो मूढ़ न हो। बोले—मूढ़ लोग कैसे होते हैं? तो उनका भी चार प्रकार बताया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ ७.१५

जो मूढ़ होते हैं वे भगवान्को पहचानेंगे तो कहाँसे? वे तो भगवान्का भजन ही नहीं करते। वे दुष्कृति हैं, नाराधम हैं। और देखो असंमूढ जो होता है वह भगवान्का भजन करता है। **असंमूढः समर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते**—जो असंमूढ़ है वह सर्वपापोंसे मुक्त होता है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १५.१९

जो असंमूढ़ होता है वह भगवान्‌का भजन करता है। गीतामें ही ये सारे प्रसंग आये हुए हैं। तो **मूढोऽयं लोकाः**—फटकारते हैं भगवान्। यह नहीं कहना कि हमको मूढ़ रहनेके लिए भगवान् कहते हैं या प्रेरणा देते हैं। नहीं-नहीं, तुम्हारी मूढ़ताकी निन्दा करते हैं। तो भलेमानुस लोग अपने हितैषी लोग अपने गुरुलोग, कृपालुलोग जब हमारे किसी दोषकी निन्दा करते हैं, तो उसका अर्थ यह लगा लेना गलत है कि यह दोष हमेशा हमारे जीवन में बना रहेगा, क्योंकि उन्होंने हमको इस दोषसे युक्त कह दिया। यह तो जिस दोषकी ओर उँगली उठा करके दिखाते हैं वह दोष छोड़ने योग्य है। उसका अर्थ यह है कि यह दोष छोड़ने योग्य है। यह जो लोगोंके भीतर मूढ़तारूप दोष है, यह छोड़ने योग्य है। लोगोंको चाहिए कि मूढ़ न हों।

मूढ़का क्या अर्थ है? मूढ़का अर्थ है मोहग्रस्त होना, मोहमें फँसना। यह जैसे हमारे बाबूलोग 'मूड' शब्दका प्रयोग करते हैं न, वह दो तरहसे होता है—एक तो 'मुद'का मूड होवे, मुद माने आनन्द; और एक 'मुह'का मोह, मुह वैचित्त्ये धातुसे मूढ बनता है, मोहग्रस्त। आज मोहके मूडमें है और आज मुदके मूडमें है।

तो अब देखो, तुम्हारे अन्दर यह मुह क्या है? चित्तकी विपरीतता। जहाँ देखना चाहिए था सर्वत्र भगवान्‌को, वहाँ तुम भगवान्‌को भूलकर स्रक चन्दन वनिता आदिका दर्शन करने लग गये। जहाँ स्मरण करना था भगवान्‌का, वहाँ कामिनी-कंचनका स्मरण करने लग गये। जहाँ तुम्हें चाहिए था कि अनेकमें एकको देखो, जड़में चेतनको देखो, दुःखमें भी आनन्दको देखो, वहाँ तुमने उलट दिया, धारा ही उलट दी। यह जो वैचित्त्य हो गया; चाहिए तो यह था कि अपनेको भगवान्‌के स्वरूपके साथ एक कर देते, लेकिन चित्त विपरीत हुआ, अलग मान लिया। चाहिए था यह कि आप अपनेको भगवान्‌का अंश समझते, भगवान्‌का शरीर समझते, भगवान्‌का विशेषण समझते, भगवान्‌का भोग्य समझते, भगवान्‌के आश्रित समझते, उलटा हो गया। इसीका नाम मूढ़ है। आश्रित होकर भी अपनेको आश्रित न

समझना, भोग्य होकर भी अपनेको भोग्य न समझना, शरीर होकर भी अपनेको शरीर न समझना, अंश होकर भी अपनेको अंश न समझना चिद् स्वरूपसे भगवत्स्वरूप होनेपर भी अपने सच्चिदानन्दरूपको न पहचानना, इसीका नाम मोह है।

मोहजाल समावृत :—वह जो मोहजालमें फँसा हुआ, धन मेरा, मकान मेरा, स्त्री मेरी, पुरुष मेरा, पुत्र मेरा, यह संसारमें मेरा, मेरा-मेरा करते जा रहे जो जीव हैं वे मूढ़ हैं—

इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषागम।

यह मैं-मैं बकरी बोलती है और कालका भेड़िया उसको आकर खा जाता है। लोग भगवान्‌से विमुख होकर संसारमें भटक गये हैं। ईश्वरकी ओर चलना चाहिए, यह भूल गया। संसारकी ओर चलने लगा। इसका नाम हुआ विमूढ़ होना और **मूढोगर्भा**—माँके पेटमें गर्भ अटक गया, बाहर निकलनेका उसको रास्ता ही नहीं मिलता है। तब क्या हुआ? कि अटक गया। संसारमें भटक जाना, संसारमें अटक जाना, संसारके रिश्तेदारों-नातेदारोंमें वस्तुओंमें ही लटक जाना और लटके रहना, बस यह बात भगवान्‌को पसन्द नहीं है, खटकती है। वे कहते हैं मूढ़ हो तुम मूढ़—**मूढोऽयं नाभिजानाति लोकाः।**

यह दुनिया नाभिजानाति—मुझको नहीं पहचानती और, यह बड़ा भारी अपराध होता है। कोई राजा-महाराजा पुलिस न होवे, कोई देखनेवाला न होवे और वहाँ कोई अपराध होगया तो भाई, चलो कोई देखनेवाला वहाँ नहीं था; लेकिन भगवान् वहाँ उपस्थित होवें और भगवान्‌की उपस्थितिमें ही मनुष्य अपराध करे और उलटे भगवान्‌को न पहचाने तो यह अक्षम्य अपराध है। भगवान् कहीं छिपे नहीं हैं, कहीं गये नहीं है, दूसरे देशमें नहीं गये हैं भगवान्। आनेकी देर नहीं है भला, इन्तजार नहीं करनी है। यहीं हैं, परन्तु पहचान नहीं है। बाबा पहचान कैसे होगी? कि—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। १८.५५

भक्त हो तब तो पहचान लो। यह अट्ठारहवें अध्यायका श्लोक है। भगवान्‌को ठीक-ठीक पहचानना। हृदयमें प्रीति होवे, रुचि होवे, भक्ति होवे, तब तो भगवान्‌को पहचान सकें और नहीं तो महाराज, पहचाननेका

एक अभिमान लेकर घूमते हैं कि हम इनको पहचानते हैं कि पहचानते हो तो क्या पहचानते हो तुम? बोले—हमने यह पहचाना है कि यहाँ भगवान् नहीं है। ऐसे लोग दम्भी हैं भला! अरे, यह पहचानना नहीं है, यह पहचाननेकी विडम्बना है। तो तुमने खुद ही तो देश-काल वस्तुसे निकालकर भगवान्का बहिष्कार कर दिया। इसका अर्थ हुआ कि तुम अपनी कोई वासना पूरी करना चाहते हो और उस वासनाको पूरी करनेके लिए यहीं विद्यमान भगवान्का, इसी समय और इन रूपोंमें विद्यामन जो भगवान् हैं उनका तिरस्कार कर रहे हो। जो भगवान् सब रूपोंसे परे हैं वही सब रूपोंमें हैं।

देखो, आपको पन्द्रहवें अध्यायका वह प्रसंग याद होगा—**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।** (१५.६) सूर्य चन्द्रमा और अग्नि भगवान्को प्रकाशित नहीं करते हैं। तो इसका मतलब क्या यह होता है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि भगवान्से दूर हैं? बोले—नहीं,

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसियच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १५.१२

सूर्य, चन्द्र, अग्निमें परमात्मा है; परन्तु सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि परमात्माके प्रकाशक नहीं है।

देखो, क्या लीला हो रही है—देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न परमात्मा नहीं है, परन्तु देश-काल-वस्तुमें वही भरपूर है। जहाँ तुमने यह पहचाना कि यह परमात्मा नहीं है, वहाँ गड़बड़ा गये। यहमें तो परमात्मा ही है, यहका अधिष्ठान परमात्मा है, यहका प्रकाशक परमात्मा है। यहका जो स्वरूप है, यहका जो धर्म है, यहकी जो अवस्था है, यहका जो कर्म है, यहकी जो आकृति है, यहका जो नाम है, वह कोई परमात्मासे जुदा नहीं है। देखो परमात्माको पहचानो, तब यह मूढ़ता मिटेगी।

यह पार्थ सारथि भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्न परिजात हैं। प्रपन्न परिजातका अर्थ है कि आर्त आया तो उसकी आर्तिका निवारण किया, अर्थार्थी आया तो उसे अर्थ दिया, जिज्ञासु आया तो उसको ज्ञान दिया, ज्ञानी आया तो उसे अपने हृदयसे लगा लिया। यह प्रपन्न पारिजातका अर्थ है। **प्रपन्न पारिजाताय तोत्रवेत्रैक पाणये**—भक्तके घोड़ोंकी लगाम और भक्तके घोड़ोंको चलानेकी

चाबुक—दोनों भगवान्के हाथमें चाहें तो रोक लें और चाहें तो दौड़ा दें **चाबुक** मारकर भक्तोंके जो घोड़े हैं उनको दौड़ाते हैं भगवान् और लगाम खींचकर उनको रोकते हैं भगवान्—त्रोत्र वेत्रैक पाणये। **ज्ञानमुद्राय कृष्णाय**—ज्ञान भी वही देते हैं।

बोले—भाई, यह जो पार्थ सारथि बैठे हैं अर्जुनके रथपर, यह तो जन्मवाले और व्ययवाले हैं। नहीं, वहीं पर कह दिया—**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।** (७.२४) वे निर्बुद्धि हैं जो मानते हैं कि यह श्रीकृष्ण व्यक्ति हैं, इनका भी कर्मानुसार जन्म हुआ है और इनका भी प्रारब्ध पूरा हो जानेपर व्यय हो जायेगा, विपरीत भावको यह भी प्राप्त हो जायेंगे। बोले—नहीं, मैं अजन्मा हूँ। भगवान् कहते हैं—**माम् नाभिजानाति**—वह मुझे पहचानता नहीं है, वह संस्थान-विशेष आकृति-विशेष देखकर फँस गया है! मैं आकारवाला होते हुए भी जन्मवाला नहीं हूँ। मैं आकारवाला होते हुए भी परिणामवाला नहीं हूँ। मैं आकारवाला होते हुए भी मृत्युवाला नहीं हूँ। प्राकृत जन्म नहीं है, जीवके समान जन्म नहीं है और मूढ़ लोगोंकी पहचानमें तो मेरा कर्मके अनुसार जन्म है, कर्मके अनुसार मृत्यु है, कर्मके अनुसार परिणाम है—उनकी पहचानमें तो इतना ही आता है और मैं एक ऐसा नया आ गया हूँ सृष्टिमें, जिसका न कर्म अनुसार जन्म, न कर्मके अनुसार परिणाम, न कर्मके अनुसार मृत्यु है। इसलिए मूढ़ लोगोंके लिए बिलकुल अपरिचित होनेके कारण **नाभिजानाति**, ये पहचान नहीं पाते हैं।

बोले—महाराज, एक बात बताओ कि जब योगमायाका चदरा ओढ़कर तुम आते हो तो लोग नहीं पहचानते हैं पर कहीं वह योगमाया तुम्हारे ऊपर भी तो कोई असर नहीं डाल देती है। शंकराचार्य भगवान्ने अगले श्लोककी संगति यह बतायी। क्योंकि वे इस प्रसंगको सगुणके प्रसंगके रूपमें इसकी व्याख्या करते हैं। बोले—भाई, यह सगुण भगवान् जब योगमायाकी चद्दर ओढ़कर आते हैं तो योगमाया कुछ उनके ऊपर प्रभाव तो नहीं डालती है? तो भगवान् बताते हैं कि नहीं मेरे ऊपर प्रभाव नहीं, डालती है, एक बात। और दूसरी बात यह बताते हैं कि भगवान् केवल **नाभिजानाति** कहकर मूढ़ लोगोंकी ही बात करते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका भाव यह है कि भगवान्का यह भाव तो कहीं नहीं है, इसी

समयके मूढ़ लोग हमको नहीं पहचानते हैं और भूतके, वर्तमानके भविष्यके भी सब लोग भी हमको नहीं पहचानते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वर्तमान भी न पहचानते हों और ब्रह्मा, शंकर आदि जो हैं वे पहचानते हों? इन दोनों प्रश्नोंका समाधान करनेके लिए अगला श्लोक आता है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद कश्चन॥ २६॥

माने मेरे ज्ञानपर योगमायाका कोई प्रभाव नहीं है। योगमाया ढँकती है जीवोंकी बुद्धि को। अप्रज्ञकी बुद्धिको माया ढँकती है, मेरे ज्ञानको योगमाया नहीं ढँकती है। लौकिक मायामें यही प्रसिद्ध है। जो इन्द्रजाल बिछाता है, जो जादूकी खेल दिखाता है, लोग उसको नहीं देख पाते, परन्तु वह तो सबको देखता है। जब जादूगर जादूके खेल दिखाता है, तो वह जादू जादू दिखानेवालेको नहीं ढँकती, देखनेवालेकी आँखको ढँकती है। तो **धनच्छन्नावृत्तं धनछन्नाऽर्कं यथा मित्रं मन्यते चापि मूढा**—हमारे और सूर्यके बीचमें जो बादल आता है, वह सूर्यको नहीं ढँकता। सूर्यकी रश्मिसे ही बादल पैदा होता है। और सूर्यकी रोशनीमें दिखता है परन्तु सूर्यको ही ढँकता है। परन्तु बादल सूर्यको तो ढँक नहीं सकता वह आँखको ही ढँकता है। सूर्य जितना बड़ा बादल कभी पैदा ही नहीं हो सकता जो सूर्यको ढँक दे। इसके अंश, इस आँखको ढँकता है सूर्यको नहीं ढँकता है। इसी प्रकार यह जो योगमाया है महाराज, निकलती है भगवान्से, रहती है भगवान्में, दीखती है भगवान्से, परन्तु भगवान्को नहीं ढकती है, आदमीकी बुद्धिको ढँकती है, अभक्तोंकी बुद्धिको ढँकती है, भक्तोंकी बुद्धिको नहीं ढँकती है।

❖

२६-२७. बस भक्त ही मुझे जानते हैं

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ ७.२६॥

अर्थ :—हे अर्जुन! मैं तो भूतकालके, वर्तमानकालके और भविष्यत्कालमें होनेवाले सब भूत-प्राणियोंको जानता हूँ; परन्तु भक्तको छोड़कर मुझको कोई नहीं जानता॥२६॥

: २६-२७ :

मां तु वेद न कश्चन

भगवान् श्रीकृष्णने यह बात बतायी कि मैं अपनेको योगमायासे ढँकता हूँ—**योगमाया समावृतः।** योगमायासे एक ऐसा पर्दा अपने ऊपर डालता हूँ, एक ऐसी पोशाक पहन लेता हूँ कि ये संसारी लोग मुझे पहचान नहीं पाते—**मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।** तो जो मूढ़ लोग हैं माने भगवान्के भक्त नहीं हैं, सद्गुरुके कृपापात्र नहीं हैं, वे भगवान्को पहचान नहीं पाते हैं। पहचान नहीं पाते हैं का अर्थ इतना ही है कि भगवान् होते तो सामने ही हैं, साक्षाद् अपरोक्ष—माने किसी दूसरे देशमें गये हुए नहीं हैं और दूसरे कालके लिए उनकी प्रतीक्षा करनी नहीं है और ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादनके रूपमें वे अनुगत न हों—परन्तु **मूढोऽयं लोकाः नाभिजानाति**—ये लोग ही ऐसे मूढ़ हो गये हैं कि भगवान्को पहचान नहीं पाते हैं। तो क्या नहीं पहचान पाते हैं यह बात भी बता दी कि **मामेव अजं अव्ययं ना अभिजानाति। अर्थात् अहमेव अजः अहमेव अव्ययः**—मैं ही अजन्मा हूँ और मैं ही अविनाशी हूँ यह नहीं जान पाते; परन्तु मेरे इस संस्थान विशेषको देखकर वे समझते हैं कि यह भी जन्मवाला है, यह भी मृत्युवाला है, यह भी एक मनुष्य शरीर है। यो साक्षाद् भगवान् हैं—इस बातको मूढ़ लोग नहीं जानते हैं—

आनन्द मात्र कर पाद मुखोदरादि।
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

आदि पुरुष गोविन्दके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट हैं, लोग उनको अजन्मा नहीं जन्मवाला और उनको अव्यय नहीं, व्ययवाला मानते हैं—यह बात बड़ी मूढ़ताकी है। बड़ी मूढ़ता इसमें क्या है? कि आत्माका जीवात्मा जिसको बोलते हैं उसका स्वरूप ही जब जन्मवाला और व्ययवाला नहीं है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २.२०-२१

जब यह प्रत्यगात्मा ही अजन्मा है, अव्यय है तो केवल जो भगवान् प्रकट है वह अजन्मा अव्यय नहीं है—ऐसा माननेवाला सर्वथा ही नीच है, उसकी मूढ़ता तो प्रकट हो गयी।

अब यह प्रश्न हुआ कि जब आखिर भगवान्ने योगमायाका पर्दा-आवरण अपने ऊपर डाल ही लिया तो जैसे महाराज, कोई अपने बीचमें पर्दा डाल ले, कम्बलका पर्दा डाल ले, टाटका पर्दा डालले, तो वह नहीं दिखता है, यह बात तो ठीक है, परन्तु वह भी तो किसीको नहीं देख पाता है। तो यह योगमायाका जो पर्दा है, यह ऐसा झीना पर्दा है कि भगवान् जब इसको ओढ़ते हैं बुर्का सरीखा समझो, तो वह तो सबको देखते हैं पर उनको दूसरे कोई नहीं देख पाते। बड़ा मजेदार है न, भगवान्को आप तो जानते ही हो। गौनेवाली बनकर जाते हैं बरसानेमें, बीणावाली बनकर जाते हैं, गोदनावाली बनकर जाते हैं, वेश बनानेमें ऐसे निपुण हैं, साँवरी सखी गोपदेवी बनकर जाते हैं। न तो वृषभानु बाबाके पहरेदार, न तो उनके सखा-संघाती, न तो घरमें कोई स्त्रियाँ—कोई भी नहीं पहचानती, गोपियाँ भी नहीं पहचानती। राधारानी भी गोपदेवी साँवरी सखी, बड़ी प्रिया गौनेवाली—ऐसा ही कहकर व्यवहार करती हैं। वेश बदलनेमें भगवान् बड़े निपुण हैं। वह योगमाया भी असलमें ज्ञानात्मक ही है, संविदात्मक ही है। यह जो ज्ञानतत्त्व है—**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**, इसके ढूँढनेमें माया छाया कोई चीज है नहीं और रूप

बदलनेमें ऐसी निपुण, ऐसा-ऐसा वेश सजा लेते हैं भगवान् अपना, ये मृत्युका वेश धारण करके आते हैं, तो यह सजाया हुआ वेश है भगवान्का। भक्त लोग पहचानते हैं—

देख मृत्युका वेश धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।

अपना रहस्य बता दिया—

अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। ९.१९

यह नहीं समझना कि भगवान् अच्छा-ही-अच्छा वेश बनाकर आते हैं। ये बुरा वेश बनाकर भी आते हैं। मृत्युका वेश धारण करके भी वही आते हैं।

भले बने हो लम्बक नाथ।

भूतका वेश धारण करके वही आते हैं। पर यह जो नाना प्रकारके योगमायाके वेश बनाकर भगवान् आते हैं, उसमें जो सच्चे प्रेमी हैं उनके सामने तो उनका पर्दा चलता नहीं। और जो अभक्त होते हैं, वे तो मुँह मोड़ लेते हैं भाई, उनसे छिपानेके लिए तो यह सारा खेल ही है। पर प्रश्न यह हुआ कि आखिर पर्दा तो पर्दा है। यह बात साफ होनी चाहिए कि यह पर्दा भगवान्के ज्ञानपर असर डालता है कि नहीं? जो न सरके सो असर। तो यह भगवान्के ज्ञानपर असर डालता है कि नहीं? स्थायी अस्थायी कैसा भी। तो भगवान् अपने मुँहसे ही बता देते हैं, खुलासा कर देते हैं। खुलासाके लिए संस्कृतमें विवरण शब्द है—विवरण अनावरण, खुलासा कर देते हैं, खुद रहस्योद्घाटन करते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

इस मायाका असर मेरे ऊपर कुछ नहीं है, दूसरे लोगोंपर ही पड़ता है। क्योंकि यह जो साक्षाद् अपरोक्ष ब्रह्म है क्या अद्भुत। आप देखो, एक बार विचार कर लो साक्षाद् अपरोक्ष शब्दके अर्थपर। यह घड़ी है हमारे सामने, यह लाउडस्पीकर है। यह जो इलाको उड़ाता है उसको लाउड बोलते हैं। उड्डयन शब्द भी संस्कृतमें है, उड़ाना। और ला के लिए इला। इला माने बात, सरस्वती, गिरा। वाणीको जो उड़ाकर सबके पास पहुँचाये। यह इला उडा का इ लोप हो गया लाउड बन गया। यह क्या है? कि इसको प्रत्यक्ष बोला जाता है। आप हमको देख रहे हैं, कि कैसा है? बोले—इसका नाम प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षका अर्थ है कि एक-एक इन्द्रियसे जिसका ज्ञान हो।

आँखसे आप रूपको देख रहे हैं, कानसे शब्दको सुन रहे हैं, त्वचासे स्पर्श कर रहे हैं। प्रत्येक अक्षका पृथक्-पृथक् ज्ञान अपने हृदयमें आ रहा है। प्रत्यक्ष हो रहा है।

स्वर्ग क्या है? बोले—स्वर्ग तो परोक्ष है, वह तो प्रत्यक्ष नहीं है।

अब बोले—भाई कि मैं क्या हूँ? बोले मैं न तो घड़ीके समान प्रत्यक्ष है, इन्द्रिय गम्य नहीं है; और स्वर्गके समान दूसरे देशमें परोक्ष भी नहीं है। मैं खुद क्या हूँ? बोले—अपरोक्ष। कर्ताके रूपमें भी, भोक्ताके रूपमें भी, अशुद्ध अहमर्थके रूपमें, अहं पदके वाच्यार्थके रूपमें भी मैं अपरोक्ष हूँ। सबका मैं अपने लिए अपरोक्ष है।

अब यह परमात्मा जो है भाई! यह क्या है? देखो, मजेदार बात है। जब वृत्ति रहती है न, तब मैं हूँ, अपने बारेमें ऐसा ज्ञान होता है भला, और परमात्मा कैसी चीज है? परमात्मा ऐसी चीज है कि चाहे वृत्ति रहे चाहे नहीं रहे उसको जाननेके लिए किसी ध्यानकी धारणाकी, प्रमाणकी, वृत्तिकी कोई अपेक्षा नहीं, साक्षाद् अपरोक्ष! बिना किसी कारणके, बिना किसी प्रमाणके, बिना किसी वृत्तिके स्वयं, **स्वयमेव तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्। यद् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म।** कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि जो अपना है वह अपरोक्ष है, परन्तु यह कर्तृत्व, भोक्तृत्वके भीतर बैठा हुआ जो परमात्मा है, उसको देखनेके लिए किसी आँखकी, कानकी, नाककी कोई जरूरत नहीं, उसके लिए मनकी बुद्धिकी कोई जरूरत नहीं। वह इनके द्वारा साध्य नहीं है, इनके द्वारा वेद्य नहीं है। ऐसा साक्षाद् अपरोक्षा है।

अब देखो, वही भगवान् स्वयं बताते हैं—'अर्जुन! मेरे प्यारे भाई।' अर्जुन शब्दका एक अर्थ है—मेरे प्यारे भाई। कैसे? कि बुआके बेटे। बुआका बेटा तो भाई होता है—अर्जुन! और महाराज श्रीकृष्ण और अर्जुन, दोनोंमें बड़ा प्यार है भला! प्यार है तो नाम ही लेकर पुकारते हैं! फिर अर्जुन तो सुभद्राका पति है भाई! बढ़िया रिश्ता जुड़ा हुआ है। और महाराज दुर्योधनकी बेटी लक्ष्मण कृष्णके पुत्र साम्बसे ब्याही हुई है। क्या बढ़िया रिश्ता है! एक समत्व, तन्मूलक समत्व भी है। दुर्योधनकी बेटी कृष्णके बेटेसे ब्याही, दुर्योधन और अर्जुन भाई, वह भी है। कृष्ण और अर्जुन फुफेरे भाई। नारायण गोविन्द कहो, अर्जुन फुफेरे भाई। अरे इतने

सम्बन्ध हैं! द्रौपदीने कहा है—सम्बंधात् गौरवा तस्या—हमारे सम्बन्ध हैं, बड़प्पन है, सत्य है, मैं तुम्हारी शरणागत हूँ, क्या क्या रिश्ता है!

अर्जुनका अर्थ है सरल। कैसे? कि अर्जुन नामका जो वृक्ष होता है, वह बिलकुल सरल, सीधे ही ऊपरको जाता है, बड़ा ही सरल, भोला-भाला। बोले—अर्जुन तुम यह मत समझ लेना कि यह माया हमको भी आवृत्त कर लेती है। प्यारे भाई, मैं तुमको साफ-साफ बताता हूँ।

अर्जुन माने अर्जन करने वाला। यह अर्ज् धातु जिससे अर्जन शब्द बनता है न, उसीसे उष्णादिमें अर्जुन शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है—जो अर्जन करनेमें बड़ा निपुण हो। तो ज्ञानधनका अर्जन करनेवाला, तुम सब बातोंकी ठीक-ठीक जानकारी चाहते हो तो यह जानकारी हम तुमको बता देते हैं, कि यह माया जो है यह हमको नहीं ढँकती है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

अपने मित्रका नाम लेकर पुकारते हैं, कोई शिष्टाचार, कोई तकल्लुफ नहीं। भाई अर्जुन, ज्ञानार्जन करनेवाले भाई अर्जुन, सरल स्वभाव अर्जुन, यह योगमाया मुझे समावृत नहीं करती। मैं सबको देखता रहता हूँ, पर मुझे कोई नहीं देखता है—यह बताया। हमारी योगमायाका पर्दा ऐसा झीना है, ऐसे ढंगका पर्दा मैंने बनाया है कि मैं तो शीशेके भीतरसे सबको देखता रहता हूँ, पर शीशा ऐसा है कि मुझे लोग न देख सकें। एक बात है, एक अंजन ऐसा है कि इसको कोई आँखमें लगा ले तो शीशेके पर्देमें-से ही मुझको देख सके। नहीं तो मैं सबको देखता हूँ, मुझे कोई नहीं देखता।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त, ऐसे कहो प्रकृतिसे लेकर परमाणु (तृण) पर्यन्त और ब्रह्मासे लेकर छोटे-से-छोटे जीव कीटपर्यन्त जितनी यह सृष्टि है सबको, जो पहले अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि हो चुकी है उनको भी जानता है, जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड अन्तर्वर्ती पदार्थ हैं, जीव हैं उनको भी जानता हूँ और भविष्यान्त—जो आगे होनेवाले हैं, उनको भी जानता हूँ। मेरा ज्ञान अबाध है। कहीं हमारे ज्ञानमें रुकावट पैदा करनेवाली कोई चीज नहीं है।

यह महाराज, अतीत क्या और वर्तमान क्या और भविष्यत क्या? बोले—भाई, तुम लोगोंको जैसा मालूम होता है वैसा। नहीं तो भगवान्‌का ज्ञान बड़ा अद्भुत है, उस ज्ञानके साथ जब हम एकता करते हैं तो बड़ा विचित्र अनुभव होता है। देखो, जैसे हम आपके समाने बैठते हैं न, एक शरीरधारी होकर, तो हमारे पीछे कौन है? कि भीत है और सामने कौन है? कि आप लोग हैं। दायें कौन है? कि महात्मा हैं। तो यह बायें-दायें सामने-पीछेका भेद क्यों हो गया? क्योंकि मैं स्वयं इस छोटेसे शरीरको मैं करके बैठा हूँ, इसीकी आँखसे देखता हूँ, इसीकी बुद्धिसे सोचता हूँ।

अब कल्पना करो कि कोई ऐसा व्यक्ति होवे जो देहमें बैठकर न देखे, आकाशमें बैठकर देखे। उसका शरीर आकाश होवे।

आकाशकोश तनवो तनवो महान्तः।
तस्मिन् तदा जगत् न वाव सन्तु॥

नारायण कहो, आकाश शरीर जब होगा तब आप लोग कहाँ होंगे? सामने होंगे, कि पीछे होंगे, दाहिने होंगे कि बाँयें होंगे? अरे उस समय दाहिना-बाँया, आगे पीछे, ऊपर-नीचे सब खत्म हो जायेगा। देशका भेद तभी है जब हम एक परिच्छिन्न वस्तुसे तादात्म्य करके देशपरिच्छिन्न वस्तुसे तादाम्य करके बैठे हैं। और सर्वोपादान, सर्वनिमित्त, अभिन्न निमित्तोपादान कारण सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म जो परमात्मा है उसमें क्या बाहर और क्या भीतर, क्या दाहिने और क्या बाँये? इसी तरहसे देखो, जब हम एक परिच्छिन्न पैदा होनेवाली और मरनेवाली वस्तुके साथ तादात्म्य करके बैठते हैं तब हमारे लिए आगे और पीछे होता है। रात और दिनकी कीमत शरीरकी दृष्टिसे है, इनकी कीमत चिदाकाशकी दृष्टिसे, चिन्मात्रकी दृष्टिसे नहीं है। जहाँ आकाश जुदा और सूर्य जुदा, वहाँ कालकी कीमत है और जहाँ आकाश और सूर्य एक, वहाँ कालकी कीमत नहीं है। जहाँ ज्ञान और सत्ता दोनों अखण्ड होते हैं वहाँ कालकी कीमत नहीं होती।

नारायण कहो, भगवान् बोले—अर्जुन जैसे तुमको पहले-पीछे मालूम पड़ता है, उसका अनुवाद करके मैं बोल रहा हूँ—

समतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि च।

यह कहो कि हम सबको पहचानते हैं, सबकी नस-नस मालूम हैं। अपनी सर्वज्ञता बताते हैं—मैं सबको पहचानता हूँ। अपनी सर्वज्ञताका आविष्कार कर रहे हैं, प्रकटकर रहे हैं। कैसे जानते हो महाराज? बोले—जो लोग पहले सृष्टिमें पैदा हुए थे और हमारी भक्ति किये बिना मर गये, हमारी सेवा किये बिना मर गये, उनको मैं पहचानता हूँ। ये पहले सृष्टिमें अनेक योनियोंमें पैदा हुए हैं। वे मोर तो हुए लेकिन मेरे लिए कभी नृत्य नहीं किया। भगवान् पहचानते हैं। ये कोयल तो बने थे भला, लेकिन मेरे लिए कभी कुहू-कुहू नहीं किया। यह पपीहा तो बना था लेकिन मेरे लिए पी-कहाँ, पी-कहाँ कभी नहीं पुकारा, पहचानते हैं। क्योंकि अगर कभी किसीने सचमुच अपनी किसी इन्द्रियका सम्प्रयोग भगवान्‌के लिए किया होता, भगवान्‌को देखा होता, भगवान्‌को सुना होता, भगवान्‌को सूँघा होता, भगवान्‌का स्वाद लिया होता, भगवान्‌का नाम लिया होता, भगवान्‌का ध्यान किया होता, भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त किया होता, तो काहेको वे एक योनिसे दूसरी योनिमें, एक जन्मसे दूसरे जन्ममें, एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गये होते? बोले—हम जानते हैं उन लोगोंको—**समतीतानि**—जो बिना हमारी सेवा किये मरे हैं। और, **वर्तमानानि च** और इस समय कौन-कौन हमारी भक्ति करते हैं? हमारे जो सच्चे सेवक हैं उन सबको पहचानता हूँ। **वर्तमानानि**। इस समय कौन-कौन प्रेम करते हैं, कौन-कौन सेवा करते हैं?

बोले—महाराज, क्या कोई रजिस्टर रखते हो? कि रजिस्टरकी जरूरत नहीं है। वह तो जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति विस्मृतिसे आक्रान्त है उनको रजिस्टर बनानेकी जरूरत पड़ती है। यह रजिस्टर बनाना स्मृति और ज्ञानका नमूना नहीं है, यह अपोहनका ही नमूना है। **मत्तः स्मृति-र्ज्ञानं अपोहनं च**। भगवान् तो महाराज नित्य सिद्ध; कौन कहाँ भगवान्‌का नाम ले रहा है, कहाँ ध्यान कर रहा है, कहाँ सेवा कर रहा है, सेवोपयिक शरीर किस-किसको प्राप्त हुआ है, कौन गोपीभावसे युक्त होकर हमारे प्रति मधुरभाव कर रहा है, कौन वात्सल्यभावसे युक्त होकर हमारे प्रति स्नेह कर रहा है, कौन सख्यभावसे आक्रान्त होकर मेरे प्रति सख्य प्रीति कर रहा है—**वर्तमानानि च अहं वेद**—मैं जानता हूँ किसके हृदयमें क्या भाव है और कौन मुझसे प्रेम करता है। **भविष्याणि च भूतानि** और आगे महाराज, कौन-कौन

लोग हमारे पास आनेवाले हैं, पहलेसे मालूम है। मालूम है कि इनके ऊपर हमारा अनुग्रह प्रकट होने वाला है। अरे, भागवतमें तो लिखा है, सबको मालूम पड़ जाता है—

मन एव मनुष्यास्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न न भविष्यतः॥ ४.२९.६६

इस समय तुम्हारा मन कहाँ रहता है? बोले—महाराज, क्या बतावें, भोजनका स्मरण ज्यादा होता है। तब अगले जन्ममें किसी होटलमें तुमको जाना पड़ेगा भला। यह बात बिलकुल पक्की है, जहाँ सब तरहका भोजन तुम्हें मिले। बोले—महाराज मांसकी याद ज्यादा आती है, बोले—गीध होना पड़ेगा तुमको, बिलकुल पता लग गया। क्यों? **भविष्यतश्च राजेन्द्र**—आगे तुम कहाँ जाओगे? जैसे-जैसे संकल्प तुम्हारे मनमें आते हैं, वह पहलेके, जहाँ-जहाँसे आये हो, उसके संस्कार उसकी वासना शेष है; और आगे जहाँ जाना है उसकी वासना, उसके संस्कार उदय होते हैं। अरे भाई, सावधान हो जाओ भला! जब साधारण रूपसे ही मालूम हो जाता है कि आदमी कहाँ जानेवाला है—कि भगवान्‌की सेवामें कौन जायेगा? बोले—इस समय जो भगवान्‌की सेवा करता है वही जायेगा। भगवान् कहेंगे भाई, इसकी हमारी सेवामें प्रीति है, सेवामें रुचि है, इसको अपनी सेवामें बुला लो। जीवन्मुक्तिका सुख किसको मिलेगा आगे? कि जो इस समय वासनाकी निवृत्तिमें, वासनाके त्यागमें जो सुखका अनुभव करता है, उसको जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख मिलेगा। और जो वासनाकी पूर्तिमें मजा ले रहा है, उसके बारेमें यह बात बिलकुल पक्की है कि उसको आगे जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख नहीं मिलनेवाला। तो जब जितना साफ-साफ मामला है तो क्या भगवान् नहीं पहचानेंगे? बोले—बाबा, हम सबको पहचानते हैं—रग-रग, नस-नस, एक-एक वृत्ति, एक-एक संकल्प, एक-एक जीव कहाँसे आया है और कहाँ जा रहा है, यह हमको मालूम है।

बोले—अच्छा महाराज, आप तो सबको पहचानते हो, सर्वज्ञ हो, सर्वशक्तिमान हो, योगमाया आपको समावृत नहीं कर सकती है, परन्तु दूसरे लोग भी तो आपको पहचानते होंगे। तो भगवान्‌ने पहले बताया है कि

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ७.३

मनसे दूसरोंके साथ जो अपनेको सी दे, उसका नाम होता है मनुष्य। मनुष्य शब्दका अर्थ निरुक्तमें यही है—**मनसा सीव्यति**। जैसे सूई-डोरेसे एक कपड़ेको दूसरेके साथ सी देते हैं न, तो दोनों मिल जाते हैं आपसमें; वैसे मनुष्य किसको कहते हैं कि जो मन-मनसे रिश्ता बनकर कि यह हमारी मैया, यह हमारी दैया, यह हमारा बेटा, यह हमारा मामा, यह हमारे नानाके नानाका साला है, इतना बड़ा रिश्ता बनाकर—**मनसा सीव्यति,** अपनेको उस-उससे बाँध देता है! उसका नाम मनुष्य।

महाराज! सूई-डोरा लेकर ये लोग क्या कर रहे हैं कि यह पेड़ मेरा, यह मकान मेरा, यह धरती मेरी, यह नोट मेरा, यह चांदी मेरी; इस तरह यह मनुष्य मेरा-मेरा करके, मैकी सुईमें मेराका धागा लगाकर अपनेको दूसरेके साथ सीता फिरता है। उसको भी पीड़ा होती है और अपनेको भी पीड़ा होती है—दोनोंको सूई धँस रही है! इसलिए महाराज, मनुष्य तो इसीमें फँसे रहते हैं।

अब उनमेंसे भगवान्‌ने जिनकी ओर अनुग्रह दृष्टिसे देखा, हजारों-हजारों मनुष्योंमें किसीके मनमें साधन करनेकी इच्छा होती है। साधन करनेसे हजारों-हजारोंमें-से किसीका अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरणवाले हजारोंमेंसे कोई समाधि लगा लेते हैं, कोई ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, कोई इधर-उधर दूसरी जगह तृप्तिका अनुभव करने लग जाते हैं। बोले—**कश्चित,** कोई-कोई ऐसे होते हैं कि जो तत्त्वरूपसे मुझे जानते हैं।

व्यक्तिरूपमें जानना दूसरी चीज, भावरूपमें जानना दूसरी चीज। सत्यरूपसे जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादन कारण जानना और चेतनका अभिन्न निमित्तोपादानत्व और जड़का अभिन्न निमित्तोपादानत्व, अरे बाबा! यह बड़ा विचित्र है। जड़ वस्तुका उपादान होना और चेतन वस्तुका उपासन होना—अलग-अलग बात है। चेतन वस्तु ही अभिन्न निमित्तोपादान हो सकती है, जड़ वस्तु तो केवल उपादान हो सकती है। एक मत ऐसा है। श्रीधर स्वामीने उसका उल्लेख किया है वह बात दूसरी है। लेकिन आप देखो, चेतन वस्तुके उपादान होनेमें और जड़ वस्तुके उपादान होनेमें क्या फर्क होगा? जड़ वस्तु यदि उपादान बनेगी, तो वह परिणामी होगी और चेतन वस्तु उपादान बनेगी तो उसकी साक्षितामें, ज्ञानस्वरूपतामें, एकरसतामें कोई परिवर्तन हुए बिना

ही वह जगत्का उपादान बनेगी, चेतनकी उपादानतामें और जड़की उपादानतामें यही विचित्र अन्तर है। अब ऐसे परमात्माको बाबा, **कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः** कोई-कोई मुझे तत्त्वसे जानते हैं। यह नहीं कहना कि बिलकुल कोई नहीं जानता। यह दिखा तो अभीष्ट नहीं है। क्योंकि अभी अगले ही श्लोकोंमें यह बात आनेवाली है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ७.२९-३०

इसलिए कश्चित् पद्का अर्थ यह नहीं कि कोई नहीं जानता। कश्चित् माने अभक्तः—कोई भक्तिरहित पुरुष। सेवा हो, भक्तिहो, प्रेम हो, बस यही वहाँ नियम है कि भक्त हो तो दरवाजा खुला है बाबा! एक कबीरदासका शब्द है; कबीर साहिब बोलते हैं—

चौदह कोटि ग्यान तोहि भाखौं।
सार शब्द बाहिर करि राखौं॥
धर्मदास तोहे लाख दोहाई।
सार शबद बाहिर नहिं जाई॥
अपना होय तो देउ बताई।
दूजा हो तो लेउ छिपाई॥

भगवान्का नियम क्या? उनकी मर्यादा क्या? कोई कौतूहलवश, स्टडी करनेके लिए कोई वैकुण्ठमें जाना चाहे, अपना परिचय-पत्र भेजे कि हे भगवान्! हम वैकुण्ठमें स्टडी करनेके लिए आना चाहते हैं—आपका सिंहासन काहेका बना है, आपके शेषनाग कैसे बने हैं, तो वहाँ कौतूहलाक्रान्त स्टडी करनेवाले लोगोंको प्रवेश नहीं मिलता है, वे भगवान्के पास नहीं जाते हैं। केवल खुफिया पुलिसकी तरह पता लगाने जो लोग जाना चाहते हैं, वे नहीं; कौतूहलवाले नहीं, स्टडी करनेवाले नहीं! जो सचमुच सेवक हैं, प्रेमी हैं, भक्त हैं, उन्हींको उस दरबारमें प्रवेश मिलता है भला! इसीसे बताया—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ १८.५५

यह तत्त्वतः जो है न, अद्भुत है। माने ज्ञान भी एक अतत्त्वतः ज्ञान होता है और एक तत्त्वतः ज्ञान होता है। केवल गुण, केवल प्रभाव, केवल प्रताप, यह दूसरी चीज है; और मूल धातुके रूपमें, अखण्ड धातुके रूपमें परमात्माको जानना—यह बड़ा कठिन है। पर इसके लिए भी द्वार क्या है? किस रास्तसे जानोगे? बोले—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ ११.५४

यह कैसे होता है? बोले—अनन्य-भक्तिसे यह सम्पन्न होता है। तो **मा तु वेद न कश्चन** का अर्थ है कि जो भक्तिसे रहित पुरुष है, अभक्त जो पुरुष है वह परमात्माको नहीं जान सकता। बोले—ये क्यों नहीं जान पाते हैं? इतनी साफ-साफ बात और यह मनुष्यका मिला शरीर; गोस्वामीजीका पद है—

दिओ सुकुल जनम शरीर सुन्दर

—ऐसा सुन्दर शरीर मिला, अक्लमन्द तो इतना कि अपनी अक्लको संसारमें किसीकी अक्लसे कम नहीं मानता, सबकी अक्लको जाँचता है! ऐसे ऐसे लोग हैं जो भगवान्की अक्ल की भी परीक्षा करते हैं कि उन्होंने इस मतलबसे—इस स्वार्थसे यह बात कही है—ऐसे। भगवान्में भी स्वार्थ देख लेते हैं, इतने बुद्धिमान हैं। बोले—बुद्धिमान हैं तो क्या?

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ ७.२७॥

अर्थः—हे भारत! हे परंतप!! इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न द्वन्द्वोंके मोहके द्वारा ही समस्त भूत-प्राणी इस सृष्टिमें संमोहको प्राप्त हो रहे हैं। (इसलिए वे मुझे नहीं जान सकते)॥ २७॥

भारत और परंतप—ये दोनों अर्जुनके लिए सम्बोधन है। इच्छा-द्वेष माने काम-क्रोध। ज्यादा दौड़-धूप करनेकी जरूरत नहीं है, राग-द्वेष और काम-क्रोध!

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३.३७

वहाँ भगवान्ने जो काम-क्रोध बताया न, यह एक ही दुश्मन दो रूप धारण करके अपने जीवनमें प्रविष्ट हो गया है। एक ओर तो वह काम

बनकर आता है, फँसाता है और एक ओर द्वेष बनकर आता है और जलाता है। जैसे कोई चीज थोड़ा-थोड़ा पानी छिड़क करके जलायी जाय, गीलाकर करके फिर जलावें, ऐसे महाराज, यह संसारमें एक ओर थोड़ी मिठास दिखायी कामने और दूसरी ओर थोड़ी कड़वाहट दिखायी क्रोधने और दिनभर बस यही सोचते रहो कि हमारे दुश्मन् हैं—**दुर्मना,** दुश्मना। यह दुः उपसर्ग है और मन तो आप जानते ही हैं। यह हमारा दुश्मन है—इसका अर्थ क्या हुआ? हमारे प्रति इसका मन दुष्ट है, इसलिए दुष्ट—मनाको दुश्मन बोलते हैं, दुर्मना। इसीसे फिर दौर्मनस्य, दुश्मनी बन गयी। तो अपने शब्दोंको विदेशी नहीं बनाते जाना चाहिए। ये हमारे शब्द विदेशसे ही आये हैं, हमारे थे ही नहीं, कभी।

तो यह मनमें काम और क्रोध जो भरे हुए हैं, इससे क्या होता है? कि द्वन्द्वका मोह होता है। द्वन्द्वका मोह क्या होता है कि जिसकी इच्छा थी वह मिल गया तो सुख मिल गया। यह द्वन्द्वका एक अंश हुआ। और जिससे द्वेष है वह मिल गया तो? बोले—दुःख हो गया। यह द्वन्द्वका दूसरा अंश होगया। जब हृदयमें राग-द्वेष होता है, तो किसीकी प्राप्तिसे सुख होता है, किसीकी अप्राप्तिसे सुख होता है और किसीकी प्राप्तिसे दुःख होता है और किसीकी अप्राप्तिसे दुःख होता है—यह द्वन्द्व हमारे जीवनमें बन जाता है। फिर तो अपने ही प्रति आत्मा-अनात्मा, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य ऐसे उलटे—कि महाराज उलटाकार बन जाता है राग-द्वेषके कारण। राग होवे तो अधर्म भी धर्म मालूम पड़े और द्वेष होवे तो धर्म भी अधर्म मालूम पड़े। इसीसे—

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।

कहनेका अभिप्राय यह कि जन्म-जन्मके संचित संस्कार होते हैं और उन संस्कारोंसे होती हैं वासनाएँ। तो जब सृष्टिका प्रारम्भ होता है अथवा जब जन्म होता है—सर्ग माने जन्मकाल, तो एक शरीरका जन्मकाल, ब्रह्माण्डका जन्मकाल अथवा प्रलयके अनन्तर समूची सृष्टिका जन्मकाल। तो वह कहाँसे आता है? कि पूर्व-पूर्व शरीरगत, पूर्व-पूर्व सृष्टिगत, पूर्व-पूर्व जन्मगत जो राग-द्वेष हैं उस रागके कारण मनुष्य सुख-दुःखके द्वन्द्वके मोहमें फँस जाता है। पशु-पक्षी-मनुष्य—ये सब।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।

यह राग-द्वेष जो है यही मनुष्यको ऐसा संसारमें फँसाये हुए है जिसके कारण वह भगवान्‌को नहीं जानता।

बोले—अच्छा, अब यह देखो भाई, कि कैसे पता लगे कि मनुष्यमें राग-द्वेष कम हो रहा है? कैसे पता लगे कि मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो रहा है? बोले—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ ७.२८॥

अर्थः—परन्तु जिन पुण्यकर्मा जीवोंके पाप समाप्तप्राय हो रहे हैं वे इसी जन्ममें द्वन्द्वोंके मोहसे मुक्त होकर मेरा दृढ़तापूर्वक भजन करते हैं॥ २८॥

येषां—बस, यह मनुष्य पापी है या यह मनुष्य पुण्यात्मा है, इसकी पहचान यह है कि वह भगवान्‌का भजन कर रहा है कि नहीं? इसकी पहचान यही है। **येषां त्वन्तगतं पापं** अन्तंगतं—अन्तगतं। जिसका पाप अन्ताभावको प्राप्त होगया है, माने जिसके पाप समाप्त हो गये है। बोले—बाबा, पाप क्या कभी अपने आप ही समाप्त हो जायेंगे? नहीं। पहले कर्मोंके अनुसार जन्म लेनेके बाद पुण्य करें—**जनानां पुण्य-कर्मणाम्।** पूर्व कर्मके अनुसार हुआ जन्म, जन्म लेकर पुण्य कर्म करो, पुण्य कर्म करनेसे अपने पाप दब जायेंगे—शिथिल हो जायेंगे—अन्तगत हो जायेंगे; और तब राग-द्वेष, काम-क्रोध, सुख-दुःख—ये जो संसारके पचड़े हैं इनसे मुक्त होकर भगवान्‌का भजन करोगे।

बोले—भाई! भजन करनेवाले तो कई देखनेमें आते हैं। चार दिन भजन किया, तो फिर चार दिन छोड़ दिया। कई लोग शुरू-शुरूमें बड़े वेगसे चलते हैं, चार दिनके बाद मामला ढीला पड़ जाता है। क्यों? कि संसार सुख देता है। तो समझना कि अभी उनका पाप न तो समाप्त हुआ है और न तो ये पुण्यात्मा हैं निष्काम नहीं हैं, अन्तःकरण शुद्ध नहीं है। क्योंकि जब मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है। क्योंकि जब मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है, वह पुण्यात्मा होता है, तब वह दृढ़व्रत होकर भजन करता है। तब वह संसारके मोहव्रतसे छूटता है। यह मोहव्रत माने मोहब्बत। तो वह संसारके मोह मदीयतासे छूटकरके, मोहव्रतसे छूट करके, भगवान्‌का भजन करता है। **द्वन्द्व मोह निर्मुक्ता**

भजन्ते मां दृढव्रताः। मोहसे निर्मुक्त हुआ, यह बात कब समझें? कि जब दृढव्रत होकरके भजन करे! जन्म-जन्म बीत जायेंगे भला, लेकिन भजन करेंगे तो भगवान्का—एक जन्म नहीं, दो जन्म नहीं, दस जन्म नहीं,

कोटि जनम लगि रगर हमारी।
बरऊँ शम्भु न त रहऊँ कुमारी।

—मिलेंगे तो भगवान्, भजन करेंगे तो भगवान्का बीचमें रुकनेवाले नहीं हैं। व्रतमें जब दृढ़ता आवे तब समझना कि पुण्य जाग्रत् हुए और पाप क्षीण हुए।

दृढ़ भजनका अर्थ यह है कि पाँव हैं न अपने, तो थोड़ा भगवान्का दर्शन करनेके लिए चला करो इनसे, चलनेका नियम बनाओ। और, हाथ हैं न अपने, इनसे भगवान्के लिए थोड़ा कर्म करो। और हीनेन्द्रिय, मूत्रेंद्रिय आदि हैं, तो ठीक-ठीक शौच होकर, लधुशंका करके शुद्ध होकर, मलापसरण करके, इनके द्वारा शुद्ध होकर भगवान्का भजन करो। यह मलापसरण इसीलिए है कि शुद्ध होकर भगवान्का भजन करें। जीभसे भगवान्का नाम बोलो, यह भजनका अर्थ है। नामसे भगवान्के प्रसाद तुलसीको सूँघो, यह भगवान्का भजन है। जीभसे भगवान्का प्रसाद ही खाओ, यह भगवान्का भजन है। आँखसे भगवान्की मूर्तिका और उनके भक्तोंका दर्शन करो, इसका नाम भजन है। त्वचासे भगवान्की प्रसादीका स्पर्श करो, पंडरीनाथको दोनों हाथसे पकड़कर अपने हृदयसे लगा लो, इसका नाम भजन है। स्पर्श भी उन्हींका और सुनो उनकी बात, इसका नाम भजन है। भगवान्का गुणानुवाद श्रवण करो। साँस-साँसमें भगवान्का जप करो। मनमें भगवान्के प्रति भावना और ध्यान करो और बुद्धिसे भगवान्का ज्ञान प्राप्त करो। अपनी आत्माको भगवान्की आत्मामें मिला दो—**भजन्ते मां दृढव्रताः।** कोई चीज भगवान्से अलग मत रखो, सब भगवान्के लिए कर दो।

❖

२८. पापक्षय-से द्वन्द्वात्मक मोहकी निवृत्ति

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ ७.२८॥

अर्थः—परन्तु जिन पुण्यकर्मा जीवोंके पाप समाप्तप्राय हो रहे हैं वे इसी जन्ममें द्वन्द्वोंके मोहसे मुक्त होकर मेरा दृढ़तापूर्व भजन करते हैं॥ २८॥

: २८.१ :
भजनमें दृढ़ता कैसे?

ले चलो अपना मन, भगवान् श्रीकृष्णके पास। वे प्रपन्न पारिजात हैं—जो शरणमें आवे उसके लिए श्रीकृष्ण कल्पवृक्ष हैं। प्रपन्न पारिजातका यह अर्थ है। जैसे वृक्षकी छायामें कोई आजाय, उसको धूपसे रक्षा प्राप्त होती है, शीतलता मिलती है, विश्रामका स्थान मिलता है, फूलकी सुगन्ध मिलती है, फल खानेको मिलता है, ऐसे ही महाराज ये भगवान् श्रीकृष्ण जो हैं ये, जो अपनी शरणमें आ जाय उसके लिए पारिजात—कल्पवृक्ष हैं। जो चाहो सो मिल सकता है। तो मानो लोगोंकी वाञ्छा, लोगोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिए ही ये प्रकट हुए हैं। और अर्जुनके घोड़ोंकी लगाम और चाबुक अपने हाथमें लिये हुए ज्ञानमुद्रासे अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं! और यह बताया कि,—

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप। ७.२७

ऐसी है यह सृष्टि कि ज्यों बनी त्यों सारे भूत सम्मोहको प्राप्त हो गये। इसे देखकर सम्मोहित हो गये, मूर्च्छित हो गये, भगवान्को भूल गये, भक्ति भूल गये और बस यही सुन्दर है, यही मधुर है, यही सुखकर है, इसमें फँस गये। इसीका नाम सम्मोहको प्राप्त होना है।

अब यह प्रश्न हुआ कि सभी सम्मोहको प्राप्त हो गये, कोई नहीं बचा? बोले—नहीं, कोई-कोई बच जाता है। यहाँ एक वाचो—भंगी—बोलनेका ढंग ऐसा है कि जो फँस गये सो तो नपुंसक हैं और जो नहीं फँसे वे मर्द हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

इस संसारकी मोहक माधुरीमें क्या शब्दके भेद हैं, क्या स्पर्शके भेद हैं, क्या रूपके भेद हैं, रसके भेद हैं, गन्धके भेद हैं, तरह-तरहके मनोरथ हैं, तरह-तरहके अभिमान हैं, तरह-तरहके अभ्यास हैं, उनमें मनुष्य फँस जाता है, तो **भूतानि संमोहं यान्ति।** तो भूत हैं, प्राणी हैं, जन्तु हैं साधारण लोग हैं—भूतानि नपुंसक शब्द है—वे सम्मोहको प्राप्त होते हैं और **येषा त्वन्त गतं पापं ते द्वन्द्व मोह निर्मुक्ता भजन्ते**—यह पुल्लिंग पद है। 'ते' का प्रयोग होनेसे यह पुल्लिंग है ऐसा मालूम पड़ता है। तो पुरुष कौन है? पुरुष वह है महाराज, जो कितने भी मोहक विषय, मोहक दृश्य संसारमें सामने आवें और उनमें फँसे नहीं, भगवान्का भजन करता रहे। कभी भयका प्रसंग आता है, कभी हर्षका प्रसंग आता है, कभी मोहका प्रसंग आता है; बोले—मूढ़ लोग उसमें फँस जाते हैं और पंडित इसमेंसे निकल जाते हैं। भारत सावित्रीका जो पद है न, माने महाभारतकी गायत्री, वह क्या है?

हर्ष स्थान सहस्राणि भयस्थान शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढं आविशन्ति न पण्डितम्॥

यह जिन्दगी लम्बी, इसमें कई बार हर्षके प्रसंग आते हैं,अगर उनमें फँस जाओगे तो याद कर करके फिर रोना पड़ेगा कि हाय-हाय हमारे तो एक दिन ऐसा सुख मिला था, ऐसा हर्ष आया था, अब वह नहीं है, रोना ही तो पड़ेगा न उसके लिए। और किसी दिन भयका प्रसंग आवेगा, शोकका प्रसंग आयेगा और उसमें फँस जाओगे तो बादमें यही तो होगा कि हाय-हाय हमने कितनी गलती की। तो इन प्रसंगोंमें नहीं फँसना, भगवान्का भजन करना। अरे जीवनमें कभी जन्म होता है, पुत्रजन्म होता है, कभी विवाह होता है, कभी यज्ञोपवीत होता है, कभी उत्सव मनता है, सब आते-जाते ही तो हैं न! कभी कोई रिश्तेदार बिछुड़ जाता है, कभी कोई मर जाता है, कभी कोई शरीरमें रोग हो जाता है, अरे सैकड़ों बार तो सब देख चुके हैं, अब क्या बाकी है?

श्रीयमुनाचार्यजी महाराजने कहा—कि महाराज हमको दुःखोंसे कोई डर नहीं है, आप देखो, क्या बढ़िया बात है—

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा, सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।

दुःख तो मेरे लिए सहज है, अनादि कालसे अबतक, जबसे भगवान्का विस्मरण है तबसे, सब भावसे दुःख आते जाते हैं और मैं सहता जाता हूँ, अबतक हजारों तरहके दुःख सह चुका हूँ, अब तो सृष्टिमें मेरे लिए कोई नया दुःख नहीं है, 'सर्व सहे मे सहजं हि दुःखं' मैं सब तरहका दुःख सह सकता हूँ, हजारों बार मर चुका हूँ, मृत्युका दुःख सह चुका हूँ, दुःख सहना तो मेरे लिए सहज है। पर प्रार्थना यह है कि—

किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः।

किन्तु हम तुम्हारे आगे शरणागत हुए हैं, तुम्हारे चरणों पर हमने अपना सिर टेक दिया है, अब तुम्हारे होकर हम यदि दुःखोंसे हार जायेंगे, तो लोग यही कहेंगे कि भगवान्का शरणागत भी दुःखोंसे दब गया, दुःखोंसे हार गया। हमें दुःखोंके आनेका डर नहीं है, लेकिन तुम्हारा कहलाकर, तुम्हारा होकर, तुम्हारा शरणागत होकर मैं दुःखोंसे डर जाऊँ, हार मान लूँ, यह बात हमारे विरुद्ध नहीं, तुम्हारे विरुद्ध है, क्योंकि सेनाकी हार राजाकी हार होती है। राजा भले महलमें बैठा हो भोग कर रहा हो, लेकिन यदि उसकी सेना हार गयी तो राजा हार गया। भक्तका हार जाना, दुःखोंके सामने, यह तो भगवान्का हार जाना है। इसलिए प्रभु! मैं हारने लगा हूँ तो यह आपकी हार है। यह भक्त लोगोंका दृष्टिकोण है।

भगवान्का भजन कौन करते हैं? संसारमें ज्यादातर लोग धनका भजन करते हैं, स्त्रीका भजन करते हैं, पुरुषका भजन करते हैं, सगे-सम्बन्धीका भजन करते हैं, ऊँची कुर्सीका भजन करते, अपने शरीरका भजन करते हैं, अपने अहंकारका भजन करते हैं। कोई-कोई जीव वासना ऐसी होती है जो इन सब सांसारिक आसक्तियोंसे अपनेको उठाकर भगवान्के भजनमें लगा दे। तो ऐसा कौन लोग करते हैं? कि—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

'येषां तु'में तु शब्द महद् वैलक्षण्यका सूचक है। बड़ा ही विलक्षण है यह। क्या? बोले—अभेद तो नियम होता है और एक अपवाद होता है। उत्सर्ग और अपवाद बोलते हैं इसको व्याकरण शास्त्रमें। एक बार तो कह दिया कि सब लोग फँस जाते हैं। फिर कहते हैं कि ऐसे लोग नहीं फँसते। तो सब लोग

फँस जाते हैं—यह तो सामान्य नियम हुआ, लेकिन इसमें-से कौन-कौनसे लोग बच जाते हैं इसका नाम अपवाद है। जैसे घरमें संगत बैठी हो खानेके लिए, बोले—भाई, सबको लड्डू परसो, हल्वा परसो, मालपूआ परसो, पूरी परसो, पर इनको रोटी परोसना। तो क्या हुआ इसमें? कि लड्डू-हल्वा, मालपूआ सबको परोसना, तो सबमें तो वह भी आगया था, लेकिन इनको रोटी परोसना कह देनेसे वह बच गया। तो सब लोग संसारमें मोहित हो जाते हैं, लेकिन ऐसे लोग बच जाते हैं। वे कौन-से लोग हैं? तो बताते हैं—

येषां पुण्यकर्मणाम् जनानां पापं अन्तगतं।

जो ऐसे हैं कि जिन्होंने जन्म-जन्ममें पुण्य कर्म किये हैं। यह जन शब्द जो है न, जो जन्म लेते हैं उनका नाम है जन। जन्म तो पापी भी लेते हैं और पुण्यात्मा भी लेते हैं और बारम्बार लेते हैं, लेकिन उनमें-से कोई पापी होते हैं और कोई पुण्यात्मा होते हैं। बोले—कौन पापी और कौन पुण्यात्मा? कैसे पहचानें? कि देखो भाई, जिसको जैसा करनेकी आदत होती है, वह वैसा ही करता है। तो पूर्वजन्मका यह पापी है कि पूर्वजन्मका पुण्यात्मा है, इसकी पहचान क्या? कि इसकी पहचान यह कि इस जन्ममें पाप करता है तो उसको पूर्वजन्मका भी पापी समझो और इस जन्ममें पुण्य करता हो, तो उसको पूर्वजन्मका भी पुण्यात्मा समझो। वह तो आदमीको देखकर ही पता चल जाता है कि वह पापी है कि पुण्यात्मा।

जिससे मनुष्य पवित्र बने उसका नाम पुण्य है—*पूयते अनेन इति पुण्यम्।* जिससे मनुष्यका हृदय पवित्र होवे उसका नाम पुण्य। ऐसे कर्म करो जिससे हृदय पवित्र बने।

यदि भोगमें राग बढ़ता हो और भोगका अभिमान होता हो कि हमको यह-यह भोग मिल रहा है, हमको ये-ये मित्र मिल रहे हैं, हमको यह-यह सम्पत्ति मिल रही है, हमको यह-यह ऊँचा पद मिल रहा है, यदि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे अपनेमें बड़प्पनका अनुभव होवे तो समझना कि हमारा दिल भगवान्‌से न फँस कर संसारमें फँस रहा है। यदि संसारकी वस्तुकी प्राप्तिसे या उसके भोगसे अपने चित्तमें रसकी उत्पत्ति होती हो तो समझना कि हम भगवान्‌से विमुख हो रहे हैं। और जब संसारकी वस्तुके त्यागसे, वैराग्यसे, निवृत्तिसे, अन्तर्मुखतासे, गुरुकी आज्ञाके पालनसे भगवान्‌के

भजनसे यदि रसकी उत्पत्ति हृदयमें होती हो, तो समझना कि अब परमार्थके रास्तेमें हम आगे बढ़ रहे हैं।

हृदयकी अशुद्धि क्या है? कि हृदयकी अशुद्धि है वासना। वासना ही हृदयकी सबसे बड़ी अशुद्धि है। तो जो भी कर्म करो वह अपनी इच्छाके अनुसार मत करो, अपनी वासनासे मत करो, गुरु-शास्त्रकी आज्ञासे करो, तो उसमें तुम्हारी वासना नहीं रहेगी।

एक मुसलमान सन्त सूफी फकीर कहते थे कि अगर आदमी अपने मनसे पुण्य कर्म करता है तो उसको अभिमान बढ़ता है कि हाँ-हाँ हमने कैसा पुण्य कर्म किया है। अपने मनसे किये हुए पुण्यकर्मका फल अभिमान है और अपने गुरुजनोंकी आज्ञासे यदि कभी वह कोई गलत कर्म भी कर दे तो उसको अभिमान नहीं होता, यह होता है कि इसकी जिम्मेवारी उनकी है, हमारी नहीं है। तो गुरुजनोंका बताया हुआ गलत काम भी अभिमानसे छुड़ानेवाला, संसारसे छुड़ानेवाला होता है और अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए, अपने मनसे किया हुआ अच्छा काम भी संसारमें गिरानेवाला होता है, क्योंकि असलमें कर्ममें शक्ति नहीं होती है, वह तो उसके पास जब हम अपना अभिमान जोड़ते हैं तब वह अच्छा-बुरा बनता है। अभिमान जोड़े बिना महापुरुषोंके जो काम होते हैं वे उनके लिए अच्छाई-बुराई बनते ही नहीं हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १८.१७

तो पुण्यकर्म करो। अब यह पुण्यकर्म करनेका भागवतमें बताया कि पुण्यकर्मसे भक्ति होती है। आप जानते हो गोस्वामी तुलसीदासजीने बहुत मजेसे इस बातको बताया है। वे कहते हैं—

बिनु देखें रघुवीर पद जियकी जरनि न जाय।

भगवान्‌के चरणारविन्दका दर्शन हुए बिना जो दिलमें जलन होती है, वह जलन नहीं मिट सकती। हृदयमें जो आग लग रही है वह आग तबतक नहीं बुझ सकती, जबतक भगवान् रामचन्द्रके चरणारविन्दका दर्शन न हो।

अच्छा, अब बताओ भगवान्‌के चरणारविन्दका दर्शन कैसे होगा? कि—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।

किएँ कोटि जप जोग बिरागा॥ उ.का. ६१.१

अनुरागके बिना, प्रेमके बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होगी और अनुराग कैसे मिलेगा? बोले—

मोह गए बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥ ६१॥

जबतक संसारका मोह नहीं छूटेगा, तबतक भगवान्‌के चरणारविन्दमें अनुराग नहीं होगा। अच्छा भाई, यह मोह कैसे छूटेगा? कि—

बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।

भगवान्‌की कथाके बिना मोह नहीं जायेगा। बोले—भाई, यह कथा कहाँ मिलेगी? बिना सत्संगके हरिकथा नहीं मिलेगी। तो भगवत्कथाके लिए सत्संग करना चाहिए। फिर यह हुआ कि यह सत्संग कैसे मिलेगी? बोले—

पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सत्संगति संसृति कर अन्ता॥ उ.का. ४४.७
बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता। सु.का. ६.४

त्वं पदार्थ प्रधान मार्ग यह है। अपनेको प्रयत्न करना हो, साधन करना हो, तो पुण्यपुंजसे सन्त मिलते हैं। और भगवान्‌की कृपा—तत्पदार्थकी कृपा उतर आवे, तो सन्त मिलते हैं। और भगवान्‌की कृपा भी पुण्यात्माको ही अनुभवमें आती है। और पुण्य कैसा होता है—

पुण्य एक जग महुँ नहिं दूजा।
मन क्रम वचन विप्र पद पूजा॥ उ.का ४४.७

ब्राह्मणोंकी पूजा करो, वे बता देंगे कि सन्त कैसा होता है। शास्त्रमें सन्तका लक्षण कैसा लिखा हुआ है, उनसे मालूम पड़ेगा, तब सन्तको पहचानोगे। सन्तको पहचानोगे उनके संसर्गसे। सत्संगमें भगवत्कथा होगी। भगवत्कथासे मोह हटेगा। मोह हटनेसे भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग होगा और अनुरागसे भगवान्‌के चरणारविन्दका दर्शन होगा—

रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥ अयो. ३२३.८

जिनके हृदयमें भगवान्‌का अनुराग पैदा होता है उनको संसारका शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्यारा नहीं लगता। श्रीमद्भागवतमें पुण्य कर्म शब्दका अर्थ भक्तिके साथ यदि मिला दें तो—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥ भा. ३.२५.३२-३३

बोले—भाई, यह जो हमें इन्द्रियाँ मिली हैं, ये देवता हैं। देखो सूर्य देवता आँखमें बैठे हैं, दिग्देवता कानमें बैठे हैं, वायु देवता त्वचामें बैठे हैं, वरुण देवता जिह्वामें बैठे हैं, अश्विनी कुमार देवता नासिकमें बैठे हैं, इन्द्र देवता हाथमें बैठे हैं, उपेंद्र देवता—विष्णु देवता पाँवमें बैठे हैं। बिना विष्णुके गति नहीं होती, बिना इन्द्रके कर्म नहीं होता। अग्नि देवता वाक्‌में बैठे हैं। तो ये सब देवता हमारे शरीरमें बैठे हुए हैं। ये क्या करते हैं? कि **गुणलिङ्गानाम्**—संसारकी वस्तुओंको दिखाते हैं और सब वस्तुओंको दिखाते हैं, कभी मना नहीं करते। कान अच्छा-बुरा दोनों सुना दे, सूर्य अच्छा-बुरा दोनों दिखा दे, वायु अच्छा-बुरा दोनों फैला दे। ये सब अच्छा-बुरा दोनोंके लिये तुमको छुट्टी देकर बैठे हुये हैं। देवता लोग संसारसे छुड़ाते नहीं। वे तो जैसा संसार आवे वैसा दिखाते हैं। तब गुरुकी आज्ञाके अनुसार चलो, वह संसार छुड़ावेगा। वह कहेगा कि देखो कानसे यह बात सुनो और यह मत सुनो। इसको यह मत मानो कि गुरुकी आज्ञा ग्लानि मालूम पड़े, पराधीनता मालूम पड़े, नियन्त्रण मालूम पड़े। सीताराम-! राधेश्याम! वह कहाँ जायेगा? उसको तो ये इन्द्रियोंमें बैठे हुए देवता विषयोंमें ले जायेंगे, संसारमें ले जायेंगे।

देवानां गुणलिङ्गानां ये तो विषयोंको दिखानेवाले हैं। क्या करना? **आनुश्रविक कर्मणां** जो नियम है एक अपने गुरु सम्प्रदायसे प्राप्त हुआ आदेश निर्देश जो देखनेको कहें; देखो, जो करनेको मना कर दें उसको मत करो। जो सुननेको कहें सो सुनो, जिसको मना कर दें उसको मत सुनो। जो करनेको कहें सो करो। जहाँ चलनेको कहें वहाँ चलो। इसका नाम होता है आनुश्रविक कर्म। माने वासनाके अनुसार प्रवाही जीव मत बनो, वासनाके अनुसार संसारमें बहनेवाले जीव मत बनो। गुरु, शास्त्र, सम्प्रदायकी आज्ञा मान करके, इन्द्रियोंकी उच्छृंखल प्रवृत्तिको रोको, ठीक ढंगसे चलाओ। तब हृदयमें जो तमोगुण और रजोगुणकी अधिकताके कारण जो सत्त्वगुण दब गया है, वह प्रकट होता है और मनमें सत्त्वगुण प्रकट होता है। मन एकाग्र

होता है, परमात्मामें लगता है। फिर तो स्वाभाविक रूपसे परमात्माका भजन होने लगता है। तो पुण्य कर्मका उदय हुए बिना, वेदोक्त कर्म किये बिना भजन नहीं होता। यही शास्त्रमें बताया—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ भा.११.४६

इसलिए वेदोक्त, शास्त्रोक्त, सम्प्रदायोक्त, गुरुक्त, अपने लिए खास तौरसे गुरुने जो बताया है वही करो। और वे सब पुण्य कर्म जो होते हैं वे सामान्य पुण्य कर्म करो, सामाजिक पुण्य कर्म करो और गुरुका बताया हुआ जो पुण्य है वह करो। यह प्राईवेट पुण्य कर्म है। सब महापुरुष महापुरुष हैं, लेकिन अपना जो गुरु है वह प्राईवेट महापुरुष है। सब देवता देवता हैं। लेकिन अपना इष्ट देव प्राइवेट इष्ट देव है। अपने ध्यानके लिए जो भगवान्का रूप, उसका नाम इष्ट है। अपनेको मार्ग बतानेवाला जो महापुरुष, उसका नाम गुरु है। सात करोड़ मन्त्र हैं। अब उनमें कहो कि हम सब जपेंगे, तो जिन्दगी बीत जायेगी पूरे नहीं होंगे। एक-एक बार पूरे होंगे। जिसका एक मन्त्र अपना, नर्मदाका वह पत्थर जो तुम अपने लिए ले आये हो अपने घर, सेवा-पूजा करनेके लिए, वह तुम्हारे लिए शंकर है। और नर्मदाके सब पत्थरकी पूजा करो, तो? फँस जाओगे। कर नहीं सकते। तो **द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता**—जब मनुष्य वासनाको छोड़कर परमात्माके मार्गमें चलने लगता है, तो कई लोग सकाम भावसे उपासना करते हैं। तो बताते हैं कि नहीं, **द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता**—यह द्वन्द्वका मोह छोड़ दो। द्वन्द्व क्या है? कि द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम्। जब दो-दोका झगड़ा लग जाता है कि यह राग है, यह द्वेष है, तो यह द्वन्द्व हो गया। एकसे राग करोगे तो दूसरेसे द्वेष हो जायेगा। क्योंकि पहले तो केवल अपना और उसका सम्बन्ध होता है। जब हम दूसरेसे राग कर बैठते हैं, तो अपनेको कोई गाली दे तो सह भी लें, लेकिन जिससे राग हो उसे कोई गाली दे तो सहन नहीं होता। यह महाराज, संसारमें दोहरा बन्धन आगया पहले तो अपनेको गाली देनेवालेसे ही द्वेष होता था, अब तो जिससे राग है उसको गाली देनेवालेसे भी द्वेष होगा। अपनेको तो बचा भी लेते कि हमको कोई गाली दे तो सह लेना अपना धर्म है, इससे हमारी सहनशक्ति बढ़ेगी, इससे हमारी तपस्या होगी, इससे हमारी तितिक्षा बनेगी।

लेकिन अगर किसीसे राग हो जाय तो उसको दी हुई गाली सहन नहीं होगी, क्योंकि उसको तितिक्षा नहीं मानोगे, तपस्या नहीं मानोगे, वह तो सहन ही नहीं होगी। यह संसारमें फँसनेका उपाय है कि जब आदमी किसीसे राग करता है तो समझो उसको छोड़कर और सबसे उसका द्वेष हो जाता है। संसारका यही नियम है। और, जब किसीसे द्वेष होता है पक्का, तब वह चाहता है कि हम और संसार भरसे राग करेंगे, लेकिन उससे राग करके अपने द्वेष करनेवालेको दबा देंगे। आदमी घबड़ा जाता है। द्वेष जब किसीसे करता है तो वह सबसे राग करके फायदा उठाना चाहता है। और जब किसीके रागमें फँस जाता है तो सबसे द्वेष करके अपने रागस्पदको सुख पहुँचाना चाहता है। जो संसारमें राग-द्वेषमें फँस गया, उसको याद किसकी आवेगी? क्या भगवान्की? हे भगवान्!

हमारे एक महात्मा थे। उन्होंने चालीस दिन अनुष्ठान किया, अपने इष्ट देवताका ध्यान किया। एक दिन रातको डण्डा लेकर काले-काले चोर आकर खड़े हो गये—जो हो सो रख दो। अब दूसरे दिन देवताका ध्यान छूट गया, डरके मारे चोरोंका ध्यान आने लगा।

किसीसे महाराज राग हो जाय, भैंससे जिसका राग हो जाता है, वह दिन-रात भैंसकी याद करता है। हम तो देहाती आदमी हैं न भाई, बहुत, घनघोर देहातमें जन्म हुआ। जब भैंससे राग होता है, अपने कुत्तेसे कितना राग होता है यह तो आप शहरमें रहनेवाले जानते हैं न! कुत्तेके लिए भलेमानुसका तिरस्कार कर देते हैं। अगर उनके कुत्तेको कहीं चोट लग गयी या उनके कुत्तेकी किसीने निन्दा कर दी कि बड़ी नीच किस्मका है, छोटी जातिका है—ऐसे उनके सामने कह दो, तो वे आदमीको ही नाराज होंगे, अपने कुत्तेको नाराज नहीं होंगे। रागका यही रूप है कि जिससे राग होगा, उसको यदि बुरा भला कहो तो आदमी अपने कुत्तेको बड़ा मानेगा और अपने पिताको, अपनी माँको, अपनी पत्नीको, अपने गुरुको, अपने बड़े-से-बड़े व्यक्तिका तिरस्कार; रागके कारण कर देगा। तो ये राग-द्वेष करने वाले औरोंका तो क्या, ईश्वरका तिरस्कार करते हैं। वे कृष्णका ध्यान नहीं कर सकते। जिसका संसारमें किसीसे राग-द्वेष होगा वे कृष्णका, रामका ध्यान नहीं कर सकते, आँख बन्द करके बैठेंगे तो वही कुत्ता

आकरके हृदयके सिंहासनपर बैठ जायेगा। तब उनको क्या सोचना पड़ेगा, कि कुत्तेमें भी तो भगवान् ही हैं न, हमारे लिए इस कुत्तेके रूपमें ही भगवान् आये हैं। हाँ भाई, ठीक है, वह सब बढ़िया।

स्त्रीके रूपमें अगर राग होवे, ध्यान करने बैठोगे तो स्त्रीका रूप आवेगा। तब यह नहीं सोचोगे कि इसे हटा दो, भगवान्‌का ध्यान करना है। यह नहीं सोच सकते। क्या सोचोगे? कि बस-बस हमारे लिए भगवान्‌ने यही अवतार धारण किया है, हमारे हृदयमें।

ये जो राग-द्वेष हैं यही द्वन्द्व है। मनुष्य हमेशा इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले रूपमें राग करने लगता है और इन्द्रियोंको अप्रिय लगनेवाले रूपमें द्वेष करने लगता है। एकसे राग होगा तो सबसे द्वेष हो जायेगा, एकसे द्वेष होगा तो सबसे राग करके अपने द्वेषास्पदको मिटाना चाहेंगे। माने मनुष्यकी जो चित्तवृत्ति है वह छितरा जाती है। इसलिए महाराज जब जन्म-जन्मके किये हुए सत्कर्मका उदय होता है, तब मनुष्य निष्काम होकर द्वन्द्वमोहसे छूटकरके—**द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता**—द्वन्द्वके मोहसे निर्मुक्त होकर बचकर भजन्ते मां दृढव्रताः।

अब द्वन्द्वके मोहसे छूटना। महात्मा गाँधी कहते थे—उनके एकादश महाव्रत हैं और विनोबाजी उनकी अच्छी व्याख्या करते हैं। गाँधीजीने ग्यारह बात मानी है, उनमें एक ब्रह्मचर्य भी है। तो ब्रह्मचर्यकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि भला सत्यके प्रेमीके लिए ब्रह्मचर्यकी क्या आवश्यकता है? आप कभी पढ़ना उसको तो मालूम पड़ेगा। सत्यके प्रेमीके लिए ब्रह्मचारी की क्या आवश्यकता है? तो बोले—क्योंकि जब आदमी ब्रह्मचर्य पालन नहीं करता, दो होकरके सामने आता है, तो उसमें यह होता है कि पहले हम दोनोंकी भलाई होवे, बादमें दूसरेकी होवे। हम दोनोंकी भलाई करनेमें उसे देशकी भलाई भूल जाती है। इसलिए यदि देशका सेवक, सत्यका प्रेमी, अहिंसाके मार्गपर चलनेवाला, अकेला रहता है तो ठीक चलता है। जब दो होकर चलता है, तब वह गलत चलता है। महात्मा गाँधीजीने ब्रह्मचर्यकी व्याख्यामें ऐसे कहा है।

द्वन्द्वमोह निर्मुक्तामें द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम्। द्वन्द्व शब्दका अर्थ है स्त्री-पुरुष, **राग-द्वेष सुख-दुःख।** इन सबके मोहसे निर्मुक्त होकरके क्या करते हैं? कि

दृढव्रताः सन्तः मां भजन्ते—व्रतका दृढ़ होना यह ईश्वरकी बड़ी कृपा है। क्योंकि व्रत दृढ़ होना शक्य नहीं है।

इलाहाबादमें एक अफसर थे बहुत ऊँचे, हाईकोर्टके जज थे। उनके ऊपर एक मुकदमा चल गया। मुकदमेंमें ऐसा आरोप लग गया कि इन्होंने कुछ रिश्वत ली है, घूस ली है, फैसला गलत दिया है। तो फिर महाराज, उन्होंने बुलाये ब्राह्मण और यह हुआ कि अनुष्ठान हो। तो घरमें अनुष्ठान बैठ गया। पाँच-दस ब्राह्मण बैठ गये, कलश-स्थापन हो गया। जब मुकदमा चलता है तो एक-एक बात कई बार पूछते हैं, मामला सुप्रीमकोर्ट तक जाता है। एक मुद्दा यह हुआ उसका, तो दूसरा मुद्दा निकला, दूसरा मुद्दा तय हुआ तो तीसरा मुद्दा निकला। तो एक बार वे हार गये। बोले—हटाओ ब्राह्मणोंको, यह अनुष्ठान-वनुष्ठान कुछ नहीं, सब बेकार है। फिर महाराज, दूसरा मुद्दा निकला। फिर फँसे उसमें। भाई शायद कुछ फायदा होता हो, तो फिर बुलाओ। फिर ब्राह्मण बुलाये गये, फिर कलश-स्थापन हुआ, फिर पूजा हुई, जीत गये। बोले—बहुत बढ़िया। फिर तीसरा मुद्दा आया उसमें हार गये तो बोले—निकालो इनको।

जो लोग सकाम होते हैं न, कामनाके अधीन, उनका जो भजन है न, बेटाके लिए आये और बेटी हो गयी, तो नाराज महाराज! बोले—मुकदमेमें जीत जायँ, हार गये तो नाराज महाराज! सकाम पुरुषोंका जो भजन है वह अपनी वासनापूर्तिके लिए होता है। उनकी वासनापूर्ति हुई, तब तो भजन किया और वासनापूर्ति नहीं हुई तो छोड़ दिया! उनके व्रतमें दृढ़ता नहीं आती है। आज पकड़ा और कल छोड़ दिया और कल पकड़ा और आज छोड़ दिया। ऐसा ही उनके जीवनमें चलता रहता है। पकड़में दृढ़ता कब आती है? जब मनुष्य निष्कामभावसे ईश्वरको भजता है।

एक बात इसमें यह ध्यान रखना कि जिसको पकड़ा जाय वह तो ईश्वर हो, हमेशा रहनेवाला, परमात्मा अविनाशी, शास्त्रमें जिसको ईश्वर बोलते हैं उसको और पकड़नेवाला जो है न, वह देहाभिमानी, अपने देहको बचाये रखनेके लिए न पकड़े बल्कि ऐसा पकड़े कि—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरऊँ सम्भु न त रहऊँ कुआरी॥ बाल ८०.५

जिसको पकड़ा जाय उसके नाशकी तो शंका न हो और जो पकड़े वह अपने नाशसे, अपनी मृत्युसे निर्भय होय। एक जन्म नहीं, दस जन्म, हम तो बस इसीको पकड़कर रहेंगे। तो पकड़नेवाला अपनेको देह मानकर देहासक्त न हो और जिसको पकड़े वह ईश्वर हो और पकड़नेमें कोई कामना न हो। अब देखो, व्रतकी दृढ़तामें शंका नहीं रह गयी। अब तुम्हारा व्रत पक्का होगा! अब तुमको दोनों ओर लाभ होगा। बोले—तुम कुछ चाहते भी थे? मान लो चाहते थे कि हमारे बेटा ही हो जाये और नहीं हुआ, परन्तु भगवान्‌का भजन करते हैं। तो यह हुआ कि अब ईश्वरकी यह इच्छा होगी, ईश्वरने यह समझा होगा कि बेटा होनेमें इनका नुकसान है, न होनेमें ही इनका फायदा है। ऐसा ईश्वरने समझा होगा। उसकी समझ हमारी समझसे बड़ी है। उसने यह सोचा होगा कि अभी तो हमसे प्रेम करते हैं, लेकिन बेटा हो जायेगा तो बेटेसे प्रेम करने लगेंगे, हमारा प्रेम घट जायेगा। तो अपना प्रेम न घटे इसके लिए बेटा नहीं होने दिया। माने जो ईश्वर करे, उसीमें मंगल मानना है।

स देवो यदेव कुरुते तदेव मंगलाय।

भक्त जबतक कथावाचक रहता है—कथावाचक माने भगवान् जैसे करें उसमें अपनी भलाई ढूँढ़ ले—तबतक वह ईश्वरके प्रति दृढ़व्रती रहता है। कथावाचकका काम यह है कि जो ग्रन्थमें लिखा हो, उसके पक्षमें जो-जो युक्ति हो, जो-जो तर्क होवे सो लोगोंको सुनावे। संसारमें जो घटना घटित हो रही है, वह हमारा प्यारा ईश्वर, हमारा प्यारा प्रभु, हमारा हितैषी प्रभु कर रहा है उसके हाथसे यह घटना घट रही है, तो अब तुम्हारे व्रतमें दृढ़ता आ जायेगी। जिसके मनमें वासना होगी, वह दृढ़ नहीं होगा। जिसके मनमें मोह होगा किसीका, वह दृढ़ नहीं होगा, वह तो जैसे उसके मनकी रहे वैसा करेगा और मनकी न रहे तो उसकी दृढ़ता, उसकी पकड़ छूट जायेगी। लेकिन महाराज, दृढ़ता आनेपर **भजन्ते मां दृढव्रताः।**

२९-३०. भजनका प्रयोजन और आश्रय और उसकी पूर्णत्व

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ७.२९-३०

अर्थ :–जो लोग जरामरणसे मोक्ष पानेके लिए मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं वे उस परिपूर्ण ब्रह्मको सम्पूर्ण अध्यात्म और अखिल कर्मके साथ जान जाते हैं॥ २९॥ जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित जानते हैं, वे युक्तचित्त वाले मुझको अपनी मृत्युके समय भी जानते हैं॥ ३०॥

: २९-३०.१ :

भजनका प्रयोजन और फल

भजन किसका? बोले—भजन भगवान्‌का होवे और कोई भजन नहीं चल सकता। कैसे भजन करते हैं? वह बताते हैं। भगवान् चाहते हैं कि अर्जुन कुछ पूछे यह भी कृपा है। बोले—खुद तो कोई प्रश्न नहीं उठता है। बोले—अच्छा कोई ऐसी बात कर दो जिससे इनके मनमें प्रश्न उठ जाय। नहीं तो ऐसे ही। अगर प्रेम न हो अर्जुनका, तो कह दे कुछ ऐसी बात बोल रहे हैं जो हमारी समझमें नहीं आ रही है, जाने दो, ऐसे समझकर क्या करना

है, कि भाई इससे हमारा क्या मतलब है? अरे देखो, ये तो ऐसी बात बोलते हैं जो हमारी समझमें नहीं आती है, तो इनकी सुनना ही नहीं। अर्जुनको तो प्रेम है भगवान्‌से। इसलिए भगवान् कैसी भी बात कहें, उसको वह समझनेकी कोशिश करता है। भगवान् सोई हुई जो जिज्ञासा है, वह जगाकर अर्जुनको ज्ञानी भक्त बनाना चाहते हैं। माने अब देखो, अर्जुन अपनेको तौले कि मैं आखिर कौन भक्त हूँ?

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। ७.१६

बोले—अर्थार्थी भक्त हूँ? मैं अर्थ तो चाहता नहीं; धर्मराज युधिष्ठिर भले राज्य चाहते हों, हम तो नहीं चाहते। बोले—अच्छा, तुम्हारे ऊपर कोई आर्ति आ गयी? शोकसंविग्नमानसः। बोले—भगवान्‌ने उनको भी अच्छा भक्त नहीं बताया। बोले—सबसे श्रेष्ठ भक्त तो ज्ञानी है। अभी तो हमारे जिज्ञासा ही नहीं हुई, ज्ञानी कहाँसे होंगे? भगवान् कहते हैं कि देखो, हम ऐसी बात कहते हैं कि तुम्हारे मनमें जिज्ञासा आजाय और जिज्ञासा आनेसे तुम ज्ञानी हो जाओगे इसलिए ऐसी बात बोलते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

देखो भाई, किसी (लौकिक) प्रयोजनके लिए भजन नहीं करना, यह बात बताते हैं। **जरामरणमोक्षाय।** भजनका प्रयोजन क्या हो? कि जन्म और मृत्युसे छूटना। यह 'जरा' जो है न, यह मृत्युके बहुत पास रहती है। जरा माने बुढ़ापा, जीर्ण होना। हमारे पूर्बिया भाषामें बोलते हैं—**अरे बुढ़ापा तोरे मारे हम तो अब नकियाय गये हैं।** नकियाय गये माने ऊब गये। माने नाकतक आगया। तो जरा-मरण मोक्षाय। बुढ़ापा और मृत्यु—ये दोनों साथ-ही-साथ हैं, साथी हैं न, संगी हैं। बुढ़ापा तो मौतका झण्डा है।

श्रवन समीप भए सित केशा।

कानके पास बाल सफेद हो गये।

मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा। आयो. १.७

बुढ़ापा उपदेश कर रहा है भाई, अब सावधान हो जाओ, अब चलनेकी बारी आ गयी—

आई गवनवाकी सारी, उम्र मेरी बारी।

अब गौना जानेकी साड़ी आ गयी। अब ससुरालकी साड़ी आगयी।

भाई मेरे, वृद्धावस्थामें पराधीनताका दुःख है। जिनको जिन्दगीभर कमाकर खिलाते हैं, बड़ी आशासे ब्याह करते हैं कि बच्चा पैदा होगा, बड़ा होगा तो बुढ़ापेमें हमारी सार सँभाल करेगा। मैंने एक दिन सुनाया था आपको, आगरेमें एक जज साहब थे। चार-पाँच बेटे थे। सबको पढ़ाया उन्होंने, कोई कलक्टर हुआ, कोई बैरिस्टर हुआ, ब्याह हुआ, बहुएँ आयीं। पर जब वे हो गये बूढ़े तो बहुओं ने कहा पिताजी नीचे रहते हैं, हर समय खाँसते रहते हैं और हम लोगोंके भी नाचने-कूदने, हँसने-खेलनेमें उनको तकलीफ होती है, तो ऊपर करदो। पिताजी ऊपर गये तो घंटी रख दी गयी कि प्यास-व्यास लगे तो बजावें। तो घंटी बजाते थे। जब खाँसी आती थी, थूकना होता था तो घंटी बजाते थे, कोई पानी देनेवाली नहीं; अन्तमें आखिरी दिन उनका हाथ नहीं उठा कि घंटी बजे और प्यासे मर गये। अपने जीवनमें लाखों रुपया कमाया, लेकिन अन्तमें बेटेने साथ नहीं दिया, बहूने साथ नहीं दिया, पोतेने साथ नहीं दिया! यह बुढ़ापा महाराज, बड़ा दुःख लेकर आता है और मौत तो साथ लगी ही हुई है। जिसके भगवान् शरण नहीं हैं, उसके मरण ही शरण है। इससे छूटनेके लिए और कुछ नहीं चाहिए, अर्थ नहीं चाहिए, आर्तित्राण नहीं चाहिए, और कुछ नहीं चाहिए, कैसे भी छुटकारा मिले। अब जन्म-मृत्युके चक्करमें हम न आवें, अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लें। प्रयोजन दूसरा न हो—एक बात। माने और कुछ पानेके लिए नहीं, केवल जरा-मरणसे मोक्ष पानेके लिये। और दूसरी बात **मामश्रित्य यतन्ति**—मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं और दूसरेका आश्रय नहीं। दूसरी वस्तुकी इच्छा नहीं और मामाश्रित्य अर्थात् केवल भगवान्‌का आश्रय। दूसरेका आश्रय नहीं। जप, तप, ध्यानका भी आश्रय नहीं, आश्रय केवल भगवान्‌का।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। १८.६६

तो बोले—अच्छा भाई, भगवान्‌का सहारा ले लिया तो साधन छोड़ दें? कि नहीं, नहीं, जबतक हाथ-पाँवमें ताकत है, तबतक खींचते रहना। जबतक जुबानसे बोल सकते हो, तबतक पानी-पानी-पानी बोलो भाई। माने कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण बोलते रहो, प्रयत्न करते रहो। तो भगवान्‌का ही आश्रय

हो, दूसरेका नहीं, इसके लिए तो 'मामाश्रित्य' और 'जरा-मरण मोक्षाय' है कि जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट कर भगवान्को प्राप्त करें, इसके सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन न हो और तीसरे साधन होता रहे—'यतन्ति ये'—यत्न नहीं छूटे, यत्न होता रहे।

बहुत लोग ऐसे होते हैं जो कहते हैं—भाई, यत्न तो भगवान् ही कर लेंगे। बोले—हाँ, पैसा कमानेका यत्न तुम करो और तुम्हारे उद्धारका यत्न भगवान् करेंगे! तुम किसका यत्न कर रहे हो? बोले—महाराज, हम तो ब्याहका यत्न कर रहे हैं, बेटेका यत्न कर रहे हैं, धनका यत्न कर रहे हैं। भला ईश्वर प्राप्तिके लिए भी कुछ करते हो? बोले—महाराज, हम तो ब्याहका यत्न कर रहे हैं, बेटेका यत्न कर रहे हैं, धनका यत्न कर रहे हैं। भला, ईश्वर प्राप्तिके लिए भी कुछ करते हो? वह तो भगवान्की कृपा है, वे अपने आप ही सँभाल लेंगे। संसारको तुम सँभालोगे और तुमको भगवान् सँभालेंगे? नहीं भाई, तुम भगवान्को सँभालो, भगवान् तुमको सँभालते हैं। और तुम संसारको सँभालोगे, तो भगवान् अगर तुमको सँभालेंगे भी, तो तुमको पता नहीं चलेगा कि भगवान् हमको सँभाल रहे हैं। अनुभव कैसे होगा? तो इसलिए—**मामाश्रित्य यतन्ति ये।**

भगवान्का आश्रय, केवल भगवान्का आश्रय। इससे क्या होता है? तीन बात इसमें पहले बताते हैं और तीन बात बादमें बताते हैं और एक बात और है—**ते तद् ब्रह्म विदुः** वे उस ब्रह्मको जानते हैं, जिस ब्रह्मके जाननेपर मुक्ति हो जाती है। वह जो **सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म** कहकर श्रुतिमें जिसका वर्णन है, जो प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न है, उस ब्रह्मको जान लेते हैं। और क्या जानते हैं? कि, **कृत्स्नमध्यात्मं**—अपने आपको भी जान लेते हैं। माने इन सब शरीरोंमें रहनेवाला जो आत्मा है उसको भी, त्वं पदार्थको भी जान लेते हैं; और **तद् ब्रह्म** माने तत्पदार्थको भी जान लेते हैं। अर्थात् ब्रह्मकी अनन्तता और उससे अपना अभेद—उसको जान लेते हैं। और **कर्म चाखिलम्**— अखिलं कर्म—कर्मको भी जानते हैं।

कर्म क्या है? आत्मा और परमात्मा दोनोंको एक जाननेके लिए हमको कैसे शम दमादि साधन सम्पन्न होना चाहिए, कैसे श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना चाहिए, ये साधन-भजन सम्बन्धी सब कर्म वे जान लेते

हैं। यह एक बात है। बोले—**ते ब्रह्म तद्विदुः** वे उस ब्रह्मको, परमेश्वरको जान लेते हैं। और क्या जानते हैं? बोले—**अध्यात्मं**—हम उनके सेवक हैं, दास हैं, जीव हैं—इसको भी जान लेते हैं और **कर्म चाखिलम्** उनकी सेवा-पूजाके लिए, भजनके लिए, हमको क्या करना चाहिए? इसको भी जान लेते हैं। माने अपना रूप जान लेते हैं कि हम सखी हैं, सखा हैं, कि दास हैं—यह अध्यात्म हुआ; और ये उसके रूपको जान लेते हैं कि वे हमारे सखा हैं, कि प्रीतम हैं, कि ब्रह्म। और फिर **कर्म चाखिलम्**—हमें उनकी क्या सेवा करनी है? अपने रूपको जानना, परमेश्वरके रूपको जानना और उनके हमारे बीचमें जो सेवाका सम्बन्ध है, उस सेवाको ठीक-ठीक जानना।

अब इस प्रसंगको फिर कलके लिए रखते हैं।

❖

: २९-३०.२ :

मृत्युके समय ही मेरा ज्ञान

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ ७.२९

भगवान् श्रीकृष्णने तीन साधन बताया और फल बताया। तीन साधन क्या है? एक तो **जरामरणमोक्षाय**, माने मुमुक्षा चाहिए जरा और मरणसे मोक्षके लिये अर्थात् संसारकी कोई वस्तु नहीं चाहिए, केवल मोक्ष चाहिए, मोक्षस्वरूप परमात्मा चाहिए। परमात्मा और मोक्ष ये दोनों दो चीज नहीं है, एक है। अगर परमात्मासे अलग मोक्ष नामकी कोई चीज है तो मिथ्या है। जो परमात्मा है सो ही मोक्ष है, जो मोक्ष है सो ही परमात्मा है। वह तो अविद्याकी निवृत्तिकी उपाधिसे परमात्माका नाम मोक्ष है। जहाँ विद्या और अविद्याकी उपाधि नहीं है, वहाँ बंधन और मोक्षका नाम भी नहीं है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

हम परमात्माको पाना चाहते हैं। कैसे परमात्माको? बोले—मोक्षोपाधिक परमात्माको। क्योंकि हम इस समय बंधनका अनुभव कर रहे हैं। शब्दका बंधन, स्पर्शका बंधन, रूपका बंधन, रसका बंधन, गन्धका बन्धन, सम्बन्धका बंधन, मैं-मेरेका बंधन—ये सब बंधन हैं। तो इन बंधनोंसे जो मुक्ति है, उस मुक्ति-दशामें हम परमात्माका अनुभव करना चाहते हैं अर्थात् बंधके विरुद्ध जो दशा है, उसका नाम मुक्ति है और परमात्मा तो बंधनमें भी और मुक्तिमें भी है। परन्तु बंधन दशामें परमात्माका अनुभव स्पष्ट नहीं हो रहा है, इसलिए हम मुक्तिदशाकी कल्पना करके, उसमें परमात्माका स्पष्ट अनुभव कर लेना चाहते हैं। असलमें बंधन दशा जैसे कल्पित है, वैसे मुक्तिदशा भी कल्पित है। तो बंधोपाधिक परमात्मामें आनन्द नहीं आ रहा है, मोक्षोपाधिक परमात्मामें आनन्द आवेगा, इसलिए बंधनकी अपेक्षासे हम मोक्षकी कल्पना करते हैं। और अविद्या निवृत्तिका अधिष्ठान और प्रकाशक स्वयं परमात्मा है, इसलिए उसीमें औपचारिक दृष्टिसे मोक्ष शब्दका प्रयोग किया जाता है।

अच्छा, एक बात तो यह ध्यानमें रखनेकी है साधकके लिए कि उसको कोई योग्य नहीं चाहिए है, सम्पूर्ण बंधनोंसे छुटकारा चाहिए और दूसरी बात यह है कि, **मामाश्रित्य**—आश्रय परमात्माका होना चाहिए। आश्रय किसी व्यक्तिका, कि किसी साधनका, कि अपने बलका, कि अपनी बुद्धिका नहीं होना चाहिए, परमात्माका आश्रय होना चाहिए। और तीसरी बात यह है कि **यतन्ति ये**—प्रयत्न जारी रहना चाहिए, वह छूटना नहीं चाहिए। क्योंकि कभी-कभी लोग भगवान्‌का आश्रय लेकर प्रयत्नका त्याग कर देते हैं। जो प्रयत्नका त्याग कर देगा परमात्माकी प्राप्तिके लिए वह संसारकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न जरूर करेगा, खानेके लिए प्रयत्न करेगा, पहननेके लिए प्रयत्न करेगा, भोगके लिए प्रयत्न करेगा, अर्थके लिए प्रयत्न करेगा। तो मनुष्यके जीवनमें यह बेईमानी आगयी कि वह ईश्वरकी प्राप्तिके लिए तो प्रयत्न नहीं करता है और संसारकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न तो जारी रहे, माने भगवान्‌की जो सेवा-पूजा है

वह चलती रहे, जप, तप, ध्यान चलता रहे, शमदमादि सम्पत्ति चलती रहे, श्रवण मननादि जो साधन हैं वे चलते रहें। तो **यतन्ति ये**का अर्थ है कि साधन छोड़ो मत और, **मामाश्रित्य**का अर्थ यह है कि आश्रय साधनोंका मत लो, भगवान्‌का लो, वही उपाय है, वही उपेय है और, तीसरी बात यह है कि संसारकी कोई वस्तु मत चाहो, केवल परमात्माको चाहो। ये तीन बात—परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा, परमात्माका आश्रय और परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न, तो—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।

अब ये हो गये अधिकारी। ये तीनों बात जिससे है, जो इस प्रकारके प्रयत्न करते हैं, वे परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञानके अधिकारी हैं, यह चौथी बात कही गयी।

अब पाँचवीं बात यह बतायी जा रही है कि उनको इसका फल क्या मिलता है? इसका फल मिलता है यह कि वे ब्रह्मका अनुभव करते हैं। किस ब्रह्मका अनुभव उनको होता है? तो यह बताते हैं इस ब्रह्मका अनुभव होनेके बाद कोई अनुभव बाकी नहीं रहता—

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

जिसके जान लेने पर सब जान लिया जाता है। यह उपनिषद्‌में कथा आती है। श्वेतकेतु सम्पूर्ण विद्याओंका अध्ययन करके ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, आंगिरस, इतिहास, पुराण सबका गुरुमुखसे अध्ययन करके लौटा। आकर पिताके सामने बिल्कुट ठूँठकी तरह खड़ा हो गया, जैसे लकड़ी हो, झुके नहीं—ऐसे। पिताने देखा कि हमारा पुत्र पढ़कर आता है और प्रणाम नहीं करता है, विद्या तो इसने बहुत प्राप्त कर ली, परन्तु विद्याके साथ-साथ अभिमान भी इसने प्राप्त कर लिया। नारायण कहो, विद्याके साथ विनय आना चाहिए, अभिमान नहीं, **विद्या ददाति विनयं**। विद्या विनय देती है। आदमी झुक जाय, जिद्दी न हो। अभिमानके साथ जिद रहती है और विद्याके साथ समझदारीके साथ विनय रहती है। **बुद्धे फलं अनाग्रहम्** समझदारीका फल है कि मनुष्य जिद्दी न हो और अभिमानका फल है कि मनुष्य अपनी बातपर अड़ जाय, सूखा काठ बन जाये।

नारायण कहो, पिताके मनमें आया कि गुरुजीने पढ़ाया तो बहुत, लेकिन हमारे पुत्रका हित जैसा होना चाहिए, जैसी भलाई होनी चाहिए वह तो नहीं हुई। तो अब पुत्र तो आवे ही नहीं प्रणाम करनेको। वे खुद ही गये पुत्रके पास, बोले कि बेटा, तुम तो हमारे वंशमें बड़े ही सपूत निकले, अब तो तुमने सब विद्या प्राप्त कर ली है, यह तो बताओ जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, वह विद्या तुमने प्राप्त की? इसने कहा—पिताजी, ऐसी कोई विद्या हो ही नहीं सकती कि एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाय। **कथं नु एतत् संभवति**। पिताने कहा कि बेटा, संभव है ऐसा। उसने कहा कि यदि कोई ऐसी विद्या होती तो हमारे गुरुजीने हमको पढ़ाया होता और हम भी उसको जानते। अब ऐसी कोई विद्या है नहीं जो मैं नहीं जानता हूँ और गुरुजीने मुझे पढ़ायी नहीं है और हमारी पढ़ी हुई विद्यामें तो कोई ऐसी विद्या है नहीं। इसीको अद्वैत विद्या बोलते हैं, इसीका नाम ब्रह्मविद्या है—एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान। यह उपनिषद्‌की खास प्रतिज्ञा है। इसका नाम प्रतिज्ञा है। एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होना, यह उपनिषद्‌की प्रतिज्ञा है। अपूर्व प्रतिज्ञा है। उपनिषद्‌के सिवाय यह प्रतिज्ञा और कहीं नहीं है।

फिर पिताने कहा कि बेटे, जैसे एक लोहेके ज्ञानसे उपादानके ज्ञानसे, उस लोहेसे बने हुए सम्पूर्ण कार्य नहरना (Nail Cutter), सूई, हथौड़ा, सब जान लिया जाता है कि यह लोहा है, पहचान हो जाती है; जैसे एक सोनेके ज्ञानसे सम्पूर्ण आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है; जैसे एक मिट्टीके ज्ञानसे सम्पूर्ण मिट्टीसे बने हुए पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। प्रतिज्ञाकी सिद्धिमें दृष्टान्त हैं ये। जरूर हो सकता है। वह वस्तु जो है ना, जिसके ज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है, उस ब्रह्मको जाने बिना ज्ञान भी अधूरा, आनन्द भी अधूरा, उसके बिना जीवन भी अधूरा। जो अपनेको उस परमात्मासे अभिन्न नहीं जानेगा, उसको अपने जीवनके लिए दूसरेका सहारा लेना पड़ेगा, उसको अपने ज्ञानके लिए दूसरोंके अधीन होना पड़ेगा, उसको अपने आनन्दके लिए दूसरोंकी गुलामी करनी पड़ेगी, वह सच्चा मुक्त नहीं हो सकता, जिसने उस परमात्माको नहीं जाना।

उस परमात्माको जाननेका अधिकारी कौन? कि वह तीन बात— १. संसारकी वस्तु नहीं चाहिए, परमात्मा चाहिए। २. परमात्माका ही आश्रय चाहिए, और ३. अपनी प्रज्ञा और शक्तिसे जितना प्रयत्न हो सकता हो, उतना प्रयत्न करना चाहिए, तब उस ब्रह्मके ज्ञानका अधिकारी होता है।

अब वह ब्रह्म कैसा है?

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।

ते ब्रह्म विदुः। तत् विदुः। वे ब्रह्मको जानते हैं। उसको जानते हैं। उस ब्रह्मको जानते हैं। तो ब्रह्मके तीन नाम जो हैं न,

ॐ तत् सत् इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविध स्मृतः।

ब्रह्मके तीन नाम हैं—ॐ, तत् और सत्। तो यहाँ ॐ और सत्के बीचमें जो तत् है, वह नाम ले लिया। किस ब्रह्मको जानते हैं? कि तत् ब्रह्मको जानते हैं। यह तत् ब्रह्म क्या है? तत् ब्रह्मका अर्थ है जो ऐन्द्रियक नहीं है। जिसकी अनुभूति इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होती है, जो इन्द्रियोंसे परे है उसका नाम तत्। तत् माने परोक्ष होता है।

वैष्णव लोग कहते हैं तत् माने पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्म। क्षराक्षर विलक्षण पुरुषोत्तमाख्य जो ब्रह्म है सो तत् ब्रह्म है।

वेदान्ती लोग इसको कैसे बोलते हैं? तत्का अर्थ है एकत न। यत् एकत् न भवति तत् सत्। जो यह नहीं है सो। समझनेके लिए उसका विवेक करना जरूरी है। क्यों विवेक करना, तत्का विवेक कैसे करना? कि जैसे कहें कि आँखसे ब्रह्म दीखने लग गया। आँखसे तो केवल रूप दीखता है, ब्रह्म नहीं दीखता है। ब्रह्मका अर्थ तो बहुत विशाल होता है, कालातीत, देशातीत, विषयातीत। आँखसे तो छोटा दीखेगा न! आँखकी तो पुतली छोटी है। इस पुतलीके छेदमें-से जो रोशनी निकलती है वह रोशनी भी छोटी होती है और उस रोशनीमें जो दीख जाता है, सो भी छोटा हो जाता है। कृष्णने कहा कि—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम्॥ ११.८

बस, **दिव्यं ददामि ते चक्षुः न तु मां शक्यते द्रष्टुं अनेनैव स्वचक्षुषा। अनेनैव स्वचक्षुषा मां द्रष्टुं न शक्यसे**—इन आँखोंसे तुम मुझे नहीं देख सकते और

सामने बैठे हैं। इसका अर्थ है कि एक रूप वह है जो इस समय आँखोंसे दीख रहा है और भगवान् श्रीकृष्णका एक रूप वह है जो अभी आँखोंसे नहीं दीख रहा है। अब, दिव्यं ददामि ते चक्षुः, उसके लिए यह आँख नहीं चाहिए, दिव्य आँख चाहिए। यह बात है।

आप देखो, तत्का अर्थ क्या है? कि जीभसे जिसको चाट न सकें। एक रूप वह भी है परमात्माका, जिसको चाट सकते हैं, पर वह तो केवल स्वाद भर है न! एक रूप वह भी है जिसको सूँघ सकते हैं, लेकिन वह पूरा कहाँ है, वह तो गन्धभर है न! एक रूप वह है जिसको देख सकते हैं, एक वह है जिसको छू सकते हैं। एक वह है जिसको सुन सकते हैं, 'ॐ'—ध्वनि हो रही है, सुन सकते हैं। पर इन पाँचोंमेंसे कौन तत्? बोले—यदि पाँचों हैं, तब तो किसी भी इन्द्रियके द्वारा पूरा नहीं देखा गया। एक-एक इन्द्रियने उसका केवल एक-एक हिस्सा देखा। माने हमारी इन्द्रियोंमें उनको पूर्णरूपसे अनुभव करनेकी शक्ति नहीं है। हम उसकी पूर्णताके बारेमें कुछ नहीं बोलते हैं, वह तो पूर्ण है। परन्तु उसके पूर्ण होनेपर भी हमारी इन्द्रियोंमें उसकी पूर्णताको ग्रहण करनेका सामर्थ्य नहीं है। तब आगे बढ़ो।

अच्छा, बोले—भाई, इन्द्रियाँ तो छोटी-छोटी हैं, जरा अलग-अलग हैं। सबके भीतर जो मन है आओ उसका ध्यान करें—मानस भावना। तो ये मनीराम ऐसे हैं महाराज, ये भी स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और इनकी जाति, माने इनकी किस्में और इनका अभाव, इनको छोड़कर दूसरी कोई चीज ग्रहण ही नहीं कर सकते। ध्यान भी करें, भावना भी करें, तो उसमें भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ही आवेगा। तो इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ उपलब्ध होता है, उसीका भाव, उसीका ध्यान मनीराम करते हैं।

अच्छा, बुद्धिसे सोचो। जो-जो संस्कार बुद्धिमें होता है, वही-वही सोचा जाता है। तब भाई, वह ब्रह्म जो इन्द्रियोंके द्वारा देखा नहीं गया, जो मनके द्वारा प्यारमें नहीं आया, जो बुद्धिके द्वारा कभी विचारका विषय नहीं हुआ, उस ब्रह्मको हम कैसे जाने? बोले—बस वही युक्ति भगवान् बताने जा रहे हैं। ते तद् ब्रह्म, तत् माने यद् ब्रह्म इन्द्रिय गोचरं न भवति, मनोगोचरं न भवति, बुद्धि गोचरं न भवति। वह ब्रह्म इन्द्रियका विषय नहीं। इन्द्रिय रूपी गाय जिस ब्रह्मको

चर नहीं सकती, मनरूपी गाय जिस ब्रह्मको चर नहीं सकता। जो किसीका घास नहीं बनता। घास माने संस्कृतमें ग्रास ही होता है। हिन्दीमें तो पशु जिसको खाते हैं उसको घास बोलते हैं और मनुष्य जिसको खाते हैं उसको ग्रास बोलते हैं, परन्तु संस्कृतमें घास माने भी ग्रास ही होता है।

न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।

कोई चाहे कि हम ब्रह्मको खा जाये। अपने मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे भोग लें, तो वह किसीके द्वारा भोगा जानेवाला नहीं है। यह महाराज भोक्ता और भोग्यके भावसे दूर जो ब्रह्म है वह तत् है।

जब-जब तत् शब्दका प्रयोग करें, तो ॐ भी समझ लेना और सत् भी समझ लेना। अकार माने विश्व, उकार माने तैजस् और मकार माने प्राज्ञ; और अकार माने विराट्, उकार माने हिरण्यगर्भ और मकार माने ईश्वर और उन तीनोंसे विलक्षण तुरीय अथवा ब्रह्म, वह कौन है? बोले तत् है। तत् माने ॐकारसे लक्षित कराया हुआ। और सत् ओमिति ब्रह्म। तदीति ब्रह्म। तत्वमसिमें तत् पद्का जो अर्थ है, उस ब्रह्मको—ते ब्रह्म तद्विदुः। क्या ब्रह्म है? कि तत्त्वमसि महावाक्यमें जो तत् पद्के द्वारा सूचित किया गया है—तत् सत्यं। स आत्मा। तत्त्वमसि श्वेतकेतु। तत् सत्यम्। वहाँ जो तत् कहकर बताया गया है—वह।

और फिर तत् माने क्या? सदेव सौम्य इदं अग्रे आसीत्, वह सत् माने जो अविनाशी है, जो ज्ञानस्वरूप है, जो अनन्त है, जो परमानन्दघन है, ऐसा जो परिपूर्ण ब्रह्म है उसको उन्होंने वहीं जाना, ते विदुः उन्होंने जाना।

बोले—भाई, ब्रह्मको तो सब कहते हैं कि हमने जान लिया, हमने जान लिया। नहीं, नहीं, ऐसे मत समझना। किसी चीज़को अधिकारीके द्वारा जाना जाना दूसरी चीज है और अनाधिकारीके द्वारा जाना जाना दूसरी चीज है। भाई अधिकारीके द्वारा जानना और अनाधिकारीके द्वारा जानना इसका क्या अर्थ है? मान लो तुम्हारा कोई पार्सल आया हो रेलवे स्टेशनपर। उसको जो स्टेशन पर जाता है कि बहुत बढ़िया, यह आमोंका पार्सल है, सो देखता है, यह अंगूरोंका पार्सल है, यह अनारोंका पार्सल है। तुम्हारे द्वारा उन अनारों, अंगूरों, आमोंका जाना जाना एक बात है और जो पार्सलका

अधिकारी है, माने जो रसीद देकर वह पार्सल छुड़ा लेगा वह इसका अधिकारी है, तो उसका जानना दूसरी चीज़ है। माने उस पार्सलका जो फल है, उस फलका जो भोक्ता हो जायेगा, उसको फल स्वामित्वकी प्राप्ति होगी। वह उस फलको लेकर अपने घरमें आवेगा, जिसको चाहेगा उसको दे सकेगा, उसको खायेगा क्योंकि मालिक होगया। तो ब्रह्मज्ञान भी जो अधिकारियोंका होता है, वह दूसरे ढंगका और अनधिकारियोंको जो होता है वह दूसरे ढंगका।

अनाधिकारी माने जो कामी है, क्रोधी है, लोभी है, मोही है; उसने कहा—हमको भी ब्रह्म ज्ञान हो गया तो ब्रह्मज्ञान तो हो गया, लेकिन तुम्हारे घरमें आया कि नहीं आया? घरमें माने दिलमें समझो। अगर दिलमें ब्रह्मज्ञान आ गया, तो अज्ञानका नाश हो जाना चाहिए और अज्ञानके कारण जो दुःख था, जो मृत्युका भय था वह भी मिट जाना चाहिए थे, फल स्वामित्व हो जाना चाहिए था, निष्ठा हो जानी चाहिए थी, जीवन्मुक्ति हो जानी चाहिए थी, और फिर जिसको चाहो उसे बाँट सकते थे। अब तुम्हारे पास तो कोई प्रसाद लेनेके लिए ही नहीं आवेगा। क्यों नहीं आवेगा प्रसाद लेनेके लिए? बोले—बाबा, जब इनको ब्रह्मज्ञान होकर हैं, तो हमको हो जायेगा, तो हम भी ऐसे ये ऐसे ही रहेंगे न, क्या जरूरत? स्वामित्व नहीं आया। ब्रह्मज्ञानको बाँटनेका सामर्थ्य, दूसरेको करा देनेका सामर्थ्य, और निष्ठा कहाँ हुई? बोले—ज्ञानके आधारपर जीवन नहीं है, कर्मके द्वारा बड़प्पन आया। बोले—एक बहुत बड़े महात्मा हैं। कैसे? कि उन्होंने यूनिवर्सिटी बनायी। वे ज्ञान-से बड़े हुए कि यूनिवर्सिटी बनाकर बड़े हुए? उनके बड़प्पनका हेतु कर्म हो गया न। बोले—भाई, ये चौबीसों घण्टे ध्यानमें रहते हैं। ये चौबीसों घण्टे ध्यानका बड़प्पन हुआ कि ज्ञानका बड़प्पन हुआ? ब्रह्मज्ञानका बड़प्पन दूसरी चीज है! बोले—यह महात्मा कैसे हैं? बोले—इनके पचास आश्रम हैं, इनके पास पचास करोड़ रुपये हैं। तो रुपयेके कारण बड़प्पन आया, आश्रमके कारण बड़प्पन आया। कोई बड़ा भारी अस्पताल बनवा दिया, इस कारण बड़प्पन आया। मन्दिर बनवा दिया, मन्दिर बनानेके कारण बड़प्पन आया। पूजा करते हैं, पूजा करनेके

कारण बड़प्पन आया। ज्ञानके कारण बड़प्पन आया? ज्ञानवाला जो शुद्ध बड़प्पन है, शुद्ध ज्ञानसे जो ब्रह्मोपलब्धि, ब्रह्मका साक्षात्कार, ब्रह्मानुभूति आयी, वह ब्रह्मज्ञान मूलक बड़प्पन कहाँ है? तो जिसको ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, उसमें कर्ममूलक बड़प्पन नहीं होता, उसमें ध्यानमूलक बड़प्पन नहीं होता। वह कर्म, उपासना, ध्यान, योगके बिना अपने स्वरूपसे ही, अपने स्वरूपज्ञानसे ही वह ब्रह्म है और उसमें जब हीनताकी भावना होती है कि अरे भाई, अभी इसके बिना पूर्ण नहीं हुए तब? कि चलो एक पोखरा खुदवा दें, एक तालाब खुदवावें तब लोग कहेंगे कि हाँ-हाँ बड़ा भारी महात्मा है, इसने तो तालाब खुदवा दिया। तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्या निवृत्त करके ज्ञाननिष्ठ होना, यह दूसरी बात है।

तां फल स्वामित्वका क्या अर्थ हुआ? अन्याश्रयका त्याग जैसे भगवान्का कोई आश्रय लेता है, तो अन्याश्रय छूट गया कि नहीं? कि तुमने कृष्णका आश्रय लिया, तो इसकी पहचान क्या है? पहचान यह कि अन्याश्रय छूट गया। यदि अन्याश्रय नहीं छूटा, तो कृष्णाश्रय कहाँ हुआ? इसी प्रकार ज्ञान कहाँ हुआ? यदि और सब बड़प्पनके हेतु कट नहीं गये? तो, **ते ब्रह्म तद्विदुः**, वास्तविक ब्रह्म ज्ञान जिनको होता है, वे उन तीन साधनोंसे युक्त होकर—मुमुक्षा, भगवदाश्रय और श्रवणादि रूप प्रयत्न इन तीनों साधनोंसे युक्त होकर, अधिकारी होकर जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं, ब्रह्मज्ञानके अनन्तर ही उनकी निष्ठा ब्रह्मनिष्ठा होती है, उनकी निष्ठा ज्ञाननिष्ठा होती है। उनकी निष्ठा संसारकी दूसरी वस्तुमें नहीं होती है। इसलिए इसको ब्रह्मज्ञान बोलते हैं।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।

ये सम्पूर्ण अध्यात्मको जानते हैं कृत्स्न माने सम्पूर्ण, समस्त, सब और अखिलं माने सब। ये सारे अध्यात्मको भी जानते हैं और सारे कर्मको भी जानते हैं। माने वे जब ब्रह्मको ही जान गये, तो उनके लिए अध्यात्मको जानना, कर्मको जानना अधिदैवको जानना, अधिभूतको जानना बाकी कहाँ रहा? वह तो ब्रह्मज्ञानसे ही सबका यथार्थ ज्ञान हो गया। इसलिए ऐसे ब्रह्मको उन्होंने जाना, जिसमें फिर दूसरा कुछ जानना बाकी नहीं रहा।

अब देखो, अलग-अलग इनका अर्थ बताता हूँ—

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।

जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण रूप जो विवर्ती तत्त्व है—चेतन, उसे बोलते हैं ब्रह्म। और **स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**—वही ब्रह्म जब अनादि प्रवाहसे चलनेवाले संसारके बीजको लेकर रहता है; तब उसका नाम होता है अध्यात्म-स्वभाव। और उसीमें जब संस्कारोंका उदय होकर जब यह सृष्टि प्रक्रिया चलने लगती है तब उसका नाम होता है कर्म। एक ही ब्रह्म निर्गुणावस्थामें ब्रह्म, सगुणावस्थामें स्वभाव और सृष्टि अवस्थामें कर्म होकर दिखायी पड़ता है। आगे (आठवें अध्यायमें) इसकी व्याख्या स्वयं भगवान् ही करने वाले हैं, इसलिए हमारे कई आचार्य तो कह देते हैं कि इन दो श्लोकोंकी व्याख्या करनी ही नहीं चाहिए। क्यों नहीं करना चाहिए कि जब अर्जुनके पूछनेपर इन श्लोकोंका अर्थ स्वयं भगवान् ही बता रहे हैं तो बीचमें दूसरा अर्थ क्यों करना?

देखो, एक अर्थ यह हुआ कि जो निर्गुण ब्रह्म है—अपरिणामी, उसका नाम हुआ तत् ब्रह्म, और जो जीवोंके कर्मसंस्कारके बीजको धारण करके रहता है वह हुआ अध्यात्म ब्रह्म और जिसमें जगत्की प्रक्रिया हो रही है, वह हुआ कर्म ब्रह्म। कर्म भी ब्रह्म है, अध्यात्म भी ब्रह्म है और निर्गुण भी ब्रह्म ही है, माने ब्रह्मातिरिक्त ये तीनों नहीं हैं।

अब देखो, दूसरी व्याख्या इसकी। माने बातको समझनेके लिए तरह-तरहसे कहना पड़ता है। तत् ब्रह्म माने **सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म।** और अध्यात्म ब्रह्म माने इस देहकी उपाधिसे रहनेवाला जीवब्रह्म। कर्म-ब्रह्मका अर्थ है क्रियासे जो बनती-बिगड़ती है वह सृष्टि संसार ब्रह्म। तो उस कर्मको कहते हैं यज्ञ यागादि रूप कर्म,

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।

असलमें कर्म क्या है? तो देखो इस कर्म शब्दका बड़ा विचित्र-विचित्र अर्थ दिया गया है, भगवान् तो आगे बतावेंगे—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ८.३

लेकिन पहले उसके, इसका मजा देख लो, इससे उस व्याख्याको देख लो। एक तो हुआ तद् ब्रह्म परमात्मा, एक हुआ अध्यात्म ब्रह्म, अब दोनोंका

जो असली स्वरूप है, उसके जाननेका जो साधन हुआ शमदमादि, श्रवण मननादि, यह क्या हुआ? बोले—यह कर्म हुआ। अखिल कर्म हुआ। अब देखो, परमात्मा, जीवात्मा और कर्म। कर्म माने यज्ञयागादि रूप कर्म जो अन्त:करणको शुद्ध करके दोनोंका ज्ञान करवाता है।

अच्छा, तद्ब्रह्म माने पुरुषोत्तमब्रह्म राधाकृष्ण युगलसरकार और अध्यात्म माने जीवात्मा, भगवान्‌की सेवाके योग्य शरीरको धारण करके सखी रूपसे, सखा रूपसे अपने हृदयमें रहनेवाला जो जीवात्मा है, वह हुआ अध्यात्म ब्रह्म और तद्ब्रह्म माने पुरुषोत्तम ब्रह्म, भगवान् श्रीकृष्ण। कर्म चाखिलम् माने जीवात्मा जो उनकी सेवा करती है, माने उनका पाँव धोना, उनको चंदन लगाना, उनको माला पहनाना, उनको भोग लगाना, उनके सामने नाचना, उनके सामने गाना, उनकी आरती उतारना, उनके चरणोंमें लोट-पोट हो जाना, आत्मसमर्पण करना, उनके चरणोंमें गिरना और उनका उठा लेना, यह सब जो वित्तजा—धनसे होनेवाली, शरीरसे होनेवाली, मनसे होनेवाली जो सेवा है, है **अखिलं कर्म।** अखिलं कर्म माने धनसे होनेवाली, तनसे होनेवाली, मनसे होनेवालो सारी सेवाको उसने जान लिया और अपने भगवान्‌की सेवाके योग्य जो शरीर है—गुरुका दिया हुआ—उस शरीरसे होनेवाली सब सेवा। एक शरीर होता है पिताका दिया हुआ और एक शरीर होता है गुरुका दिया हुआ। पिताका दिया हुआ जो शरीर होता है, माता-पिताने जो शरीर दिया, इस धर्मसे, इस शरीरसे अगर दुनियाके सब काम करोगे, खेती-व्यापार तो वह तो लौकिक कर्म हो गया और यदि यज्ञ यागादि रूप धर्मानुष्ठान करोगे तो वह पारलौकिक कर्म हो गया। जितने जीवात्मा हैं वे सब-के-सब **दास भूता स्वतः सर्वेआत्मनः परमात्मनः।** ये सबके सब जीवात्मा परमात्माके दास। क्योंकि ये परमात्माकी सेवाके योग्य शरीरको ग्रहण करके बैठे हुए हैं। यह मनसे परमात्माका ध्यान करो, प्रेमसे परमात्माकी सेवा करो, इसके लिए बोले—भाई, कौन-सी सेवा तुमको चाहिए? बोले—हमको तो परमात्माके पाँव दबाना अच्छा लगता है। बोले—बहुत बढ़िया, दास होकर दबाओ। हम तो चाहते हैं कि परमात्मा हर समय हमारे हृदयसे लगा रहे। कि भाई, वात्सल्य भावसे बालक बनाकर

परमात्माको अपने हृदयसे लगाओ। क्योंकि संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंको भगवान्‌ने अपनी गोदमें ले रखा है। अब तुम जब उनको अपनी गोदमें लोगे, तो बाबा मामला बिलकुल ठीक-ठाक बैठ जायेगा। ईश्वरने तो संसारको अपनी गोदमें ले रखा है, परन्तु इस जीवने उसको अपनी गोदसे उतार रखा है। नहीं, परमात्माको अपनी गोदसे उतारो मत, उसको अपनी गोदमें ले लो। देखो, तब तुम्हारी गोद भी बढ़ती जायेगी और परमात्मा भी बढ़ता जायेगा। परमात्मा वामनसे त्रिविक्रम हो जायेगा और तुम्हारी गोदमें सारी सृष्टि आ जायेगी। अन्तमें यह होना है।

अच्छा, अब तुम अपनेको सखा बना लो, तुम्हारे कन्धेपर हाथ रखकर भगवान् चलता है। तुम परमात्माके साथ कबड्डी खेलते हो, आँख मिचौनी खेलते हो, परमात्माके साथ और परमात्माका स्वरूप कैसा है? बाल स्वरूप है किशोर स्वरूप है? सो ब्रह्मके उस रूपको जानना माने बाल किशोर आदि स्वरूपको जानना। और अध्यात्मको जानना माने मैं सखी हूँ। सखियोंमें कई भेद होते हैं। एक जैसे कमलकी कर्णिकापर भगवान् हैं, तो दल रूपा आठ सखी होती हैं। फिर मंजरीरूपा जो हैं, वह जो जीरा होता है न, मंजरी बनकर उस कर्णिकापर अनेक सखी होती हैं। कोई भ्रमर-अलिरूपा होती हैं। अलिरूपा, लतारूपा, मंजरीरूपा सखियोंके अनेक भेद होते हैं। अनेक ग्वाल-बाल होते हैं। तो ये सब। देखो भक्ति सिद्धान्तकी दृष्टिसे जब इस श्लोकका अर्थ लगावेंगे, तो यों होगा। अपने इष्ट देवको जानना, अपने स्वरूपको जानना। सबका नाम अलग-अलग होता है। ये प्रेम अलि हैं, ये सेवा मंजरी हैं, ये स्नेहलता हैं। यह नाम हो गया। फिर सबका रूप हो गया, ये गोरी हैं, ये साँवरी हैं, ये गोधूम रंगकी हैं। पानका बीड़ा खिलानेकी इनकी सेवा है, कँवल भरनेकी इनकी सेवा है, पानी पिलानेकी इनकी सेवा है, भोग लगानेकी इनकी सेवा है, ऐसे। तो कर्म चाखिलम्। इस तरहसे—

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।

इससे हुआ क्या? कि हुआ यह कि संसारकी मोहब्बतमें जो हम मोहव्रती हो रहे हैं न, मोहव्रती—मोहव्रती माने मोहब्बती—इसके कारण, संसारकी मोहब्बतकी जगह, हम भगवान्‌के प्रेमी हो जाते हैं, तब वैराग्य

आता है। और जब वैराग्य आता है, तो असलमें कर्म शब्दका अर्थ जो है वह वैराग्य युक्त कर्म है।

अब देखो, भगवान्‌ने जो व्याख्या की है, उसको मिला दो—**विसर्गः कर्मसंज्ञितः** विसर्ग माने त्याग। विसर्गको ही कर्म कहते हैं। असलमें कर्म वह नहीं है जिससे ग्रहण हो। असलमें कर्म वह है जिससे त्याग हो। जितना-जितना संसारका त्याग होगा, उतना उतना भगवद् भावका उदय होगा।

देखो, देवताके लिए होम करते हैं, तो होममें त्याग है कि नहीं? हविष्य, घी, शाकल्य लेकर अग्निमें त्याग करते हैं। तो देवता उद्देश्यक जो हविष्य त्याग है वह विसर्ग है—कर्म है। अच्छा, पितरके लिए श्राद्ध करते हैं, धर्म करते हैं तो उसमें त्याग है कि नहीं? भगवान्‌के लिए भोग लगाते हैं तो उसमें त्याग है कि नहीं? कोई दान करते हैं, धर्म करते हैं तो उसमें त्याग है कि नहीं? असलमें मनुष्यके हृदयमें खिंचे हुए जो भाव हैं उन भावोंको जाग्रत् करनेके लिए संसारका कुछ-न-कुछ त्याग करना पड़ता है। ज्यों-ज्यों संसारकी ओरसे अपने मनको हटाओगे, त्यों-त्यों भगवद्भावका चित्तमें उदय होता जायेगा। तो यह अपने हृदयमें भगवद्भावको उदय करानेवाला जो त्याग है, जो यज्ञ है; यज्ञके बिना क्या बनेगा? तो यह जो त्याग है असलमें यह कर्म है और इसके सर्वरूपको समझना चाहिए। जीवात्माके जो नानारूप वासनाके कारण हो गये हैं; परमात्मा जो निर्वासन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बैठा हुआ है और यह जो उसकी प्राप्तिके साधन हैं कर्मके अनेकों रूप, उन सबको जानना चाहिए। असलमें पूछो तो,

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्यक्त चेतसः॥ ३०॥

आनन्दकी बात भगवान् कहते हैं, इस संसारके साथ परमात्माको जान लो! लोग जब ऐसा जानते हैं कि यह परमात्मा है और यह नहीं है, तो जो परमात्मा नहीं है, अगर वह तुम्हारी बुद्धिमें बना रहा और उसकी याद आ गयी, तब तो फिर उसमें जाना पड़ेगा। अन्तमें क्या होना चाहिए? अन्तमें परमात्माका स्मरण होना चाहिए। तो जिसके लिए सब परमात्मा हो गया,

जिसने सबको परमात्माके रूपमें जान लिया, उसके लिए यह बात नक्की हो गयी, बिलकुल निश्चित हो गयी यह बात कि उसको परमात्माके सिवाय दूसरेका विस्मरण होगा ही नहीं, क्योंकि दूसरा है ही नहीं। और जिसके लिए दूसरा रहा, उसके लिए डर बना रहा कि दूसरेका कहीं स्मरण होवे नहीं।

तो क्या करना? कि **साधिभूताधिदैवं मां,** देखो, ब्रह्म तो ब्रह्म है ही, अध्यात्म भी ब्रह्म है, कर्म भी ब्रह्म है और सारे अध्यात्म ब्रह्म है, सारे कर्म ब्रह्म है और अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ भी ब्रह्म है। अधिभूत माने ये क्षरभाव जो विनाशी पृथिव्यादि पदार्थ दिखायी पड़ते हैं। और अधिदैव माने जो सूर्यादिमें है, जो हमारी इन्द्रियोंका अधिष्ठातृ देवता है, जो वासुदेव हिरण्यगर्भ रूप है, जिस हिरण्यगर्भके हिरण्यकी चमक सब देवताओंमें आती है। ब्रह्माकी चमकसे, हिरण्यगर्भकी चमकसे ही इन्द्र-इन्द्र होता है, सूर्य-सूर्य होता है, वरुण-वरुण होता है, कुबेर-कुबेर होता है, सब ब्रह्मरूप है। और, अधियज्ञ माने जो अन्तर्यामी है। भगवान् अन्तर्यामी होकर बैठा हुआ है।

अब बोले—

प्रयाणकाले च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।

उनका चित्त ऐसा युक्त हुआ कि वे तो मृत्युके समय भी परमात्माको जानते हैं क्योंकि अन्त समयमें परमात्माको जानना बहुत बढ़िया—**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।** अन्तकालमें, इन्तकाल कर दो। ये उर्दूवाले जो हैं, ये हमारे वकील और मुव्वकिल आखिरी रूपसे जब लिख देते हैं कि आज यह मैं नहीं और यह मेरा नहीं, यह मेरी चीज बिलकुल नहीं, यह मैंने तुमको दे दी, तो क्या हुआ बोले—इन्तकाल कर दिया। उसका अन्तकाल आगया। तो यह '**अन्तकाले च मामेवस्मरन्**' भगवान् कहते हैं कि अन्तकालमें केवल मेरा ही स्मरण होना चाहिए।

कृष्ण त्वदीय पदपङ्कज पंजरान्ते अव्ययी तु मानस राजहंसः।
प्राण प्रयाण समये कफ बात पितैः कंठावरोधेन त्रिदुः कुतस्ते।

भक्त लोग कहते हैं कि अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण होना चाहिए। बोले—भाई अन्तकालमें स्मरण किसका होना? एक आदमी फोटो खिंचाने गया। फोटो-ग्राफरने कहा—खूब आनन्दसे बैठो, ठीक-ठिकानेसे। अब वे

बेचारे हजामत वजामत बनवाकर, खूब चिकने-चुपड़े बनकर बैठे। कई लोग तेल लगवाकर फोटो खिंचवाने चले जाते हैं। तेल लगाकर जो फोटो खिंचवाते हैं, वह काला आजाता है कोई सज्जन फोटो खिंचवाने गये, खूब अच्छे बन-ठनकर, चिकने-चुपड़े भी, हजामत भी ठीक, बालवाल भी ठीक, बैठ गये। अब फोटोग्राफर फोटो खींचने लगा, उसने कहा—एक, दो इतनेमें उनके होंठपर आकर एक मक्खी बैठ गयी, तो उन्होंने उसको हटानेके लिए जो मुँह टेढ़ा किया, तबतक तीन हो गया और फोटो खिंच गया अब कैसा फोटो खिंचेगा? हजामत बनवायी उन्होंने अपनेको चिकना किया उन्होंने, बढ़िया कपड़ा पहना उन्होंने, पर महाराज, आखिरी बातपर फोटो बिगड़ गयी।

हमारे भागवत सप्ताहका जुलूस निकला था, माधोबोमें, बहुत विचित्र हुआ। एक कोई भागवतकी पुस्तक अपने सिरपर लेकर चल रहे थे। फोटोग्राफरने ऐसे समयपर चित्र लिया, जब उनके पाँवपर किसी दूसरेका पाँव पड़ गया और जीभ उनकी निकल गयी उसी समय, फोटोग्राफरने फोटो ले लिया। अब जब वह फोटो प्रेमकुटीरमें गया और जिनकी फोटो थी, उनकी दृष्टि पड़ी तो फाड़कर फेंक दिया। बिगड़ गयी न, एकदम बिगड़ गयी फोटो। इसीलिए कहते हैं कि अन्तकालमें फोटो अच्छी उतरनी चाहिए। वही सूक्ष्म शरीर परलोकमें जाता है।

बोले भाई, अन्तकालमें फोटो अच्छी कैसे उतरे? तो अब उस समयके कामसे काम नहीं चलता—**सदा तद्भावभावितः।** गीतामें भगवान्‌ने बताया कि जब हमेशा भगवान्‌की याद करोगे, तब अन्तमें भी भगवान्‌की याद करोगे, तब अन्तमें भी भगवान्‌की याद आवेगी और अन्तमें फोटो भी अच्छी उतरेगी। उसी फोटोके अनुसार, वह कहीं भगवान्‌को पसन्द आगयी कि बहुत बढ़िया फोटो भाई, हमारे प्रेममें मगन है तो कहते हैं अच्छा, इसे गोलोकमें बुलाओ, साकेतमें बुलाओ। अगर कहीं अप्सरा की फोटो आगयी तो बोले—अच्छा, स्वर्गमें इसको भेज दो और कहीं मनमे यह हुआ कि यह मांस खाना चाहता है, शराब पीना चाहता है, भगवान्‌ने कहा—भेजो इसको नरकमें, वहीं इसको मिलेगा। कोई पशु-पक्षी योनिमें भेज दे। ये जो अन्तकाल है न, इसमें भगवान्‌का स्मरण आना जरूरी—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्

यह बात कैसे हो? तो यह बात तब हो जब जीवनभर स्मरण किया जाये—**सदा तद्भाव भावितः।**

कृष्ण त्वदीय पद पंकज पंजरान्ते

हे कृष्ण तुम्हारे चरणकमलके पींजड़ेके भीतर, यह मेरा मानसरोवरका राजहंस, हमारे मन-मानसमें रहनेवाला राजहंस जीवात्मा, 'अव्ययी दिशतु' तुम्हारे चरणकमलके पींजड़ेमें आज ही घुस जाये।

बोले—मरते समय याद कर लेना

प्राण प्रयाण समये कंठावरोधन विदुः

जब प्राण निकलने लगेंगे, प्राणोंके जानेका समय जब आवेगा, तब कफ, बात, पित्त, आँधी आने लगती है, शरीरमें वायु बढ़ने लगती है, पित्त भड़क उठता है, कै आने लगती है—कफ बढ़कर खाँसी आने लगती है, बात बढ़कर पेट फूल जाता है, बड़ी तकलीफ होती है; बोले—उस समय भगवान्‌का सुमिरन कैसे करेंगे, इसलिए अभीसे करो। बोले—हाँ ठीक है, एक युक्ति ऐसी है। एक होता है ज्ञान और एक होता है ध्यान। अगर ज्ञान प्राप्त कर लो, पहचान लो परमात्माको, तो मौतमें भी परमात्माको पहचानोगे। यदि अधिभूत भी वही, अधिदैव भी वही, मिट्टी-पानी भी वही, सूर्य-चन्द्रमा भी वही, भीतर अन्तर्यामी भी वही, जीवात्मा भी वही, कर्म भी वही, ब्रह्म भी वही, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं; तब जब मृत्यु आयेगी न, अरे पहचानते हैं भाई!

अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ ९.१९
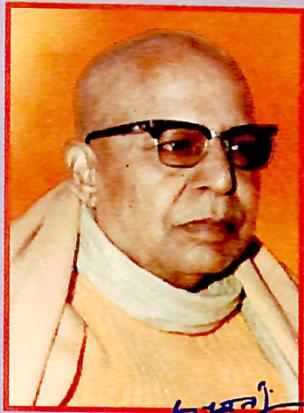
मौत भी वही है। तो—

प्रयाणकालेऽपि च मां, युक्त चेतस हो गये। ऐसा चित्त! जुड़ा हुआ है, परमात्माके सिवाय और कोई नहीं है। जो विवेकी हैं उनके ज्ञानके लिए, जो उपासक हैं उनके ध्यानके लिए परमात्माकी सर्वरूपताका वर्णन करते हैं। उनका चित्त ऐसा जुड़ जाता है परमात्मामें कि मौतके रूपमें भी उनको परमात्मा ही दिखायी पड़ता है कि हमारा प्यारा ही मृत्यु बनकर आया है और परम मंगलमय, उनकी मृत्यु भी मधुमयी, रसमयी, लास्यमयी; जैसे परमात्मा नाचता हुआ मृत्युके रूपमें आ रहा है, आनन्द देनेके लिए मृत्युके रूपमें आ रहा है।

एक बार एक बहुरूपिया रातके समय महाकालीका रूप धारण करके आया—वह बड़ी भयंकर खड्‌ग हाथ में लिये हुए था, हम तो देखकर डर गये। फिर मालूम हुआ कि वह दिनमें जो आदमी आया था हमारे पास और उसको हमारे बाबाने कहा था कि कोई बढ़िया रूप धारण करके आओ, अरे, यह तो वही है। वही महाकाली बनकरके आया है, अच्छा तो इसको एक रुपया दो, दो रुपया दो, दस रुपया दो। यह बात हुई। यह तो इनाम देनेका काम जो इसने किया कि पहचाना नहीं गया। यह ईश्वर भी **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** इन्द्र अपनी मायाके द्वारा अनेक रूप धारण करके आता है, अरे, वह तो जीवनका ही पुरस्कार देने योग्य है। तो फिर उसको देखकर डर नहीं लगता है। परमात्माका विस्मरण नहीं होता है। एक ही परमात्माका स्वरूप कितने रूपपेंमें प्रकट हो रहा है।

❖

ज्ञान-विज्ञानयोग

श्रीमद्भगवद्गीताके मध्यके छः अध्याय (अध्याय सातसे बारह तक) भक्ति-प्रधान हैं। उसमें सातवाँ अध्याय-ज्ञान-विज्ञानयोग, उस भक्ति-साधनाका प्रथम सोपान है।

श्रीभगवान्‌ने दसवें और बारहवें अध्यायमें यह प्रतिज्ञा की है कि अपने आश्रित भक्तको तत्त्वज्ञान करानेका उत्तरदायित्व मैं ही अर्थात् स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं। इसी उद्देश्यसे गीताके अन्तिम छः अध्यायोंमें भगवान्‌ने ब्रह्मात्मैक्य बोधका औपनिषद रीतिसे कथन किया है।

परमपूज्य महाराजश्रीके इन प्रवचनोंमें आप पायेंगे कि गीताजीकी यह आत्मा अत्यन्त मधुररूपमें मुखरित हुई है। इनमें पदे-पदे भगवान् श्रीकृष्णकी करुणा, कृपा, वात्सल्य और ईश्वरताका दर्शन होता है। श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं, मधुरातिमधुररूप हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं; जो इन्हें मनुष्य मानता है वह मायाके द्वारा ठगा गया है, और जो इनकी शरण ग्रहण करता है और इनका सकाम-निष्काम भजन करता है, उसको मोक्ष प्राप्त हो जाता है जो श्रीकृष्णका ब्रह्मस्वरूप ही है। अधिक क्या कहें, पाठक स्वयं इन प्रवचनोंका रस प्राप्त करें और अपने-अपने जीवनको श्रीभगवान्‌के भजनसे भरपूर करके धन्य-धन्य होवें!

-स्वामी विश्वात्मानन्द सरस्वती